

पाटलीपुत्र की कथा

Pāt[illegible] [illegible]

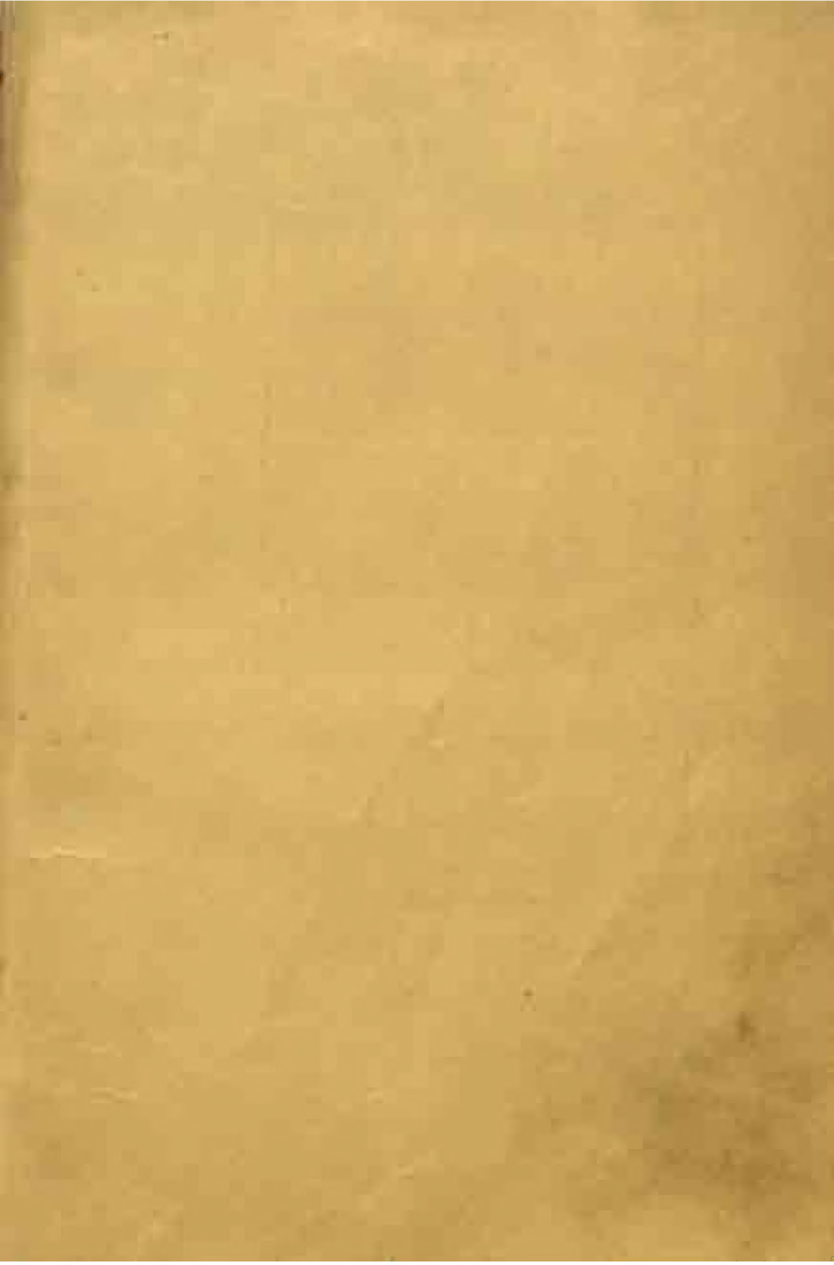
[illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible]

S[illegible]





मौर्य कालीन साँड
रामपुरवा के अशोकस्तंभ पर
तीसरी शती ई० पू०

पाटलीपुत्र की कथा

या

मागध साम्राज्य का उत्थान और पतन



लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार

डी॰ लिट॰ (पेरिस)

१९४१

हिंदुस्तानी एकेडेमी,

युक्तप्रांत, इलाहाबाद

प्रकाशक—
हिंदुस्तानी एकेडेमी
युक्तप्रांत, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
मूल्य १०)

मुद्रक—
जगन्नाथ प्रसाद मालवीय
सेंट्रल प्रिंटिंग प्रेस प्रयाग

प्रस्तावना

भारतवर्ष के इतिहास में पाटलीपुत्र का बड़ा महत्त्व है। ईस्वी सन् से पाँच सदी पहले से छठी सदी ईस्वी पश्चात् तक वह भारत की राजनीतिक शक्ति का प्रधान केंद्र रहा। एक हजार साल के इस सुदीर्घ काल में पाटलीपुत्र को राजधानी बनाकर बहुत से राजवंशों और सम्राटों ने भारत के विशाल साम्राज्य पर शासन किया। यूरोप के प्राचीन इतिहास में जो स्थिति रोम की है, वही भारत के इतिहास में पाटलीपुत्र की है। रोम के समान इस नगरी में भी अनेक राजवंशों ने राज्य किया, अनेक क्रांतियाँ हुईं। अनेक बार विदेशी आक्रांताओं ने आक्रमण किये, अनेक बार अधीनस्थ राज्यों ने विद्रोह किये। पर पाटलीपुत्र की राजनीतिक शक्ति नष्ट नहीं हुई।

पाटलीपुत्र मगध के प्राचीन जनपद की राजधानी था। यहाँ के महत्त्वाकांक्षी राजाओं ने पहले मगध को महाजनपद बनाया, फिर भारत के अन्य छोटे-बड़े जनपदों को जीतकर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उत्तरी भारत में मगध का साम्राज्य इन दस सदियों में प्रायः अक्षुण्ण बना रहा। दक्षिणी भारत भी बहुत अरसे तक पाटलीपुत्र के विशाल साम्राज्यों में सम्मिलित रहा। अनेक दिग्विजयी प्रतापी राजाओं ने हिमालय से समुद्र तक सारी पृथिवी पर शासन किया। राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं; धर्म, भाषा, सभ्यता, कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी इस काल में पाटलीपुत्र भारत का सर्वप्रधान केंद्र रहा। अशोक के समय में, आचार्य उपगुप्त ने जिस धर्मविजय का उपक्रम किया, उसने न केवल भारत में, अपितु उससे बाहर भी बहुत से विदेशों में मगध के धर्मसाम्राज्य को स्थापित कर दिया।

पाटलीपुत्र का यह इतिहास बड़े महत्त्व का है। भारत के प्राचीन

इतिहास पर बहुत सी पुस्तकें भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में लिखी जा चुकी हैं। अनेक विद्वानों ने भारत का क्रमबद्ध इतिहास लिखने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। पर मगध के शक्तिशाली और वैभवपूर्ण साम्राज्य के उत्थान और पतन का पृथक् रूप से इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया। बार्हद्रथ, शैशुनाक, नन्द, मौर्य, कण्व, शुंग, सातवाहन, गुप्त और पाल वंशों का इतिहास एक दूसरे से पृथक् नहीं है। एक ही मागध साम्राज्य का शासन करने वाले ये विविध वंश हुए। राजवंश बदलते रहे, पर मगध की राजनीतिक शक्ति निरंतर जारी रही। नंदों के पतन से मगध की शक्ति का अंत नहीं हो गया, मौर्यों ने उसी मागध साम्राज्य का शासन किया, जिस पर उनसे पहले नंद राजा शासन करते थे। इन एक हजार वर्षों के इतिहास में यह बात ध्यान देने योग्य है, और इस ग्रंथ को इसी दृष्टि से लिखा गया है। यह किसी वंशविशेष का इतिहास नहीं है, इसमें मगध के विशाल साम्राज्य के उत्थान और पतन का वृत्तान्त क्रमबद्ध रूप से देने का प्रयत्न किया गया है। यही इस ग्रंथ की विशेषता है।

मैंने जान-बूझ कर इस पुस्तक में कोई प्रमाण नहीं दिये, न कहीं किसी आधारग्रंथ का संकेत किया है। यह पुस्तक सर्वसाधारण पाठकों को दृष्टि में रखकर लिखी गई है, जो ऐतिहासिक खोज की उलझनों में न पड़कर सरल रीति से क्रमबद्ध इतिहास को जानना चाहते हैं। मुझे ज्ञात है, कि प्राचीन भारतीय इतिहास के तिथिक्रम के संबंध में अनेक मतभेद हैं। सातवाहन, गुप्त, पाल आदि विविध वंशों के राजाओं के शासनकाल के विषय में भी अभी सब ऐतिहासिक एकमत नहीं हुए हैं। पर जो घटनायें व तिथियाँ प्रायः मान्य समझी जाती हैं, उन्हें ही इस पुस्तक में स्वीकार किया गया है, और विविध ऐतिहासिकों के मतभेदों की कोई विवेचना न कर उनकी सर्वथा उपेक्षा कर दी गई है।

भारत के प्राचीन इतिहास पर मेरे दो ग्रंथ पहले प्रकाशित हो चुके हैं। सन् १९३० में मेरा "मौर्य साम्राज्य का इतिहास" प्रकाशित हुआ था। उसके बाद १९३४ में गुरुकुल विश्वविद्यालय हरिद्वार से प्रकाशित "भारतवर्ष का इतिहास" में "बौद्धकाल का राजनीतिक इतिहास" मैंने लिखा था। इन दोनों ग्रंथों में मगध के इतिहास का कुछ महत्वपूर्ण भाग आ गया था। यह स्वाभाविक है, कि इस पुस्तक को लिखते हुए अपने इन दोनों ग्रन्थों का मैं विशदरूप से प्रयोग करूं! यही कारण है, कि मगध के बार्हद्रथ, शैशुनाक, नन्द और मौर्यवंशों के इतिहास में मेरी इन पहली पुस्तकों की सामग्री कुछ परिवर्तित रूप में फिर से समाविष्ट कर दी गई है। यह कहना कठिन है, कि इस पुस्तक में कोई मौलिकता है। आचार्य चाणक्य के शब्दों का अनुसरण करते हुए मैं यही कह सकता हूँ, कि भारत के प्राचीन इतिहास के क्षेत्र में जो कार्य पहले के आचार्यों ने किया है, प्रायः उस सबको एकत्र कर, उसे सम्मुख रख, यह इतिहास मैंने तैयार किया है। मुझे आशा है, पाठक इसे पढ़कर मगध के गौरवमय इतिहास की एक झाँकी ले सकेंगे। इस ग्रन्थ के प्रकाशक 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' की इच्छा यह थी, कि इसे 'पटना की कहानी' नाम से प्रकाशित किया जाय। इसी लिये मागध साम्राज्य के पतन व पाटलीपुत्र के गौरव की इतिश्री हो जाने के बाद भारत की इस प्राचीन नगरी का पटना के रूप में किस प्रकार उद्धार हुआ, इस विषय पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक था। इसी लिये ग्रन्थ के अंतिम तीन अध्यायों में मध्य काल और आधुनिक काल के पटना की कहानी का भी संक्षेप के साथ उल्लेख कर दिया गया है।

कार्तिकी पूर्णिमा
संवत् २००६

सत्यकेतु विद्यालंकार

विषय-सूची

चित्र-सूची

प्रकाशकीय वक्तव्य

संसार की प्राचीन सभ्यताओं का संबंध प्रायः प्रसिद्ध नदियों की घाटियों अथवा विशेष नगरों से रहा है, उदाहरणार्थ मिस्र देश की सभ्यता का अर्थ है नील नदी की घाटी में विकसित संस्कृति, तथा मध्यकालीन यूरोप की सभ्यता का केंद्र इटली का रोम नगर था। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यूरोपीय भाषाओं में प्रचुर ऐतिहासिक लोकप्रिय साहित्य लिखा गया है।

हिंदुस्तानी एकेडेमी के भूतपूर्व सभापति स्वर्गीय राय राजेश्वर-बली साहब की एक योजना इसी दृष्टिकोण से भारतवर्ष के प्रसिद्ध नगरों तथा नदियों के केंद्रस्वरूप विकसित प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारतीय सभ्यता का इतिहास लिखवाने की थी। इस योजना के अंतर्गत सिंधु तथा गंगा नदियों और दिल्ली, काशी तथा पटना नगरों की कथाएं प्रस्तुत करने का निर्णय एकेडेमी ने १९४२ में ही किया था। इसे कार्यान्वित करने के लिए रायसाहब की प्रेरणा से संयुक्तप्रांतीय कोर्ट आफ वार्ड्स ने सूरजपुर रियासत के कोष से छः हजार रुपये प्रदान किए थे। एकेडेमी ने यह निर्णय किया था कि इस रकम से पाँचों पुस्तकों के लेखकों को पारिश्रमिक के रूप में बारह-बारह सौ रुपये भेंट किए जायें और ये पुस्तकें 'कुँवर महेंद्रप्रताप सिंह स्मारक' के रूप में प्रकाशित की जायें।

अनेक कारणों से इस योजना के कार्यरूप होने में विलंब हुआ। अब हम सहर्ष इस की प्रथम पुस्तक 'पाटलीपुत्र की कथा' को प्रस्तुत कर रहे हैं, और आशा करते हैं कि इस योजना की अन्य पुस्तकें भी क्रमशः निकट भविष्य में प्रकाशित कर सकेंगे।

हम कोर्ट आफ वार्ड्स तथा सूरजपुर रियासत की सहायता के लिए हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

धीरेंद्र वर्मा
मंत्री तथा कोषाध्यक्ष,
हिंदुस्तानी एकेडेमी,
संयुक्त प्रांत, इलाहाबाद

जनवरी, १९४८



पहला अध्याय

विषय प्रवेश

(१) पाटलीपुत्र नगर

पटना का प्राचीन नाम पाटलीपुत्र था। गंगा और सोन नदियों के संगम पर स्थित इस नगर का भारतीय इतिहास में अद्वितीय स्थान है। प्राचीन यूरोपीय इतिहास में जो स्थान रोम का है, वही भारत के इतिहास में पाटलीपुत्र का है। लगभग एक हजार वर्ष तक—पांचवीं सदी ईसवी पूर्व से छठी सदी ईसवी पश्चात् तक—पाटलीपुत्र का इतिहास ही भारतवर्ष का इतिहास है।

इस काल में पाटलीपुत्र के राजाओं ने न केवल भारत में, अपितु भारत के बाहर भी अपने साम्राज्य का विस्तार किया; पूर्व और पश्चिम, सब तरफ अपनी शक्ति का विस्तार कर बृहत्तर भारत की स्थापना की। पाटलीपुत्र के बौद्ध भिक्खुओं ने अफ़-ग़ानिस्तान, लंका, नेपाल, तिब्बत, तुर्किस्तान, चीन, जापान, बर्मा, इन्डो-चायना, जावा, सुमात्रा आदि सुदूर देशों में भारतीय सभ्यता, संस्कृति और धर्म का विस्तार किया। हजार वर्ष के इस सुदीर्घ काल में पाटलीपुत्र सम्पूर्ण एशिया का केन्द्र रहा, राजनीतिक केन्द्र भी और धर्म का केन्द्र भी। पाटलीपुत्र के इसी गौरव को दृष्टि में रखते हुए शायद मानवधर्मशास्त्र के संकलनकर्त्ताओं ने अभिमान के साथ कहा था—"इसी देश में उत्पन्न हुए विद्वानों और अग्रणी नेताओं से पृथिवी भरके मनुष्यों ने अपने आचार-विचार की शिक्षा ग्रहण की है।"

(२) पाटलीपुत्र की स्थापना

पाटलीपुत्र का संस्थापक राजा उदायीभद्र था।

एक बार की बात है, पूर्णिमा की रात थी। चारों ओर चाँदनी छिटक रही थी। गरमी का मौसम था। मगध के राजा अजातशत्रु अपने महल की छत पर गये और दरबारियों के साथ उस अनुपम दृश्य का आनन्द लेने लगे। अजातशत्रु ने अपने दरबारियों को सम्बोधन करके कहा—"कैसी सुहावनी रात है। ग्रीष्म ऋतु है, पूर्ण चन्द्रमा निकला हुआ है, सब ओर चांदनी छाई हुई है। इस रात का किस प्रकार सदुपयोग किया जाय ?'

राज-दरबार की एक स्त्री ने उत्तर में कहा—"इस रात को खूब मौज उड़ानी चाहिये। खूब आनन्द मंगल मनाना चाहिये।'

एक अन्य स्त्री ने कहा—'ऐसी रात का आनन्द उठाने के लिये पहले सारे राजगृह को सजाना चाहिये।'

पर कुमार उदायीभद्र ने कहा—'इस अनुपम रात की स्मृति में किसी नवीन राज्य पर आक्रमण करना चाहिये।'

इस अनुपम रात का उपयोग राजा अजातशत्रु ने किस प्रकार किया, यह हम नहीं जानते। पर कुमार उदायीभद्र के हृदय में बचपन से ही जो उमंगें और आकांक्षायें थीं, उनका इससे हमें भली-भाँति ज्ञान हो जाता है।

यही उदायीभद्र पाटलीपुत्र का संस्थापक था। इसी ने गंगा और सोन नदियों के संगम पर बसे हुए पाटलीग्राम को अपनी राजधानी बनाया और पाटलीपुत्र के गौरवपूर्ण इतिहास का प्रारम्भ किया।

महात्मा बुद्ध के समय में पाटल या पाटलीग्राम एक छोटा सा कस्बा था। उस समय मगध की राजधानी राजगृह थी। राजगृह

से कुशीनगर जाते हुए महात्मा बुद्ध ने पाटलीग्राम में विश्राम किया था। उन दिनों राजा अजातशत्रु पाटलीग्राम की किलाबन्दी करा रहा था। मगध का प्रधान अमात्य वस्सकार इस कार्य में संलग्न था। अजातशत्रु ने वहां एक चैत्य का भी निर्माण कराया था। उदायीभद्र के पाटलीग्राम को राजधानी बनाने से पूर्व भी इस नगर का महत्व धीरे धीरे बढ़ रहा था। पर उदायीभद्र ने इसके समीप ही एक विशाल और सम्पन्न नगर का निर्माण किया, और उसे अपनी राजधानी बनाया। इस नगर का नाम पाटलीपुत्र रखा गया। प्रसिद्ध जैन लेखक हेमचन्द्र ने लिखा है, कि जिस जगह इस नगर की स्थापना की गई, वहां एक सुन्दर लाल फूलों वाला पाटली द्रुम विद्यमान था। उसी के कारण इसका नाम पाटलीपुत्र पड़ा, और उस द्रुम के सुन्दर फूलों के कारण ही यह कुसुमपुर भी कहलाया। (स्थविरावलि चरित पृ० १६०)

उन दिनों मगध के राजा गंगा के उत्तर में अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे थे। गंगा के उत्तर में उस समय प्रसिद्ध वज्जि-संघ विद्यमान था, जिसमें अनेक शक्तिशाली गणराज्य सम्मिलित थे। राजा अजातशत्रु वज्जिसंघ को जीत कर अपनी अधीनता में लाने के लिये प्रयत्नशील था। इसीलिये अमात्य वस्सकार ने गंगा के तट पर स्थित पाटलीग्राम की किलाबन्दी की थी। राजा अजातशत्रु वज्जियों को जीत कर अपनी अधीनता में लाने में सफल हुए। मगध का साम्राज्य गंगा के उत्तर में हिमालय की उपत्यका तक विस्तृत हो गया। अतः अजातशत्रु के बाद उदायीभद्र का पाटलीग्राम को मगध की राजधानी बनाना सर्वथा स्वाभाविक और समुचित था। राजगृह की भौगोलिक स्थिति अधिक वांछित न थी। नये जीते हुए प्रदेशों का शासन वहां से सुगमता के साथ नहीं हो सकता

था। उदायी के समय से पाटलीपुत्र की समृद्धि और स्थिति निरन्तर बढ़ती गई, और धीरे धीरे वह भारत का सर्वप्रधान नगर बन गया।

(३) प्राचीन भारत के विविध राज्य

भारत बहुत बड़ा देश है। प्राचीन काल में यहां सैकड़ों छोटे-बड़े राज्य थे। आर्य जाति बहुत से छोटे-छोटे भागों में बंटी हुई थी, जिन्हें 'जन' कहते थे। जन को हम कबीला या ट्राइब समझ सकते हैं। विविध 'जन' विविध प्रदेशों में बस गये थे और इन प्रदेशों को 'जनपद' कहते थे। प्रत्येक जनपद में प्रायः एक जन का निवास था। जनपदों के नाम जनों के नाम से ही पड़े थे। कुरु, पांचाल, वत्स, शूरसेन, अंग, यौधेय, मद्र आदि आर्यों के विविध जनों के नाम थे। जब ये जन विविध प्रदेशों में बस गये, तो उन प्रदेशों व जनपदों का नाम भी इन जनों के नाम पर कुरु, पांचाल, वत्स आदि होगया।

इन विविध जनपदों में विविध प्रकार की शासनप्रणालियों का विकास हुआ था। जब तक जन किसी एक प्रदेश में नहीं बसे थे, उनकी शासनप्रणाली प्रायः एक जैसी थी। जन एक बड़े परिवार के समान थे। जिस प्रकार एक परिवार का शासन, परिवार का सब से वृद्ध व्यक्ति, पिता या पितामह करता है, उसी प्रकार जन का शासन भी एक 'वृद्ध', या 'मुख्य' द्वारा होता था, चाहे इस शासक या राजा की नियुक्ति चुनाव द्वारा होती हो या किसी परम्परागत रिवाज द्वारा। यह राजा जन का नेता समझा जाता था, और इसकी स्थिति परिवार के प्रमुख के सदृश ही मानी जाती थी। वह जन की सम्मति को महत्व देता था, और समिति में एकत्रित 'जन' जो राय देते थे, उसे स्वीकार करता था।

पर जब 'जन' किसी प्रदेश में बस कर 'जनपद' बनने लगे, तो यह स्वाभाविक था, कि उनमें अन्य लोग भी शामिल हों। आर्यों के विस्तार से पूर्व भारत में अन्य जातियों का निवास था। आर्यों ने इन जातियों को परास्त कर अपने अधीन किया। अनेक जनपदों में ये आर्य-भिन्न जातियां बहुत बड़ी संख्या में निवास करती थीं। थोड़े से आर्यजन बहुसंख्यक आर्य-भिन्न जातियों पर शासन करते थे। राज्य आर्यों का था, आर्य-भिन्न लोगों की शासन में कोई आवाज नहीं थी। कहीं आर्य-भिन्न लोगों की संख्या अधिक थी, कहीं कम। कहीं कहीं उनका सर्वथा अभाव भी था। प्रत्येक जनपद की परिस्थिति भिन्न थी। यही कारण है, कि विविध जनपदों में विविध प्रकार की शासन-प्रणालियों का विकास प्रारम्भ हुआ।

आर्य लोग पश्चिम की तरफ से भारत में आगे बढ़े थे। ज्यों-ज्यों वे पूर्व की तरफ बढ़ते गये आर्य-भिन्न जातियों से उनका सम्पर्क भी बढ़ता गया। यही कारण है कि पूर्व के जनपदों में आर्य-भिन्न निवासियों की संख्या पश्चिम के जनपदों की अपेक्षा बहुत अधिक थी।

भारत के इन प्राचीन जनपदों की शासन-प्रणालियां मुख्यतया दो प्रकार की थीं, गणतन्त्र और राजतन्त्र। 'गण' उन राज्यों को कहते थे, जिनमें वंशक्रम से आया हुआ कोई राजा नहीं होता था, 'जन' अपना शासन स्वयं करता था। आर्य परिवारों के मुखिया गणसभा में एकत्र होकर अपने शासन का संचालन करते थे। राजतन्त्र राज्यों में वंशक्रम से आये हुए राजा शासन करते थे। समय-समय पर जनपदों की शासन-प्रणाली में परिवर्तन होते रहते थे। महाभारत के समय में कुरु देश में राजतन्त्र था। बाद में वहाँ गणराज्य होगया। विदेह, पांचाल, मगध आदि में भी यही हुआ। यह परिवर्तन इन राज्यों में किस

प्रकार हुआ, इसका वृत्तान्त ज्ञात नहीं होता । पर प्राचीन साहित्य में कोई कोई ऐसे निर्देश मिलते हैं, जिनसे इस परिवर्तन पर प्रकाश पड़ता है । ऐसे कुछ निर्देशों का यहां उल्लेख करना हम उपयोगी समझते हैं ।

मिथिला का विदेह राज्य भारतीय इतिहास में बहुत प्राचीन है । इसके राजा 'जनक' कहलाते थे । रामायण की सीता विदेह-राज जनक की ही कन्या थी । इन जनक राजाओं को अध्यात्म विद्या का बड़ा शौक था । बृहदारण्यक उपनिषद में विदेहराज जनक की परिषद् में अध्यात्मविद्या सम्बन्धी विचारों का उल्लेख-बड़े विस्तार के साथ किया गया है । विदेह के ये राजा पर-लोक और अध्यात्म की चिन्ता में इतने लीन होगये थे, कि राज्य कार्य की उन्हें ज़रा भी परवाह नहीं रह गई थी । महाभारत के शान्ति-पर्व (अध्याय १३) में कथा आती है, कि राजा जनक इतने निर्द्वन्द्व और विमुक्त हो गये थे कि मोक्ष उन्हें नज़र आने लगा था । इसी कारण वे कहा करते थे—'जब मेरे पास कोई धन न हो, तभी मेरे पास अनन्त धन होगा । मिथिला यदि आग द्वारा भस्म भी हो जाय, तो भी मेरा क्या बिगड़ता है ।'

जिस राजा के ये विचार हों, वह पारलौकिक दृष्टि से चाहे कितना ही पहुँचा हुआ क्यों न हो, पर अपने राज्यकार्य को वह कभी सफलता पूर्वक नहीं चला सकता । जनक की पत्नी ने उन्हें बहुत समझाया । उन्होंने यहां तक कहा कि, तुम उस प्रतिज्ञा को याद करो, जो तुमने राज्याभिषेक के समय पर की थी । उन्होंने कहा—"तुम्हारी प्रतिज्ञा और थी । पर तुम्हारे कार्य दूसरी तरह के हैं ।" आगे चल कर उन्होंने यहां तक कह दिया, कि, 'आज राजाओं की अपेक्षा कर तुम्हारी दशा एक कुत्ते के समान है । तुम्हारी माता आज पुत्र-विहीन है, और तुम्हारी पत्नी आज पति-विहीन है ।"

पर इन सब का जनक पर कोई असर नहीं पड़ा। उन्हें कोई भी बात समझ में नहीं आई। इसीलिये महाभारतकार ने कहा है —'इस दुनिया में राजा जनक जितना तत्त्वज्ञानी प्रसिद्ध है, पर वह भी मूर्खता के जाल में फँस गया था।'

संसार के इतिहास में कितने राजाओं ने प्रजा पर अत्याचार कर व भोग-विलास में फँस कर अपने राजधर्म की उपेक्षा की। पर भारतीय इतिहास का यह उदाहरण शायद अद्वितीय है, जब कि एक राजा ने अध्यात्म में विलीन होकर अपने राजधर्म को भुला दिया। 'मिथिला अगर अग्नि द्वारा भस्म भी हो जाय, तो मेरा क्या बिगड़ता है।' यह मनोवृत्ति एक वीतराग योगी के लिये चाहे कितनी ही प्रशंसनीय क्यों न हो, पर एक राजा के लिये इसे कदापि क्षमा नहीं किया जा सकता। एक राजा के लिये यह मनोवृत्ति ठीक वैसी ही है, जैसी कि रोमन सम्राट नीरो की थी, जो कि रोम में आग लग जाने पर स्वयं बाँसुरी बजाता हुआ उस दृश्य का आनन्द लेता हुआ खुश हो रहा था।

मालूम नहीं, कि जनक द्वारा राजधर्म की इतनी उपेक्षा करने पर प्रजा ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया या नहीं। कौटलीय अर्थ-शास्त्र में एक निर्देश मिलता है, जिसके अनुसार विदेह का राजा कराल बड़ा कामी था, और एक कुमारी के साथ बलात्कार करने के कारण प्रजा ने उसे मार डाला। सम्भवतः, जनक कराल विदेह का अन्तिम राजा था, और उसकी हत्या के बाद ही वहाँ राजतन्त्र का अन्त होकर गणतन्त्र की स्थापना हो गई।

कौटलीय अर्थशास्त्र में अन्य भी अनेक ऐसे राजाओं का उल्लेख है, जिनका प्रजा पर अत्याचार करने, अत्यन्त काम करने व इसी प्रकार के अन्य कारणों से विनाश होगया। दाण्डक्य नाम के भोज राजा का विनाश

ब्राह्मण कन्या पर बलात्कार करने के कारण हुआ। ऐल राजा ने लोभ के वशीभूत होकर चारों वर्णों पर बहुत ज्यादा कर लगाये। सौवीर के राजा अजबिन्दु ने भी इसी गलत नीति का अनुसरण कर अपना विनाश किया। परिणाम यह हुआ, कि ऐल और अजबिन्दु दोनों नष्ट हो गये। इसी प्रकार के अन्य अनेक राजाओं का उल्लेख कर आचार्य चाणक्य ने लिखा है—"ये और अन्य बहुत से राजा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और हर्ष—इन छः शत्रुओं के वशीभूत होने के कारण अपने बन्धु बान्धवों और राज्य के साथ विनष्ट हो गये। इसके विपरीत अम्बरीश, नाभाग आदि अनेक राजा जितेन्द्रिय होने के कारण देर तक पृथिवी पर शासन करते रहे।"

कौटलीय अर्थ-शास्त्र के इस संदर्भ में उन राज्यक्रान्तियों का सूत्र-रूप में निर्देश मिलता है, जिनसे भारत के अनेक प्राचीन जनपदों में शासन करने वाले राजवंशों का अन्त हुआ और गणतन्त्र शासनों का प्रारम्भ हुआ।

भारत के ये प्राचीन जनपद, चाहे उनमें राजतन्त्र शासन हो चाहे गणतन्त्र हो, प्रायः छोटे-छोटे राज्य होते थे। प्राचीन ग्रीस और इटली के नगर-राज्यों (City states) के समान इनका विस्तार प्रायः कुछ सौ वर्ग मीलों से अधिक नहीं होता था। महाभारत के युद्ध में कौरवों और पाण्डवों का पक्ष लेकर जो राजा कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में एकत्र हुए थे, उनकी संख्या सैकड़ों में थी। राजा रामचन्द्र जब वनवास के लिये अयोध्या से चले, तो थोड़ा सा सफर करने के बाद ही वे कोशल देश की सीमा से बाहर हो गये थे।

इन राज्यों में प्रायः एक पुर (नगर) और शेष जनपद होते थे। राज्य के सब अग्रणी लोग, व्यापारी, शिल्पी और कर्मकर

पुर में रहते थे। जनपद में मुख्यतया कृषकों का निवास होता था। अनेक जनपदों में जहाँ आर्य-भिन्न लोगों की संख्या अधिक होती थी, खेती का काम दास लोग करते थे। पुर और जानपद के इसी भेद के कारण आगे चल कर 'पौर' और 'जानपद' सभाओं का विकास हुआ। इन गणराज्यों का शासन पौर जानपद द्वारा ही होता था।

इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन भारत में भी बहुत से सम्राट हुए। अनेक शक्तिशाली राजाओं ने चक्रवर्ती साम्राज्यों की स्थापना की। दूर-दूर तक दिग्विजय कर अनेक प्रतापी राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किये। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है,कि राजा भरत ने सम्पूर्ण पृथिवी का विजय करके अपने साम्राज्य का विस्तार किया। इस देश का भारत नाम भी राजा भरत के नाम से ही पड़ा। प्राचीन भारतीय साहित्य में ऐसे बहुत से चक्रवर्ती सम्राटों का उल्लेख मिलता है, जो सदा विश्वविजय में तत्पर रहते थे।

पर भारत के ये प्राचीन सम्राट दिग्विजय करते हुए पराजित राजाओं का मूलोच्छेद नहीं करते थे। वे उनसे केवल अधीनता स्वीकृत करा के ही संतुष्ट हो जाते थे। परास्त निर्बल राजा दिग्विजयी शक्तिशाली सम्राट के अधीन रहना मान कर, उसे बलि व कर देते रहना स्वीकार करते और उसके अश्वमेध-यज्ञ में सम्मिलित होते थे। राजा युधिष्ठिर ने दिग्विजय कर जब राजसूय-यज्ञ किया, तो उसमें सैकड़ों राजा सम्मिलित हुए थे। इस प्रकार एक चातुरन्त सम्राट के रहते हुए भी विविध जनपदों व राज्यों की स्वतन्त्रता कायम रहती थी। सम्राट् जहाँ निर्बल हुआ, ये अधीन राजा कर देना बन्द कर देते थे, और पूर्णतया स्वतन्त्र होजाते थे। फिर कोई अन्य महत्वाकांक्षी राजा मैदान में

जाता था और दिग्विजय कर फिर से चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना करने का प्रयत्न करता था।

४-मगध का साम्राज्यवाद

भारत के इन विविध जनपदों में से एक मगध था। बिहार प्रान्त के जो प्रदेश आजकल पटना और गया जिलों में सम्मिलित हैं, उन्हीं का प्राचीन नाम मगध था। इसी मगध की पुरानी राजधानी राजगृह थी, और बाद में उदायीभद्र ने पाटलीपुत्र (पटना) को इसी की राजधानी नियत किया था। मगध के इस आर्य जनपद में आर्य-भिन्न निवासियों की संख्या बहुत अधिक थी, और यही कारण है, कि बहुत पुराने काल से इस मगध में एक नये प्रकार के साम्राज्यवाद का विकास हो रहा था। मगध के राजा अपने शत्रुओं को परास्त कर उनसे अधीनता स्वीकार करा के ही संतुष्ट नहीं हो जाते थे, वे उनका मूलोच्छेद करके, उनके राज्यों को अपने अधिकार में सम्मिलित करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे।

ऐतरेय ब्राह्मण में एक संदर्भ आता है, जिसमें प्राचीन काल के विविध राज्यों में प्रचलित विविध शासनप्रणालियों का निर्देश किया गया है। इसके अनुसार प्रतीची (पश्चिम) देश में जो सुराष्ट्र (गुजरात), कच्छ, काठियावाड़) और सौवीर (सिन्ध) आदि देश थे, उनके शासन को 'स्वराज्य' कहते थे, और वहाँ के शासक 'स्वराट्' कहलाते थे। उदीची (उत्तर) दिशा में, हिमालय के परे उत्तरकुरु, उत्तर मद्र आदि जो जनपद थे, उनमें 'वैराज्य' शासनप्रणाली थी। वे राज्य 'विराट्' या राजा से विहीन होते थे। दक्षिण दिशा में सात्वत (यादव) लोगों में 'भौज्य' प्रणाली का शासन था, उन जनपदों के शासक को 'भोज' कहते थे। इसी प्रकार कुछ अन्य जनपदों के शासन का उल्लेख करके प्रत्येक

ब्राह्मण में लिखा है, कि प्राच्य (पूर्व) दिशा के देशों में जो राजा हैं, वे 'सम्राट्' कहाते हैं, उनका साम्राज्य के लिये 'सम्राट्' के रूप में ही अभिषेक होता है। प्राच्य जनपदों में मगध और कलिङ्ग प्रमुख थे।

बहुत प्राचीन काल से इस मगध में साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति का विकास हो रहा था। ऐतरेय ब्राह्मण की इस बात की पुष्टि इतिहास द्वारा भी होती है। महाभारत के समय में मगध का राजा जरासन्ध था। उसने चारों तरफ दिग्विजय करके अपने साम्राज्य का बड़ा विस्तार किया। पूर्व में अंग वंग कलिङ्ग और पुण्ड्र को जीतकर जरासन्ध ने अपने अधीन कर लिया था। पश्चिम में कारूष देश के राजा वक्र और चेदि के राजा शिशुपाल उसके अधीनस्थ थे और उससे मित्रता का सम्बन्ध रखते थे। जरासन्ध ने अनेक गणतन्त्र राज्यों पर भी आक्रमण किये। उस समय सबसे अधिक शक्तिशाली गण अन्धक वृष्णियों का था। कृष्ण इसी गण के प्रधान थे। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए जरासन्ध ने अन्धक वृष्णियों के संघ पर आक्रमण किया। पहले पहल उसे सफलता नहीं हुई। परन्तु अनेक बार हमले करने के बाद अन्त में वह सफल हुआ और अन्धक वृष्णियों को अपना असली जनपद छोड़ कर द्वारिका में जाकर बसना पड़ा। जरासन्ध द्वारा सताये जाने पर ही अन्धक वृष्णि लोग द्वारिका जाने को विवश हुए थे।

कृष्ण का भारतीय इतिहास में बड़ा महत्व है। जरासन्ध को परास्त करने के लिए उन्होंने इन्द्रप्रस्थ के पाण्डव राजा युधिष्ठिर की सहायता प्राप्त की। जरासन्ध को मार कर उन्होंने मगध के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद को रोकने का प्रयत्न किया। जरासन्ध का साम्राज्यवाद भारत के प्राचीन चक्रवर्ती राजाओं के साम्राज्य

वाद से बहुत भिन्न था। जरासन्ध पराजित राजाओं का मूलोच्छेद करने का यत्न करता था। इसी कारण महाभारत में लिखा है, कि उसके कारागार में बहुत से राजा कैद थे और जरासन्ध उनकी बलि देने की तैयारी कर रहा था।

मगध के अन्य भी बहुत से राजाओं ने इसी प्रकार के साम्राज्यवाद का अनुसरण किया। बिम्बिसार, अजातशत्रु, उदायीभद्र, नागदासक और महापद्मनन्द के नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। पुराणों में महापद्मनन्द को 'एकराट्' 'एकच्छत्र' 'अतिबल 'और' सर्वक्षत्रान्तक' आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है।

मगध के इन्हीं राजाओं ने धीरे-धीरे भारत के अन्य सब, राजतन्त्र व गणतन्त्र—जनपदों को परास्त कर सम्पूर्ण देश में अपना एकच्छत्र, 'अनुल्लंघित शासन' स्थापित कर लिया। पाटलीपुत्र इसी विशाल मागध साम्राज्य की राजधानी था।

(५) मगध की सैन्यशक्ति

आर्य लोग भारत में पश्चिम से पूर्व की तरफ फैले थे। वर्तमान समय के पंजाब व संयुक्तप्रान्त में उनके जो जनपद स्थापित हुए, उनके निवासी मुख्यतया आर्य लोग ही थे। पर पूर्व के राज्यों में 'आर्य-भिन्न' लोगों की संख्या अधिक थी। उनमें थोड़े से आर्य बहुसंख्यक विजातीय लोगों पर शासन करते थे। इन जनपदों में राजा 'समानों में ज्येष्ठ' न होकर 'एकराट्' होता था। इन एकराटों की शक्ति का आधार आर्यशक्ति उतनी नहीं होती थी, जितनी कि भरती की हुई सेनाओं की शक्ति। उनकी सेनाओं में भी आर्यतत्त्व के अतिरिक्त 'भृत' (वेतन पर इकट्ठे किये हुए या मर्सिनरी) सैनिकों की प्रचुरता रहती थी।

कौटलीय अर्थशास्त्र में निम्नलिखित प्रकार की सेनाओं का उल्लेख है—

(१) मौल- वह जो राजा व शासक आर्यवर्ग की अपनी बिरादरी के लोगों की सेना हो। इसमें शुद्ध आर्य सैनिक ही सम्मिलित होते थे।

(२) भृत-वेतन के लिये भरती हुए लोगों की सेना। क्योंकि मगध व अन्य पूर्वी जनपदों में आर्य भिन्न जातियों के निवासी बहुत अधिक थे, अतः उन्हें वेतन देकर बड़ी संख्या में सेना में भरती किया जा सकता था। मगध की सेना में भृत सैनिकों को भरती करने की जो सुविधा थी, वह कुरु, पांचाल, कोशल मालव, आरट्ट आदि पश्चिम के जनपदों में नहीं थी।

(३) श्रेणि—प्राचीन काल में जिस प्रकार शिल्पियों व कारीगरों की श्रेणियाँ (Guilds) थीं, उसी प्रकार सैनिकों की भी थीं। ये श्रेणियाँ एक प्रकार के स्वतन्त्र संगठन थे, जिनके अपने कानून व अपने परम्परागत नियम होते थे। आर्यों ने जिन आर्य-भिन्न जातियों को जीत कर अपने अधीन किया था, उनमें बहुत से लोग बड़े वीर होते थे। इन वीर लोगों में से बहुतों का पेशा ही सैनिक का था। इन्होंने अपनी स्वतन्त्र सैनिक श्रेणियाँ संगठित करली थीं, और राजा लोग अपनी साम्राज्य सम्बन्धी महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए इन सैनिक श्रेणियों का भलीभाँति उपयोग कर सकते थे। वेतन, उपहार व अन्य प्रलोभनों द्वारा इन सैनिक श्रेणियों के पेशेवर सैनिक मगध के सम्राटों की सहायता के लिये सदा तत्पर रहते थे।

(४) मित्र-जो पड़ोसी राजा अपने मित्र हों, उनकी सेना को 'मित्रबल' कहते थे। चेदिराज शिशुपाल मागध सम्राट जरासन्ध का मित्र था। वह जरासन्ध का प्रधान सेनापति भी था। चेदि की सेना मगध की सहायता के लिये सदा तत्पर रहती थी। इस प्रकार की सेना को मित्रबल कहते थे।

(५) अटवि बल-प्राचीन काल में भारत का बहुत सा भाग जंगलों से आच्छन्न था। विशेषतया, पूर्वी भारत में उस समय बहुत घने व विशाल जंगल थे। वर्तमान समय का छोटा नागपुर व सन्थाल परगना के जंगलप्रधान प्रदेश उन्हीं 'महाकान्तारों' के अवशेष हैं। इन अटवियों (जंगलों) में उस समय बहुत सी योद्धा जातियाँ निवास करती थीं, जिन्हें आर्य लोग पूरी तरह अपनी अधीनता में लाने में सफल नहीं हुए थे। ये अटवि-निवासी बहुत वीर योद्धा होते थे। मगध के सम्राटों ने इनकी शक्ति का अपने उत्कर्ष के लिये प्रयोग किया। अटवि निवासियों की सेना का उन्होंने पृथक रूप से संगठन किया। इसके लिए उन्होंने एक पृथक अमात्य की भी नियुक्ति की, जिसे 'आटविक' कहते थे। आटविक के नेतृत्व में यह अटवि सेना भी मागध सेना का एक महत्त्वपूर्ण अंग होती थी।

आचार्य कौटल्य या चाणक्य मागध सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्रिपुरोहित (प्रधान अमात्य) थे। इनके अर्थ-शास्त्र द्वारा मगध के सम्राटों की परम्परागत राजनीति का भली भाँति परिचय मिलता है। ऊपर पाँच प्रकार की जिन सेनाओं का वर्णन किया गया है, उन्हें संगठित करने की जो सुविधा मगध को थी, वह भारत के अन्य राज्यों को नहीं थी। इन और आटविक सेनाओं के साथ साथ मगध के राजनीतिज्ञों ने साम्राज्य के विस्तार के लिये अद्भुत प्रकार की कूटनीति का भी विकास किया था।

दूसरा अध्याय

मागध साम्राज्य का प्रारम्भ

(१) मगध में आर्यों का पहला राज्य

आर्यों की अनेकों शाखायें और अनेक वंश थे। उनका विस्तार भारत में धीरे धीरे हुआ था। आर्यवंशों में सब से मुख्य मानव और ऐल हैं। इन दोनों वंश-वृक्षों से अनेक शाखायें और उपशाखायें फूटती गईं, और धीरे-धीरे सारे उत्तरी भारत में आर्यों के विविध वंश राज्य करने लगे।

ऐलवंश का संस्थापक राजा पुरूरवा था। उसकी राजधानी प्रयाग के समीप में स्थित प्रतिष्ठान नगरी थी। ऐलवंश ने बड़ी उन्नति की और दूर दूर के प्रदेशों में अपने राज्य स्थापित किये। इसी वंश में आगे चलकर तितिक्षु हुआ। उसने पूर्वी भारत में अपनी शक्ति का विस्तार किया। वर्तमान बिहार प्रान्त में सब से पहला ऐलवंशी आर्य राज्य तितिक्षु द्वारा ही स्थापित हुआ था। ऐलवंशी आर्यों के प्रवेश से पूर्व बिहार में सौद्युम्न जाति का निवास था। आर्यों से परास्त हो कर ये लोग सुदूर पूर्व में उड़ीसा की तरफ चले गये। राजा तितिक्षु ने सौद्युम्नों को परास्त कर आर्य राज्य की नींव डाली, और उसके वंशज देर तक वहाँ राज्य करते रहे।

इसी समय कान्यकुब्ज में ऐलवंशी आर्य राजा कुश राज्य कर रहा था। उसका छोटा लड़का अमूर्तरयस था। बड़े लड़के का नाम गय था। गय आमूर्तरयस एक प्रबल प्रतापी वंशकर राजा हुआ है। प्राचीन भारत में जो वीर पुरुष किसी नये

राज्य की स्थापना कर एक नये राजवंश का प्रारम्भ करते थे, उन्हें वंशकर कहा जाता था। गय आमूर्तरयस ने काशी के पूर्व के जंगली प्रदेश में, जिसे प्राचीन समय में धर्मारण्य कहा जाता था, और जो आगे चल कर मगध कहलाया, पहले पहल एक आर्य राज्य की स्थापना की, और एक नये वंश का प्रारम्भ किया। वर्तमान समय की गया नगरी का संस्थापक सम्भवतः यही गय आमूर्तरयस था, जिसे राजधानी बना कर इसने मगध का पहले पहल शासन किया था। गय आमूर्तरयस की गिनती चक्रवर्ती राजाओं में की जाती है।

प्रतीत होता है, कि मगध में आर्यों का यह प्रथम राज्य देर तक टिक नहीं सका। धर्मारण्य उस समय में एक विशाल जंगल था, जिसमें शक्तिशाली राक्षस जातियां निवास करती थीं। राक्षस जातियों के जोर के कारण आर्य लोग वहां देर तक नहीं रह सके। रामायण में ऋषि विश्वामित्र ने जिन राक्षस जातियों को नष्ट करने के लिये अयोध्या के राजा राम की सहायता प्राप्त की थी, वे इसी धर्मारण्य में बसती थीं।

(२) ऋषि दीर्घतमा की कथा

भारत की प्राचीन अनुश्रुति में ऋषि दीर्घतमा की कथा बड़े महत्व की है। मगध और पूर्वी भारत के अन्य प्रदेशों में आर्यों के प्रवेश पर उससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। हम इस कथा को संक्षेप में यहां उद्धृत करते हैं।

प्राचीन समय में दो ऋषि हुए, जिनके नाम बृहस्पति और उशिज थे। उशिज की पत्नी का नाम ममता था। उशिज और और ममता के एक पुत्र हुआ, जो जन्म से ही अन्धा था। इस लिये उसका नाम दीर्घतमा रखा गया। उधर ऋषि बृहस्पति के भी एक पुत्र हुआ, जिसका नाम भारद्वाज था। अन्धा दीर्घतमा

अपने चचेरे भाई भारद्वाज के आश्रम में रहता था। वहाँ उसने अपनी भाभी के साथ दुराचार करने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ, कि कुछ आश्रम-वासियों ने ऋषि दीर्घतमा को बाँध कर, बेड़े पर डाल गंगा में बहा दिया। गंगा में बहते-बहते ऋषि दीर्घतमा आनव राजा बलि के राज्य में जा पहुँचे। राजा बलि उस समय गंगा में स्नान कर रहे थे। उन्होंने जब एक वृद्ध व अन्धे ऋषि को नदी में बहते हुए देखा, तो उसका उद्धार किया, और बड़े आदर के साथ उसे अपने राजमहल में ले गये।

राजा बलि के कोई सन्तान नहीं थी। उस समय आर्यों में नियोग की प्रथा प्रचलित थी। राजा बलि की पत्नी सुदेष्णा ने ऋषि दीर्घतमा के साथ नियोग करके पाँच पुत्रों को जन्म दिया। इनके नाम अंग, वंग, कलिंग, पुण्ड्र और सुम्ह थे। इन पाँचों ने अङ्ग वंग, आदि पाँच पूर्वी राज्यों की स्थापना की। ये पाँचों वंशकर राजा हुए। इन्हें इतिहास में 'बालेय क्षत्र' और 'बालेय ब्राह्मण' के नाम से कहा गया है। ये पाँचों क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों थे। इनकी माता क्षत्रिय व पिता ब्राह्मण ऋषि थे, इसीलिये इन्हें ये नाम दिये गये हैं। कतिपय पुराणों के अनुसार अंग, वंग आदि पाँच कुमार रानी सुदेष्णा के पुत्र न होकर उसकी शूद्र दासी के पुत्र थे। राजा बलि की आज्ञा से जब रानी सुदेष्णा ऋषि दीर्घतमा के पास गई, तो उसे बूढ़ा, अन्धा व विकलांग देखकर डर गई और उसने अपनी जगह पर अपनी दासी को ऋषि के पास भेज दिया।

ऋषि दीर्घतमा ने एक अन्य शूद्र-स्त्री औशीनरी से विवाह भी किया और उससे काक्षीवान आदि अनेक पुत्रों का जन्म हुआ।

यह राजा बलि तितिक्षु का वंशज था । तितिक्षु का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। यद्यपि मगध से गय आमूर्तरयस द्वारा स्थापित राज्य इस समय समाप्त हो चुका था, पर और अधिक पूर्व में तितिक्षु के वंशज अभी तक राज्य कर रहे थे। बलि के बाद उसके आर्य-राज्य की और अधिक उन्नति हुई। इसकी नियोगज सन्तान ने बंगाल की खाड़ी तक आर्य-शासन का विस्तार किया, और अङ्ग, वंग, कलिंग, पुण्ड्र और सुम्ह- इन पाँच नये राज्यों की अपने नामों से स्थापना की।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है, कि बलि के उत्तराधिकारी शुद्ध आर्य राजा नहीं थे। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार वे दीर्घतमा ऋषि की शूद्र स्त्री द्वारा उत्पन्न हुई सन्तान थे। अभिप्राय यह है, कि पूर्वी भारत में आर्य लोग अपनी रक्त-शुद्धता को कायम नहीं रख सके थे। मगध के, बाद के राजाओं को भी असुर व शूद्र कहा गया है। जरासन्ध व महापद्मनन्द जैसे मागध सम्राट शुद्ध आर्य न होकर असुर व शूद्र कहे गये हैं। पूर्वी भारत के इन प्राचीन आर्यों में बहुत प्राचीन काल से अनार्य-रक्त का प्रवेश हो गया था। पूर्वी भारत में जाकर बसने वाले व अपना पृथक राज्य स्थापित करने वाले आर्य ब्राह्मणों व क्षत्रियों ने आर्यभिन्न जातियों की स्त्रियों से विवाह किये और इसीलिये इन पूर्वी राज्यों में अनार्य तत्त्व की अधिकता रही। इसी कारण 'भृत' सेना को संगठित कर सकना उनके लिए सुगम रहा और इसी लिये उनमें प्राचीन आर्य-परम्परा के विपरीत शक्तिशाली साम्राज्यों के निर्माण की प्रवृत्ति हुई।

मनुस्मृति में जहाँ वर्णसंकरों का परिगणन किया गया है, मागध, वंग आदि उनमें सम्मिलित हैं। पूर्व के ये राजा शुद्ध आर्य न होकर वर्णसंकर थे।

(३) बार्हद्रथ वंश का प्रारम्भ

प्राचीन काल में हस्तिनापुर में पौरव वंश का राज्य था। इस वंश में कुरु नाम का एक अत्यन्त प्रतापी राजा हुआ। कुरुक्षेत्र की स्थापना इसी ने की और इसके वंशज आगे चलकर कौरव कहलाये।

कुरु के वंश में आगे चल कर राजा वसु हुआ। वसु बड़ा प्रतापी और वंशकर राजा था। उसने चेदि देश को जीत कर अपने अधीन कर लिया, और इसीलिये वह चैद्योपरिचर (चैद्य + उपरिचर = चैद्यों के ऊपर चलने वाला) की उपाधि से विभूषित हुआ। उसने पूर्व में चेदि से भी आगे बढ़कर मगध तक के प्रदेश को जीतकर अपने अधीन कर लिया। उसकी राजधानी शुक्तिमती (केन) नदी के तट पर स्थित शुक्तिमती नगरी थी।

वसु के पाँच लड़के थे—बृहद्रथ, प्रत्यग्रह, कुश, यदु और मावेल्ल। वसु ने अपने प्रताप से जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की, उसे उसने पाँच भागों में विभक्त कर उनका शासन करने के लिये अपने पाँचों पुत्रों को नियुक्त किया। मगध का शासक बृहद्रथ को नियत किया गया। काशी और अंग के बीच के जंगल-प्रधान (धर्मारण्य) प्रदेश का नाम मगध था। यहाँ पर पहले गय आमूर्तरयस ने आर्य-राज्य की नींव डाली थी। मगध में पहला स्थायी आर्य-राज्य वसु ने स्थापित किया, और और उसका पहला शासक बृहद्रथ हुआ। वसु की मृत्यु के बाद उसके पाँचों लड़के अपने-अपने प्रदेश में स्वतन्त्र हो गये और उनसे पाँच पृथक राजवंशों का प्रारम्भ हुआ। वसु बड़ा प्रतापी राजा था। मत्स्य-देश से मगध तक सारा मध्य-भारत उसके अधीन था। इसीलिए उसे चक्रवर्ती सम्राट् कहा जाता था।

वसु के बाद मगध में बृहद्रथ ने स्वतन्त्र राजवंश की स्थापना की। यह बार्हद्रथ वंश के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। बार्हद्रथ राजाओं की राजधानी गिरिव्रज थी। पाटलीपुत्र व राजगृह की स्थापना से पूर्व अनेक सदियों तक मगध की राजधानी गिरिव्रज रही। राजगृह की स्थापना गिरिव्रज के समीप ही बाद में हुई। वस्तुतः गिरिव्रज के खण्डहरों पर ही राजगृह का निर्माण हुआ था। गिरिव्रज के संस्थापक कौरव सम्राट् वसु और उसका पुत्र बृहद्रथ ही थे।

(४) बार्हद्रथ वंश

इस वंश के राजा निम्नलिखित थे—बृहद्रथ, कुशाग्र, ऋषभ, पुष्पवान्, सत्यहित, सुधन्वा, ऊर्ज, सम्भव, जरासन्ध, सहदेव, सोमाधि और श्रुतश्रवा।

महाभारत के युद्ध के समय मगध का बार्हद्रथ-वंशी राजा सहदेव था, और महाभारत के युद्ध-काल में ही सोमाधि मगध के सिंहासन पर आरूढ़ हो गया था। पुराणों के आधार पर बार्हद्रथ वंश के राजाओं की जो सूची ऊपर दी गई है, सम्भवतः वह पूर्ण नहीं है। महाभारत में मगध के एक राजा दीर्घ का उल्लेख आता है, जिसे हस्तिनापुर के राजा पाण्डु ने परास्त किया था। इस प्रसंग में महाभारत में लिखा है—पृथ्वी को विजय करने की इच्छा से राजा पाण्डु भीष्म आदि वृद्धों, धृतराष्ट्र और कुरुओं के अन्य श्रेष्ठ जनों को प्रणाम करके, उनकी अनुमति लेकर, मङ्गलाचरण युक्त आशीर्वाद का श्रवण करता हुआ हाथी-घोड़े और रथों से भरी हुई बड़ी भारी सेना के साथ विजय के लिये चला। ......उन्होंने बल तथा अहङ्कार से गर्वित मगधराज दीर्घ को उसकी राजधानी राज-

युद्ध में ही मार डाला। राजगृह से बहुत सा कोष और विविध प्रकार के वाहन पाण्डु के हाथ लगे।'

इससे प्रतीत होता है, कि पाण्डु के समय में मगध का राजा दीर्घ था। बार्हद्रथ-वंशी जरासन्ध कौरवराज दुर्योधन व पाण्डव राज युधिष्ठिर का समकालीन था। राजा दीर्घ पाण्डु का समकालीन था। इसलिये वह जरासन्ध से कुछ समय पूर्व मगध का राजा था। उसे हम उर्ज और सम्भव के बाद जरा-सन्ध से पहले रख सकते हैं।

यद्यपि मगधराज दीर्घ पाण्डु से ही पराहत हो गया था, पर उसके प्रताप व शक्ति में कोई सन्देह नहीं किया जासकता। महाभारत में ही लिखा है कि "दीर्घ ने बहुत से राजाओं को हानि पहुँचाई हुई थी, बहुत से महीप उससे नुकसान उठाये हुये थे और इसी लिये उसे अपने बल का बहुत घमंड था।"

दीर्घ के बाद मगध की राजगद्दी पर जरासन्ध आसीन हुआ। महाभारत के अनुसार जरासन्ध ने सब क्षत्रिय राजवंशों की राज्य-श्री का अन्त कर, सर्वत्र अपने तेज से आक्रमण कर, सब राजाओं में प्रधान स्थान प्राप्त किया था, वह सबका स्वामी था। सारा संसार उसके 'एकच्छत्र' में था और सर्वत्र उसका साम्राज्य था।

चेदि का राजा शिशुपाल जरासन्ध की अधीनता स्वीकार करता था और मागध-साम्राज्य के प्रधान सेनापति-पद पर नियुक्त था। करूष देश का राजा वक्र उसका शिष्य सा बना हुआ था। वक्र बड़ा प्रतापी राजा था और माया-युद्ध में बड़ा प्रवीण था। ऐसे ही, करभ का राजा मेघवाहन, जिसकी ख्याति एक दिव्य-मणि के कारण सर्वत्र विस्तृत थी, जरासन्ध के अधीन हो गया था। प्राग्ज्योतिष का राजा भगदत्त, जिसके अधीन

मुरु और नरक नाम के दो राजा थे, और जो अनन्त बल वाला भूपाल था, न केवल वाणी से अपितु कर्म से भी जरासन्ध के अधीन था। युधिष्ठिर का मामा पुरुजित भी मगधराज की अधीनता स्वीकृत करता था। वंग, पुण्ड्र और किरात का राजा वासुदेव भी जरासन्ध के अधीन था। इसी प्रकार पाण्ड्य और क्रथकैशिक का राजा भीष्मक भी मागध साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करता था।

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है, कि जरासन्ध का साम्राज्य पूर्व में बङ्गाल और आसाम तक फैला हुआ था। पूर्वी भारत के अंग, वंग, पुण्ड्र, किरात व प्राग्ज्योतिष के राजा उसकी अधीनता में थे। दक्षिण में क्रथकैशिक (बरार व मध्यदेश) के प्रदेश भी उसके साम्राज्य में सम्मिलित थे। चेदि के पश्चिमोत्तर में शूरसेन प्रदेश (वर्तमान मथुरा व उसके समीपवर्ती प्रदेश) में अन्धक यादवों का राज्य था। वहाँ का राजा कंस जरासंध का दामाद था। जरासंध की पुत्री व सहदेव की बहन अस्ति और प्राप्ति कंस की पत्नियाँ थीं। जरासंध की सहायता व संरक्षण के भरोसे कंस अपनी प्रजा पर मनमाना अत्याचार करता था। इस प्रकार भारत के बहुत बड़े भाग में उस समय जरासन्ध की तूती बोलती थी।

अनेक राज्य ऐसे भी थे, जिन्होंने मगधराज जरासन्ध की अधीनता स्वीकार कर लेने के स्थान पर अपने प्रदेशों को छोड़-कर कहीं सुदूर पश्चिम में बस जाना उचित समझा। ऐसे अठारह राज्य तो भोजों के ही थे। उनके अतिरिक्त, शूरसेन, भद्रकार, बोध, शाल्व, पटच्चर, सुस्थल, मुकुट, कुलिन्द, कुन्ति और शाल्वायन ये सब राजकुल अपने जनपदों को छोड़ कर जरासन्ध के भय से पश्चिम की ओर चले गये थे।

इसी प्रकार दक्षिण-पंचाल, पूर्व-कोशल और मत्स्यराज्यों के निवासी भी अपने अपने प्रदेशों को छोड़कर दक्षिण में जाकर बस गये। पंचाल लोग अपने 'स्वराज्य' को छोड़ कर सब तरफ बिखर गये। (महाभारत, सभापर्व, अ० १४)

ऊपर जिन राजकुलों व गणों का उल्लेख किया गया है, उन सब प्रदेशों का ठीक-ठीक परिचय हमें नहीं है। पर मगधराज जरासन्ध के उग्र साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में इस संदर्भ से बहुत महत्त्वपूर्ण बातें हमें ज्ञात होती हैं। बंग, पुण्ड्र, चेदि आदि जिन राज्यों ने जरासन्ध की अधीनता को स्वीकार कर लिया था, उन्हें मागध साम्राज्य में अधीनस्थ रूप से कायम रहने दिया गया था। पर जिन राजकुलों व गण राज्यों ने यह अधीनस्थिति स्वीकार नहीं की थी, उन्हें अपने-अपने जनपद व प्रदेश छोड़ कर सुदूरवर्ती प्रदेशों में जा बसने के लिये विवश होना पड़ा था। मगध की इस उग्र साम्राज्य-लिप्सा से आर्यावर्त के जनपदों में उस समय कितनी भयंकर उथल पुथल मची होगी, इसकी कल्पना सुगमता से की जा सकती है।

जरासन्ध ने बहुत से राजाओं को पकड़ कर कारागार में भी डलवा दिया था। महाभारत की अनुश्रुति के अनुसार 'जिस प्रकार सिंह महाहस्तियों को पकड़ कर गिरिराज की कन्दरा में बन्द कर देता है, उसी प्रकार जरासन्ध ने राजाओं को परास्त कर गिरिव्रज में कैद कर लिया था। राजाओं के द्वारा यज्ञ करने की इच्छा से (राजाओं का यज्ञ में बलिदान करने की इच्छा से) उस जरासन्ध ने अत्यन्त कठोर तप करके उमापति महादेव को सन्तुष्ट किया है, और राजाओं को एक-एक करके परास्त कर अपने पास कैद कर लिया है।'

राजा युधिष्ठिर उन दिनों राजसूय यज्ञ करने के लिये उत्सुक थे। कृष्ण ने उन्हें बताया, कि जब तक जरासन्ध जैसा शक्तिशाली सम्राट् विद्यमान है, उनकी राजसूय के लिये कोशिश करना एकदम व्यर्थ है। पहले जरासन्ध को मारने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे मार्ग से हटाये बिना राजसूय यज्ञ का स्वप्न देखना भी बेकार है। कृष्ण को जरासन्ध से विशेष विरोध व द्वेष था। वे अन्धक वृष्णि संघ के 'संघ मुख्य' व नेता थे। जरासन्ध के आक्रमणों से विवश होकर इस अन्धक वृष्णि-संघ को अपने प्रदेश शूरसेन को छोड़कर सुदूर पश्चिम में द्वारिका में जा बसने के लिये विवश होना पड़ा था।

शूरसेन प्रदेश में यादव लोगों के दो राज्य थे—अन्धक और वृष्णि। अन्धक यादवों का नेता कंस था। कंस जरासन्ध का जामाता था। जरासन्ध मगध का 'एकराट्' था। पर कंस अन्धक यादवों में 'समानों में श्रेष्ठ' था, एकराट् नहीं, पर पर अपने श्वसुर जरासन्ध का सहारा पाकर कंस ने भी अन्धक यादव कुलों के अन्य 'वृद्धों' व नेताओं को दबाना शुरू किया, और एकराट् हो गया। पर अन्धक यादवों को यह बात पसन्द न आई। उन्होंने अपने पड़ोसी, दूसरे यादव राज्य, वृष्णिगण से सहायता माँगी। वृष्णि-यादवों का नेता कृष्ण था। कृष्ण ने कंस को मार डाला। यह सुनते ही जरासन्ध का कोप हुआ और यादवों पर उमड़ पड़ा। उसने सत्रह बार यादवों पर आक्रमण किये। अन्धक-वृष्णियों ने खूब डट कर मगधराज जरासन्ध का मुकाबला किया। हंस और डिम्भक नामक दो सेनापति इन युद्धों में काम आये। आखिर अठारहवीं बार जरासन्ध ने एक शक्तिशाली सेना लेकर यादवों पर आक्रमण किया। इस बार अन्धक-वृष्णि परास्त हुए, और कृष्ण की सलाह से वे शूरसेन देश को छोड़ कर द्वारिका में जा बसे। वहीं

अन्धक और वृष्णि गणों ने परस्पर मिल कर एक संघ राज्य बना लिया, और कृष्ण इसके 'संघ मुख्य' नियत हुए। द्वारिका मगध से बहुत दूर थी। वहाँ जरासन्ध के आक्रमणों का कोई भय नहीं था। पर कृष्ण अपने परम शत्रु मगधसम्राट से बदला उतारने के लिये उत्सुक थे। अकेला यादव संघ मगध का कुछ नहीं बिगाड़ सकता था। इसलिये उन्होंने इन्द्रप्रस्थ के पाण्डव राजा युधिष्ठिर को अपना मित्र बनाया। पाण्डव राजा बड़े महत्वाकांक्षी थे। वे राजसूय यज्ञ करके चक्रवर्ती पद प्राप्त करने के प्रयत्न में थे। कृष्ण ने उन्हें समझाया कि जरासन्ध को मारे बिना वे अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर सकते। उसने कहा—‘इस समय एक महान सम्राट् मगधराज जरासन्ध पहले से विद्यमान है। वह अपने बल पराक्रम से सम्राट्पद पर पहुँचा है। ऐल तथा ऐक्ष्वाकव वंश की इस समय एक सौ शाखायें हैं। शक्ति से चाहे जरासन्ध ने इन्हें अपने अधीन कर लिया हो, परन्तु दिल से उसे वे नहीं चाहते। छल-बल से ही उन पर शासन करता है। ८६ राजा तो उसने कैद ही कर रखे हैं, और साथ ही यह घोषणा कर रखी है, कि जब इन कैदी राजाओं की संख्या पूरी सौ हो जायगी, तो महादेवजी के आगे इनकी बलि चढ़ा दी जावेगी। यह बिल्कुल अनहोनी बात है कि, किसी राज्य के विधिपूर्वक अभिषिक्त राजा को कोई सम्राट् पकड़ रखे। क्षत्रिय का धर्म लड़ाई में मरना है, पशु के समान यज्ञ में बलि चढ़ना नहीं। मगधराज का हमें मिल कर मुकाबला करना चाहिए। जो अब जरासन्ध के मुकाबले में खड़ा होगा, वही उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त कर सकेगा। जरासन्ध को जो परास्त करेगा, वही इस समय सम्राट्-पद का अधिकारी होगा।"

कृष्ण की प्रेरणा से पाण्डव लोग जरासन्ध का मुकाबला करने के लिए तैयार हो गये। पर उन्होंने सम्मुख युद्ध में जरा-सन्ध का सामना करना उचित नहीं समझा। अर्जुन और भीम वेश बदल कर कृष्ण के साथ मगध की राजधानी गिरिव्रज में गये और वहां जरासन्ध को द्वन्द्व युद्ध के लिये ललकारा। कृष्ण ने युद्ध के लिए आह्वान करते हुए जरासन्ध से कहा, "हम तुम्हें द्वन्द्व-युद्ध के लिये आह्वान करते हैं। या तो कारागार में डाले हुए सब राजाओं को छोड़ दो, या मृत्यु के लिए तैयार हो जाओ।"

जरासन्ध जैसा बहुत वीर द्वन्द्व-युद्ध से इनकार नहीं कर सकता था। सर्वसाधारण जनता के सामने खुले मैदान में जरासन्ध और भीम की लड़ाई हुई। दर्शकों में शूद्र, स्त्रियाँ, वृद्ध सब शामिल थे। द्वन्द्व-युद्ध में भीम की विजय हुई। जरा-सन्ध मारा गया। यदि पाण्डव सेनायें मगध पर आक्रमण करतीं, तो जरासन्ध की सैन्य शक्ति को नष्ट कर सकना शायद उनके लिये सम्भव न होता। कृष्ण ने अपनी नीति कुशलता से पाण्डवों को यही सलाह दी, कि वे वेश बदल कर गिरिव्रज पहुँचें और वहाँ जरासन्ध को द्वन्द्व-युद्ध में पराजित करें। कृष्ण भली भांति जानता था, कि जरासन्ध के मरते ही मगध में क्रांति हो जायगी क्योंकि मगध का साम्राज्य 'एकराट' की वैयक्तिक शक्ति पर निर्भर था।

जरासन्ध के मारे जाते ही कृष्ण ने पहला कार्य यह किया कि कैद में पड़े हुए राजाओं को मुक्त कर दिया। इन सब राजाओं ने प्रसन्नता पूर्वक पाण्डवों की अधीनता स्वीकार की। ये सब राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये सहर्ष तैयार हो गये। मगध का साम्राज्यवाद इन सब

राजाओं का समूल उच्छेद करने में तत्पर था। पर युधिष्ठिर का साम्राज्यवाद प्राचीन आर्य-परम्परा के अनुकूल था। अन्य राजाओं से अधीनता स्वीकृत करना ही उसका उद्देश्य था, मूर्धाभिषिक्त राजाओं को कैद करना या मारना प्राचीन आर्य परम्परा के सर्वथा विपरीत था।

जरासन्ध की मृत्यु के बाद उसका लड़का सहदेव मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। एकराट् राजाओं की शक्ति बहुत कुछ उनके व्यक्तित्व पर निर्भर रहती है। जरासन्ध के मरते ही उसका शक्तिशाली साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। इन्द्रप्रस्थ के राजा युधिष्ठिर का साहाय्य पाकर विविध अधीन राजा फिर से स्वतन्त्र हो गये। अनेक गण राज्य भी निर्भय होकर फिर से अपने जनपदों में वापस लौट आये। अब भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति मगध की जगह पर इन्द्रप्रस्थ हो गई।

राजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करने से पूर्व दिग्विजय किया और भारत के विविध जनपदों से अधीनता स्वीकृत कराई। पूर्वी भारत को विजय करने का कार्य भीम के सुपुर्द किया गया था। मगध को अधीन करने के लिये भीम को युद्ध की आवश्यकता नहीं हुई। सहदेव को समझा-बुझा कर शान्त कर दिया गया और उसने पाण्डवों को कर देना भी स्वीकार कर लिया। जिस कृष्ण के षड्यन्त्र से जरासन्ध का वध हुआ था, युधिष्ठिर की राजसूय-सभा में उसी की सहदेव ने अर्चना की, और विविध उपहार पाण्डवराज की सेवा में भेंट किये।

पर पाण्डवों का यह उत्कर्ष देर तक कायम नहीं रहा। हस्तिनापुर के कौरव पाण्डवों के इस उत्कर्ष को सहन नहीं कर सकते थे। कौरवों और पाण्डवों में आगे चल कर जो संघर्ष हुआ, उसी को महाभारत का युद्ध कहा जाता है।

मगध का राजा सहदेव इस युद्ध में पाण्डवों की ओर था। द्रोणाचार्य द्वारा वह युद्ध में मारा गया। महाभारत में इस प्रसंग में लिखा है—"जब पाण्डवों की सेना का इस प्रकार विनाश होने लगा, तब जरासन्ध-पुत्र हँस कर पराक्रम प्रकाशित करता हुआ द्रोणाचार्य की ओर दौड़ा। जैसे बादल सूर्य को छिपा देते हैं, वैसे ही उसने अपने तीक्ष्ण बाणों की वर्षा से द्रोणाचार्य को छिपा दिया। जरासन्ध-पुत्र सहदेव के ऐसे हस्तलाघव को देखकर क्षत्रियों का नाश करने वाले द्रोणाचार्य एक-एक बार में सौ-सौ और हजार हजार बाण उसके ऊपर चलाने लगे। सब धनुर्धारियों के सम्मुख ही द्रोणाचार्य ने जरासन्ध-पुत्र को अपने बाणों से आच्छादित कर मार डाला।"

प्रतीत होता है, कि सहदेव का एक अन्य भाई जयत्सेन था, वह भी एक अक्षौहिणी सेना लेकर पाण्डवों की ओर से महाभारत युद्ध में सम्मिलित हुआ था। जरासन्ध का एक पुत्र, सम्भवतः, महाभारत के युद्ध में कौरवों के पक्ष में था। इसका नाम [illegible] था। वह दुर्योधन की सेना में सम्मिलित था। इससे ज्ञात होता है कि जरासन्ध की मृत्यु के बाद न केवल मगध की राज्य शक्ति ही क्षीण हो गई थी, अपितु उसके राजकुल में भी फूट पड़ गई थी।

सहदेव की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सोमाधि मगध की राजगद्दी पर बैठा। पुराणों के अनुसार उसने ५८ वर्ष तक राज्य किया। सोमाधि के उत्तराधिकारी निम्नलिखित हुए—सोमाधि के वंश में श्रुतश्रवा ने ६४ वर्ष राज्य किया। अयुतायु का राज्यकाल २६ वर्ष था। उसके बाद निरमित्र ने ४० वर्ष तक पृथिवी का उपभोग कर स्वर्गारोहण किया, सुक्षत्र ने ५६ वर्ष तक राज्य किया। बृहत्कर्मा ने २३ वर्ष तक राज्य किया। बृहत्कर्मा

के बाद सेनाजित् राजा बना। इसका शासन काल भी २३ वर्ष था। उसके बाद श्रुतञ्जय हुआ। पुराणों के अनुसार श्रुतञ्जय 'महाबल, महाबाहु और महाबुद्धिपराक्रम' था। प्रतीत होता है, कि उसके समय में मागध शक्ति का पुनरुद्धार हुआ और उसके बल तथा बुद्धि-पराक्रम की याद उसके पीछे भी देर तक बनी रही।

श्रुतञ्जय के बाद विभु मगध का राजा बना। उसने २८ वर्ष तक राज्य किया। फिर, शुचि ने ५८ वर्ष तक राज्य किया। उसके बाद राजा क्षेम ने २८ वर्ष तक राज्य का उपभोग किया। क्षेम के बाद वीरवर सुव्रत ने ६४ वर्ष राज्य किया। फिर सुनेत्र ने ३५ वर्ष तक शासन किया। फिर, निर्वृत्ति ने ५८ वर्ष तक पृथिवी का उपभोग किया। तदनन्तर, त्रिनेत्र ने २८ वर्ष तक राज्य किया। फिर, दृढ़सेन ४८ वर्ष तक राजा रहा। फिर ३३ वर्ष महीनेत्र का राज्य रहा। सुचलने ३२ वर्ष राज्य किया। उसके बाद सुनेत्र ने ४० वर्ष तक राज्य का उपभोग किया। फिर, ८३ वर्ष तक राजा सत्यजित् ने शासन किया। विश्वजित ने २५ वर्ष तक राज्य किया। अन्त में राजा रिपुंजय ने ५० वर्ष तक मगध का शासन किया।

जरासन्ध के बाद सोमाधि से शुरू कर रिपुञ्जय तक कुल २२ राजा मगध में हुए। इनमें से सोमाधि से ऋतंजय तक ६ और सेनाजित् से रिपुंजय तक १६ पृथक्-पृथक् पुराणों में उल्लिखित किये गए हैं। सोमाधि से रिपुंजय तक सब २२ बार्हद्रथ वंशी राजाओं के शासन काल का कुल जोड़ [illegible] वर्ष है। पुराणों व भारत की अन्य प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति से इन राजाओं के सम्बन्ध में अन्य कोई बात हमें ज्ञात नहीं होती।

(५) बार्हद्रथ राजाओं का समय

महाभारत युद्ध की घटनाओं के साथ इस वंश के तीन राजाओं का सम्बन्ध है— जरासन्ध, सहदेव और सोमाधि। इन्हें हम महाभारत के सम-कालीन समझ सकते हैं। बाद के जो राजा हुए, उनके शासन-काल पुराणों में दिये गये हैं, और उनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

महाभारत के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। जहाँ कुछ विद्वान इस युद्ध का काल अबसे लगभग ५००० वर्ष पूर्व मानते हैं, वहाँ अन्य विद्वान उसे १० या ११ सदी ईस्वी पूर्व (अबसे प्राय: ३००० वर्ष पूर्व) में प्रतिपादित करते हैं। हमें यहाँ इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं। हम बार्हद्रथ वंश के राजाओं के काल-क्रम को सुगमता से महाभारत-पूर्व व महाभारत-पश्चात् करके प्रदर्शित कर सकते हैं। सोमाधि महाभारत-युद्ध के समाप्त होने के साथ मगध के राज-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ, उसने ५८ वर्ष राज्य किया, अत: उसके उत्तराधिकारी श्रुतश्रवा का शासन-वर्ष हम महाभारत युद्ध के ५८ वर्ष पश्चात् सुगमता से रख सकते हैं। भारत के प्राचीन इतिहास में तिथिक्रम का विषय बड़ा विवादग्रस्त है। इसलिये बार्हद्रथ-वंश के इन राजाओं के काल का हम केवल धुंधला सा ही परिचय दे सकते हैं।

(६) बार्हद्रथ-शासन के विरुद्ध राज्यक्रांति

बार्हद्रथ वंश का अन्तिम राजा रिपुंजय था। उसके अमात्यका नाम पुलिक था। पुलिक ने अपने स्वामी रिपुंजय के विरुद्ध विद्रोह कर उसे मार डाला, और अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठाया। सम्भवत: , पुलिक जाति से अव-

क्षत्रिय नहीं था। इसीलिये पुराणों में लिखा है, कि सब क्षत्रिय देखते के देखते ही रह गये और पुलिक ने अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठा दिया। हम पहले लिख चुके हैं कि मगध में आर्य-भिन्न लोगों की प्रधानता थी। वहाँ की सेना में भत और ओग्रवल बड़ी सख्या में थे। प्रतीत होता है, कि पुलिक ने ऐसी ही अनार्य सेना की सहायता से रिपुञ्जय के विरुद्ध विद्रोह कर उसे मार दिया था। पुराणों में इस पुलिक व इसके पुत्र को 'प्रणतसामन्त' और 'नयवर्जित' कहा गया है। जिन सामन्तों के सिर चढ़ाने के कारण पिछले बार्हद्रथ राजा कमजोर होगये थे, उन्हें उसने भली-भाँति अपने काबू में कर लिया था। साथ ही वह नयवर्जित भी था। आर्य राजाओं की जो पुरानी रीति चली आती थी, उसकी उपेक्षा कर वह अपनी स्वेच्छा से राज्य करता था। पर इस प्रकार के स्वेच्छाचारी एकराट होने के लिये यह आवश्यक था, कि वह नरश्रेष्ठ हो। पुराणों में उसे 'नरोत्तम' भी कहा गया है। वैयक्तिक गुणों के अभाव में यह कैसे सम्भव था, कि सब क्षत्रिय देखते ही रह जावें, और वह मगध के राज-सिंहासन पर अपना अधिकार कर ले।

पर यह पुलिक था कौन? इस सम्बन्ध में विविध ऐतिहासिकों में जो बहुत सा मतभेद है, उस पर हम यहाँ प्रकाश नहीं डालेंगे। पुलिक मागध सम्राट बार्हद्रथ का अमात्य और अवन्ति का शासक था। प्रतीत होता है, कि पिछले दिनों में अवन्ति मगध के अधीन होगया था, और वहाँ के स्वतन्त्र वीतिहोत्र-वंश का अन्त होगया था। महाभारत के युद्ध के बाद अवन्ति में वीतिहोत्र-वंश का राज्य था। पिछले किसी बार्हद्रथ राजा ने अवन्ति को जीत कर मागध साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। पुलिक रिपुंजय की तरफ से अवन्ति

पर शासन करता था। पुलिक के दो पुत्र थे, बालक और प्रद्योत। रिपुंजय को मार कर पुलिक ने बालक को मगध का राजा बनाया और प्रद्योत को अवन्ति का। पुलिक की इस राज्य-क्रांति से मगध और अवन्ति दोनों देशों में बार्हद्रथ वंश के शासन का अन्त होगया।

(७) मगध में फिर राजक्रान्ति

पर मगध में पुलिक के वंश का शासन देर तक कायम नहीं रह सका। भट्टिय नाम के एक वीर महात्वाकांक्षी व्यक्ति ने पुलिक के पुत्र बालक के विरुद्ध विद्रोह किया, और उसे मार कर स्वयं मगध के राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। यह भट्टिय कौन था? इसे प्राचीन अनुश्रुति में 'श्रेणिय' कहा गया है मगध की सैन्य-शक्ति में 'श्रेणिबल' का बड़ा महत्त्व था। उस काल में सैनिकों की अनेक श्रेणियां (Guilds) थीं, जिनका संगठन स्वतन्त्र होता था। श्रेणियों में संगठित इन सैनिकों का पेशा ही युद्ध करना था। राजा लोग इन सैनिक श्रेणियों को अपने अनुकूल बनाने व उनकी सहायता प्राप्त करने के लिये सदा उत्सुक रहते थे। प्रतीत होता है कि, भट्टिय इसी प्रकार की एक शक्तिशाली सैनिक श्रेणि का नेता था. इसीलिये उसे श्रेणिय कहा गया है। सम्भवतः, पुलिक द्वारा प्रारम्भ की गई क्रांति से जो अव्यवस्था मगध में उत्पन्न हो गई थी, उससे लाभ उठाकर भट्टिय ने अपनी शक्ति को बढ़ा लिया और अवसर पाते ही नवयुवक राजा बालक को राज्य च्युत कर स्वयं राज्य-शक्ति को प्राप्त कर लिया। भट्टिय स्वयं राजगद्दी पर नहीं बैठा। पुलिक द्वारा स्थापित परम्परा का अनुसरण करते हुए उसने अपने लड़के बिम्बिसार को राजगद्दी पर बिठाया। उस समय बिम्बिसार की आयु केवल पन्द्रह वर्ष की थी। भट्टिय

के बाद बिम्बिसार 'श्रेणिय' बना। उसकी शक्ति का आधार यह सैनिक श्रेणि थी, जिसके बल पर भट्टिय ने मगध-राज बालक के विरुद्ध विद्रोह किया था।

मगध के शासन में इस समय सैनिकों का जोर था। प्राचीन आर्य-नीति को मगध के राजा देर से छोड़ चुके थे। अपनी साम्राज्य-विस्तार की नीति को सफल बनाने के लिये वे वेतन के लालच से भरती हुवे व पेशे के तौर पर लड़ने वाले सैनिकों को निरंतर अधिकाधिक महत्व देते रहे। इसी नीति का परिणाम ये दो क्रांतियाँ हुई। आधी सदी से भी कम समय में मगध के राजसिंहासन पर पुराने आर्य-वंश की जगह दो भिन्न-भिन्न सैनिक नेताओं ने अधिकार किया। ये सैनिक सम्राट् पूर्णतया स्वेच्छाचार से शासन का सञ्चालन करते थे। परम्परागत आर्यनीति की इन्हें कोई भी चिन्ता नहीं था। पुलिक और भट्टिय, दोनों ने ही मगध राजाओं को राज्यच्युत कर अपने पुत्रों को राजगद्दी पर बिठाया। मगध के शासन में इस समय कोई भी व्यवस्था शेष नहीं रही थी।

अवन्ति के राजा प्रद्योत को यह सहन नहीं हुआ, कि मगध का राज्य इस प्रकार अपने कुल के हाथ से निकल जावे। इसी लिए उसने मगध पर आक्रमण करने की योजना की। बौद्ध ग्रन्थ मज्झिमनिकाय के अनुसार बिम्बिसार के उत्तराधिकारी अजातशत्रु ने प्रद्योत के आक्रमण से मगध की रक्षा करने के लिये अपनी राजधानी राजगृह की किलाबन्दी की थी। अवन्ति और मगध के राजाओं में जो घोर संघर्ष इस समय शुरू हुआ, उसका वर्णन हम आगे चल कर करेंगे। इस संघर्ष में मगध के राजाओं को ही सफलता मिली। इस और श्रेणि-बल के कारण मगध की सैनिक शक्ति इतनी बढ़ी चढ़ी थ

कि अन्य राज्य उसके सम्मुख टिक नहीं सकते थे। सौभाग्य से बिम्बिसार के बाद मगध के सिंहासन पर ऐसे शक्तिशाली राजा आसीन रहे, जो कि इस सैनिक शक्ति को भलीभांति अपने काबू में रख सकते थे, और इसी का परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत में मगध का साम्राज्य विस्तृत हो गया।

तीसरा अध्याय

मगध का उत्कर्ष

(१) सोलह महाजनपद

राजा बिम्बिसार और उसके बाद मगध की बहुत उन्नति हुई। धीरे-धीरे वह उत्तरी भारत की सब से बड़ी राजनीतिक शक्ति बन गया। मगध के इस उत्कर्ष को भली-भांति समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उस समय के अन्य विविध राज्यों पर प्रकाश डालें। हम पहले लिख चुके हैं कि प्राचीन भारत में बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे, जिन्हें 'जनपद' कहते थे। धीरे-धीरे कुछ जनपद अधिक शक्तिशाली होने लगे। उन्होंने समीपवर्ती जनपदों पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया और अपने मूल जनपद में अधिक प्रदेश अपने साथ में जोड़ लिया। ये 'महाजनपद' कहलाने लगे।

बौद्ध साहित्य में जगह-जगह पर सोलह महाजनपदों का उल्लेख आता है। प्रतीत होता है, कि महात्मा बुद्ध के समय में सोलह जनपद बहुत महत्वपूर्ण व प्रमुख हो गये थे, और उन्हें महाजनपद कहा जाता था। इस काल के इतिहास को स्पष्ट करने के लिये इनका संक्षेप से उल्लेख करना आवश्यक है। ये सोलह महाजनपद निम्नलिखित थे:—

(१) अंग—यह मगध के ठीक पूर्व में था। मगध और अंग के बीच में चम्पा नदी बहती थी, जो इन दोनों महाजनपदों को एक दूसरे से पृथक करती थी। अंग की राजधानी का नाम भी चम्पा था। बौद्ध काल में चम्पा की भारत

के सबसे बड़े छः नगरों में से एक गिना जाता था। शेष पाँच नगर राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी थे। चम्पा पूर्वीय व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र थी। चम्पानदी और गंगा के जल-मार्गों द्वारा बहुत से व्यापारी यहाँ से सुवर्ण भूमि (पेगू और मालमीन) आया जाया करते थे। अंग और मगध में निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। महात्मा बुद्ध के समय में अंग मगध के अधीन हो चुका था।

(२) मगध—इसकी राजधानी गिरिव्रज या राजगृह थी। बार्हद्रथ और पुलक के वंशों का अन्त होने पर, बुद्ध के समय में श्रेणिय बिम्बिसार मगध के राजा थे।

(३) काशी—इसकी राजधानी वाराणसी (बनारस) थी। अनेक जातक कथाओं से सूचित होता है, कि यह वाराणसी बौद्ध काल में भारत की सबसे बड़ी नगरी थी। एक ग्रन्थ के अनुसार इसका विस्तार बारह योजन था।

(४) कोशल—इसकी राजधानी श्रावस्ती थी। यह अचिरावती (राप्ती) नदी के तट पर स्थित थी। कोशल देश की दूसरी प्रसिद्ध नगरी साकेत (अयोध्या) थी। कोशल जनपद के पश्चिम में पंचाल जनपद, पूर्व में सदानीरा (गण्डक) नदी, उत्तर में नेपाल की पर्वतमाला और दक्षिण में स्यन्दिका नदी थी। आधुनिक समय का अवध प्रान्त प्रायः वही है, जो प्राचीन समय में कोशल था। इसमें ऐक्ष्वाकव वंश के क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। इनकी वंशावली पुराणों में अविकल रूप से दी गई है। महात्मा बुद्ध के समय में कोशल की राजगद्दी पर राजा विरुद्धक (विदूडभ) विराजमान थे।

(५) वृज्जि या वज्जि—यह एक संघ का नाम था, जिसमें आठ गणराज्य सम्मिलित थे। इन आठ गणों में विदेह,

लिच्छवि और ज्ञातृकगण सबसे मुख्य हैं। सारे वज्जि-संघ की राजधानी वैशाली थी। वर्तमान समय के बिहार प्रान्त में गंगा से उत्तर तथा हिमालय के दक्षिण में जो उत्तरीबिहार का प्रदेश है, उसे तिरहुत कहते हैं। वज्जि-संघ की स्थिति वहीं पर थी। वज्जि-संघ में सम्मिलित आठों गण पृथक्-पृथक् जनपद थे। विदेह की राजधानी मिथिला थी। ज्ञातृकगण की राजधानी कुण्डग्राम थी। जैनधर्म के प्रवर्तक वर्धमान महावीर का प्रादुर्भाव यहीं पर हुआ था। लिच्छवि गण की राजधानी वैशाली थी। यह वैशाली सम्पूर्ण वज्जि-संघ की भी राजधानी थी। महात्मा बुद्ध के समय में यह वज्जि-संघ अत्यन्त शक्तिशाली और समृद्ध था। महात्मा बुद्ध ने अनेक जगह इसे आदर्श के रूप में उपस्थित किया है।

(६) मल्ल—यह महाजनपद भी एक संघ के रूप में था, जिसमें दो गण सम्मिलित थे—कुशीनारा के मल्ल और पावा के मल्ल। यह संघ वज्जि-संघ के ठीक पश्चिम में था। आजकल का गोरखपुर जिला जहाँ है, वहाँ ही प्राचीन काल में मल्ल महाजनपद की स्थिति थी।

(७) वत्स—इसकी राजधानी कौशाम्बी थी। इस नगरी के भग्नावशेष इलाहाबाद जिले में यमुना के किनारे कोसम गाँव में उपलब्ध हुए हैं। बौद्ध-काल में वत्स बहुत ही शक्तिशाली था। वहाँ का राजा उदयन अपने समय का सबसे प्रतापी व प्रसिद्ध राजा हुआ है। संस्कृत-साहित्य उसकी कथाओं से परिपूर्ण है।

(८) चेदि—वर्तमान समय का बुन्देलखंड प्राचीन चेदि राज्य को सूचित करता है। इसकी राजधानी शुक्तिमती नगरी थी, जो शुक्तिमती (केन) नदी के तट पर स्थित थी।

(९) पंचाल—यह कोशल और वत्स के पश्चिम में तथा चेदि के उत्तर में स्थित था। प्राचीन समय में पंचाल दो राज्यों में विभक्त था—उत्तर-पंचाल व दक्षिण-पंचाल। वर्तमान समय का रुहेलखण्ड उत्तर पंचाल को तथा कानपुर व फर्रुखाबाद के जिले दक्षिण पंचाल को सूचित करते हैं। उत्तर-पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिण-पंचाल की राजधानी काम्पिल्य थी।

(१०) कुरु—इस महाजनपद की राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। यह नगर वर्तमान दिल्ली के समीप यमुना के तट पर स्थित था। हस्तिनापुर, कुरुक्षेत्र और दिल्ली के प्रदेश इस जनपद के अन्तर्गत थे।

(११) मत्स्य—इसकी राजधानी विराट नगर या वैराट थी, जो वर्तमान समय की जयपुर रियासत में स्थित है। मत्स्य महाजनपद यमुना के पश्चिम में तथा कुरु के दक्षिण में स्थित था।

(१२) शूरसेन—इसकी राजधानी मथुरा थी। महाभारत के समय में यह प्रसिद्ध अन्धक वृष्णि संघ का केन्द्र था। बौद्ध साहित्य में शूरसेन के राजा अवन्तिपुत्र का उल्लेख मिलता है, जो महात्मा बुद्ध का समकालीन था।

(१३) अश्मक—यह राज्य गोदावरी नदी के समीपवर्ती प्रदेश में था। इसकी राजधानी पोतन या पोताल थी।

(१४) अवन्ति—चेदि के दक्षिण-पश्चिम में, जहाँ अब मालवा का प्रदेश है, प्राचीन समय में अवन्ति का महाजनपद था। इसकी राजधानी उज्जैन थी। बौद्धकाल में यह राज्य बहुत शक्तिशाली था। महात्मा बुद्ध के समय में अवन्ति का राजा चण्ड प्रद्योत था, जो वत्सराज उदयन को जीत कर

अपना साम्राज्य बढ़ाने में तत्पर था, और जिसके भय से ही मगधराज अजातशत्रु ने राजगृह की किलाबन्दी की थी।

(१५) गान्धार—इसकी राजधानी तक्षशिला थी, जो उस समय भारत में विद्या का सबसे बड़ा केन्द्र थी। रावलपिंडी, पेशावर, काश्मीर तथा हिन्दूकुश पर्वतमाला तक फैले हुए पश्चिमोत्तर भारत के प्रदेश इस महाजनपद में सम्मिलित थे। महात्मा बुद्ध के समय में इनका राजा पुक्कुसाति था, जिसने मगधराज बिम्बिसार के पास एक दूतमण्डल भेजा था।

(१६) कम्बोज—गान्धार के परे उत्तर में पामीर का प्रदेश तथा उससे भी परे बदख्शां का प्रदेश कम्बोज महाजनपद कहलाता था। कम्बोज में इस काल में भी गणराज्य स्थापित था।

इन सोलह महाजनपदों के अतिरिक्त, इस समय भारत में अन्य भी बहुत से जनपद स्वतन्त्र रूप से विद्यमान थे। कोशल के उत्तर और मल्ल के पश्चिमोत्तर में (आधुनिक नेपाल की तराई में) शाक्य जनपद था, जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। यहीं पर महात्मा बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ था। शाक्यगण के पड़ोस में ही कोलिय गण (राजधानी-रामग्राम), मोरियगण राजधानी-पिप्पलिवन), बुलिगण (राजधानी -अल्लकप्प) भग्गगण (राजधानी-सुंसुमार) और कालाम गण (राजधानी केसपुत्त) की स्थिति थी।

गान्धार, कुरु तथा मत्स्य के बीच केकय, मद्रक, त्रिगर्त और यौधेय जन पद थे। और अधिक दक्षिण में सिन्धु, शिवि, अम्बष्ठ और सौवीर आदि जनपद थे।

पर बौद्ध साहित्य में सोलह महाजनपदों का जिस प्रकार बार-बार उल्लेख आता है उससे प्रतीत होता है, कि उस समय में ये सब अन्य जनपद अपने पड़ोसी शक्तिशाली महाजन-

पदों को किसी न किसी रूप में अधीनता स्वीकार करते थे। असली बात तो यह है कि उस समय में इन सोलह जनपदों में भी मगध, वत्स, कोशल और अवन्ति—ये चार सबसे अधिक शक्तिशाली थे। ये जहाँ अपने समीपवर्ती राज्यों को जीतकर अपने अधीन करने की कोशिश में थे, वहाँ आपस में भी इनमें घनघोर संघर्ष का प्रारम्भ हो चुका था।

(२) श्रेणिय बिम्बिसार

श्रेणिबल के सेनानी भट्टिय ने राजा बालक के विरुद्ध षड्यन्त्र कर उसे मार डाला और अपने लड़के बिम्बिसार को राजगद्दी पर बिठाया, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। सम्भवतः, इसी राजा बालक का दूसरा नाम कुमारसेन भी था। महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में इस षड्यन्त्र का निर्देश किया है। महाकाली के मेलेमें महामांस की बिक्री के कारण जो झगड़ा उठ खड़ा हुआ था, उसकी गड़बड़ से फायदा उठाकर श्रेणिय भट्टिय की प्रेरणा से तालजंघ नाम के एक वेताल सैनिक ने इस राजा कुमारसेन पर अचानक हमला कर दिया और उसे मौत के घाट उतार दिया। बाणभट्ट ने कुमारसेन को 'जघन्यज' लिखा है। यह स्पष्ट है, कि पुलिक या भट्टिय के समान शुद्ध आर्यकुल के न होकर नीच व व्रात्यभिन्न कुल के थे। इस समय मगध में व्रात्यभिन्न सैनिक श्रेणियों की प्रबलता थी, और उनके साहसी नेता मगध के सिंहासन को गेंद की तरह उछाल रहे थे। बार्हद्रथ रिपुञ्जय को 'जघन्यज' पुलिक ने मारा और उसके बेटे बालक व कुमारसेन को भट्टिय ने मरवा दिया।

बिम्बिसार बहुत शक्तिशाली तथा महत्वाकांक्षी राजा था। उसका विवाह कोशल देश की राजकुमारी, महाकोशल की कन्या कोशलदेवी के साथ हुआ था। इसी विवाह में दहेज में

'महान शुल्क मूल्य' के रूप में काशी जनपद का एक प्रदेश, जिसकी आमदनी एक लाख वार्षिक थी, बिम्बिसार को प्राप्त हुआ था। कोशल के साथ वैवाहिक सम्बन्ध के स्थापित हो जाने से मगध को इस पश्चिमी शक्तिशाली राज्य से कोई भय नहीं रह गया था, और वह निश्चिंत रूप से पूर्व की तरफ साम्राज्य-विस्तार के लिये प्रयत्न कर सकता था। राजा बिम्बिसार ने अंग महाजनपद के राजा ब्रह्मदत्त के ऊपर आक्रमण किया और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। इस समय से कुछ पहले वत्स महाजनपद का राजा शतानीक (उदयन का पिता) अंग देश को अपनी अधीनता में ला चुका था। ऐसा प्रतीत होता है, कि वत्स अंग को देर तक अपने अधीन नहीं रख सका
अवसर पाते ही अंग स्वाधीन हो गया। पर उसकी स्वतंत्रता देर तक कायम नहीं रह सकी, और अब वह मगध के साम्राज्यवाद का शिकार हो गया। राजा बिम्बिसार अंगराज से अधीनता स्वीकृत कराके ही संतुष्ट नहीं हुआ, अपितु वहाँ के राजा ब्रह्मदत्त को मार कर अंग को पूर्णतया मागध साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया गया। इस प्रकार अंग का वह शक्तिशाली महाजनपद, जो किसी समय बहुत बलशाली था और जो किसी समय मगध को भी अपनी अधीनता में रख चुका था, अब नष्ट हो गया। अंग को जीतने से मगध की शक्ति बहुत बढ़ गई। काशी का कुछ प्रदेश उसे पहले ही से प्राप्त हो गया था, अब अंग को अधिगत कर लेने से वह अत्यन्त महत्वपूर्ण राज्य बन गया और साम्राज्य-विस्तार के उस संघर्ष में प्रवृत्त हुआ, जिसका उग्र रूप हम अजातशत्रु के शासन में देखेंगे।

मगध की पुरानी राजधानी गिरिव्रज थी। पर वह नगर गंगा के उत्तर में विद्यमान वज्जिसंघ के आक्रमणों से सुरक्षित नहीं था। इस पर निरन्तर वज्जियों के आक्रमण होते थे। इन्हें

इन्हीं के कारण गिरिव्रज में एक बार भारी आग लग गई थी। बिम्बिसार ने गिरिव्रज के उत्तर में थोड़ा सा हट कर, एक नये नगर की स्थापना की, जिसका नाम राजगृह था। राज गृह के राजप्रासादों का निर्माण महागोविंद नाम के भवन निर्माणकला के प्रसिद्ध विशेषज्ञ द्वारा किया गया था। राजगृह को एक दुर्ग के रूप में बनाया गया था, ताकि वज्जियों के आक्रमणों का वहाँ से भली-भाँति मुकाबला किया जासके। जिस उद्देश्य से राजगृह की स्थापना की गई थी, वह सफल हुआ। कुछ समय बाद वज्जियों के आक्रमण बन्द हो गये और वज्जि-संघ तथा मगध की सन्धि को स्थिर करने के लिये उनमें वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया गया। वज्जिकुमारी चेल्लना का विवाह बिम्बिसार के साथ कर दिया गया।

बिम्बिसार बड़ा शक्तिशाली राजा था। बौद्ध ग्रन्थ महावग्ग में लिखा है कि उसकी अधीनता में ८०,००० ग्राम थे, जिनके ग्रामिक उसकी राजसभा में एकत्र हुआ करते थे। एक अन्य स्थान पर बौद्ध-साहित्य में उसके राज्य का विस्तार ३०० योजन लिखा गया है।

बिम्बिसार बड़े वैभव के साथ मगध का शासन करता था। महावग्ग के अनुसार उसकी रानियों की संख्या ५०० थी। इस विषय में बौद्ध लेखक ने यदि अतिशयोक्ति भी की हो, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि उसका अन्तःपुर बहुत बड़ा था। उसके बहुत से पुत्रों के नाम प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति में मिलते हैं। अजातशत्रु, दर्शक, अभय, शीलवन्त और विमल इनमें प्रमुख हैं।

महात्मा बुद्ध राजा बिम्बिसार के समकालीन थे। अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हुये महात्मा बुद्ध कई बार मगध आये और बिम्बिसार से उनकी भेंट हुई। बिम्बिसार के हृदय में बुद्ध के लिये बहुत आदर था।

प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक भी राजा बिम्बिसार के समय में ही हुआ। वह शालवती नाम की वेश्या का पुत्र था, और पैदा होते ही माता ने इसका परित्याग कर दिया था। कुमार अभय (बिम्बिसार के अन्यतम पुत्र) ने उसे अपना लिया और पाल-पोस कर बड़ा किया। जीवक को अत्यन्त उच्च शिक्षा दी गई और उसे पढ़ने के लिये तक्षशिला भेज दिया गया। तक्षशिला में जीवक ने आयुर्वेद शास्त्र की कौमारभृत्य शाखा में विशेष निपुणता प्राप्त की। विद्याध्ययन समाप्त कर जीवक मगध वापिस लौटा और आगे चलकर बहुत प्रसिद्ध वैद्य बना। जीवक के चिकित्सा-सम्बन्धी चमत्कारों का उल्लेख अनेक स्थानों पर बौद्ध-साहित्य में किया गया है।

बिम्बिसार १५ वर्ष की आयु में मगध का राजा बना था। ६७ वर्ष की आयु तक कुल ५२ वर्ष उसने राज्य किया। उसके बड़े लड़के का नाम दर्शक था। पिता के वृद्ध हो जाने पर सारा राज्य-कार्य दर्शक के ही हाथ में आ गया था। यही कारण है, कि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में बिम्बिसार का शासन काल २८ वर्ष और दर्शक का २४ वर्ष लिखा गया है। पर दर्शक ने जो भी राज्य किया, वह अपने पिता के जीवन-काल में ही किया बाद में नहीं; क्योंकि बिम्बिसार के बाद मगध के राजसिंहासन पर अजातशत्रु आरूढ़ हुआ था और उसने अपने पिता की हत्या करके राजगद्दी प्राप्त की थी।

(३) अजातशत्रु

राजा बिम्बिसार ने अपने शासन के अन्तिम वर्षों में अजातशत्रु को चम्पा (अंग जनपद) का शासक नियत किया था। मगध में शासन कार्य अजातशत्रु के बड़े भाई दर्शक के हाथ में था। ऐसा प्रतीत होता है, कि बिम्बिसार ने अपने साम्राज्य के दोनों महाजनपदों (मगध और अंग) को अपने इन दोनों पुत्रों (दर्शक और अजातशत्रु) के सुपुर्द कर दिया था। पर अजातशत्रु केवल अंग से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह संपूर्ण मागध साम्राज्य का स्वामी होना चाहता था। इसलिये उसने अपने पिता बिम्बिसार को मार कर स्वयं राज्य प्राप्त करने का उद्योग किया। बौद्ध साहित्य में इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

देवदत्त ने अजातशत्रु के साथ मिलकर यह षड्यंत्र किया कि राजा बिम्बिसार को मार कर वह राजगद्दी प्राप्त कर ले। देवदत्त ने कुमार अजातशत्रु से कहा—कुमार ! पहले मनुष्य दीर्घायु होते थे, अब वे अल्पायु होते हैं। हो सकता है, कि कुमार कहलाते हुए ही तुम्हारी मृत्यु हो जाय। इसलिये कुमार ! तुम अपने पिता को मार कर स्वयं राजा बन जाओ।

तब कुमार अजातशत्रु जांघ में छुरा बाँध कर भीत उद्विग्न शंकित, त्रस्त (की तरह) मध्याह्न में सहसा अंतःपुर में प्रविष्ट हुआ। अन्तःपुर के उपचारक (रक्षक) महामात्यों ने अजातशत्रु को अन्तःपुर में प्रविष्ट होते देखा। देख कर उसे पकड़ लिया। फिर कुमार से कहा—

'कुमार ! तुम क्या करना चाहते थे ?'

'पिता को मारना चाहता था।'

'तुम्हें इस कार्य के लिये किसने प्रेरणा की थी ?'

'आर्य देवदत्त ने।'

तब वे महामात्य अजातशत्रु को ले, जहाँ मागध राजा श्रेणिक बिम्बिसार था, वहाँ गये। जाकर राजा को सब बात सुनाई। तब राजा ने कुमार अजातशत्रु से कहा—

'कुमार! तू मुझे किस लिए मारना चाहता था?'

'देव! मैं राज्य चाहता हूँ।'

'कुमार! यदि तू राज्य चाहता है, तो यह राज्य तेरा है।'

बिम्बिसार ने अजातशत्रु को चम्पा का राज्य दे दिया। पर वहाँ देवदत्त के साथ मिलकर अजातशत्रु ने प्रजा पर अत्याचार करना शुरू किया, लोगों की सम्पत्ति लूटनी प्रारम्भ की। जनता ने राजा बिम्बिसार से शिकायत की।

बिम्बिसार ने सोचा कि यदि अजातशत्रु को अधिक विस्तृत राज्य दे दिया जायगा, तो वह अत्याचार करना बन्द कर देगा। इसलिए उसने राजधानी राजगृह को छोड़ कर शेष सम्पूर्ण मागध जनपद भी अजातशत्रु को दे दिया। पर इससे भी उसके अत्याचारों में कमी नहीं आई। इस पर राजा ने राजगृह भी अजातशत्रु को दे दिया। केवल खजाने पर ही अपना अधिकार शेष रखा। इस पर देवदत्त ने अजातशत्रु को समझाया कि जिसके पास खजाना होता है, वही असली राजा होता है। इसलिये बिम्बिसार को विवश किया गया कि वह खजाना भी अजातशत्रु के सुपुर्द कर दे। बिम्बिसार ने यह भी स्वीकार कर लिया, पर साथ ही अपने पुत्र पर इस बात के लिये जोर दिया कि वह देवदत्त का साथ छोड़ दे। इस बात से अजातशत्रु बहुत नाराज हुआ और अपने पिता को कैद में डाल दिया। उसने बिम्बिसार को भोजन देना बन्द कर दिया, ताकि वह भूख से तड़प-तड़प कर मर जावे। बिम्बिसार से मिलने के लिए केवल एक व्यक्ति को इजाजत दी जाती थी। वह

थी उसकी रानी और अजातशत्रु की माता वैदेही। वह छिप कर बिम्बिसार के लिए एक कटोरे में भोजन ले जाती थी। जब यह बात अजातशत्रु को मालूम हुई, तो उसने रानी को मारने की धमकी दे यह करने से रोक दिया। परन्तु वैदेही अपने शरीर पर एक ऐसा चूर्ण मल जाती थी, जो पोषक था। इस प्रकार राजा बिम्बिसार कुछ समय तक और जीवित रह सका। पर जब अजातशत्रु को यह बात मालूम हुई, तो उसने रानी वैदेही का बिम्बिसार से मिलना ही बिलकुल बन्द कर दिया। बिम्बिसार महात्मा बुद्ध का श्रद्धालु भक्त था। बुद्ध ने गृद्धकूट पर्वत पर एक ऐसे स्थान पर आसन जमाया, जहाँ से बिम्बिसार खिड़की के रास्ते बुद्ध का दर्शन करता रह सकता था। बुद्ध के दर्शन-मात्र से ही उसका जीवन कायम रहा। पर जब अजातशत्रु को यह बात मालूम हुई, तो उसने उस खिड़की को भी बन्द करा दिया।

इसी समय की बात है, कि अजातशत्रु के लड़के उदायीभद्र की उंगली में एक फोड़ा निकल आया। दर्द के मारे वह चिल्लाने लगा। अजातशत्रु ने उसे गोदी में उठा लिया और उसे पुचकारने का प्रयत्न करने लगा। फिर उसने फोड़े वाली उंगली को मुंह में ले उसे चूसना शुरू किया। इससे वह फोड़ा फट गया और उदायीभद्र को चैन पड़ गई। ठीक इसी समय रानी वैदेही वहाँ आ पहुँची और अजातशत्रु को इस दशा में देख उससे कहा—"तेरे पिता ने भी तेरे लिये एक दिन ठीक इसी प्रकार किया था।" यह सुनते ही अजातशत्रु की आँखें खुल गईं। उसे ख्याल आया कि वह अपने पिता के साथ कितना अनुचित व्यवहार कर रहा है। उसने सोचा, यदि मेरे पिता अब भी जीवित हों, तो कितना उत्तम हो। उसने चिल्ला कर कहा—ओह! यदि कोई आदमी मुझे बता सके कि मेरे वृद्ध

पिता अब भी जीवित हैं, तो उसे मैं अपना सारा राज्य देने को तैयार हूँ। यह सुनते ही लोग कारागार की तरफ भाग पड़े। बिम्बिसार बहुत बूढ़ा था, इतने दिनों के अनशन के कारण उसका शरीर मृतप्राय हो गया था। जब उसने बाहर शोर सुना, तो समझा कि अजातशत्रु ने उसे कोई नई व्यथा देने की व्यवस्था की है। इसे वह नहीं सह सका और उसके प्राण शरीर को छोड़ गये।

इस प्रकार परमप्रतापी अंग-विजेता सैनिक श्रेणिय के जैसा महाराज बिम्बिसार की मृत्यु हुई। अजातशत्रु के अन्य भाई उसके भय के मारे बौद्ध भिक्षु बन गये। न केवल शीलवन्त, विमल आदि छोटे भाइयों ने ही भिक्षुवृत्ति स्वीकार की, पर कुमार दर्शक, जो बिम्बिसार के पिछले २४ वर्षों में राजगृह का शासक रहा था और अजातशत्रु का बड़ा भाई था, अपने उद्दण्ड महात्वाकांक्षी भाई के भय से बौद्ध भिक्षु बन गया।

इसमें सन्देह नहीं कि राज्य प्राप्ति के पश्चात् अजातशत्रु को अपने कार्य पर बहुत पश्चात्ताप हुआ। बौद्ध ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर उसके पश्चात्ताप का उल्लेख है। जैन लेखक हेमचन्द्र ने लिखा है, कि अजातशत्रु को अपने पिता की मृत्यु पर इतना दुःख हुआ कि वह राजगृह में रह नहीं सका और उसने अपनी राजधानी राजगृह से परिवर्तित कर चम्पा बना ली।

राजगद्दी पर अधिकार कर लेने के अनन्तर अजातशत्रु के अन्य राज्यों के साथ युद्धों का प्रारम्भ हुआ। पहला युद्ध कोशल महाजनपद के साथ हुआ। वहाँ इस समय राजा प्रसेनजित का राज्य था। वह अजातशत्रु का नाना था। अपने नाना के साथ अजातशत्रु के युद्ध का कारण यह था, कि राजा बिम्बिसार की वैदेही कोशल देवी के विवाह के अवसर पर 'नहान चुण्ण मूल्य'

के रूप में काशी का जो प्रदेश दहेज में दिया गया था, उस पर अब कोशल के राजा ने फिर अपना अधिकार कर लिया था। अपने पति के वियोग में रानी कोशलदेवी का स्वर्गवास हो चुका था। अतः प्रसेनजित् चाहता था कि काशी जनपद का यह प्रदेश पितृघाती अजातशत्रु के पास न रहने पावे। इसी प्रश्न पर मगध और कोशल में युद्ध का प्रारम्भ हुआ।

अजातशत्रु नवयुवक था और बड़ा महत्त्वाकांक्षी व उद्दंड वीर था। दूसरी ओर प्रसेनजित वृद्ध हो चुका था। पहले अनेक युद्धों में कोशल की निरन्तर पराजय होती रही। प्रसेनजित् अपनी पराजयों से बहुत चिन्तित था। एक दिन उसने अपने दरबारियों के सम्मुख इस समस्या को उपस्थित किया। उन्होंने कहा, बौद्ध भिक्षुओं से इस समस्या का हल पूछना चाहिये। राजा ने कुछ लोगों को भिक्षुओं की बातें सुनने के लिए नियत कर दिया। दो भिक्खु आपस में मगध और कोशल के युद्ध की चर्चा कर रहे थे। राजा प्रसेनजित के भेजे हुए दूत इनकी बातों को ध्यान से सुनने लगे। बातें चलते हुए उन भिक्खुओं में से एक ने कहा, यदि प्रसेनजित् मगध को परास्त करना चाहता है, तो उसे शकटव्यूह बनाकर युद्ध करना चाहिये। दूतोंने यह बात प्रसेनजित तक पहुँचा दी। उसने यही किया। एक बार फिर सेना एकत्र की गई। सेना को शकटव्यूह की पद्धति से संगठित किया गया। इस बार अजातशत्रु परास्त हो गया। वह केवल परास्त ही नहीं हुआ, अपितु प्रसेनजित के हाथ में कैद भी हो गया।

यद्यपि अन्त में प्रसेनजित अजातशत्रु को परास्त करने में समर्थ हुआ, पर मगध की शक्ति का उसे भली-भांति परिज्ञान हो गया था। उसने यही उचित समझा कि अजातशत्रु के साथ

सन्धि कर ली जावे और इस सन्धि को स्थिर रखने के लिये अपनी कन्या वजिरा का विवाह अजातशत्रु के साथ कर दिया जावे। जिस प्रकार कोशल देवी के बिम्बिसार के साथ विवाह के समय काशी का वह एक लाख वार्षिक आमदनी का प्रदेश दहेज में 'नहानचुन्न मूल्य' के रूप में प्रदान किया गया था, वैसे ही अब फिर वजिरा के विवाह में वही प्रदेश उसी रूप में फिर दे दिया गया। इस प्रकार काशी का वह प्रदेश मागध साम्राज्य में ही शामिल रहा।

कोशल के साथ सन्धि हो जाने के अनन्तर, अजातशत्रु ने गंगा के उत्तर में विद्यमान वज्जिसंघ पर आक्रमण करने का विचार किया। वज्जिसंघ बड़ा शक्तिशाली जनपद था, जिसमें आठ गण सम्मिलित थे। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार मगध और वज्जि जनपदों के इस युद्ध का तात्कालिक कारण निम्नलिखित था। वज्जि और मगध के बीच में गंगा नदी बहती थी, जो इनके बीच की सीमा का काम देती थी। गङ्गा के तट पर एक बन्दरगाह था, जो एक मील लम्बा था। आधा बन्दरगाह वज्जियों के अधिकार में था और आधा मगध के। इस बन्दरगाह के समीप ही एक पर्वत था, जिसके आंचल में बहुमूल्य खनिज पदार्थों की एक खान थी। इस खान पर भी दोनों जनपदों का अधिकार समझा जाता था। पर दो वर्षों से केवल वज्जि लोग इस खान का उपयोग कर रहे थे। मगध को उसका कोई हिस्सा नहीं मिल रहा था। अजातशत्रु इसे सहन नहीं कर सका और उसने युद्ध द्वारा वज्जियों को परास्त करने का निश्चय किया। वज्जियों पर आक्रमण करने का मूल कारण तो मगध की साम्राज्य-लिप्सा ही थी।

वज्जि जनपद को किस प्रकार मगध के साम्राज्यवाद ने अपना शिकार बनाया, इसका वृत्तान्त बड़ा मनोरंजक व उपयोगी है। इस

महापरिनिब्बान सुत्त के आधार पर इस वृत्तान्त का यहाँ उल्लेख करते हैं :—

"ऐसा मैंने सुना। एक समय भगवान बुद्ध राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते थे।

उस समय राजा मागध वैदेहीपुत्र अजातशत्रु वज्जि पर चढ़ाई करना चाहता था। वह ऐसा कहता था—मैं इन वैभव-शाली महानुभाव वज्जियों को उच्छिन्न करूँगा, वज्जियों का विनाश करूँगा, उन पर आफत ढाऊँगा।

तब अजातशत्रु ने मगध के महामन्त्री वर्षकार ब्राह्मण को कहा—आओ ब्राह्मण! जहाँ भगवान हैं, वहाँ जाओ। जाकर मेरे वचन से भगवान के पैरों में सिर से वन्दना करो। आरोग्य, अल्प आतंक, लघु उत्थान, सुख विहार पूछो और यह कहो—भगवान्! राजा अजातशत्रु वज्जियों पर चढ़ाई करना चाहता है। वह ऐसा कहता है, 'मैं इन वज्जियों को उच्छिन्न करूँगा'। भगवान तुम्हें जैसा उत्तर दें, उसे समझ कर मुझे कहो। तथागत अयथार्थ बात नहीं कह सकते।

'अच्छा' कह कर ब्राह्मण वर्षकार बहुत अच्छे यान पर आरूढ़ हो राजगृह से निकला और गृध्रकूट पर जहाँ भगवान थे, वहाँ गया। जाकर भगवान के साथ संमोदन कर एक ओर बैठा और एक ओर बैठ कर राजा अजातशत्रु का संदेश भगवान को सुना दिया।

उस समय आयुष्मान् आनन्द भगवान के पीछे खड़े होकर भगवान को पंखा झल रहे थे। तब आयुष्मान आनन्द को आमन्त्रित कर भगवान ने कहा—

'आनन्द! क्या तूने सुना है, वज्जि लोग बराबर सभा में एकत्रित होने वाले हैं?'

'हाँ, भगवन् ! मैंने सुना है।'

'आनन्द ! जब तक वज्जि एक साथ एकत्र होकर बहुधा अपनी सभायें करते रहेंगे, तब तक आनन्द ! वज्जियों की वृद्धि ही समझना, हानि नहीं।

'क्या आनन्द ! तूने सुना है, कि वज्जि लोग एक ही बैठक करते हैं, एक ही उत्थान करते हैं और एक ही राजकीय कार्य की देख भाल करते हैं ?'

'हाँ', भगवन् ! मैंने सुना है।'

'आनन्द ! जब तक वज्जि लोग एक ही बैठक करते रहेंगे, एक ही उत्थान करते रहेंगे, और एक ही राजकीय कार्य की देखभाल करते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही समझना, हानि नहीं।'

क्या आनन्द ! तूने सुना है, कि वज्जि लोग, जो अपने राज्य में विहित है, उसका उल्लंघन नहीं करते, जो विहित नहीं है, उसका अनुसरण नहीं करते; और पुराने समय से वज्जियों में जो नियम चले आ रहे हैं, उनका पालन करते हैं ?'

'हाँ, भगवन् ! मैंने सुना है।'

'आनन्द ! जब तक वज्जि लोग जो अपने राज्य में विहित है, उसका उल्लंघन नहीं करेंगे, जो पुराने समय से वज्जियों में नियम चले आ रहे हैं, उनका पालन करते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।'

'क्या आनन्द ! तूने सुना है, वज्जियों के वृद्ध (महल्लक) नेता हैं, उनका वे सत्कार करते हैं, उन्हें वे बड़ा मान कर उनकी पूजा करते हैं, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझते हैं ?'

'हाँ, भगवन् ! मैंने सुना है।'

'आनन्द ! जब तक बज्जियों में वृद्ध (महल्लक) नेता रहेंगे, उनका वे सत्कार करते रहेंगे, उन्हें वे बड़ा मानकर उनकी पूजा करते रहेंगे, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।'

तब भगवान ने ब्राह्मण वर्षकार को सम्बोधन करके कहा—'ब्राह्मण ! एक समय मैं वैशाली के सारदन्द चैत्य में विहार करता था। वहाँ मैंने बज्जियों को ये सात अपरिहार्णीय धर्म कहे थे। जब तक, ब्राह्मण ! ये सात अपरिहार्णीय धर्म बज्जियों में रहेंगे, इन सात अपरिहारणीय धर्मों में बज्जि लोग दिखाई पड़ेंगे, तब तक ब्राह्मण ! बज्जियों की वृद्धि ही समझना, हानि नहीं।

ऐसा कहने पर ब्राह्मण वर्षकार भगवान से बोला-हे गौतम ! एक भी अपरिहार्णीय धर्म से बज्जियों की वृद्धि ही समझनी होगी, सात अपरिहार्णीय धर्मों की तो बात ही क्या ? हे गौतम ! राजा अजातशत्रु को उपलाप (रिश्वत) या आपस में फूट डलवा कर युद्ध करना ठीक नहीं। हे गौतम ! अब हम जाते हैं। हमें बहुत काम करने हैं।

तब मगध का महामात्य ब्राह्मण वर्षकार भगवान को अभिनन्दन कर, अनुमोदन कर आसन से उठ कर चला आया।

इससे आगे का वृत्तान्त अट्ठकथा में इस प्रकार लिखा गया है—

वर्षकार ब्राह्मण राजा अजातशत्रु के पास गया। राजा ने उससे पूछा,-'आचार्य ! भगवान ने क्या कहा ?' उसने उत्तर दिया, श्रमण गौतम के कथनानुसार तो बज्जियों को किसी प्रकार भी परास्त नहीं किया जा सकता। हाँ उपलाप (रिश्वत) और आपस में फूट डालने से लिया जा सकता है।'

'तब राजा ने कहा—'विग्रह से हमारे हाथी, घोड़े और कोष का नाश होगा। भेद का ही प्रयोग करना चाहिये। वह कैसे किया जावेगा ?

वर्षकार ने उत्तर दिया—'तो महाराज ! तुम परिषद् में वज्जियों की बात उठाओ। तब मैं कहूँगा, महाराज ! तुम्हें उनसे क्या है ? इन राजाओं (वज्जिगण के राज सभासद) को कृषि और वाणिज्य करने दो।' तब तुम कहना—'क्यों जी ! यह ब्राह्मण वज्जियों के सम्बन्ध में की जाने वाली बात में रुकावट डालता है।' उसी दिन मैं उन (वज्जियों) के लिये भेंट उपहार भेजूँगा। उसे पकड़ कर मुझ पर दोषारोपण कर, बन्धन, ताड़न आदि न कर, छुरे से मुंडन करा मुझे नगर से बाहर निकाल देना। तब मैं कहूँगा—मैंने तेरे नगर में प्राकार और परिखा बनवाई है; मैं इनके कमजोर स्थानों को जानता हूँ, अब जल्दी तुझे सीधा करूँगा। ऐसा सुन कर तुम कहना-बेशक, तुम जाओ।

राजा अजातशत्रु ने यही सब किया। वज्जियों ने वर्षकार के निकाले जाने की बात सुनकर कहा, 'यह ब्राह्मण मायावी शठ है, इसे गंगा न उतरने दो।' पर दूसरे वज्जियों की सम्मति इससे भिन्न थी। उन्होंने कहा—'इस ब्राह्मण को हमारा पक्ष लेने के कारण ही तो मगध से निकाला गया है, अतः इसे आने देना चाहिये।' वज्जियों ने ब्राह्मण वर्षकार से पूछा—'तुम किस लिये यहाँ आए हो ?' उसने सब हाल सुना दिया। वज्जियों ने कहा—इस छोटी सी बात के लिये इतना भारी दण्ड देना उपयुक्त नहीं था। फिर उन्होंने पूछा-'मगध में तुम्हारा क्या पद था ? वर्षकार ने कहा-'मैं वहाँ विनिश्चय महामात्र था। वज्जियों ने निश्चय किया, यहाँ भी वर्षकार का यही पद रहे। वर्षकार वैशाली में निवास करने लगा। वह बड़ी सुन्दर रीति से न्याय कार्य करता था। राजकुमार उसके पास विद्याग्रहण करते थे।

धीरे-धीरे ब्राह्मण वर्षकार की वैशाली भर में धाक जम गई। अपने गुणों के कारण सब उसकी प्रतिष्ठा करने लगे। अब उसने अपना असली कार्य प्रारम्भ किया। उसने एक लिच्छवि को एकान्त में ले जाकर पूछा-'आप बहुत गरीब हैं न?' उसने कहा-'आप से यह बात किसने कही?' 'अमुक लिच्छवि ने।' इसी प्रकार दूसरे लिच्छवि से वर्षकार ने कहा-'तुम कायर हो क्या?' 'किसने कहा?' 'अमुक लिच्छवि ने।' इसी प्रकार झूठ-मूठ एक दूसरे के नाम से बातें कह कर वर्षकार ने उन लिच्छवि राजाओं में तीन वर्ष के अन्दर ऐसी फूट डाल दी, कि दो लिच्छवि राजा एक रास्ते पर भी नहीं जाते थे। हम पहले लिख चुके हैं कि लिच्छविगण वज्जि जनपद में सब से अधिक शक्तिशाली था। जब वर्षकार को विश्वास हो गया, कि अब लिच्छवियों में भली-भाँति फूट पड़ गई है, तब उसने राजा अजातशत्रु के पास जल्दी ही आक्रमण करने के लिये खबर भेजी। अजातशत्रु ने रणभेरी बजाई और युद्ध के लिये चल पड़ा। जब वैशाली-निवासियों ने देखा कि अजातशत्रु आक्रमण करने आ रहा है, तो उन्होंने भी रणभेरी बजवाई और कहा—आओ चलें, राजा अजातशत्रु को गंगा के पार न उतरने दें। पर भेरी सुन कर भी लिच्छवि लोग जमा नहीं हुए। तब दुबारा भेरी बजाई गई, कि राजा को नगर में घुसने न दें; नगरद्वार बन्द करके अजातशत्रु का मुकाबला करें। पर अब भी कोई जमा नहीं हुआ। राजा अजातशत्रु खुले द्वारों से ही घुस कर सब को तबाह करके चला गया।

बौद्ध साहित्य के इस विवरण पर किसी प्रकार की टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। निस्सन्देह, वज्जि जनपद मगध के उत्तर में गंगा के पार एक बहुत शक्तिशाली संघ था। पर गणतन्त्र-राज्यों की सबसे बड़ी निर्बलता यह होती है, कि उनमें भेद-नीति सुगमता से सफल बनाई जा सकती है। 'भेद' और 'प्रदान'

इन दो उपायों से ही गणराज्यों का विनाश शत्रु लोग करते रहे हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र में साम्राज्यवादी आचार्य चाणक्य ने इन्हीं उपायों का उपदेश अपने विजिगीषु राजा को संघों का नाश करने के लिये दिया है। चाणक्य से पूर्व आचार्य वर्षकार ने भी इन्हीं उपायों का उपयोग कर वज्जिसंघ का नाश किया।

एक जैन ग्रन्थ के अनुसार, जब राजा अजातशत्रु ने वैशाली पर चढ़ाई की तो काशी और मल्ल जनपदों ने इस युद्ध में वज्जियों की सहायता की। सम्भवतः वज्जिसंघ के साथ ही काशी और मल्ल जनपद भी मगध के साम्राज्यवाद के शिकार होगये। यद्यपि बौद्ध ग्रन्थ अट्ठकथा के अनुसार वर्षकार की भेदनीति के कारण अजातशत्रु ने युद्ध के बिना ही वैशाली पर अपना अधिकार कर लिया था, पर जैन अनुश्रुति के अनुसार उसे वज्जिसंघ को परास्त करने के लिये घोर युद्ध की आवश्यकता हुई थी। इस युद्ध में अजातशत्रु ने 'महाशिला-कण्टक' और 'रथमूसल' जैसे भयंकर हथियारों का प्रयोग किया था। वर्षकार की भेदनीति के कारण कमजोर पड़े हुए वज्जि महाजनपद को युद्ध द्वारा जीत सकना अजातशत्रु के लिये सम्भव हो गया था, यही प्राचीन अनुश्रुति का निष्कर्ष है।

अंग महाजनपद बिम्बिसार के समय में मगध साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया था; अब अजातशत्रु के प्रयत्न से वज्जि, मल्ल और काशी, ये तीन महाजनपद मगध साम्राज्य में सम्मिलित हो गये। काशी का कुछ भाग पहले ही बिम्बिसार के समय में भी मगध के अधीन था। अजातशत्रु ने सम्पूर्ण काशी महा-जनपद को हस्तगत कर लिया। इस प्रकार अब मगध साम्राज्य की शक्ति बहुत बढ़ गई।

अजातशत्रु ने ३२ वर्ष तक राज्य किया। जिस समय महात्मा बुद्ध का निर्वाण हुआ, उस समय अजातशत्रु को शासन करते

हुए आठ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। महात्मा बुद्ध का निर्वाण-काल ४८० ईस्वीपूर्व के लगभग है। अतः अजातशत्रु ४८८ ईसवी पूर्व में राजगद्दी पर बैठे, और ४५६ ईसवी पूर्व में उनके शासन का अन्त हुआ।

(४) राजा उदायीभद्र

प्रसिद्ध बौद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ महावंश के अनुसार उदायीभद्र ने भी अपने पिता अजातशत्रु को मार कर मगध का राजसिंहासन प्राप्त किया था। अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार का घात किया था और उदायी ने अजातशत्रु का। ये एकराट् बनने के इच्छुक मागध सम्राट् सचमुच ही 'पितृघातक' थे। शायद इन्हीं को दृष्टि में रख कर आचार्य चाणक्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है, कि राजपुत्र कर्कट (केंकड़े) के समान होते हैं, जो अपने पिता को ही खा जाते हैं। चाणक्य ने राजपुत्रों को इस प्रवृत्ति से बचाने के लिये अनेक उपायों का भी प्रतिपादन किया है। राजपुत्र कहीं अपने पिता को मार कर राज्य प्राप्ति के लिये षड्यन्त्र तो नहीं कर रहे हैं, इसकी जानकारी रखने के लिये अनेक प्रकार की व्यवस्थायें की गई हैं।

पाटलीपुत्र की स्थापना उदायी ने ही की। अजातशत्रु के समय में मगध की राजधानी चम्पा और राजगृह थी। काशी, मल्ल और वज्जि महाजनपदों के जीत लेने के बाद मगध साम्राज्य इतना विस्तृत हो गया था, कि राजगृह या चम्पा साम्राज्य के केन्द्र से बहुत दूर पड़ती थी। शक्तिशाली वज्जिसंघ को भली-भाँति काबू में रखने के लिये भी इस प्रकार की राजधानी की आवश्यकता थी, जो वज्जिजनपद से अधिक दूर न हो। पाटलीपुत्र इसके लिये बहुत ही उपयुक्त नगरी थी।

उदायी बहुत ही महत्वाकांक्षी तथा वीर राजा था। पड़ोस के सब राजा इस के निरन्तर आक्रमणों से तंग थे। वे समझते थे, कि जब तक उदायी जीवित रहेगा तब तक दूसरे राजा चैन से राज्य-सुख का उपभोग नहीं कर सकते। पर उदायी ने किस-किस राजा को जीत कर अपने अधीन किया, इसका वृत्तान्त भारत की प्राचीन अनुश्रुति से ज्ञात नहीं होता। पर जैन ग्रन्थों में उदायी के विषय में एक कथा अत्यन्त उपयोगी पाई जाती है। हेमचन्द्र कृत 'स्थविरावलि चरित्र' के अनुसार उदायी ने किसी समीपवर्ती राजा पर आक्रमण कर उसके राज्य को छीन लिया और वह राजा भी युद्ध में मारा गया। परन्तु उस राजा के पुत्र ने अवन्ति के राजा के पास जाकर आश्रय लिया और उससे उदायी के विरुद्ध युद्ध करने के लिये सहायता की याचना की। इस समय भारत में साम्राज्य-विस्तार के लिये जो महाजनपद संघर्ष कर रहे थे, उनमें मगध और अवन्ति ही सब से प्रबल थे। मगध ने अंग, काशी, वज्जि और मल्ल महाजनपदों को जीत लिया था। इनके विजय के कारण उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई थी। उधर अवन्ति की शक्ति भी बहुत बढ़ी हुई थी। वत्स और अवन्ति इस समय एक राजवंश के शासन में थे। पश्चिम के अनेक छोटे-बड़े राज्य इस समय अवन्ति के अधीन हो चुके थे।

अवन्ति के राजा ने इस राजकुमार को सहायता देना स्वीकृत कर लिया। पर उदायी को युद्ध द्वारा परास्त कर सकना सुगम बात न थी। अतः एक चाल चली गई। उदायी जैन धर्म में श्रद्धा रखता था। जैन साधु उसके पास आते जाते रहते थे। इस राज्यच्युत राजकुमार ने जैन साधु का वेश बनाया और पाटलीपुत्र जा पहुँचा। जो जैन गुरु उदायी के राजप्रासाद में

आते जाते थे, उनमें से एक का शिष्य बन कर वह स्वयं भी महलों में आने जाने लगा। एक दिन अवसर पाकर, जब राजा सो रहा था, इसने उस पर आक्रमण किया और सिर धड़ से अलग कर दिया। इस प्रकार पितृहन्ता तथा पाटलीपुत्र के संस्थापक राजा उदायीभद्र का अन्त हुआ। उदायी का शासन-काल कुल १६ वर्ष था।

उदायी के बाद अनुरुद्ध और फिर मुण्ड मगध की राजगद्दी पर बैठे। इन दोनों का शासन-काल ८ वर्ष था। इनके साथ सम्बन्ध रखने वाली किसी भी महत्वपूर्ण घटना का ज्ञान हमें नहीं है।

(५) शिशुनाग नन्दिवर्धन

मुण्ड के बाद मगध का राजा नागदासक बना। इसका प्रधान अमात्य शिशुनाग था। नागदासक नाम को ही राजा था, असली राज्यशक्ति शिशुनाग के हाथ में थी। शिशुनाग ने उसी मार्ग का अवलम्बन किया, जिस पर अन्तिम बार्हद्रथ राजा रिपुंजय का प्रधानामात्य पुलिक चला था। मगध में फिर एक बार क्रान्ति हुई। नागदासक को राजसिंहासन से उतार कर उसका अमात्य शिशुनाग सम्राट् बन गया। बौद्ध साहित्य के अनुसार पाटलीपुत्र के पौरों, मन्त्रियों और अमात्यों ने नागदासक को राजगद्दी से च्युत कर "साधुसम्मत अमात्य शिशुनाग" को राजपद पर अभिषिक्त किया। शिशुनाग कहाँ तक साधुसम्मत था, यह कह सकना सुगम नहीं है, पर इसमें सन्देह नहीं, कि वह बड़ा प्रतापी और महत्वाकांक्षी था। उसने कुल ४२ वर्ष तक मगध का नेतृत्व किया, २४ वर्ष नागदासक के अमात्यरूप में और १८ वर्ष स्वयं राजा के रूप में। शिशुनाग का ही दूसरा नाम नन्दिवर्धन था।

शिशुनाग के शासन-काल में मगध के साम्राज्य का और भी अधिक विस्तार हुआ। इसके समय की सब से बड़ी घटना अवन्ति महाजनपद का मागध साम्राज्य में सम्मिलित होना है। पुलिक के लड़के प्रद्योत ने अवन्ति में जिस नये वंश का प्रारम्भ किया था, अब उसका अन्त होगया। प्रद्योत बड़ा शक्तिशाली राजा था, इसीलिये प्राचीन अनुश्रुति में उसे 'चण्ड' विशेषण से स्मरण किया गया है। वत्स राज्य के साथ उसके बहुत से युद्ध हुए, और धीरे धीरे वत्स अवन्ति का वशवर्ती हो गया। प्रद्योत ने अपने समय में मगध पर भी आक्रमण करने की तैयारी की। इसीलिये राजा अजातशत्रु ने राजगृह की किलाबन्दी कराई थी। प्रद्योत के बाद अवन्ति की राजगद्दी के लिये गृह-कलह शुरू हो गया। बाद के राजा प्रद्योत के समान वीर तथा शक्तिशाली नहीं थे। शिशुनाग ने उन पर आक्रमण किया और अवन्ति के अन्तिम राजा अवन्तिवर्धन को मार कर यह शक्तिशाली महा-जनपद भी मगध साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। अवन्ति के नष्ट होने के साथ ही वत्स देश पर भी शिशुनाग का अधिकार हो गया।

(६) काकवर्ण महानन्दी

शिशुनाग का पुत्र काकवर्ण महानन्दी था। कुछ ग्रन्थों में इसे ही कालाशोक के नाम से लिखा गया है। इसने कुल २८ वर्ष तक राज्य किया। इस के शासनकाल के दसवें वर्ष में महात्मा बुद्ध का निर्वाण हुए १०० वर्ष पूर्ण हो चुके थे। इस अवसर पर बौद्ध धर्म की एक महासभा वैशाली में संगठित की गई। राजा महानन्दी इस महासभा का संरक्षक था। इसका आयोजन वैशाली के कुसुमपुरी वि॰ार में किया गया था, जहाँ

बौद्ध संसार के सर्व प्रसिद्ध ५०० भिक्षु एकत्र हुए थे। बौद्ध धर्म के संगठन में इस महासभा ने बड़ा कार्य किया।

महानन्दी के समय में मागध साम्राज्य का और अधिक विस्तार हुआ हो, इस विषय में कोई निर्देश प्राचीन अनुश्रुति में नहीं पाया जाता।

महानन्दी का अन्त भी एक षड्यन्त्र द्वारा हुआ। महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में लिखा है, कि नगर के बाहर गले में छुरी भोंक देने से उसकी मृत्यु हुई। प्राचीन आर्य मर्यादा को छोड़कर मगध के सम्राटों ने जिस मार्ग का अनुसरण किया था, उसमें यदि राजाओं का अन्त इस प्रकार के षड्यन्त्रों द्वारा हो, तो उसमें आश्चर्य की क्या बात है?

जिस षड्यन्त्र द्वारा राजा महानन्दी की हत्या हुई, उसका नेता महापद्म नन्द था। वह जाति का शूद्र था और अपने प्रारम्भिक जीवन में बड़ी कठिनता से अपना पेट पालता था। परन्तु देखने में वह बड़ा सुन्दर था। धीरे धीरे महानन्दी की रानी उसके काबू में आगई, और रानी द्वारा राजा भी बहुत कुछ उसके प्रभाव में आगया। अवसर पाकर महापद्म नन्द ने महानन्दी को कत्ल कर दिया और उसके पुत्रों के नाम पर स्वयं राज्य-कार्य का संचालन करने लगा। महानन्दी के दस लड़के थे। प्रतीत होता है, कि पिता की हत्या के समय ये सभी आयु में कम थे। यही कारण है, कि राजमाता का कृपापात्र होने से सारी शासन-शक्ति महापद्मनन्द के हाथ में थी। इस महापद्म ने बाद में महानन्दी के पुत्रों का भी घात करा दिया, और स्वयं मगध का सम्राट् बन गया।

(७) महापद्म नन्द

वायु पुराण के अनुसार महापद्मनन्द ने २८ वर्ष तक मगध का शासन किया। यह बहुत ही शक्तिशाली राजा था। एक

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार उसके सैनिकों की संख्या दस पद्म थी। उसके पास सम्पत्ति भी दस पद्म थी। इसी लिये उसका नाम महापद्म पड़ा था। पौराणिक अनुश्रुति की इन संख्याओं को स्वीकृत कर सकना तो सम्भव नहीं है, किन्तु महापद्म के पास अनन्त सेना और अनन्त सम्पत्ति अवश्य थी। इसीलिये उसे प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में उग्रसेन भी कहा गया है।

महापद्म नन्द के समय में मागध साम्राज्य का बहुत विस्तार हुआ। एक अनुश्रुति के अनुसार महापद्म ने ऐक्ष्वाक, पाञ्चाल, कौरव्य, हैहय, शूरसेन, मैथिल तथा अन्य बहुत से राज्यों को जीत कर अपने अधीन किया था। बिम्बिसार, अजातशत्रु, उदायी, शिशुनाग और नन्दिवर्धन ने मगध के जिस उत्कर्ष का प्रारम्भ किया था, महापद्मनन्द ने उसे चरमसीमा तक पहुँचा दिया। अंग, काशी, वज्जि, मल्ल, वत्स और अवन्ति—ये छः महाजनपद महापद्म के पूर्ववर्ती मागध सम्राटों ने अपने अधीन कर लिये थे। अब महापद्म ने ऐक्ष्वाकव वंश द्वारा शासित कोशल, पञ्चाल, चेदि, शूरसेन और कुरु—इन महाजनपदों को जीत कर मागध साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार बौद्ध काल के सोलह महाजनपदों में से बारह महाजनपद मागध साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये। महाजनपदों के अतिरिक्त जिन अन्य जनपदों को महापद्म नन्द ने अपने अधीन किया था, उनमें कलिंग विशेषरूप से उल्लेखनीय है। खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख से सूचित होता है, कि नन्दराज कलिंग पर आक्रमण कर वहाँ से जिन की एक मूर्ति विजयोपहार के रूप में मगध ले गया था। कलिंग भी महापद्म के प्रयत्न से मागध साम्राज्य के अन्तर्गत होगया था। दक्षिणी भारत में प्राप्त अनेक शिलालेखों से ज्ञात होता है, कि आधुनिक बम्बई प्रान्त के भी अनेक प्रदेशों

पर नन्द का शासन था। सम्भवतः, गोदावरी के प्रदेश में स्थित अश्मक महाजनपद भी महापद्मनन्द के साम्राज्य में सम्मिलित था।

नन्द के प्रधान मन्त्री का नाम कल्पक था। प्राचीन अनुश्रुति में इसकी बुद्धि की बड़ी प्रशंसा की गई है। इसी की सूझ और नीति कुशलता का यह परिणाम था, कि महापद्म नन्द ने प्रायः सारे उत्तरी भारत में मागध साम्राज्य का विस्तार कर लिया था।

महापद्म जाति का शूद्र था। पुराणों ने उसे 'शूद्रागर्भोद्भव' करके लिखा है। उसके सम्बन्ध में पुराणों का कहना है, कि जिस प्रकार प्राचीन समय में परशुराम ने क्षत्रियों का संहार किया था, वैसे ही अब शूद्र नन्द ने सब क्षत्रिय राजवंशों का अन्त कर दिया था। वह स्वेच्छाचारी एकराट् था, जिसका पृथिवी भर पर एकच्छत्र शासन था, और उसकी आज्ञा को उल्लंघन करने वाला कोई नहीं था। पुराणों में यह भी लिखा है, कि महापद्म नन्द से लगा कर सब राजा 'शूद्रप्राय' और 'अधार्मिक' हुए। यह तो स्पष्ट ही है, कि महापद्म नन्द आर्य-भिन्न जाति का था, और प्राचीन आर्य धर्म का पालन करने वाला नहीं था। प्राचीन आर्य क्षत्रिय राजवंशों और आर्य-नीति का अन्त कर उसने विशाल एकच्छत्र, स्वेच्छाचारी मागध साम्राज्य का विस्तार किया था। महापद्म नन्द की शक्ति का आधार उसकी वैयक्तिक योग्यता और उस भृत सेना का साहाय्य था, जिसमें अनार्य सैनिकों की प्रमुता थी, और जो अनार्य, शूद्र मागध सम्राट् के प्रति भक्ति रखती थी।

महापद्म के बाद उसके आठ पुत्रों ने शासन किया। महापद्म और उसके आठ पुत्र ही इतिहास में नवनन्द के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके सम्बन्ध की कोई घटना हमें ज्ञात नहीं है। पर

अन्तिम नन्द धननन्द था, जिसे मार कर मौर्य चन्द्रगुप्त ने आचार्य चाणक्य की सहायता से मागध साम्राज्य पर अपना अधिकार कर लिया था। महापद्म नन्द के पुत्रों का शासन-काल केवल सोलह वर्ष है।

मौर्य चन्द्रगुप्त ने धननन्द का नाश कर एक नये शक्तिशाली वंश का प्रारम्भ किया, पर मागध साम्राज्य पहले ही की तरह कायम रहा। मौर्यों के साथ किसी नये साम्राज्य का प्रारम्भ नहीं होता। मगध का जो साम्राज्य जरासन्ध, बिम्बिसार, अजातशत्रु और महापद्मनन्द के प्रयत्नों से निरन्तर उन्नति करता गया था, मौर्यों ने उसे और अधिक विस्तृत किया। चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार और अशोक के प्रयत्नों से मागध साम्राज्य अपने विस्तार की अन्तिम सीमा तक पहुँच गया, और न केवल प्रायः सम्पूर्ण भारत, अपितु भारत के बाहर के भी अनेक प्रदेश उसके अन्तर्गत हो गये।

धननंद का विनाश और चन्द्रगुप्त मौर्य का मागध-सम्राट बनना ठीक वैसी ही घटना है, जैसी कि बार्हद्रथ रिपुंजय की हत्या के बाद पुलिक का शक्ति प्राप्त करना या राजा नागक के विरुद्ध षड्यन्त्र करके श्रेणिय भट्टिय का राजसिंहासन पर अधिकार करना। राजवंशों और राजाओं में परिवर्तन होता गया, पर मागध साम्राज्य अक्षुण्णरूप से जारी रहा।

(८) यवनों के आक्रमण

महापद्मनन्द जिस समय बंगाल की खाड़ी से सतलुज तक सम्पूर्ण उत्तरी भारत में 'अबाधित' और 'अनुल्लंघित' शासन की स्थापना कर रहा था, उसी समय सुदूर पश्चिम में मैसिडोनिया का राजा फिलिप सारे यवन देश (ग्रीस) को जीत कर अपना एकच्छत्र साम्राज्य बनाने में लगा था। भारत के समान यवन देश

में भी उस समय बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे। मैसिडोन के साम्राज्यवाद ने इन सब को जीत कर एक शासन के नीचे ला दिया।

फिलिप का पुत्र सिकन्दर था, जिसने आचार्य अरिस्टोटल की शिक्षा का अनुसरण कर यवन देश से बाहर, पूर्व की तरफ अपना साम्राज्य विस्तृत करने का संकल्प किया था। सिकन्दर के विश्वविजय के इस प्रयत्न का वर्णन करने की हमें आवश्यकता नहीं। धीरे धीरे उसने ईजिप्त, एशिया माइनर, ईरान और अफ़गानिस्तान को जीत लिया और हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार कर भारत में प्रवेश किया।

हिन्दूकुश और सतलुज के बीच के प्रदेश में उस समय बहुत से जनपद थे, जिनमें प्रधानतया गणतन्त्र शासन थे। इनमें मालव, क्षत्रिय, आर्जुनायन, आरट्ट, आग्रेय, क्षुद्रक और शिवि-गण सब से प्रसिद्ध हैं। सिकन्दर के इनके साथ घनघोर युद्ध हुए। पश्चिमोत्तर भारत के इन विविध जनपदों से लड़ता हुआ सिकन्दर जब व्यास नदी के तट पर पहुँचा, तो उसे ज्ञात हुआ, कि प्राच्य देश में मगध का जो शक्तिशाली साम्राज्य है उसमें राजा नन्द का शासन है, और उसकी शक्ति अजेय है। सिकन्दर की यवन सेनायें पञ्चनद प्रदेश के गणराज्यों से लड़ती हुई ही थक गई थीं। भारत के इस एकराट् का सामना करने का उसे साहस नहीं हुआ। सिकन्दर भारत विजय की अपनी आकांक्षा को पूर्ण नहीं कर सका। उसे वापस लौटने के लिये बाधित होना पड़ा।

सुदूर पश्चिम के इस वीर आक्रान्ता ने मागध साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी भारत में विस्तृत होने के लिये मैदान तैयार कर

दिया। सिकन्दर के आक्रमणों ने पञ्जाब के गणराज्यों की शक्ति को जड़ से हिला दिया था। मागध सम्राट् उन्हें किस प्रकार अपने अधीन करने में सफल हुए, इस पर हम आगे चल कर प्रकाश डालेंगे।

चौथा अध्याय

जैन और बौद्ध धर्म

(१) धार्मिक सुधारणा

महत्त्वाकांक्षी और सैनिक नेताओं के बीच में, जिस समय मगध का राजसिंहासन गेंद की तरह उछल रहा था, मगध के पड़ौस में गङ्गा के उत्तर में तभी एक महान धार्मिक सुधारणा का प्रारम्भ हो रहा था। धीरे धीरे ये धार्मिक आन्दोलन सारे भारत में फैल गये। मगध के सम्राट् जैसे दिग्विजय करके अपने चातुरन्त साम्राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे, वैसे ही ये धार्मिक नेता धर्मचक्र द्वारा न केवल सारे भारत में, अपितु सारे भूमण्डल में, धर्मचक्रवर्ती होने के लिये संघर्ष कर रहे थे। जब मगध का राजनीतिक साम्राज्य नष्ट हो गया, तब भी यह धर्मसाम्राज्य भारत और उसके बाहर कायम रहा। भारत के प्राचीन इतिहास में इस धर्मसाम्राज्य और धार्मिक सुधारणा का बहुत अधिक महत्त्व है।

उत्तरी बिहार में जो अनेक गणराज्य थे, इन नये धार्मिक आन्दोलनों का उनसे प्रारम्भ हुआ। महात्मा बुद्ध शाक्यगण में उत्पन्न हुए थे, और वर्धमान महावीर ज्ञातृकगण में। वज्जिसंघ में जो आठ गणराज्य सम्मिलित थे, ज्ञातृकगण उनमें से एक था। मगध के साम्राज्यवाद ने उत्तरी बिहार के इन गणराज्यों का अन्त कर दिया। राजनीतिक और सैनिक क्षेत्र में गण मगध से परास्त हुए। पर धार्मिक क्षेत्र में शाक्य और वज्जि संघ के भिक्खुओं के

सम्पूर्ण मगध ने सिर झुका दिया। जब मगध की राजगद्दी के लिये सैनिक नेता एक दूसरे से होड़ कर रहे थे, और राजपुत्र कंस के समान अपने पिता के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहे थे, ये भिक्षु लोग शान्ति, प्रेम और सेवा से एक नये प्रकार के चातुरन्त साम्राज्य की स्थापना में लीन थे

भारत बहुत बड़ा देश है। जैसे विविध जनपदों में आर्य जाति विविध शाखाओं में विभक्त होती गई, ऐसे ही प्राचीन आर्य-धर्म भारत के विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न रूप धारण करता गया। प्राचीन आर्य एक ईश्वर के उपासक थे, वे प्रकृति की भिन्न-भिन्न शक्तियों में ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूपों की कल्पना कर, उनकी देवताओं के रूप में उपासना करते थे। यज्ञ इन देवताओं की पूजा का क्रियात्मक रूप था। धीरे धीरे यज्ञों का कर्मकाण्ड अधिकाधिक जटिल होता गया। यज्ञ के वास्तविक अभिप्राय को भूल कर आर्य ब्राह्मणों ने उसे ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति का साधन समझ लिया। यज्ञों में पशुहिंसा शुरू हुई। एक-एक यज्ञ में हजारों की संख्या में पशुओं की बलि दी जाने लगी। पशुओं की बलि पाकर अग्नि प्रसन्न व सन्तुष्ट होती है और इससे मनुष्य स्वर्ग-लोक को प्राप्त कर सकता है, यह विश्वास प्रबल हो गया।

इस समय के भारत में समाज में ऊंच-नीच का भेद भी बहुत बढ़ गया था। आर्यभिन्न जातियों के सम्पर्क में आने से आर्यों ने अपनी रक्तशुद्धता को कायम रखने के लिये जो नियम बनाए थे, उनका अब बहुत दुरुपयोग होने लगा था। ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने को समाज में ऊंचा समझते थे। बाकी लोग नीचे माने जाते थे। शूद्रों और दासों की एक ऐसी श्रेणी भी इस समय उत्पन्न हो गई थी, जिसे मानवता के साधारण अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। इस नई धार्मिक सुधारणा ने यज्ञों के रूढ़िवाद व समाज में ऊंच-नीच के भेदभाव के विरुद्ध आवाज उठा कर

प्राचीन आर्यधर्म का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया।

(२) वर्धमान महावीर

वज्जि संघ में जो आठ गण सम्मिलित थे, उनमें से एक का नाम था, ज्ञातृक। इसकी राजधानी कुण्डग्राम थी। यहां के गणमुख्य का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ का विवाह वैशालिक राजकुमारी त्रिशला के साथ हुआ था। त्रिशला लिच्छविगण के प्रमुख राजा चेटक की बहन थी। लिच्छविगण वज्जि संघ का सबसे शक्तिशाली गण था। ज्ञातृक राजा सिद्धार्थ और लिच्छवि कुमारी त्रिशला के तीन सन्तानें हुईं, एक कन्या और दो पुत्र। छोटे लड़के का नाम वर्धमान रखा गया। यही आगे चल कर जैन धर्म का तीर्थंकर महावीर बना।

वर्धमान का बाल्यजीवन राजकुमारों की तरह व्यतीत हुआ। वह एक समृद्ध गणमुख्य का पुत्र था। छोटी आयु में ही उसकी शिक्षा प्रारम्भ की गई। शीघ्र ही वह सब विद्याओं और शिल्पों में निपुण हो गया। अपने पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण उसे विद्याप्राप्ति में अधिक परिश्रम करना पड़ा। उचित आयु में वर्धमान का विवाह यशोदा नाम की कुमारी के साथ किया गया। उनके एक कन्या भी उत्पन्न हुई। आगे चल कर जमालि नामक क्षत्रिय के साथ इसका विवाह हुआ, जो कि वर्धमान महावीर के प्रधान शिष्यों में से एक था।

यद्यपि वर्धमान का प्रारम्भिक जीवन साधारण गृहस्थ के समान व्यतीत हुआ, पर उसकी प्रवृत्ति सांसारिक जीवन की तरफ नहीं थी। वह 'प्रेय' मार्ग को छोड़कर 'श्रेय' मार्ग की ओर जाना चाहता था। जब वर्धमान की आयु तीस वर्ष की थी, उनके पिता की मृत्यु हो गयी। ज्ञातृकगण का 'मुख्य' अब वर्धमान का बड़ा भाई नन्दिवर्धन बना। वर्धमान की प्रवृत्ति पहले ही वैराग्य की तरफ थी। अब पिता की मृत्यु के बाद

उन्होंने सांसारिक जीवन का त्याग कर भिक्षु बनना निश्चित किया। नन्दिवर्धन तथा अन्य निकट सम्बन्धियों से अनुमति ले वर्धमान ने घर का परित्याग कर दिया। ज्ञातृक लोग पहले ही तीर्थंकर पार्श्व द्वारा प्रतिपादित जिन धर्म के अनुयायी थे, अतः स्वाभाविक रूप से वह जैन भिक्षु बना। जैन भिक्षुओं की तरह उसने अपने केशश्मश्रु का परित्याग कर तपस्या करनी प्रारम्भ की। एक प्राचीन जैन ग्रन्थ में इस तपस्या का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है।

वर्धमान ने भिक्षु बनते हुए जो कपड़े पहने थे, वे तेरह मास में बिलकुल जर्जरित हो गये और फट कर स्वयं शरीर से उतर गये। फिर उसने वस्त्रों को धारण नहीं किया। वह छोटे बच्चे के समान नग्न ही विचरण करने लगा। जब वह समाधि लगा कर बैठा हुआ था, तो नानाविध जीवजन्तु उसके शरीर पर चलने फिरने लगे। उन्होंने उसे अनेक प्रकार से काटा, पर वर्धमान ने उनकी ज़रा भी परवाह नहीं की। जब वह ध्यानमग्न हुआ इधर उधर परिभ्रमण करता था, तो लोग उसे चारों ओर से घेर लेते थे। वे उसको मारते थे, शोर मचाते थे; पर वर्धमान उनका ज़रा भी ख्याल नहीं करता था। जब कोई बात पूछता था तो वह जवाब नहीं देता था। जब उसे लोग प्रणाम करते थे, तो वह प्रणाम का भी उत्तर नहीं देता था। कुछ दुष्ट लोग उसे डण्डों से भी पीटते थे, परन्तु उसे इसकी भी परवाह नहीं थी।

बारह वर्ष तक वह निरन्तर अपने शरीर की उपेक्षा कर सब प्रकार के कष्टों को सहता रहा। वह भोजन भी हथेली पर ग्रहण करता था। उसने संसार के सब बन्धनों का उच्छेद कर दिया था। संसार से वह सर्वथा निर्लिप्त था। आकाश की

तरह उसे किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं थी। वायु के समान उसके सम्मुख कोई बाधा नहीं रह गयी थी। शरद काल के जल के समान उसका हृदय शुद्ध था। कमलपत्र के समान वह किसी में लिप्त नहीं था। कछुवे के समान उसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया हुआ था। गैंडे की सींग के समान वह एकाकी हो गया था। पक्षी के समान वह स्वतन्त्र था।

इस प्रकार बारह वर्ष तक घोर तपस्या कर अन्त में तेरहवें वर्ष में वर्धमान को अपनी तपस्या का फल प्राप्त हुआ। उसे पूर्ण सत्यज्ञान की उपलब्धि हुई। उसे 'केवलिन्' पद प्राप्त हुआ। एक प्राचीन जैन ग्रन्थ के अनुसार "तेरहवें" वर्ष में, वसन्तऋतु के द्वितीय मास में, वसन्त ऋतु के चौथे पक्ष में, वैशाखमास में, वैशाखमास के दसवें दिन, जब कि वस्तुओं की छाया पूर्व की तरफ पड़नी प्रारम्भ हो गई थी, अर्थात् अपराह्न काल में, सुव्रत नामक वार को और विजय नामक मुहूर्त में, जृम्भिका ग्राम के बाहर, ऋजुपालिका नदी के तट पर, सामाग नाम के गृहस्थ की जमीन में स्थित एक पुराने मन्दिर के समीप, शाल-वृक्ष के नीचे वर्धमान महावीर ने 'केवलिन्' पद प्राप्त किया।

जिस समय मनुष्य संसार के संसर्ग से सर्वथा मुक्त हो जाता है, सुख-दुःख-द्वन्द्व से वह ऊपर उठ जाता है, वह अपने को अन्य सब वस्तुओं से पृथक् 'स्वतन्त्र' समझने लगता है, तब वह 'केवलिन्' की दशा प्राप्त होती है। केवली होकर वर्धमान महावीर बन गया। बारह वर्ष की सुदीर्घ तपस्या के बाद महावीर ने जो सत्यज्ञान प्राप्त किया था, अब उसने उसका प्रचार प्रारम्भ किया। महावीर की ख्याति शीघ्र ही दूर दूर तक पहुँच गई। अनेक लोग उनके शिष्य होने लगे। महावीर ने इस

समय जिस नये सम्प्रदाय की स्थापना की, उसे 'निर्ग्रन्थ' नाम से कहा जाता है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है, बन्धनों से मुक्त। महावीर के शिष्य भिक्षु लोग 'निगन्थ' या 'निगन्ठ' कहाते थे, इन्हें जैन भी कहते थे, क्योंकि ये 'जिन' (वर्धमान को कैवल्यपद प्राप्त हो जाने के बाद वीर, जिन, महावीर, अर्हत आदि सम्मान-सूचक शब्दों से कहा जाता था) के अनुयायी होते थे। निगन्थ महावीर के विरोधी इन्हें प्रायः 'निगन्थ ज्ञातृ पुत्र' (निगन्थ नाट पुत्त) के नाम से पुकारते थे। ज्ञातृपुत्र इन्हें इसलिए कहा जाता था, क्योंकि ये ज्ञातृक गण के कुमार थे।

वर्धमान महावीर ने जिस प्रकार अपने धर्म का प्रचार किया, इस सम्बन्ध में भी अनेक बातें प्राचीन जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं। महावीर का प्रधान शिष्य गौतम इन्द्रभूति था। आगे चलकर इस इन्द्रभूति ने भी 'कैवलिन्' पद प्राप्त किया था। महावीर का यह ढंग था, कि वे किसी एक स्थान को केन्द्र बनाकर अपना कार्य नहीं करते थे। पर अपनी शिष्यमण्डली के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते हुए अपने धर्मसन्देश को जनता तक पहुँचाने का उद्योग करते थे। सब से पूर्व उन्होंने ज्ञातृकगण में ही अपनी शिक्षाओं का प्रचार किया। सब ज्ञातृक शीघ्र ही उनके अनुयायी हो गये। इसके बाद लिच्छवि और विदेह में प्रचार किया गया। उत्तरी बिहार के इन गणराज्यों में प्रचार करने के बाद महावीर ने मगध की राजधानी राजगृह के लिये प्रस्थान किया। उस समय मगध में श्रेणिय बिम्बिसार का राज्य था। राजा श्रेणिय ने महावीर का बड़ा आदर किया, और उनके स्वागत में बिम्बिसार की सम्पूर्ण सेना (सम्भवतः श्रेणिबल) ने भी भाग लिया।

उस समय भारत का मुख्य महाजनपद मगध था। भारत के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक जीवन में वही सब का अग्रणी था। इसीलिये उस युग के धार्मिक नेताओं ने भी इसी को अपना प्रधान कार्यक्षेत्र बनाया। वर्धमान महावीर ने भी अपने जीवन का बड़ा भाग मगध में ही प्रचारकार्य में व्यतीत किया। राजगृह, चम्पा आदि मगध साम्राज्य की नगरियों में वे अपने शिष्यों के साथ भ्रमण करते रहे। अपनी आयु के ७२ वें वर्ष में उनकी मृत्यु हुई। मृत्यु के समय महावीर राजगृह के समीप पावा नाम की नगरी में विराजमान थे। यह स्थान इस समय भी जैन लोगों का बड़ा तीर्थ है। वर्तमान समय में इसका दूसरा नाम पोखरपुर है, और यह बिहार रेलवे स्टेशन से ६ मील की दूरी पर स्थित है।

(३) जैन धर्म की शिक्षायें

वर्धमान महावीर ने किसी नये धर्म की स्थापना नहीं की थी। ज्ञातृक गण तथा उसके समीपवर्ती जनपदों में जैन धर्म का पहले ही प्रचार था। महावीर से पूर्व जैन धर्म के २३ आचार्य व तीर्थंकर हो चुके थे। महावीर जैनधर्म के २४ वें व अन्तिम तीर्थंकर थे। ये जैन लोग अन्य आर्यों के समान वेद को नहीं मानते थे, ईश्वर व प्राकृतिक शक्तियों के रूप में उसके विविध रूपों (देवताओं) में भी उनका विश्वास नहीं था। यज्ञों के कर्मकाण्ड में भी इनकी निष्ठा नहीं थी। वज्जि-महाजनपद के संकीर्ण क्षेत्र में प्राचीन आर्य-परम्परा के विपरीत यह धर्म देर से चला आ रहा था। महावीर ने इसी धर्म में सुधार कर उसे ऐसा बल प्रदान किया, कि धीरे धीरे यह भारत के बहुत से प्रदेशों में फैल गया। मगध के अनेक सम्राटों की उसमें भक्ति हुई। जैन ग्रन्थों के अनुसार, राजा बिम्बिसार,

पाटलीपुत्र का संस्थापक उदायीभद्र और महापद्मनन्द जैन-धर्म के अनुयायी थे। मगध के ये सब राजा प्राचीन आर्य क्षत्रिय वंशों के नहीं थे। मानवधर्मशास्त्र के अनुसार ये वर्णसंकर थे। पुराणों में इनमें से अनेक को शूद्र तक कहा गया है। ब्राह्मण-प्रधान आर्य-धर्म में इन राजाओं को उचित आदर नहीं मिल सकता था। महावीर द्वारा जिस धर्म का इस समय मगध में प्रसार हो रहा था, उसमें सामाजिक ऊँचनीच का भेद नहीं था। ब्राह्मणों व क्षत्रियों को उसमें अन्य मानव समाज से ऊँचा नहीं माना जाता था। इस दशा में मगध के इन वर्ण-संकर व शूद्र राजाओं ने यदि उसे अपनाया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

जैन धर्म के अनुसार मानवीय जीवन का उद्देश्य मोक्ष व केवली पद प्राप्त करना है। मोक्षप्राप्ति के लिये मनुष्य क्या उद्योग करे, इसके लिये साधारण गृहस्थों व भिक्षुओं (मुनियों) में भेद किया गया है। जिन नियमों का पालन एक मुनि कर सकता है, साधारण गृहस्थ (श्रावक) उनका पालन नहीं कर सकता। इसीलिये जीवन की इन दोनों स्थितियों में मुमुक्षु के लिये भिन्न-भिन्न धर्मों का प्रतिपादन किया गया है।

पहले सामान्य गृहस्थ (श्रावक) के धर्म को लीजिये। गृहस्थ के लिये पाँच अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक है। गृहस्थ के लिये यह सम्भव नहीं, कि वह पाप का पूर्णतया परित्याग कर सके। संसार के कृत्यों में फँसे रहने से उन्हें कुछ न कुछ अनुचित कृत्य करने ही पड़ेंगे। अतः उनके लिये अणु-व्रतों का विधान किया गया है। अणुव्रत निम्नलिखित हैं—

(१) अहिंसाणुव्रत—जैन धर्म के अनुसार यह आवश्यक है, कि प्रत्येक व्यक्ति अहिंसाव्रत का पालन करे। मन, वचन और

शरीर से किसी भी प्रकार से हिंसा करना उचित नहीं है। पर गृहस्थों के लिये अहिंसा का पूर्णतया पालन कर सकना सम्भव नहीं है। अतः श्रावकों के लिये स्थूल अहिंसा का विधान किया गया है। स्थूल अहिंसा का अभिप्राय यह है, कि निरपराधियों की हिंसा न की जावे। इसीलिये जैन राजा अपराधियों को सब प्रकार का दण्ड दे सकते हैं, हिंसक जन्तुओं का घात कर सकते हैं, और राजकीय दृष्टि से युद्धों में भी तत्पर हो सकते हैं।

(२) सत्याणुव्रत मनुष्यों में असत्यभाषण की प्रवृत्ति अनेक कारणों से होती है। द्वेष, स्नेह तथा मोह का उद्रेक इनमें प्रधान है। इन सब प्रवृत्तियों को दबा कर सर्वदा सत्य बोलने का यत्न सत्याणुव्रत कहाता है।

(३) अचौर्याणुव्रत या अस्तेय—किसी भी प्रकार से दूसरों की चोरी न करना, गिरी हुई, पड़ी हुई, रक्खी हुई या भूली हुई वस्तु को स्वयं ग्रहण न कर के उसके वास्तविक स्वामी को दे देना अचौर्याणुव्रत कहाता है।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रत—मन, वचन तथा कर्म द्वारा परस्त्री का समागम न कर अपनी पत्नी से ही सन्तोष रखना तथा स्त्री के लिये मन, वचन व कर्म द्वारा परपुरुष का समागम न कर अपने पति से ही सन्तोष रखना ब्रह्मचर्याणुव्रत कहाता है।

(५) परिग्रह-परिमाण अणुव्रत—आवश्यकता के बिना बहुत से धनधान्य का संग्रह न करना परिग्रह-परिमाण अणुव्रत कहाता है। गृहस्थों के लिये यह तो आवश्यक है कि वे धन उपार्जन करें, पर उसी में लिप्त हो जाना व अर्थसंग्रह के पीछे भागना पाप है।

इन पांच अणुव्रतों का गृहस्थों को सदा पालन करना चाहिये। पर समय समय पर इनके अतिरिक्त अधिक कठोर व्रतों का ग्रहण करना भी उपयोगी है। सामान्य सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए गृहस्थों को चाहिये, कि कभी कभी वे अधिक कठोर व्रतों का पालन करें, ताकि मुनि-जीवन व्यतीत करने के लिये मार्ग साफ होता रहे। ये कठोर व्रत जैनधर्म में शीलव्रत कहाते हैं, और इनके द्वारा जैन श्रावक समय समय पर यह व्रत लेते हैं, कि वे एक निश्चित प्रदेश में ही रहेंगे, उससे बाहर नहीं जावेंगे। भोजन में कुछ निश्चित वस्तुओं से अधिक नहीं खावेंगे। भोजन की मात्रा भी एक निश्चित तोल से अधिक नहीं होगी। कुछ निश्चित तिथियों में मुनियों के सदृश जीवन व्यतीत करेंगे और मुनियों की सेवा में तत्पर रहेंगे। प्रत्येक मनुष्य मुनि नहीं बन सकता, गृहस्थ—जीवन व्यतीत करना ही होता है, पर मुनि बनने की तैयारी में कुछ न कुछ समय तो प्रत्येक मनुष्य लगा ही सकता है। जैन धर्म के अनुसार सांसारिक जीवन और गृहस्थ धर्म हेय नहीं हैं, पर वे अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं। मानव जीवन का उद्देश्य मोक्ष है। अतः गृहस्थ होते हुए भी मनुष्य को अपना जीवन इस ढंग से बिताना चाहिये, कि वह पाप में लिप्त न होकर मोक्ष-साधन में तत्पर रहे।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य, इन पांच व्रतों का गृहस्थ को तो स्थूल रूप से पालन करना होता है, पर जैन मुनि के लिये यह आवश्यक है, कि वह इनका सूक्ष्म रूप से पालन करे। मोक्षपद को प्राप्त करने के लिये जो लोग संसार को त्याग कर साधना में तत्पर होते हैं, वे मुनि कहाते हैं। अतः उनके लिये आवश्यक है, कि वे पापों का सर्वथा

त्याग करें और इसीलिये पाँचों व्रतों का अविकल रूप में पालन करें। जैनधर्म में इन महाव्रतों का मुनि लोग किस प्रकार पालन करें, इनका बड़े विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया है। मुनियों के सम्बन्ध में जैन धर्म की कल्पना निम्नलिखित है—

• मुनि को चाहिये कि आत्मा के सब बन्धनों को काट दे। किसी वस्तु न घृणा न करे। किसी से स्नेह न करे। किसी प्रकार की मौज में अपने को न लगावे। जीवन के आनन्दों पर विजय प्राप्त करना कठिन है। निर्बल लोग आसानी से उनका परित्याग नहीं कर सकते। पर जिस प्रकार साहसी व्यापारी दुर्गम समुद्र के पार उतर जाते हैं, वैसे ही मुनि जन संसार-सागर के पार उतर जाते हैं। स्थावर व जंगम, किसी भी वस्तु को मन, वचन व कर्म से किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचनी चाहिये। मुनि को केवल अपनी जीवनयात्रा के लिये ही भोजन की भिक्षा माँगनी चाहिये। यदि सारी पृथिवी भी एक आदमी की हो जावे, तो भी उसे सन्तोष नहीं होता। जितना ही तुम प्राप्त करोगे, उतनी ही तुम्हारी कामना बढ़ती जावेगी। तुम्हारी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये तो दो 'मासा' भी काफी है। पर सन्तोष तो, यदि तुम सम्पत्ति के पीछे भागो, तो करोड़ों से भी नहीं होगा।

जैन धर्म के अनुसार मुनि-जीवन के ये आदर्श हैं। इन आदर्शों तक पहुँचने के लिये मुनि लोग अपने जीवन को किस प्रकार नियमित करें, इस विषय में भी जैन साहित्य में बड़ी सूक्ष्म विवेचना की गई है। यद्यपि जैन मुनि संसार से विरक्त होकर मोक्ष साधन में तत्पर रहते थे, पर अपने मन्तव्यों को जनसाधारण में फैलाने के कार्य में भी वे बड़े उत्साह से कार्य

करते थे। वर्धमान महावीर अपनी शिष्य-मण्डली के साथ निरन्तर भ्रमण ही करते रहे, और गृहस्थ तथा मुनि, सब को सन्मार्ग का प्रदर्शन करते रहे।

(४) महात्मा बुद्ध

गंगा के उत्तर में एक छोटा जनपद था, जिसका नाम शाक्यगण था। इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। यहाँ के गणराजा का नाम शुद्धोदन था। इसकी पत्नी माया थी। इन्हीं के घर कुमार सिद्धार्थ का जन्म हुआ, जो आगे चल कर महात्मा बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सिद्धार्थ का दूसरा नाम गौतम था, यह नाम सम्भवतः उनके गौतम गोत्र के कारण था। जन्म के एक सप्ताह बाद ही कुमार सिद्धार्थ की माता का देहान्त हो गया। माता की बहिन महाप्रजावति थी। सिद्धार्थ का इसी ने पालन किया।

कपिलवस्तु का शाक्यगण वज्जिसंघ के समान शक्तिशाली नहीं था। पर क्षत्रियों के उचित वीरता की उनमें कमी नहीं थी। शाक्य कुमारों की शिक्षा में उस समय भौतिक उन्नति की ओर बहुत ध्यान दिया जाता था। सिद्धार्थ को भी इसी प्रकार की शिक्षा दी गई। तीरन्दाजी, घुड़सवारी और मल्ल-विद्या में बहुत प्रवीण बनाया गया। उस युग में पड़ौस के राजा गणराज्यों पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधीन करने में लगे हुए थे। कोशल के कई हमले शाक्यों पर हो चुके थे। अतः यह स्वाभाविक ही था, कि शाक्य कुमारों को वीर और ऐश्वर्यशाली बनने के लिये शिक्षा दी जाय। सिद्धार्थ का बाल्यकाल बड़े सुख और ऐश्वर्य में व्यतीत हुआ। सरदी, गरमी और वर्षा—इन तीनों ऋतुओं ने उनके निवास के लिये अलग

महल बने हुए थे। इनमें ऋतु के अनुसार ऐश्वर्य तथा भोग-विलास के सब सामान एकत्र किये गये थे। सिद्धार्थ एक सम्पन्न शाक्य राजा का पुत्र था। उसके पिता की इच्छा थी, कि सिद्धार्थ भी शाक्य गण में खूब प्रतिष्ठित तथा उन्नत स्थान प्राप्त करे।

युवा होने पर सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा नाम की कुमारी के साथ किया गया। विवाह के अनन्तर सिद्धार्थ का जीवन बड़े आनन्द के साथ व्यतीत होने लगा। सुख-ऐश्वर्य की उन्हें कमी ही क्या थी? कुछ समय बाद उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम राहुल रखा गया।

एक बार की बात है कि कुमार सिद्धार्थ कपिलवस्तु का अवलोकन करने के लिये निकले। उस दिन नगर को खूब सजाया गया था। कुमार सिद्धार्थ नगर की शोभा को देखता हुआ चला जा रहा था, कि उसका ध्यान सड़क के एक ओर लेट कर अन्तिम श्वास लेते हुए एक बीमार की ओर गया। सारथी ने पूछने पर बताया कि यह एक बीमार है, जो कष्ट के कारण भूमि पर पड़ा हुआ तड़प रहा है, और थोड़ी ही देर में इसका देहान्त हो जायगा। ऐसी घटना सभी आदमी देखते हैं, पर सिद्धार्थ पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इसके बाद उसे क्रमशः लाठी टेक कर जाता हुआ एक बूढ़ा, श्मशान की ओर जाती हुई एक अरथी और एक शान्तमुख सन्यासी दिखाई दिये। पहले तीन दृश्यों को देख कर सिद्धार्थ का दबा हुआ वैराग्य एक दम प्रबल हो गया। उसे यह भोगविलासमय जीवन अत्यन्त तुच्छ और क्षणिक जान पड़ने लगा। संन्यासी को देखकर उसे उमंग आई कि मैं भी इसी प्रकार संसार से विरक्त हो जाऊं।

सिद्धार्थ को वैरागी सा होता देख कर शुद्धोदन को बड़ी चिन्ता हुई। उसने संसार के तीव्र विलासों द्वारा सिद्धार्थ का

वैराग्य दबाने का प्रयत्न किया। एक रात को सिद्धार्थ अत्यन्त सुन्दरी वेश्याओं के बीच में अकेला छोड़ दिया गया। वे नवयुवती वेश्या नाना प्रकार के हावभाव, नाच व गान द्वारा उसे रिझाने का प्रयत्न करने लगीं। सिद्धार्थ उदासीन भाव में स्थिरचित्त होकर वहाँ बैठा रहा। कुछ समय में उसे नींद आ गई। रंग न जमने के कारण वेश्याओं को भी नींद सताने लगी। वे सब वहीं सो गईं। जब आधी रात को सिद्धार्थ की नींद अचानक टूटी, तब उसने देखा कि कुछ समय पूर्व जो नवयुवतियां सचमुच सौन्दर्य का अवतार सी प्रतीत हो रही थीं, उनकी ओर अब आंख उठाने में भी ग्लानि होती है। किसी के बाल अस्तव्यस्त हैं, कोई किसी भयंकर स्वप्न को देखने के कारण मुख को विकृत कर रही है। किसी के शरीर से वस्त्र उतर गया है। थोड़ी देर तक इस दृश्य को देखकर सिद्धार्थ वहाँ से अपने शयनागार में चला गया। इस दृश्य ने सिद्धार्थ के कोमल हृदय को वैराग्य की तरफ और भी प्रेरित कर दिया। उसने संसार का परित्याग कर संन्यास ले लेने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

एक दिन अंधेरी रात को कुमार सिद्धार्थ घर से निकल गया। शयनागार से बाहर आकर जब वह सदा के लिये अपने छोटे से परिवार से विदा होने लगा, तो उसे अपने प्रिय अबोध बालक राहुल और प्रियतमा यशोधरा की स्मृति सताने लगी। वह पुनः अपने शयनागार में प्रविष्ट हुआ। यशोधरा सुख की नींद सो रही थी। राहुल माता की छाती से सटा सो रहा था। कुछ देर तक सिद्धार्थ इस अनुपम दृश्य को एकटक देखता रहा। उसके हृदय पर दुर्बलता प्रभाव करने लगी। पर अगले ही क्षण अपने हृदय के निर्बल भावों को एक साथ परे हटाकर वह बाहर चला आया। गृहत्याग के समय इसकी आयु २९ वर्ष की थी।

प्रातःकाल हो जाने पर सिद्धार्थ ने अपना घोड़ा भी खुला छोड़ दिया। घोड़ा स्वयं वापस लौट आया। सिद्धार्थ ने अपने राजसी कपड़े एक साधारण किसान के साथ बदल लिये थे। प्रातःकाल शुद्धोदन ने सिद्धार्थ को ढूढ़ने के लिये अपने अनुचरों को भेजा, पर साधारण किसान के वस्त्र पहने हुए कुमार को वे नहीं पहचान सके। सिद्धार्थ निश्चिन्त होकर अपने मार्ग पर अग्रसर हुआ।

इसके बाद लगभग सात साल तक सिद्धार्थ ज्ञान और सत्य की खोज में इधर उधर भटकता रहा। शुरू शुरू में उसने दो तपस्वियों को अपना गुरु धारण किया। इन्होंने उसे मोक्षप्राप्ति के लिये खूब तपस्या करवाई। शरीर की सब क्रियाओं को बन्द कर घोर तपस्या करना ही इनकी दृष्टि में मोक्ष का उपाय था। सिद्धार्थ ने घोर से घोर तपस्यायें कीं। शरीर को तरह तरह से कष्ट दिये। पर इन साधनों से उसे आत्मिक शान्ति नहीं मिली। उसने यह मार्ग छोड़ दिया।

मगध का परिभ्रमण करता हुआ सिद्धार्थ उरुवेल पहुंचा। यहाँ के मनोहर प्राकृतिक दृश्यों ने उसके हृदय पर बड़ा प्रभाव डाला। इस प्रदेश के निसर्ग और सुन्दर जंगलों और मधुर शब्द करने वाले स्वच्छ जल के झरनों को देख कर उसका चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। उरुवेल के इन जंगलों में सिद्धार्थ ने फिर तपस्या प्रारम्भ की। यहाँ पांच अन्य तपस्वियों से भी सिद्धार्थ की भेंट हुई। ये भी कठोर तप द्वारा मोक्षप्राप्ति में विश्वास रखते थे। सिद्धार्थ लगातार पद्मासन लगा कर बैठा रहता। भोजन तथा जल का उसने सर्वथा परित्याग कर दिया। इस कठोर तपस्या से उसका शरीर निर्जीव सा हो गया। पर फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ।



गुप्तकालीन बुद्ध, सारनाथ
सारनाथ संग्रहालय
पाँचवीं शती, ई० पू०



उसने अनुभव किया, कि उसकी आत्मा वहीं पर है, जहाँ पहले थी। इतनी घोर तपस्या के बाद भी उसे आत्मिक उन्नति के कोई चिह्न दिखाई नहीं दिये। उसे विश्वास हो गया कि शरीर को जान-बूझकर कष्ट देने से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। सिद्धार्थ ने तपस्या के मार्ग का परित्याग कर दिया और फिर से अन्न ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। उसके साथी तपस्वियों ने समझा, कि सिद्धार्थ मार्गभ्रष्ट हो गया है, और अपने उद्देश्य से च्युत हो गया है। उन्होंने उसका साथ छोड़ दिया और अब सिद्धार्थ फिर अकेला ही रह गया।

तपस्या के मार्ग से निराश होकर सिद्धार्थ वर्तमान बोधगया के समीप पहुँचा। वहाँ एक विशाल पीपल का वृक्ष था। थक कर सिद्धार्थ उसकी छाया में बैठ गया। इतने दिनों तक वह सत्य को ढूँढने के लिये अनेक मार्गों का ग्रहण कर चुका था। अब उसने अपने अनुभवों पर विचार करना प्रारम्भ किया। सात दिन और सात रात वह एक ही जगह पर ध्यानमग्न दशा में बैठा रहा। अन्त में उसे बोध हुआ। उसे अपने हृदय में एक प्रकार का प्रकाश सा जान पड़ा। उसकी आत्मा में एक दिव्य ज्योति का आविर्भाव हुआ। उसकी साधना सफल हुई। वह अज्ञान से ज्ञान की दशा को प्राप्त हो गया। इस बोध व सत्य-ज्ञान के कारण वह सिद्धार्थ से 'बुद्ध' बन गया। बौद्धों की दृष्टि में इस पीपल के वृक्ष का बड़ा महत्त्व है। वह बोधिवृक्ष कहलाता है, इसी के कारण समीपवर्ती नगरी गया भी बोधगया कहलाती है। इस वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न दशा में जो बोध कुमार सिद्धार्थ को हुआ था, वही 'बौद्ध धर्म' कहलाता है। महात्मा बुद्ध इसे आर्यमार्ग व मध्यमार्ग कहते थे। इसके बाद सिद्धार्थ व बुद्ध ने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी आर्यमार्ग का प्रचार करने में लगा दिया।

बौद्ध साहित्य में सिद्धार्थ की इस ज्ञानप्राप्ति की दशा का बड़ा विस्तृत और अतिरंजित वर्णन किया गया है। उसके अनुसार ज्ञानप्राप्ति के अवसर पर मार (कामदेव) आदि राक्षसों ने अपनी सेना सहित सिद्धार्थ पर चढ़ाई की। उसके सामने नाना प्रकार के प्रलोभन व कष्ट देने वाले भय उपस्थित किये गये। पर सिद्धार्थ ने इन सब पर विजय पाई। सम्भवतः ये वर्णन महात्मा बुद्ध के हृदय के अच्छे-बुरे भावों के संघर्ष को चित्रित करने के लिये किये गये थे। बुद्ध ने अपने हृदय में विद्यमान बुरे भावों पर विजय प्राप्त की और सत्यज्ञान द्वारा धर्म के आर्यमार्ग का ग्रहण किया।

महात्मा बुद्ध को जो बोध हुआ था, उसके अनुसार मनुष्य-मात्र का कल्याण करना और सब प्राणियों का हित सम्पादन करना उनका परम लक्ष्य था। इसीलिये बुद्ध होकर वे शान्त होकर नहीं बैठ गये। उन्होंने सब जगह घूम घूम कर अपना सन्देश जनता तक पहुँचाना प्रारम्भ किया।

गया से महात्मा बुद्ध काशी की ओर चले। काशी के समीप जहाँ आजकल सारनाथ है, वहाँ उन्हें वे पांचों तपस्वी मिले, जिनसे उनकी उरुवेला में भेंट हुई थी। जब इन तपस्वियों ने बुद्ध को दूर से आते देखा, तब उन्होंने सोचा, यह वही सिद्धार्थ है जिसने अपनी तपस्या बीच में ही भंग कर दी थी। वह अपने प्रयत्न में असफल हो निराश होकर फिर यहाँ आ रहा है। हम इसका स्वागत व सम्मान नहीं करेंगे। परन्तु जब महात्मा बुद्ध और समीप आये, तो उनके चेहरे पर एक अनुपम ज्योति देख कर वे तपस्वी आश्चर्य में आ गये, और खड़े होकर उनका स्वागत किया। बुद्ध ने इन्हें उपदेश दिया। गया में बोधिवृक्ष के नीचे ध्यानमग्न होकर जो सत्यज्ञान इन्होंने प्राप्त किया था, उसका सब से पहले उपदेश इन तप-

भिक्षुओं को ही दिया गया। ये पांचों बुद्ध के शिष्य हो गये। बौद्ध धर्म में सारनाथ के इस उपदेश का बड़ा महत्त्व है। इसीके कारण बौद्ध संसार में बोधगया के बाद सारनाथ का तीर्थ-स्थान के रूप में सब से अधिक माहात्म्य है।

सारनाथ से बुद्ध उरुवेल गये। यह स्थान उस समय याज्ञिक कर्मकाण्ड में व्यस्त ब्राह्मण पुरोहितों का गढ़ था। वहाँ एक हज़ार ब्राह्मण इस प्रकार के रहते थे, जो हर समय अग्निकुण्ड में अग्नि को प्रदीप्त रखकर वेदमन्त्रों द्वारा आहुतियां देने में व्यस्त रहते थे। बुद्ध के उपदेशों से अनेक ब्राह्मण उनके अनुयायी हो गये। कश्यप इनका नेता था, आगे चल कर यह बुद्ध के प्रधान शिष्यों में गिना जाने लगा।

कश्यप के बौद्ध धर्म में दीक्षित हो जाने के कारण बुद्ध की ख्याति दूर दूर तक फैल गई। उरुवेल से वह अपने शिष्यों के साथ राजगृह गये। उन्होंने नगर के बाहर एक उपवन में डेरा लगाया। उन दिनों मगध के राजसिंहासन पर श्रेणिय बिम्बिसार विराजमान थे। उन्होंने बहुत से अनुचरों के साथ बुद्ध के दर्शन किये और उनके उपदेशों का श्रवण किया। राजगृह में बुद्ध को दो ऐसे शिष्य प्राप्त हुए, जो आगे चल कर बौद्ध धर्म के बड़े स्तम्भ साबित हुए। इनके नाम सारिपुत्त और मोग्गलान थे। ये दोनों प्रतिभाशाली ब्राह्मणकुमार एक दूसरे के अभिन्न मित्र थे और सदा एक साथ रहते थे। एक बार जब ये मार्ग पर बैठे हुए किसी विषय की चर्चा कर रहे थे, तो एक बौद्ध भिक्षु भिक्षा-पात्र हाथ में लिये उस रास्ते से गुज़रा। इन ब्राह्मणकुमारों की दृष्टि उस पर पड़ गई। उसकी चाल, ढाल, मुखमुद्रा और शान्त तथा वैराग्यपूर्ण दृष्टि से ये दोनों इतने प्रभावित हुए कि उसके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिये व्याकुल हो उठे। जब यह बौद्ध भिक्षु भिक्षाकार्य समाप्त कर, वापस लौट रहा,

था, तो वे उसके साथ महात्मा बुद्ध के दर्शन के लिये गये। इनको देखते ही बुद्ध समझ गये कि ये दोनों ब्राह्मणकुमार उनके प्रधान शिष्य बनने योग्य हैं। बुद्ध का उपदेश सुन कर सारिपुत्त और मोग्गलान भी भिक्खुवर्ग में सम्मिलित हो गये। बाद में ये दोनों बड़े प्रसिद्ध हुए और बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये इन्होंने बहुत कार्य किया।

जब मगध के बहुत से कुलीन लोग बड़ी संख्या में भिक्खु बनने लगे, तो जनता में असन्तोष बढ़ने लगा। लोगों ने कहना शुरू किया—यह साधु प्रजा की संख्या घटाने, स्त्रियों को विधवाओं के सदृश बनाने और कुलों का नाश करने के लिये आया है। इससे बचो। बुद्ध के शिष्यों ने उनसे आकर कहा, कि आजकल मगध की जनता इस भाव के गीत बना कर गा रही है—सैर करता हुआ एक साधु मगध की राजधानी में आया है, और पहाड़ की चोटी पर डेरा डाले बैठा है। उसने संजय के सब शिष्यों को अपना चेला बना लिया है, आज न जाने वह किसे अपने पीछे लगायगा। इस पर बुद्ध ने उत्तर दिया—इस बात से घबराओ नहीं। यह असन्तोष क्षणिक है। जब तुमसे लोग पूछते हैं, बुद्ध आज किसे अपने पीछे लगायगा, तो तुम उत्तर दिया करो—वीर और विवेकशाली पुरुष उसके अनुयायी बनेंगे। वह तो सत्य के बल पर ही अपने अनुयायी बनाता है।

महात्मा बुद्ध का प्रधान कार्यक्षेत्र मगध था। वे कई बार मगध में आये, और सर्वत्र घूम घूम कर अपने धर्म का प्रचार किया। बिम्बिसार और अजातशत्रु उनके समकालीन थे। इन मागध सम्राटों के हृदय में बुद्ध के प्रति अपार श्रद्धा थी। बुद्ध अपने बहुत से शिष्यों को साथ में लेकर भ्रमण किया करते थे। उनकी मण्डली में कई सौ भिक्खु एक साथ रहते थे। वे जिस शहर में पहुँचते, शहर के बाहर किसी उपवन में डेरा डाल

देते। लोग बड़ी संख्या में उनके दर्शनों के लिये आते और उनसे उपदेश श्रवण करते। नगर के श्रद्धालु लोग उन्हें भोजन के लिये आमन्त्रित किया करते थे। भोजन के अनन्तर बुद्ध अपने यजमान को उपदेश भी देते थे। यही उनके प्रचार का ढंग था।

मगध से बाहर महात्मा बुद्ध काशी, कोशल और वज्जि जनपदों में गये थे। अवन्ति जैसे दूरवर्ती जनपदों के लोगों ने उन्हें अनेक बार आमन्त्रित किया। पर इच्छा होते हुए भी वे स्वयं वहां नहीं जा सके। उन्होंने अपने कुछ शिष्यों की टोली को वहां भेज दिया था, और अवन्ति की जनता ने बड़े प्रेम और उत्साह से उनका स्वागत किया था। भिक्षुओं की इसी प्रकार की टोलियां अन्यत्र भी बहुत से स्थानों पर आर्यमार्ग का प्रसार करने के लिये भेजी गई थीं। इन प्रचारमण्डलियों का ही परिणाम था, कि बुद्ध के जीवनकाल में ही उनका सन्देश प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत में दूर दूर तक फैल गया था।

महात्मा बुद्ध ने ४५ वर्ष के लगभग आर्यमार्ग का प्रचार किया। जब वे ८० वर्ष के हो चुके थे, तो उन्होंने राजगृह से कुशीनगर के लिये एक लम्बी यात्रा का प्रारम्भ किया था। इस यात्रा में वैशाली के समीप वेणुवन में उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। कुछ दिन वहां विश्राम करके उन्होंने स्वास्थ्य लाभ किया। पर वे बहुत निर्बल हो चुके थे। वैशाली से कुशीनगर जाते हुए वे फिर बीमार पड़े। बीमारी की दशा में ही वे कुशीनगर पहुंचे और हिरण्यवती नदी के तट पर अपना डेरा डाला। वहां उनकी दशा और भी बिगड़ गई। बुद्ध की बीमारी की खबर कुशीनगर में वायुवेग से फैल गई। नगर के कुलीन मल्ल (कुशीनगर में मल्लगण की स्थिति थी) बड़ी बड़ी संख्या में हिरण्यवती के तट पर महात्मा बुद्ध के अन्तिम दर्शनों के लिये आने लगे।

महात्मा बुद्ध की अंतिम दशा की कल्पना कर भिक्खु लोग बड़े चिन्तित थे। उन्हें उदास देख कर बुद्ध ने उन्हें कहा—तुम सोचते होगे, तुम्हारा आचार्य तुमसे जुदा हो रहा है। पर ऐसा मत सोचो। जो सिद्धान्त और नियम मैंने तुम्हें बताये हैं, जिनका मैंने प्रचार किया है, वही तुम्हारे आचार्य रहेंगे और सदा जीवित रहेंगे। फिर उन्होंने सब भिक्षुओं को सम्बोधन करके कहा—पुत्रो! सुनो, मैं तुमसे कहता हूँ, जो आता है, वह जाता भी अवश्य है। बिना रुके प्रयत्न किये जाओ।

महात्मा बुद्ध के ये ही अंतिम शब्द थे। इसके बाद उनका देह प्राणशून्य हो गया। कुशीनगर के समीप अब भी उस स्थान पर एक विशाल मूर्ति विद्यमान है, जहां महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ।

(५) बौद्ध धर्म की शिक्षायें

महात्मा बुद्ध सच्चे अर्थों में धर्मसुधारक थे। प्राचीन आर्यधर्म में जो बहुत सी खराबियां आ गई थीं, उन्हें दूर कर उन्होंने सच्चे आर्यधर्म का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया। समाज में ऊंच-नीच के भेद के वे बहुत विरोधी थे। जन्म के कारण किसी को ऊंचा व किसी को नीचा मानने के लिये वे तैयार नहीं थे। उनकी दृष्टि में कोई अछूत नहीं था। उनके शिष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, श्रेष्ठि, शूद्र, वेश्यायें व नीचा समझी जाने वाली जातियों के मनुष्य—सब एक समान स्थान रखते थे। एक बार की बात है, कि दो ब्राह्मण, वासत्थ और भार-द्वाज बुद्ध के पास गये, और उनसे कहा—हम दोनों में इस बात पर विवाद हो गया है, कि कोई व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण होता है, या कर्म से। इस पर बुद्ध ने उत्तर दिया—हे वासत्थ! मनुष्यों में जो गौएं चराता है, उसे हम चरवाहा कहेंगे, ब्राह्मण नहीं।

जो मनुष्य कला-सम्बन्धी बातों से अपनी आजीविका चलाता है, उसे हम कलाजीवी कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। जो आदमी व्यापार करता है, उसे हम व्यापारी कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। जो आदमी दूसरों की नौकरी करता है, वह अनुचर कहलावेगा, ब्राह्मण नहीं। जो चोरी करता है, वह चोर कहलावेगा, ब्राह्मण नहीं। जो आदमी शस्त्र धारण करके अपना निर्वाह करता है, उसे हम सैनिक कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। किसी विशेष माता के पेट से जन्म लेने के कारण मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहूँगा। वह व्यक्ति जिसका किसी भी वस्तु पर ममत्व नहीं है, जिसके पास कुछ भी नहीं है, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा। जिसने अपने सब बन्धन काट दिये हैं, अपने को सब लगावों से पृथक् करके भी जो विचलित नहीं होता, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा। जो भी व्यक्ति क्रोधरहित है, अच्छे काम करता है, सत्याभिलाषी है, जिसने अपनी इच्छाओं का दमन कर लिया है, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा। वास्तव में न कोई ब्राह्मण के घर में जन्म लेने से ब्राह्मण होता है, और न कोई ब्राह्मण के घर में जन्म न लेने से अब्राह्मण होता है। अपने कर्मों से ही एक आदमी ब्राह्मण बन जाता है और दूसरा अब्राह्मण। अपने काम से ही कोई किसान है, कोई शिल्पी है, कोई व्यापारी है और कोई सेवक है।

महात्मा बुद्ध पशुहिंसा के घोर विरोधी थे। अहिंसा उनके सिद्धान्तों में से एक था। वे न केवल यज्ञों में पशुबलि के विरोधी थे, पर जीवों को मारना व किसी प्रकार का कष्ट देना भी वे अनुचित समझते थे। उस समय भारत में यज्ञों का कर्म-काण्ड बड़ा जटिल रूप धारण कर चुका था। लोगों का विश्वास था, कि यज्ञ द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ईश्वर के ज्ञान के लिये मोक्ष की साधना के लिये और अभीष्ट फल की प्राप्ति

के लिये ब्राह्मण लोग यज्ञ का अनुष्ठान करते थे। पर महात्मा बुद्ध का यज्ञों में विश्वास नहीं था। एक जगह उन्होंने उपदेश करते हुए कहा है—वासत्थ ! एक उदाहरण लो। कल्पना करो कि यह अचिरावती नदी किनारे तक भर कर जा रही है। इसके दूसरे किनारे पर एक मनुष्य आता है और वह किसी आवश्यक कार्य से इस पार आना चाहता है। वह मनुष्य उसी किनारे पर खड़ा हुआ यह प्रार्थना करना प्रारम्भ करे कि ओ दूसरे किनारे, इस पार आ जाओ ! क्या उसके इस प्रकार स्तुति करने से यह किनारा उसके पास चला जायगा ? हे वासत्थ ! ठीक इसी प्रकार एकत्रयी विद्या में निष्णात ब्राह्मण यदि उन गुणों को क्रियारूप में अपने अन्दर नहीं लाता जो किसी मनुष्य को ब्राह्मण बनाते हैं, अब्राह्मणों का आचरण करता है, पर मुख से प्रार्थना करता है—मैं इन्द्र को बुलाता हूँ, मैं वरुण को बुलाता हूँ, मैं प्रजापति, ब्रह्मा, महेश और यम को बुलाता हूँ, तो क्या ये उसके पास चले आवेंगे ? क्या इनकी प्रार्थना से ही कोई लाभ हो जायगा ?

यज्ञों में विविध देवताओं का आह्वान कर ब्राह्मण लोग जो उनकी स्तुति करते थे, महात्मा बुद्ध उसे निरर्थक समझते थे। उनका विचार था, कि सदाचरण और सद्गुणों से ही मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है। व्यर्थ के कर्मकाण्ड से कोई लाभ नहीं। बुद्ध और वासत्थ का एक अन्य संवाद इस विषय पर बड़ा उत्तम प्रकाश डालता है।

"क्या ईश्वर के पास धन व स्त्रियाँ हैं ?"

"नहीं।"

"वह क्रोधपूर्ण है या क्रोधरहित ?"

"क्रोधरहित।"

"उसका अन्तःकरण मलिन है या पवित्र ?"

"पवित्र।"

"वह स्वयं अपना स्वामी है या नहीं?"

"है।"

"अच्छा वासेट्ठ! क्या इन ब्राह्मणों के पास धन और स्त्रियाँ नहीं हैं?"

"हैं।"

"वे क्रोधी हैं या क्रोधरहित?"

"क्रोधी हैं।"

"वे ईर्ष्यालु हैं या ईर्ष्यारहित?"

"वे ईर्ष्यालु हैं।"

"उनका अन्तःकरण क्या पवित्र है?"

"नहीं, अपवित्र है।"

"वे स्वयं अपने स्वामी हैं या नहीं?"

"नहीं।"

"अच्छा वासेट्ठ! तुम स्वयं ही ईश्वर और ब्राह्मणों में इतना विभावैषम्य बतला रहे हो। अब बताओ, इनमें कोई एकता और साम्य भी हो सकता है?"

"कोई नहीं।"

"इसका अभिप्राय यह हुआ कि ये ब्राह्मण मलिन हृदय के हैं, वासनाओं से शून्य नहीं हैं और वह ब्रह्म पवित्र और वासना-रहित है, अतः ये ब्राह्मण मृत्यु के अनन्तर उसके साथ नहीं मिल सकते। अब ये आचारहीन ब्राह्मण बैठ कर वेदपाठ करते हैं या उसके अनुसार कोई कर्मकाण्ड करते हैं, तब उनके हृदय में तो यह होता है कि इस वेदपाठ से या कर्मकाण्ड से मोक्ष की प्राप्ति हो जावेगी। पर यह उनका अज्ञान है। त्रयी विद्या के इन पण्डितों की बात वस्तुतः जलरहित मरुभूमि के, मार्गरहित बीहड़ वन के समान है। उससे उन्हें कोई लाभ नहीं हो सकता।"

अभिप्राय यह है, कि महात्मा बुद्ध केवल वेदपाठ व यज्ञों के अनुष्ठानों को सर्वथा लाभहीन समझते थे। उनका विचार था, कि जब तक चरित्र शुद्ध नहीं होगा, मन की इच्छा दूर नहीं होगी, क्रोध, काम, मोह आदि पर विजय नहीं की जावेगी, तब तक यज्ञों के अनुष्ठान मात्र से कोई लाभ नहीं होगा।

जीवन को पवित्र बनाने के लिये महात्मा बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग का उपदेश किया था। इस मार्ग के ये आठ अंग हैं—(१) सत्य-चिन्तन (२) सत्य-संकल्प (३) सत्य-भाषण (४) सत्य-आचरण (५) सत्य रहन-सहन (६) सत्य-प्रयत्न (७) सत्य-ध्यान और (८) सत्य आनन्द। इसमें सन्देह नहीं कि आठ बातों को पूर्णतया आचरण कर मनुष्य अपने जीवन को आदर्श व कल्याण-मय बना सकता है।

बुद्ध के अनुसार जीवन का लक्ष्य निर्वाणपद को प्राप्त करना है। निर्वाण किसी पृथक् लोक का नाम नहीं है; न ही निर्वाण कोई ऐसा पद है, जिसे मनुष्य मृत्यु के बाद प्राप्त करता है। बुद्ध के अनुसार निर्वाण उस अवस्था का नाम है, जिसमें ज्ञान द्वारा अविद्यारूपी अन्धकार दूर हो जाता है। यह अवस्था इसी जन्म में, इसी लोक में प्राप्त की जा सकती है। सत्यज्ञान के अनन्तर महात्मा बुद्ध ने निर्वाण की यह दशा इसी जन्म में प्राप्त कर ली थी। एक जगह पर बुद्ध ने कहा—जो धर्मात्मा लोग किसी की हिंसा नहीं करते, शरीर की वृत्तियों का संयम कर पापों से बचे रहते हैं, उस अच्युत निर्वाणपद को प्राप्त करते हैं, जहां शोक और संताप का नाम भी नहीं।

महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों में सूक्ष्म और जटिल दार्श-निक विचारों को अधिक स्थान नहीं दिया। इन विवादों की उन्होंने उपेक्षा की। जीव का क्या स्वरूप है, सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है व किसी अन्य पदार्थ से, भूतादि तत्त्व कितने

और कौन से हैं, सृष्टि का कर्ता कोई ईश्वर है या नहीं—इस प्रकार के दार्शनिक विवादों से वे सदा बचते रहे। उनका विचार था, कि जीवन की पवित्रता और आत्मकल्याण के लिये इन सब प्रश्नों पर विचार करना विशेष लाभकारी नहीं है। पर मनुष्यों में इन प्रश्नों के लिये एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। यही कारण है, कि आगे चल कर बौद्धों में बहुत से दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ। इन सम्प्रदायों के सिद्धान्त एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। पर बुद्ध के उपदेशों व संवादों में इन दार्शनिक तत्त्वों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला गया।

(६) बौद्ध संघ

महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिये संघ की स्थापना की। जो लोग सामान्य गृहस्थ जीवन का परित्याग कर धर्मप्रचार और मनुष्यमात्र की सेवा में ही अपना जीवन खपा देना चाहते, वे भिक्षुव्रत लेकर संघ में सम्मिलित होते थे।

महात्मा बुद्ध का जन्म एक गणराज्य में हुआ था। अपनी आयु के २९ वर्ष उन्होंने गणों के वातावरण में व्यतीत किये थे। वे गणों व संघों की कार्यप्रणाली से भलीभाँति परिचित थे। यही कारण है, कि जब उन्होंने अपने नवीन धार्मिक सम्प्रदाय का संगठन किया, तो उसे भिक्षुसंघ नाम दिया। अपने धार्मिक संघ की स्थापना करते हुए स्वाभाविक रूप से उन्होंने अपने समय के संघराज्यों का अनुसरण किया और उन्हीं के नियमों तथा कार्यविधि को अपनाया। सब जगह भिक्षुओं का अलग अलग संघ था। प्रत्येक स्थान का संघ अपने आप में एक पृथक् स्वतन्त्र सत्ता होता था। सारे भिक्षुसंघ सभा में एकत्र होकर अपने कार्यों का सम्पादन करते थे। वज्जि-संघ को जिस प्रकार के सात अपरिहाणीय धर्मों का महात्मा

बुद्ध ने उपदेश किया था वैसे ही सात अपरिहाणीय धर्म बौद्ध संघ के लिये उपदिष्ट किये गये थे—

(१) एक साथ एकत्र होकर बहुधा अपनी सभायें करते रहना।

(२) एक ही बैठक करना, एक ही उत्थान करना और एक ही संघ के सब कार्यों को सम्पादित करना।

(३) जो संघ द्वारा विहित है, उसका कभी उल्लंघन नहीं करना। जो संघ में विहित नहीं है, उसका अनुसरण नहीं करना। जो भिक्षुओं के पुराने नियम चले आ रहे हैं, उनका सदा पालन करना।

(४) जो अपने में बड़े, धर्मानुरागी, चिरप्रव्रजित संघ के पिता, संघ के नायक स्थविर भिक्षु हैं, उनका सत्कार करना, उन्हें बड़ा मान कर उनकी पूजा करना, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझना।

(५) पुनः पुनः उत्पन्न होने वाली तृष्णा के वश नहीं आना।

(६) वन की कुटियों में निवास करना।

(७) सदा यह स्मरण रखना कि भविष्य में केवल ब्रह्मचारी ही संघ में सम्मिलित हों, और सम्मिलित हुए लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ रहें।

संघ-सभा में जब भिक्षु लोग एकत्र होते थे, तो प्रत्येक भिक्षु के बैठने के लिये आसन नियत होते थे। आसनों की व्यवस्था करने के लिये एक पृथक् कर्मचारी होता था, जिसे आसन-प्रज्ञापक कहते थे। संघ में जिस विषय पर विचार होना होता था, उसे पहले प्रस्तावरूप में पेश किया जाता था। प्रत्येक प्रस्ताव तीन बार दोहराया जाता था, उस पर बहस होती थी,

और निर्णय के लिये मत (वोट) लिये जाते थे। संघ के लिये कोरम का भी नियम था। संघ की बैठक के लिये कम से कम बीस भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक होती थी। यदि कोई निर्णय पूरे कोरम के अभाव में किया जाता, तो उसे मान्य नहीं समझा जाता था।

प्रत्येक भिक्षु के लिये आवश्यक था, कि वह संघ के सब नियमों का पालन करे, संघ के प्रति भक्ति रखे। इसीलिये भिक्षु बनते समय जो तीन प्रतिज्ञायें लेनी होती थीं, उनके अनुसार प्रत्येक भिक्षु को बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में आने का वचन लेना होता था। संघ में शामिल हुए भिक्षु कठोर संयम का जीवन व्यतीत करते थे। मनुष्यमात्र के कल्याण के लिये और सब प्राणियों के हित के लिये ही भिक्षुसंघ की स्थापना हुई थी। यह कार्य सम्पादित करने के लिये भिक्षुओं से वैय-क्तिक जीवन की पवित्रता और त्याग की भावना की पूरी आशा रखी जाती थी।

बौद्ध संघ के अपूर्व संगठन ने बुद्ध के आर्यमार्ग के सर्वत्र प्रचारित होने में बड़ी सहायता दी। जिस समय मगध के साम्राज्यवाद ने प्राचीन संघराज्यों का अन्त कर दिया, तब भी बौद्ध संघों के रूप में भारत की प्राचीन जनतन्त्र प्रणाली जीवित रही। राजनीतिक शक्ति यदि मागध सम्राटों के हाथ में थी, तो धार्मिक और सामाजिक शक्ति इन संघों में निहित थी। संघों में एकत्र होकर हजारों लाखों भिक्खु लोग पुरातन गणप्रणाली से उन विषयों का निर्णय किया करते थे, जिनका मनुष्यों के दैनिक जीवन से अधिक घनिष्ट सम्बन्ध था। बौद्ध संघ की इस विशेष स्थिति का यह परिणाम था, कि भारत में समानान्तर रूप से दो प्रबल शक्तियाँ कायम थीं, एक मागध साम्राज्य और

दूसरा चातुरन्त संघ। एक समय ऐसा भी आया, जब इन दोनों शक्तियों में परस्पर संघर्ष का सूत्रपात हो गया।

(७) आजीवक सम्प्रदाय

भारतीय इतिहास में वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध का समय एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक सुधारणा का काल था। इस समय में अनेक नवीन धार्मिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ था। इनमें बौद्ध और जैन धर्मों के नाम तो सब कोई जानते हैं, पर जो अन्य सम्प्रदाय भी इस समय में प्रारम्भ हुए थे, उनका परिचय प्रायः लोगों को नहीं है। इसी प्रकार का एक सम्प्रदाय आजीवक था। इसका प्रवर्तक मंक्खलिपुत्त गोसाल था। आजीवकों के कोई अपने ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं होते। उनके सम्बन्ध में जो कुछ भी परिचय मिलता है, वह सब बौद्ध और जैन साहित्य में ही है। मंक्खलिपुत्त गोसाल छोटी आयु में ही भिक्खु हो गया। शीघ्र ही वर्धमान महावीर से उसका परिचय हुआ, जो 'केवलिन' पद पाकर इस समय अपने विचारों का जनता में प्रसार करने में संलग्न थे। महावीर और गोसाल साथ साथ रहने लगे। पर इन दोनों की रुचियाँ, स्वभाव, आचार-विचार और चरित्र एक दूसरे से इतने भिन्न थे, कि छः साल बाद उनका साथ टूट गया और गोसाल ने महावीर से अलग होकर अपने पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना की, जो आगे चल कर आजीवक नाम से विख्यात हुआ। गोसाल ने अपने कार्य का मुख्य केन्द्र श्रावस्ती को बनाया। श्रावस्ती से बाहर एक कुम्भकार स्त्री का अतिथि होकर उसने निवास प्रारम्भ किया, और धीरे धीरे बहुत से लोग उसके अनुयायी हो गये।

आजीवक सम्प्रदाय के मन्तव्यों के सम्बन्ध में जो कुछ भी हमें ज्ञात होता है, उसका आधार उसका विरोधी साहित्य है।

पर उनके कुछ मन्तव्यों के विषय में निश्चित रूप से कहा जा सकता है। आजीवक लोग मानते थे, कि संसार में सब बातें पहले से ही नियत हैं। "जो नहीं होना है, वह नहीं होगा। जो होना है, वह कोशिश के बिना भी हो जायगा। अगर भाग्य न हो, तो हाथ में आई हुई चीज भी नष्ट हो जाती है। नियति के बल से जो कुछ होना है, वह चाहे शुभ हो या अशुभ, अवश्य होकर रहेगा। मनुष्य चाहे कितना ही यत्न करे, पर जो होन-हार है—उसे वह बदल नहीं सकता।" इसीलिये आजीवक लोग पौरुष, कर्म और उत्थान की अपेक्षा भाग्य या नियति को अधिक बलवान मानते थे। आजीवकों के अनुसार वस्तुओं में जो विकार व परिवर्तन होते हैं, उनका कोई कारण नहीं होता। संसार में कार्य-कारण भाव काम कर रहा हो, सो बात नहीं। पर जो कुछ हो रहा है या होना है, वह सब नियत है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से उसे बदल सके, यह सम्भव नहीं।

वर्धमान महावीर के साथ आजीवक का जिन बातों पर मतभेद हुआ था, उनमें से मुख्य निम्नलिखित थीं—(१) शीतल जल का उपयोग करना (२) अपने लिये विशेष रूप से तैयार किये गये अन्न व भोजन को ग्रहण करना (३) स्त्रियों के साथ सहवास करना। मंक्खलिपुत्त गोसाल की प्रवृत्ति अधिक भोग की तरफ थी। वह आराम से जीवन व्यतीत करने के पक्ष में था। महावीर का घोर तपस्यामय जीवन उसे पसन्द नहीं था। यही कारण है, कि महात्मा बुद्ध ने भी एक स्थल पर आजीवकों को उन सम्प्रदायों में गिना है, जो ब्रह्मचर्य को महत्त्व नहीं देते।

पर आजीवक भिक्षु का जीवन बड़ा सादा होता था। वे पात्र, हथेली पर रख कर भोजन करते थे। मांस, मछली और मदिरा का सेवन उनके लिये वर्जित था। वे दिन में केवल एक बार भिक्षा माँग कर भोजन करते थे।

आजीवक सम्प्रदाय का भी काफी विस्तार हुआ। सम्राट अशोक के शिलालेखों में उल्लेख आता है, कि उसने अनेक गुहा-निवास आजीवकों को प्रदान किये थे। अशोक के पौत्र सम्राट दशरथ ने भी गया के समीप नागार्जुनी पहाड़ियों में अनेक गुहायें आजीवकों के निवास के लिये दान में दी थीं और इस दान को सूचित करने वाले शिलालेख अब तक उपलब्ध होते हैं। अशोक ने विविध धार्मिक सम्प्रदायों में अविरोध उत्पन्न करने के लिये जो 'धर्ममहामात्र' नियत किये थे, उन्हें जिन सम्प्रदायों के मामलों पर दृष्टि रखने का आदेश दिया गया है, उनमें बौद्ध, ब्राह्मण और निर्ग्रन्थ (जैन) सम्प्रदायों के साथ आजीवकों का भी उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है, कि धीरे धीरे आजीवकों ने भी पर्याप्त महत्त्व प्राप्त कर लिया था, और यह सम्प्रदाय कई सदियों तक जीवित रहा था। इस समय इसके कोई अनुयायी शेष नहीं हैं।

(८) धार्मिक सुधारणा का प्रभाव

वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के नेतृत्व में प्राचीन भारत की इस धार्मिक सुधारणा ने जनता के हृदय और दैनिक जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला। लोगों ने अपने प्राचीन धार्मिक विश्वासों को छोड़ कर किसी नये धर्म की दीक्षा ले ली हो, यह नहीं हुआ। पहले धर्म का नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था, जो कर्मकाण्ड, विधि-विधान और विविध अनुष्ठानों द्वारा जनता को धर्म-मार्ग का प्रदर्शन करते थे। सर्वसाधारण गृहस्थ जनता सांसारिक धन्धों में संलग्न थी, कृषि, शिल्प, व्यापार आदि द्वारा धन उपार्जन करती थी, और ब्राह्मणों द्वारा बताये धर्म-मार्ग पर चल कर इहलोक और परलोक में सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करती थी। अब ब्राह्मणों का स्थान श्रमणों, मुनियों

और भिक्खुओं ने ले लिया । इन श्रमणों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र — सभी वर्णों और जातियों के लोग सम्मिलित थे । अपने गुणों के कारण समाज में इनकी प्रतिष्ठा थी । धर्म का नेतृत्व एक ब्राह्मण जाति के हाथ से निकल कर अब ऐसे लोगों के समाज के हाथ में आ गया था, जो घर-गृहस्थी को छोड़कर मनुष्यमात्र की सेवा का व्रत ग्रहण करते थे निःसन्देह, यह एक बड़ी भारी सामाजिक क्रांति थी ।

भारत के सर्वसाधारण गृहस्थ सदा से अपने कुलक्रमानुगत धर्म का पालन करते रहे हैं । प्रत्येक कुल के अपने देवता, अपने रीति-रिवाज और अपनी परम्परायें थीं, जिनका अनुसरण सब लोग मर्यादा के साथ करते थे । ब्राह्मणों का वे आदर करते थे, इनका उपदेश सुनते थे, और उनके बताये धर्मकाण्ड का अनुष्ठान करते थे । ब्राह्मण एक ऐसी श्रेणि थी, जो सांसारिक धंधों से पृथक् रह कर धर्मचिन्तन में संलग्न रहती थी । पर समय की गति से इस समय बहुत से ब्राह्मण अपने त्याग, तपस्या और निरीह जीवन का त्याग कर चुके थे । अब उनके मुकाबले में श्रमणों की जो नई श्रेणि संगठित हो गई थी, वह त्याग और तपस्या से जीवन व्यतीत करती थी, मनुष्यमात्र का कल्याण करने में तत्पर रहती थी । जनता ने ब्राह्मणों की जगह अब इनको आदर देना और इनके उपदेशों के अनुसार जीवन व्यतीत करना शुरू किया । बौद्ध धर्म के प्रचार का यही अभिप्राय है । जनता ने पुराने धर्म का सर्वथा परित्याग कर कोई बिलकुल नया धर्म अपना लिया हो, सो बात भारत के इतिहास में नहीं हुई ।

बिम्बिसार, अजातशत्रु, उदायि, महापद्मनंद और चंद्रगुप्त मौर्य जैसे मागध सम्राट् जैन मुनि, बौद्ध भिक्खु और ब्राह्मणों का समानरूप से आदर करते थे । जैन साहित्य के अनुसार ये जैन

थे, इन्होंने जैन मुनियों का आदर किया और उन्हें बहुत सा दान दिया। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार ये बौद्ध थे, भिक्खुओं का ये बड़ा आदर करते थे और इनकी सहायता पाकर बौद्ध संघ ने बड़ी उन्नति की थी। बौद्ध और जैन साहित्य इन सम्राटों के साथ संबंध रखने वाली कथाओं से भरे पड़े हैं और इन सम्राटों का उल्लेख उसी प्रसंग में किया गया है, जब इन्होंने जैन या बौद्ध धर्म का आदर किया, उनसे शिक्षा ग्रहण की। पौराणिक साहित्य में इनका अनेक ब्राह्मणों के संपर्क में उल्लेख किया गया है। वास्तविक बात यह है, कि इन राजाओं ने किसी एक धर्म को निश्चितरूप से स्वीकार कर लिया हो, किसी का विशेष रूप से पक्ष लिया हो, यह बात नहीं थी। प्राचीन भारतीय परंपरा के अनुसार ये ब्राह्मणों, श्रमणों और मुनियों का समानरूप से आदर करते थे; क्योंकि इस काल में भिक्खु लोग अधिक संगठित और क्रियाशील थे। इसलिये उनका महत्त्व अधिक था। जो वृत्ति राजाओं की थी, वही जनता की थी।

इस धार्मिक सुधारणा का एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि भारत में यज्ञोंके कर्मकाण्ड का जोर कम हो गया। यज्ञों के बंद होने के साथ-साथ पशुबलि की प्रथा कम होने लगी। यज्ञों द्वारा स्वर्गप्राप्ति की आकांक्षा निर्बल हो जाने से राजा और गृहस्थ लोग श्रावक या उपासक के रूप में भिक्षुओं द्वारा बताये मार्ग का अनुसरण करने लगे, और उनमें जो अधिक श्रद्धालु थे, वे मुनियों और श्रमणों का सा सादा तपःसंयममय जीवन व्यतीत करने के लिये तत्पर हुए।

बौद्ध और जैन संप्रदायों से भारत में एक नई धार्मिक चेतना उत्पन्न हो गई थी। शक्तिशाली संघों में संगठित होने के कारण इनके पास धन, मनुष्य व अन्य साधन प्रचुर परिमाण में विद्यमान थे। परिणाम यह हुआ, कि मगध के साम्राज्य-

विस्तार के साथ-साथ संघ की चातुरंत सत्ता की स्थापना का विचार भी बल पकड़ने लगा। इसीलिये आगे चल कर भारतीय धर्म व संस्कृति का न केवल भारत के सुदूर प्रदेशों में, अपितु भारत से बाहर भी दूर-दूर तक विस्तार हुआ।

पाँचवाँ अध्याय

सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य

(१) मोरियगण का कुमार चंद्रगुप्त

बौद्धकाल में सोलह महाजनपदों के अतिरिक्त जो अन्य अनेक जनपद थे, उनमें पिप्पलिवन का मोरियगण भी एक था। इस का प्रदेश उत्तरी बिहार में, नेपाल की तराई के समीप, वज्जि महाजनपद के पड़ोस में था। राजा अजातशत्रु ने वज्जिसंघ को जीत कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। इसी युग के किसी मागध सम्राट् ने पिप्पलिवन के मोरियगण को भी जीत कर अपने अधीन कर लिया था। मगध के इस साम्राज्यवाद ने जहाँ उत्तरी बिहार के अन्य गणराज्यों की स्वतंत्रता का अंत किया, वहाँ मोरियगण भी उनकी महत्त्वाकांक्षाओं का शिकार होने से न बच सका। नंदवंशी राजा धननंद के समय में वह गण भी मगध के अधीन था।

मोरियगण के राजकुल की एक रानी इस समय पाटलीपुत्र में छिपकर अपना जीवन बिता रही थी। उसके भाई-बंध भी उसके साथ में ही पाटलीपुत्र में रहते थे। मागध सम्राट् के कोप से बचने के लिये इन सब ने पाटलीपुत्र के विशाल नगर में छिप कर रहने में ही अपना कल्याण समझा था। इसी दशा में कुमार चंद्रगुप्त का जन्म हुआ। उसकी माता को मगध के राजकर्मचारियों का भय था। कहीं चंद्रगुप्त उनके हाथ में न पड़ जावे, इसलिये उसने अपने नवजात शिशु को एक ग्वाले के सुपुर्द कर दिया। अपनी उमर के ग्वालबालकों के साथ मोरियगण के राजकुमार चंद्रगुप्त का भी पालनपोषण होने लगा।

एक बार की बात है, चंद्रगुप्त अन्य बालकों के साथ पशु चरा रहा था। अवसर पाकर वे एक खेल खेलने में लग गये। चंद्रगुप्त राजा बना, अन्य बालकों को उपराजा, न्यायाधीश, राजकर्मचारी, चोर, डाकू आदि बनाया गया। राजा के आसन पर बैठकर चंद्रगुप्त ने अपराधियों को पेश किये जाने की आज्ञा दी। अपराधी पेश हुए। उनके पक्ष-विपक्ष में युक्तियाँ सुनी गईं। न्यायाधीशों के निर्णय के अनुसार चंद्रगुप्त ने अपना फैसला सुना दिया। फैसला यह था, कि अभियुक्तों के हाथ-पैर काट दिये जावें। इस पर राजकर्मचारियों ने कहा—देव! हमारे पास कुल्हाड़े नहीं हैं। इस पर चंद्रगुप्त ने आज्ञा दी—यह राजा चंद्रगुप्त की आज्ञा है, कि इन अपराधियों के हाथ-पैर काट दिये जावें। यदि तुम्हारे पास कुल्हाड़े नहीं हैं, तो लकड़ी का डंडा बनाओ, और उसके साथ बकरी का सींग बांध कर कुल्हाड़ा बना लो। राजा चंद्रगुप्त की आज्ञा का पालन किया गया। कुल्हाड़ा बनाया गया और अपराधियों के हाथ-पैर काट दिये गये। चंद्रगुप्त ने फिर आज्ञा दी—अब हाथ पैर जोड़ दिये जावें। वे जोड़ दिये गये।

चंद्रगुप्त के नेतृत्व में बच्चों के इस खेल को चाणक्य नाम का एक ब्राह्मण खड़ा देख रहा था। जिस प्रकार शान और प्रताप से चंद्रगुप्त राजा की भूमिका अदा कर रहा था, उसे देख कर चाणक्य बड़ा प्रभावित हुआ। उसने विचार किया, यह बालक अवश्य ही राजकुल का है, और यदि इसे शस्त्र और शास्त्र की भलीभांति शिक्षा दी जाय, तो यह होनहार कुमार एक दिन बहुत उन्नति कर सकता है। वह बालक चंद्रगुप्त के साथ गांव में गया, और उसके संरक्षक ग्वाले के सामने एक हजार कार्षापण रख कर बोला—मैं तुम्हारे पुत्र को सब विद्यायें सिखा-ऊंगा, तुम इसे मेरे साथ कर दो। ग्वाला इसके लिये तैयार हो

गया, और चाणक्य चंद्रगुप्त को अपने साथ ले गया। चाणक्य से चंद्रगुप्त ने सब विद्याओं का भलीभांति अध्ययन किया।

चाणक्य तक्षशिला का रहने वाला एक प्रसिद्ध आचार्य था। वह राजनीतिशास्त्र का अपने समय का सब से बड़ा पंडित था। राजनीतिशास्त्र के अतिरिक्त वह तीनों वेदों का ज्ञाता, सब शास्त्रों में पारंगत और मंत्रविद्या में निपुण था। वह एक बार तक्षशिला से पाटलीपुत्र आया, क्योंकि इस नगरी के वैभव की उस समय सारे भारत में धूम थी। उस समय के राजा लोग विद्वानों का आदर करते थे। चाणक्य को आशा थी, कि मगध का प्रतापी सम्राट् धननंद भी उसका भलीभांति सम्मान करेगा। राजा धननंद की एक भुक्तिशाला थी, जिसमें वह विद्वानों का आदर कर उन्हें दानदक्षिणा से संतुष्ट करता था। पाटलीपुत्र पहुँचकर इस भुक्तिशाला में गया, और संघब्राह्मण के आसन पर बैठ गया। तक्षशिला का वह प्रमुख आचार्य था, और उसे आशा थी, कि पाटलीपुत्र में भी प्रधान आचार्य के रूप में उसे सम्मान मिलेगा।

चाणक्य देखने में बड़ा कुरूप था। उसके सामने के दाँत टूटे हुए थे। जब राजा धननंद ने ऐसे व्यक्ति को प्रधान ब्राह्मण के आसन पर बैठे देखा, तो उसने सोचा, निश्चय ही यह व्यक्ति मुख्य आसन का अधिकारी नहीं हो सकता। उसने चाणक्य से पूछा—तुम कौन हो, जो इस मुख्य आसन पर आ बैठे हो? उधर से उत्तर मिला—यह मैं हूँ। यह उत्तर सुनकर धननंद क्रोध में आपे से बाहर हो गया। उसने आज्ञा दी, इस नीच ब्राह्मण को यहाँ न बैठने दो, इसे धक्के देकर बाहर निकाल दो। राजपुरुषों ने उसे बहुत समझाया – देव! ऐसा मत कीजिये। पर धननंद ने एक न मानी। इस पर राजपुरुष चाणक्य के पास गये और बोले—आचार्य! हम राजाज्ञा से आपको यहां से उठाने के

लिये आये हैं, परन्तु हम यह कहने का साहस नहीं कर सकते कि आचार्य आप यहाँ से उठ जाइये। हम लज्जित होकर आपके सम्मुख खड़े हैं। चाणक्य सब कुछ समझ गया। उसने अपने कमंडल को इंद्रकील पर पटक कर क्रोध से कहा—राजा उद्धत हो गया है, समुद्र से घिरी हुई पृथिवी नंद का नाश देख ले। यह कह कर वह भुक्तिशाला से बाहर हो गया। राजपुरुषों ने जब यह बात नंद से कही, तो उसने आज्ञा दी—पकड़ो पकड़ो, इस दास को पकड़ो। भागता हुआ चाणक्य राजप्रासाद में एक गुप्त स्थान पर छिप गया और राजपुरुष उसे गिरफ्तार नहीं कर सके। चाणक्य ने जो प्रतिज्ञा सबके सामने की थी, उसे पूरी करने में वह पूरी शक्ति के साथ लग गया।

उस समय में राजकुमार षड्यंत्र के लिये सुगमता से तैयार हो जाते थे। 'राजपुत्रों की दशा केंकड़े के समान होती है, जो अपने पिता को ही मार देते हैं' यह उस युग का प्रचलित सिद्धान्त था। मगध के अनेक सम्राटों के विरुद्ध इसी प्रकार के षड्यंत्र हो चुके थे। चाणक्य ने भी ऐसे एक राजकुमार से परिचय किया, जो नंद के विरुद्ध षड्यंत्र में सम्मिलित होने के लिये तैयार हो गया। इसका नाम पर्वतक था। यह मालूम नहीं, कि नंद के साथ इसका क्या संबंध था, पर यह राज-प्रासाद में ही रहता था, और राजवंश के साथ संबंध रखता था। पर्वतक को लेकर चाणक्य विन्ध्याचल के जंगलों में चला गया, और वहाँ अपने षड्यंत्र की रचना की। नकली सिक्के बना कर ८० करोड़ कार्षापण एकत्र किये गये, और इस धन से एक बड़ी सेना का संगठन किया गया।

इसी अवसर पर चाणक्य की चंद्रगुप्त से भेंट हुई। चाणक्य कुशल नीतिज्ञ था, पर उसे एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी: जो सैन्यसंचालन में कुशल हो, जिस में एक विशाल

साम्राज्य के स्वामी होने के सब गुण विद्यमान हों, और जो चाणक्य का पूरा सहयोगी बन सके। पर्वतक में ये गुण नहीं थे। चाणक्य को अब चंद्रगुप्त और पर्वतक में से एक को चुनना था; दो कुमारों को वह नंद के बाद मागध साम्राज्य की गद्दी पर नहीं बिठा सकता था। उसने दोनों कुमारों के गले में एक-एक सुवर्णसूत्र बाँध दिया। एक बार जब चंद्रगुप्त सो रहा था, उसने पर्वतक से कहा—ऐसे ढंग से सुवर्णसूत्र को चंद्रगुप्त के गले से निकाल लाओ, कि न गाँठ खुले और न सूत्र टूटे। पर्वतक को कोई उपाय नहीं सूझा, वह असफल हो कर लौट आया। ऐसे ही एक दूसरे दिन जब पर्वतक सो रहा था, चाणक्य ने चंद्रगुप्त को भी यही आदेश दिया। चंद्रगुप्त ने सोचा, इसका केवल एक उपाय है, पर्वतक का सिर काट कर ही सुवर्णसूत्र को इस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, कि न धागा टूटे और न गाँठ खुले। उसने यही किया और पर्वतक का सिर काट कर सुवर्णसूत्र को चाणक्य के सम्मुख लाकर रख दिया।

इससे चाणक्य बहुत प्रसन्न हुआ। पर्वतक उसके रास्ते से हट गया और चंद्रगुप्त के रूप में उसे ऐसा व्यक्ति मिल गया, जो न केवल वीर और साहसी था, पर अपने कार्य की सिद्धि के लिये बीभत्स से बीभत्स उपाय का आश्रय ले सकता था। जब चंद्रगुप्त सेना के संचालन में समर्थ हो गया, तो उसने चाणक्य के निरीक्षण में मागध साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया। अनेक ग्रामों और नगरों पर आक्रमण किये, पर उन्हें सफलता नहीं हुई। मागध सेनाओं से वे बुरी तरह परास्त हुए, और फिर जंगल में छिप कर अपनी जान बचाने लगे।

एक बार की बात है, कि जब चाणक्य और चंद्रगुप्त वेश

बदल कर फिर रहे थे, तो वे एक गाँव में पहुँचे, जहाँ एक स्त्री पूवे बना कर अपने लड़के को खिला रही थी। लड़का चारों ओर के किनारों को छोड़ता जाता था, और बीच का भाग खा लेता था। यह देखकर माता ने कहा, इस लड़के का व्यवहार तो चंद्रगुप्त जैसा है, जिसने कि राज्य लेने का प्रयत्न किया था। यह सुनकर बालक ने पूछा—माँ, मैं क्या कर रहा हूँ, और चंद्रगुप्त ने क्या किया था? माता ने उत्तर दिया—मेरे प्यारे पुत्र! तुम पूवे का चारों ओर का किनारा छोड़कर केवल बीच का भाग खा रहे हो। चंद्रगुप्त सम्राट् बनने की महत्त्वाकांक्षा रखता था, उसने सीमाप्रांतों को पहले अधीन किये बिना ही राज्य के मध्य में ग्रामों और नगरों पर हमला करना शुरू कर दिया। इसीलिये लोग उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए और सीमा की तरफ से आक्रमण कर उसकी सेना को नष्ट कर दिया। यह चंद्रगुप्त की मूर्खता का ही परिणाम था। यह सुनकर चंद्रगुप्त और चाणक्य की आँखें खुल गईं, वे सीमाप्रदेश की तरफ गये, और वहाँ सेना एकत्र कर मागध साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिये प्रवृत्त हुए।

मागध साम्राज्य के उत्तरपश्चिम में इस समय भारी उथल-पुथल मची हुई थी। सिकंदर के हमलों से गांधार और पंजाब के विविध जनपद आक्रांत हो रहे थे। चंद्रगुप्त ने इस परिस्थिति का लाभ उठाया। एक बार वह सिकंदर से भी मिला। उसे आशा थी, कि विश्वविजयी सिकंदर की सहायता से वह मागध साम्राज्य को परास्त कर सकेगा। पर स्वेच्छाचारी सिकंदर के साथ उसका मेल नहीं हुआ। सिकंदर और चंद्रगुप्त दोनों ही स्वेच्छाचारी और महत्त्वाकांक्षी थे। चंद्रगुप्त से खरी-खरी बातें सुनकर सिकंदर ने उसे मार डालने की भी आज्ञा दी थी, पर वह साहसी युवक जैसे मागध सम्राट् बन-

नंद के क़ाबू में नहीं आया था, वैसे ही सिकंदर भी इसे मार सकने में सफल नहीं हुआ। व्यास नदी तक हमला कर चुकने के बाद जब सिकंदर वापस लौटा, तो चंद्रगुप्त ने उत्तर-पश्चिमी भारत की अव्यवस्था और उथल-पुथल से लाभ उठाया। वह इस विद्रोह की प्रवृत्ति का नेता बन गया, जो सिकंदर से पराजित जनपदों में स्वाभाविक रूप से विद्यमान थी। सिकंदर के शासन से उत्तरपश्चिमी भारत को स्वतंत्र कर चंद्रगुप्त ने मागध साम्राज्य पर आक्रमण किया। इस सब कार्य में उसका परम सहायक आचार्य चाणक्य था, जो तक्षशिला का निवासी होने के कारण गांधार और पंजाब के जनपदों व उनके निवासियों से भलीभाँति परिचित था।

(२) सिकंदर के विरुद्ध पंजाब में विद्रोह

मैसीडोनिया के राजा सिकंदर ने किस प्रकार ग्रीस के विविध गणराज्यों को जीतकर विश्वविजय के लिये एशिया की ओर प्रस्थान किया, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। ईजिप्ट (मिश्र), एशिया माइनर के विविध यूनानी उपनिवेश, तथा ईरान को जीतकर सिकंदर ने हिंदूकुश पर्वत पार कर भारत में प्रवेश किया। तक्षशिला (गांधार जनपद की राजधानी) के राजा आम्भि ने बिना लड़े ही उसकी अधीनता स्वीकृत कर ली। उसके दूत हिंदूकुश के पश्चिम में ही सिकंदर की सेवा में अधीनतासूचक भेंट-उपहार लेकर उपस्थित हुए थे। हिंदूकुश की उपत्यकाओं में रहने वाली विविध जातियों ने बड़ी वीरता के साथ सिकंदर का सामना किया। उन्हें परास्त करने में उसे छः मास के लगभग लग गये। इन्हें जीतकर सिकंदर भारत में आगे बढ़ा। गांधार का राजा आम्भि पहले ही उसकी अधीनता स्वीकार कर चुका था, पर जेहलम के पूर्व में

केकय देश का राजा पोरु बड़ा स्वाभिमानी और वीर था। उसने सिकंदर का मुक़ाबला करने का निश्चय किया। जेहलम के तट पर दोनों में भयंकर लड़ाई हुई। केकय का छोटा सा जनपद दिग्विजेता सिकंदर को परास्त नहीं कर सका। पोरु क़ैद हो गया। जब उसे सिकंदर के सम्मुख उपस्थित किया गया, तो उसने उसका बड़े आदर से स्वागत किया। सिकंदर वीरता की क़दर करता था, और पोरु जैसे सच्चे वीर के लिए उसके हृदय में सम्मान का भाव था। उसने पोरु से पूछा कि तुम्हारे साथ कैसा बर्ताव किया जाय। पोरु ने उत्तर दिया—जैसा राजा राजाओं के साथ करते हैं। इस उत्तर से सिकंदर बहुत प्रसन्न हुआ। केकय राज्य का शासनभार पोरु के ही सुपुर्द कर दिया गया। पोरु अब सिकंदर का अधीनस्थ राजा हो गया।

केकय जनपद को परास्त कर जब सिकंदर पंजाब में आगे बढ़ा, तो उसे अनेक गणराज्यों के साथ मुक़ाबला करना पड़ा। उस समय मध्य-पंजाब में ग्लुचुकायन, कठ, क्षुद्रक और मालव नाम के गणराज्य थे। ये परस्पर मिलकर सिकंदर का मुक़ाबला करने के लिये प्रयत्नशील थे। पर इससे पूर्व कि ये अपनी सैनिकशक्ति का सम्मिलितरूप से संगठन कर सकें, सिकंदर ने उन पर हमला कर दिया और एक-एक करके उन्हें जीत लिया। कठों ने खूब डट कर सिकंदर से युद्ध किया, उनसे वह इतना क्रुद्ध हो गया था, कि जीतने के बाद उनके प्रधान नगर सांकल का उसने पूर्णतया ध्वंस कर दिया था। कठ, क्षुद्रक, मालव और ग्लुचुकायन को जीतने के बाद सिकंदर व्यास नदी के किनारे पर आ पहुँचा। व्यास के पूर्व में यौधेयगण था, जो अपनी वीरता के लिये प्रसिद्ध था। यौधेयों के परे मगध का शक्तिशाली साम्राज्य था, जिसका विस्तार बंगाल की खाड़ी से लगाकर गंगा के पश्चिम तक था। सिकंदर चाहता था, कि

व्यास नदी को पार कर इनको भी विजय करे। पर उसकी सेना हिम्मत हार चुकी थी। मध्य-पंजाब के गणराज्य जिस अदम्य साहस के साथ सिकंदर से लड़े थे, उसके कारण उसकी सेनाओं ने व्यास नदी पार कर यौधेयगण और मागध साम्राज्य के साथ लड़ने की हिम्मत नहीं की।

लौटते हुए सिकंदर के शिबि, क्षुद्रक और आग्रेय गणों के साथ युद्ध हुए। फिर सिंध के प्रदेश में मुषिकगण, पातन व कुछ अन्य जनपदों के साथ युद्ध करता हुआ वह भारत से वापस लौट गया। उत्तरपश्चिमी भारत के जिन प्रदेशों पर उसने विजय की थी उनका शासन करने के लिये वह फिलिप्पस नामक एक सेनापति की अधीनता में ग्रीक सेना छोड़ गया था। अपने साम्राज्य के भारतीय प्रदेशों में उसने अनेक क्षत्रप (प्रांतीय शासक) नियत किये थे, जो फिलिप्पस के निरीक्षण में शासनकार्य करते थे। पोरु और आम्भि भी इसी प्रकार के क्षत्रप थे।

मैसीडोनिया लौटने के पूर्व ही ३२३ ई० पू० में बैबिलोन नगरी में सिकंदर की मृत्यु हो गई। विशाल यूनानी साम्राज्य का अधिपति कौन हो, इस विषय को लेकर सिकंदर के सेनापतियों में गृहकलह प्रारंभ हो गया। विविध सेनापति अपने-अपने प्रदेशों में स्वतंत्र हो गये। मैसीडोनिया, थ्रेस, ईजिप्ट और सीरिया में चार भिन्न-भिन्न सेनापतियों ने चार पृथक् राजवंशों की स्थापना की। इस परिस्थिति का परिणाम यह हुआ कि सिकंदर के साम्राज्य के भारतीय प्रदेशों में विद्रोह की अग्नि भड़क उठी। यहां सिकंदर एक आँधी की तरह आया था, जिसके वेग के सामने अनेक पुराने राजवंश और गणराज्य खड़े नहीं रह सकते थे। पर इस आँधी के भारत से जाते ही फिर यहाँ के निवासियों ने अपनी स्वतंत्रता की प्राप्ति का उद्योग प्रारंभ कर दिया। फिलिप्पस का घात करा दिया गया।

गणराज्यों ने फिर अपनी खोई हुई शक्ति को प्राप्त किया। पुराना राजवंश फिर मैदान में आ गया। फिलिप्पस का उत्तराधिकारी यूडीमोस नियुक्त हुआ था, जो कि सिंध नदी के तट पर स्थित एक शक्तिशाली ग्रीक सेना का अध्यक्ष था। पर यूडीमोस इस विद्रोह की प्रचंड अग्नि को बुझाने में सर्वथा असमर्थ रहा।

ग्रीक शासन के विरुद्ध पंजाब में जो यह विद्रोह हुआ, उसका नेतृत्व चंद्रगुप्त मौर्य और आचार्य चाणक्य कर रहे थे। उस समय की अव्यवस्था और राजनीतिक उथल-पुथल का लाभ उठा कर इन्होंने अपनी शक्ति को बढ़ा लिया, और पंजाब को विदेशी साम्राज्य की अधीनता से मुक्त कराके अपने अधीन कर लिया। एक ग्रीक लेखक ने क्या ठीक लिखा है—सिकंदर के लौटने पर चंद्रगुप्त ने भारत को स्वतंत्रता दिलाई, परंतु कृतकार्य होने के अनंतर शीघ्र ही स्वतंत्रता के नाम को दासता में परिवर्तित कर दिया। जिन्हें उसने विदेशियों के जुए से स्वतंत्र किया था, उन्हें अपने अधीन कर लिया। पंजाब के विविध छोटे-छोटे राज्य एक शक्तिशाली विदेशी शासन से तब तक स्वाधीन नहीं हो सकते थे, जब तक कि उन्हें एक सूत्र में संगठित करने वाला कोई योग्य नेता न हो। यह योग्य नेता चंद्रगुप्त मौर्य था। यह बिलकुल स्वाभाविक था कि जिस शक्तिशाली वीर के नेतृत्व में उन्होंने अपनी खोई हुई स्वतंत्रता को फिर प्राप्त किया हो, उसे वे अपना नेता और स्वामी स्वीकार करते रहें। यह निश्चित है कि सिकंदर के शासन से पंजाब को स्वतंत्र कर चंद्रगुप्त ने वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

इस प्रकार सीमाप्रांत को अपने अधीन कर, वहाँ की वीर सेनाओं को साथ ले चाणक्य और चंद्रगुप्त पूर्व की ओर बढ़े

गये। जो नगर और ग्राम रास्ते में आये उन्हें जीतते हुए वे पाटलीपुत्र जा पहुँचे। वहाँ धननंद को परास्त कर उन्होंने मगध साम्राज्य पर अपना अधिकार कर लिया।

(३) मागध साम्राज्य की विजय

चंद्रगुप्त और चाणक्य ने मागध राजा धननंद को मार कर किस प्रकार पाटलीपुत्र पर अपना अधिकार स्थापित किया, इसी कथानक को लेकर कवि विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस नाटक लिखा था। इस नाटक के अनुसार चाणक्य और चंद्रगुप्त की जिन सेनाओं ने पाटलीपुत्र पर आक्रमण किया था, उनमें शक, यवन, किरात, काम्बोज, पारसीक, वाह्लीक आदि की बड़ी भारी सेनायें सम्मिलित थीं, जिन्हें चाणक्य ने बुद्धि से अपने वश में कर रक्खा था। जिस प्रकार प्रलय के समुद्र से पृथिवी घिर जाती है, वैसे ही इन सेनाओं से पाटलीपुत्र घिर गया था। मुद्राराक्षस में कुछ ऐसे राजाओं के नाम भी दिये हैं, जो इस आक्रमण में चंद्रगुप्त के साथ थे। इनके नाम ये हैं—कुलूत (कुल्लू) का राजा चित्रवर्मा, मलय (सम्भवतः मालवगण) का राजा सिंहनाद, काश्मीर का राजा पुष्कराक्ष, सिंधु (सिंध) का राजा सिंधुषेण और पारसीक राजा मेघाक्ष। ये सब राजा उत्तरपश्चिमी भारत के उन्हीं प्रदेशों के शासक थे, जिन्हें चंद्रगुप्त ने सिकंदर के साम्राज्य से स्वतंत्र कराया था।

मुद्राराक्षस की कथा के अनुसार चाणक्य ने पर्वतक नाम के एक शक्तिशाली राजा को मगध का आधा राज्य देने का वचन देकर उसकी भी सहायता प्राप्त की थी। बौद्ध साहित्य के अनुसार पर्वतक मगध के ही राजकुल का था, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। धननंद इस विशाल सेना का मुकाबला नहीं कर सका, पुत्रों सहित युद्ध में उसकी मृत्यु हो गई और पाटलीपुत्र पर चंद्र-

गुप्त का कब्जा हो गया। पर नंद का नाश कर देने से ही चाणक्य के कार्य की इतिश्री नहीं हो गई।

राजा नंद के अनेक मंत्री थे। इनमें प्रधान का नाम राक्षस था। वह जाति से ब्राह्मण और नीतिशास्त्र का प्रकांड पंडित था। इसने नंद के मरने पर उसके भाई सर्वार्थसिद्धि को सिंहासन पर बैठा कर मागध साम्राज्य का संचालन प्रारंभ कर दिया। पाटलीपुत्र चंद्रगुप्त के हाथ में था, पर मगध की प्रजा नंदवंश में अनुरक्त थी। अभी मगध की सेना पूरी तरह परास्त भी नहीं हुई थी। चाणक्य बड़ी मुश्किल में पड़ा। अब नीतिशास्त्र के इन दो आचार्यों में संघर्ष प्रारंभ हुआ। मुद्राराक्षस में इसी का बड़े सुंदर रूप में वर्णन है। चाणक्य ने अपने सहाध्यायी मित्र विष्णुशर्मा को जीवसिद्धि क्षपणक के वेश में राक्षस के पास भेज दिया। कुछ ही समय में वह उसका विश्वासपात्र हो गया। राजा सर्वार्थसिद्धि के साथ रहने लगा। इसी जीवसिद्धि की प्रेरणा से सर्वार्थसिद्धि वैरागी हो कर वन में चला गया और राज्यकार्य से विमुख हो गया।

इस समाचार से अमात्य राक्षस को बड़ा खेद हुआ। चंदनदास नाम के एक धनी वैश्य के पास अपने कुटुम्ब को छोड़कर और शकटदास आदि विविध नागरिकों को अनेक प्रकार के कार्य सुपुर्द कर अमात्य राक्षस राजा सर्वार्थसिद्धि को तपोवन से लौटा लाने के लिये गया। यह सुनकर चाणक्य ने राक्षस के पहुँचने से पहले ही अपने गुप्तचरों द्वारा सर्वार्थसिद्धि को मरवा डाला। इस प्रकार नंदकुल का सर्वनाश करके चाणक्य ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। पर वह जानता था, कि जब तक राक्षस जैसे पुराने अमात्यों का सहयोग चंद्रगुप्त को प्राप्त नहीं होगा, वह कभी मगध के सिंहासन को नहीं सँभाल सकेगा। अतः उसकी सारी शक्ति इस काम में लग गई, कि

कूटनीति द्वारा राक्षस को परास्त कर उसे चंद्रगुप्त की सेवा करने के लिये विवश करे।

उधर राक्षस ने विचार किया, कि जब तक चंद्रगुप्त की सेनाओं में फूट नहीं डाली जावेगी, उसे परास्त नहीं किया जा सकेगा। उत्तरीपश्चिमी प्रदेशों से जिन सेनाओं ने पाटलीपुत्र पर कब्जा किया था, उनका नेता पर्वतक था। वह आधे मागध साम्राज्य का दावेदार भी था। राक्षस ने उसे पूरे मागध साम्राज्य का राजा बनाने का लालच दिया और अपने पक्ष में कर लिया। जीवसिद्धि द्वारा राक्षस की चालों का सब हाल जानकर चाणक्य ने बहुत सावधानी से चलना शुरू किया। अनेक भाषाएं जानने वाले बहुत से गुप्तचरों को वेष बदल कर भेद लेने के लिये सब जगह नियुक्त कर दिया गया। राक्षस का कोई गुप्तचर चंद्रगुप्त को धोखे से किसी प्रकार की हानि न पहुँचा सके, इसका चाणक्य ने पक्का प्रबंध किया। क्योंकि पर्वतक राक्षस के पक्ष में हो गया था, अतः उसका वध करा दिया गया। पर्वतक का पुत्र मलयकेतु था, उस पर निगाह रखने के लिये भागुरायण की नियुक्ति की गई। यह भागुरायण मलयकेतु और राक्षस के मैत्रीरूप वृक्ष में घुन की तरह लग गया।

चाणक्य ने निपुणक नाम के एक गुप्तचर को जनता का दिल परखने और अमात्य राक्षस के पक्षपातियों का पता लगाने के लिये भेजा था। वह यमराज के चित्रपट को फैलाकर साधु के वेष में घूमता था और लोगों का भेद लेता था। उसने पता लगाया कि राक्षस अपना परिवार पाटलीपुत्र में ही सेठ चंदनदास के पास छोड़ गया है, और शकटदास कायस्थ तथा जीवसिद्धि क्षपणक राक्षस के पक्षपाती और चंद्रगुप्त के विरोधी हैं। चंदनदास के घर में यमपट को फैला कर भीख मांगते हुए उसे राक्षस की पत्नी की अंगुली से गिरी हुई, 'राक्षस' नाम से

अंकित एक मुद्रा भी मिली। इस मुद्रा और अन्य रहस्यों को उसने चाणक्य के सुपुर्द कर दिया। राक्षस की मुद्रा का चाणक्य के हाथ में पड़ जाना बड़े महत्त्व की बात सिद्ध हुई। इसी से उसने नीतियुद्ध में राक्षस को परास्त किया।

चाणक्य ने एक ऐसा जाली पत्र तैयार किया, जिसका कोई सरनामा आदि नहीं था। अपने गुप्तचर सिद्धार्थक से इसकी प्रतिलिपि शकटदास के हाथ से कराई और इस पत्र को राक्षस की मुद्रा से मुद्रित कर दिया। सिद्धार्थक को सब बात समझा कर मलयकेतु के शिविर में रवाना कर दिया गया। एक चाल और चली गई। शकटदास को फाँसी की आज्ञा दे दी गई और सिद्धार्थक से कह दिया कि 'जब चांडाल लोग शकटदास को शूली पर चढ़ाने के लिये ले जाते हों, तो बाँई आँख दबा कर इशारा कर देना। चांडाल अलग हट जावेंगे और शकटदास को साथ लेकर राक्षस के पास चले जाना।' मित्र के प्राणों की रक्षा करने के कारण राक्षस तुमसे बहुत प्रसन्न होगा और तुम पर पूर्ण विश्वास करने लगेगा। सब बात समझ कर सिद्धार्थक उस पत्र को साथ ले रवाना हो गया। उधर चाणक्य ने चंदनदास को गिरफ्तार कर लिया। उस पर सब तरह से जोर डाला गया कि वह राक्षस के परिवार को चाणक्य के सुपुर्द कर दे, पर स्वामिभक्त चंदनदास किसी भी प्रकार इस विश्वासघात के लिये तैयार नहीं हुआ।

उधर अमात्य राक्षस भी चुपचाप नहीं बैठा था। बड़े धैर्य और बुद्धिकौशल से वह अपना नीतिजाल फैला रहा था। उसके गुप्तचर भी नानाविध वेषों में अनेक प्रकार से अपना कार्य करने में लगे थे। मलयकेतु को वह अपने साथ मिला ही चुका था, चंद्रगुप्त की सेना के बहुत से सेनापति अपने अनुयायियों के साथ राक्षस के पक्ष में हो गये थे। धीरे धीरे

उस सेना का संगठन दृढ़ होता जाता था, जो पाटलीपुत्र पर आक्रमण कर चंद्रगुप्त को राज्यच्युत करने के लिये तैयार हो रही थी। राक्षस ने चंद्रगुप्त का घात करने के लिये भी बहुत से उपाय किये। पहले विषकन्या भेजी गई। फिर पाटली-पुत्र में नगरप्रवेश के समय चंद्रगुप्त का स्वागत करने के लिये जो बड़ा द्वार तैयार किया गया था, उसके शिल्पियों को अपने साथ में मिलाकर यह प्रबंध किया गया कि जब चंद्रगुप्त द्वार के नीचे से गुजरे, तो तोरण उस पर गिरा दिया जावे और वह वहीं मर जावे। एक बर्बरक को गुप्तछुरिका देकर तैनात किया गया कि वह जलूस में चंद्रगुप्त पर हमला करे। एक वैद्य को चंद्रगुप्त का वैयक्तिक चिकित्सक नियत किया, जो वस्तुतः राक्षस का गुप्तचर था। उसने यत्न किया कि भोजन में विष देकर चंद्रगुप्त को मार दे। जिस महल में चंद्रगुप्त रहता था, उसके नीचे सुरंग खोद कर बारूद भरवा दिया गया। राक्षस ने यह सब कुछ किया, पर चाणक्य की जागरूकता के सामने उसकी एक न चली। उसके सब प्रयत्न व्यर्थ गये और चंद्रगुप्त का बाल भी बाँका न हुआ।

पर अब भी राक्षस निराश नहीं हुआ। उसने यत्न किया कि चंद्रगुप्त और चाणक्य में विरोध हो जावे। अनेक गुप्त-चर इस कार्य के लिये नियुक्त किये गये। पर इस कार्य में भी राक्षस सफल नहीं हुआ। उधर चाणक्य का गुप्तचर भागु-रायण मलयकेतु को राक्षस के विरुद्ध भड़काने में लगा था। छोटी-छोटी बातों को लेकर वह मलयकेतु के मन में राक्षस के प्रति विरोधभावना को प्रदीप्त करता रहता था। राक्षस ने पाटलीपुत्र पर आक्रमण करने के लिये जो भारी सेना संगठित की थी, वह उत्तर से दक्षिण की तरफ प्रस्थान कर रही थी। पाटलीपुत्र समीप आ गया था। इसलिये आज्ञापत्र लिये बिना

किसी का भी सैन्यशिविर से बाहर आना-जाना सर्वथा निषिद्ध था। आज्ञापत्र देने का काम भागुरायण के सुपुर्द था। एक दिन जब मलयकेतु और भागुरायण साथ बैठे थे, चाणक्य ने अपनी नीति का अंतिम बाण चलाया। एक कर्मचारी आया और उसने सूचना दी कि सैन्य शिविर के रक्षाधिकारी दीर्घचक्षु ने निवेदन किया है कि आज्ञापत्र के बिना शिविर में प्रवेश करता हुआ एक आदमी पकड़ा गया है, जिसके पास कुछ जरूरी पत्र भी हैं। यह व्यक्ति सिद्धार्थक ही था, जिसे राक्षस की मुद्रा से अंकित एक जाली पत्र देकर 'कार्यसिद्धि' के लिये भेजा गया था। पत्र के साथ सिद्धार्थक को मलयकेतु और भागुरायण के सम्मुख पेश किया गया। पत्र पर राक्षस की मोहर भी थी। नकली तौर पर बहुत ननु-नच करके अंत में सिद्धार्थक ने यह गुप्त रहस्य प्रगट किया, कि इस पत्र को उसे राक्षस ने दिया था और चंद्रगुप्त के पास पहुँचाने का कार्य उसके सुपुर्द किया गया था। उसने यह भी कहा कि मुझे राक्षस ने कुछ मौखिक संदेश भी दिया था। वह मौखिक संदेश यह था कि मलयराज सिंहनाद, काश्मीर के राजा पुष्कराक्ष, सिंधु के महाराज सिंधुसेन और पारसीक राजा मेघाक्ष के साथ पहले ही गुप्तरूप से संधि हो चुकी है। इन्हें अपनी गुप्त सहायता के बदले में पूरी तरह पुरस्कार आदि द्वारा संतुष्ट करना चाहिये।

बस, कार्यसिद्धि हो गई। भागुरायण के समझाने से मलयकेतु को विश्वास हो गया कि राक्षस गुप्तरूप से चंद्रगुप्त से मिला हुआ है और उसकी सेना में सम्मिलित मलय, काश्मीर, सिंध और पारस के राजा भी गुप्तरूप से चंद्रगुप्त से समझौता कर चुके हैं। मलयकेतु और राक्षस में फूट पड़ गई। उसकी सेना के आधारस्तम्भ चित्रवर्मा आदि राजाओं का मलयकेतु ने स्वयं ही घात करा दिया। इन सब बातों से

राक्षस की कमर टूट गई। उसने अवस्था को संभालने का बहुत यत्न किया। तरह-तरह से मलयकेतु को समझाया। पर उसका सब प्रयत्न विफल हुआ। निराश होकर वह अपने मित्र चंदनदास की सुध लेने के लिये भेष बदल कर पाटलीपुत्र की ओर चल पड़ा। पर चाणक्य के गुप्तचरों ने वहाँ भी उसका पीछा नहीं छोड़ा। वे छाया की तरह उसके साथ-साथ थे। उन्होंने पहले ही राक्षस को खबर कर दी, कि आज चंदनदास को फाँसी दी जाने वाली है। उसकी फाँसी का कारण यही है कि वह राक्षस के परिवार का पता चाणक्य को बताने से इनकार करता है। राक्षस अपने प्रयत्नों से निराश हो चुका था। अपने अंतरंग मित्र की इस दुर्दशा को वह नहीं सह सका। उसने निश्चय किया कि जिस तरह भी होगा, चंदनदास के प्राणों की रक्षा करूंगा। वह तीर की तरह तेजी से गया और आत्म-समर्पण कर अपने मित्र की रक्षा की। चाणक्य इसी अवसर की प्रतीक्षा में था। वह प्रगट हुआ और इन दो नीतिकुशल आचार्यों में परस्पर मेल हो गया। अमात्य राक्षस ने सम्राट् चंद्रगुप्त का मंत्रिपद स्वीकार किया और इस प्रकार चाणक्य के प्रयत्न से चंद्रगुप्त का मार्ग सर्वथा कण्टकहीन हो गया। अब वह पाटलीपुत्र के विशाल मागध साम्राज्य का स्वामी हो गया। इस समय मागध साम्राज्य में बंगाल की खाड़ी से गंगा तक का प्रदेश ही शामिल नहीं था, अपितु हिंदुकुश पर्वत तक के सब प्रदेश भी उसके अंतर्गत थे। चंद्रगुप्त ने इन्हीं प्रदेशों को अपने अधीन कर मागध साम्राज्य पर आक्रमण किया था।

(४) सैल्यूकस का आक्रमण

चाणक्य की चाल में आकर मलयकेतु ने जिन राजाओं को मरवा दिया था, वे कुलूत, मध्य-पंजाब, काश्मीर, सिंध और

पारसीक देशों के शासक थे। पश्चिमी भारत के ये सब प्रदेश अब मागध सम्राट् चंद्रगुप्त के सीधे शासन में आ गये थे। धननंद के नाश और मोरिय (मौर्य) कुमार चंद्रगुप्त के सम्राट् हो जाने से पाटलीपुत्र में जो राज्यक्रांति हुई थी, उससे मागध साम्राज्य की शक्ति और भी बढ़ गई थी।

जिस समय चंद्रगुप्त अपने नये प्राप्त किये हुए साम्राज्य को दृढ़ करने में लगा था, उसी समय सिकंदर का अन्यतम सेनापति सैल्यूकस मैसीडोनियन साम्राज्य के एशियाई प्रदेशों में अपने शासन की नींव को सुदृढ़ करने में व्यस्त था। सिकंदर की मृत्यु के बाद उसका विशाल साम्राज्य किस प्रकार अनेक टुकड़ों में विभक्त हो गया, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। मैसिडोनियन साम्राज्य के एशियाई प्रदेशों पर अपना अधिकार क़ायम करने के लिये सिकंदर के दो सेनापति संघर्ष कर रहे थे। इनके नाम हैं—सैल्यूकस और एंटिगोनस। ये दोनों ही सिकंदर के उच्च सेनापति थे। कई वर्षों तक इनमें परस्पर लड़ाई जारी रही। कभी सैल्यूकस की विजय होती और कभी एंटिगोनस की। शुरू में विजयश्री ने एंटिगोनस का साथ दिया। उसने सैल्यूकस को परास्त करके भगा दिया। पर ३२१ ई० पू० में सैल्यूकस ने बैबिलोन जीत लिया। अब से युद्ध की गति बदल गई। धीरे धीरे सैल्यूकस ने एंटिगोनस को पूर्णरूप से परास्त कर ईजिप्ट भागने के लिये विवश किया, और स्वयं सम्राट् हो गया। उसकी राजधानी सीरिया में थी, इसीलिये उसे सीरियन सम्राट् कहा जाता है। पर वह एशिया माइनर से हिंदूकुश तक एक विशाल साम्राज्य का अधिपति था। ३०६ ई० पू० में उसका राज्याभिषेक बड़ी धूम-धाम के साथ सीरिया में हुआ।

पश्चिमी और मध्य-एशिया में अपने साम्राज्य को सुदृढ़

कर उसने मैसेडोनियन साम्राज्य के खोये हुए भारतीय प्रांतों को फिर से अपने साम्राज्य में मिलाना चाहा। ३०५ ई० पू० में एक शक्तिशाली बड़ी सेना साथ लेकर उसने भारत पर आक्रमण किया और सिंध नदी तक बिना किसी विघ्नबाधा के बढ़ आया। इधर चंद्रगुप्त भी सावधान और जागरूक था। सिंध के तट पर दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। कई विद्वानों का मत है, कि सैल्यूकस अपने इस आक्रमण में गंगा के किनारे-किनारे पाटलीपुत्र तक बढ़ आया था। पर यह बात प्रमाणों से पुष्ट नहीं होती। अधिक ऐतिहासिक यही मानते हैं, कि चंद्रगुप्त की सेनाओं ने सिंध नदी के पूर्वीय तट पर उसका मुकाबला किया था, और वह भारत में इससे आगे नहीं बढ़ सका था। युद्ध के बाद जो संधि हुई, उसकी शर्तें निम्नलिखित थीं—

(१) चंद्रगुप्त सैल्यूकस को ५०० हाथी दे।

(२) बदले में सैल्यूकस निम्नलिखित चार प्रदेश चंद्रगुप्त को दे :— १. परोपनिसदी, २. आर्कोसिया, ३. आरिया और ४. गद्रोसिया।

(३) इस संधि को स्थिर मैत्री के रूप में परिवर्तित करने के लिये सैल्यूकस ने अपनी कन्या का विवाह चंद्रगुप्त के साथ कर दिया।

यह संधि मागध साम्राज्य के लिये बहुत ही अनुकूल थी। इससे उसकी पश्चिमी सीमा हिंदूकुश के पश्चिम में भी कुछ दूर तक फैल गई थी। सीरियन साम्राज्य के चार बड़े प्रदेश मागध साम्राज्य के अंतर्गत हो गये थे। इन चार प्रांतों में परोपनिसदी का अभिप्राय अफगानिस्तान के उस पहाड़ी प्रदेश से है, जिसका पूर्वी सिरा हिंदूकुश पर्वतमाला है। आर्कोसिया आजकल के कंदहार को कहते थे। आरिया हेरात का पुराना नाम था। गद्रोसिया से वर्तमान समय के बलोच प्रदेश का बोध होता

था। इस प्रकार सैल्यूकस के युद्ध से कलात, कंदहार, हेरात और काबुल के प्रदेश मागध साम्राज्य में शामिल हो गए थे। प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्रीयुत वी० ए० स्मिथ ने इस संबंध में लिखा है, कि दो हजार साल से भी अधिक हुए, जब भारत के प्रथम सम्राट् ने उस 'वैज्ञानिक सीमा' को प्राप्त किया, जिसके लिये उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में ही आहें भरते रहे हैं और जिसको सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों के मुगल सम्राटों ने भी कभी पूर्णता के साथ प्राप्त नहीं किया था।

मगध के मौर्य सम्राटों की पश्चिमी सीमा हिंदुकुश तक ही सीमित नहीं रही। कुछ ही समय बाद कम्बोज (बदख्शां) और पामीर के प्रदेश भी उनकी अधीनता में आ गये। अशोक मौर्य के लेखों से सूचित होता है, कि ये प्रदेश भी उसके विशाल साम्राज्य के अंतर्गत थे।

३०३ ई० पू० में यह संधि हुई। इस के शीघ्र बाद ही सैल्यूकस ने अपने राजकर्मचारियों में से अन्यतम मैगस्थनीज को राजदूत बनाकर चंद्रगुप्त की राजसभा में भेजा। मैगस्थनीज चिरकाल तक मागध साम्राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र में रहा। उसने अपना रिक्त समय भारत की भौगोलिक स्थिति, उपज, जातियों और राजनीतिक दशा का लेखबद्ध करने में व्यतीत किया। मैगस्थनीज के इस विवरण के जो अंश इस समय उपलब्ध होते हैं, वे निःसंदेह मौर्यकाल के भारत के संबंध में बहुत प्रामाणिक हैं, और उनसे बहुत सी महत्त्व की बातें ज्ञात होती हैं।

इस प्रकार अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना कर चंद्रगुप्त मौर्य ने उसका दृढ़तापूर्वक शासन किया। उसके युद्धों के बावजूद भी उसे प्रजा की भलाई का पूरा-पूरा ध्यान रहता था। यही कारण है, कि पाटलीपुत्र से लगभग १००८ मील की दूरी पर

स्थित गिरनार के पहाड़ों में उसने एक विशाल कृत्रिम झील का निर्माण कराया था। उन दिनों सुराष्ट्र (काठियावाड़) का शासक पुष्यगुप्त था। चंद्रगुप्त ने उसे आज्ञा दी कि गिरनार की नदी के सम्मुख एक बाँध लगाकर उसे एक झील के रूप में परिवर्तित कर दे, और उससे अनेक नहरें निकाल कर उस प्रदेश में सिंचाई का प्रबंध किया जाय। इस झील का नाम 'सुदर्शन' रखा गया। अशोक के समय तक इसमें कार्य जारी रहा, और बाद में महाक्षत्रप रुद्रदामा तथा गुप्त सम्राटों ने इसका जीर्णोद्धार कराया।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की एक और घटना भी उल्लेखनीय है। आचार्य पतंजलि ने अपने महाभाष्य में एक जगह लिखा है, कि धन की इच्छा रखने वाले मौर्यों ने पूजा के लिये मूर्तियाँ बनवा कर सुवर्ण एकत्र किया। सम्भवतः, यह बात चंद्रगुप्त मौर्य के ही समय में हुई। निरंतर युद्धों के कारण चन्द्रगुप्त को यदि धन की कमी हो गई हो और उसने अपने कोष की वृद्धि के लिये इस उपाय का आश्रय लिया हो, तो आश्चर्य की क्या बात है? अपने गुरु के संघर्षकाल में भी चाणक्य की प्रेरणा से उसने ऐसे ही तरीकों से ८० करोड़ कार्षापण एकत्र किये थे।

(५) सम्राट् बिंदुसार अमित्रघात

चंद्रगुप्त मौर्य ने ३२२ ई० पू० से २९८ ई० पू० तक शासन किया। चौबीस वर्ष के अपने राज्यकाल में उसने मागध साम्राज्य को सारे उत्तरी भारत में विस्तीर्ण कर दिया। चंद्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिंदुसार मगध का सम्राट् बना। ग्रीक लेखकों ने इसे अमित्रघात लिखा है, बहुत से शत्रुओं (अमित्रों) के विनाश के कारण ही उसने यह उपाधि प्राप्त की थी। विद्वानों

लामा तारानाथ ने बौद्धधर्म का जो इतिहास लिखा था, उसके अनुसार आचार्य चाणक्य बिंदुसार के समय में भी विद्यमान था, और उसके राज्य का भी पूर्ववत् संचालन कर रहा था। चंद्रगुप्त के समय में चाणक्य के पौरोहित्य में जिस चातुरंत साम्राज्य के विस्तार का प्रारंभ हुआ था, वह बिंदुसार के समय में भी जारी रहा। तारानाथ के अनुसार उसने सोलह राजधानियों के राजाओं और अमात्यों को उखाड़ डाला और एक लम्बे युद्ध के बाद पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच संपूर्ण भूमि को राजा बिंदुसार की अधीनता में ला दिया। निःसंदेह, आचार्य चाणक्य केवल भारत के इतिहास में ही नहीं, अपितु संसार के इतिहास में एक अद्वितीय महापुरुष हुआ है। यह उसी की महत्वाकांक्षा और अदम्य साहस का परिणाम था, कि हिंदूकुश से आसाम तक और काश्मीर से मदुरा तक सारा भारत एक शक्तिशाली साम्राज्य के सूत्र में संगठित हो गया था।

बिंदुसार के समय में जिन सोलह राज्यों को जीतकर मागध साम्राज्य में सम्मिलित किया गया था, वे सभी दक्षिणी भारत में पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच में स्थित थे। बिंदुसार के उत्तराधिकारी अशोक के समय में उसके शिलालेखों से यह भलीभाँति सूचित हो जाता है, कि मागध साम्राज्य का विस्तार भारत में कहाँ-कहाँ तक हो चुका था। अशोक ने स्वयं केवल कलिंग को विजय किया था। बाकी सब प्रदेश बिंदुसार के समय तक मागध साम्राज्य में शामिल किये जा चुके थे। अशोक के शिलालेखों के अनुसार चोड, पांड्य, केरल और सातियपुत्र, ये चार सुदूर दक्षिण में स्थित राज्य मागध सम्राट् के सीधे शासन में नहीं थे। शेष सारा दक्षिणी भारत अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित था। निःसंदेह, दक्षिण भारत की

विजय का श्रेय बिंदुसार को ही है, जिसने आचार्य चाणक्य के नेतृत्व में यह दुष्कर कार्य भी संपन्न किया था।

मौर्यसम्राटों की दक्षिण विजय के कुछ निर्देश प्राचीन तामिल साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं। एक प्राचीन तामिल कवि मामुलनार के अनुसार मौर्यों ने दक्षिण पर बारंबार आक्रमण किये थे। एक अन्य ग्रंथ के अनुसार मौर्यों की सेनाएं कोंकण से कर्नाटक तट के साथ-साथ उसके दक्षिण अंश, तुलु प्रदेश से होती हुई कोयंबट्टूर की तरफ बढ़ीं, और वहाँ से और भी दक्षिण में जाकर मदुरा के नीचे तक पहुँच गईं। ये मौर्य अनेक पहाड़ों में से रास्ते काटते हुए और चट्टानों पर अपने रथ दौड़ाते हुए इतनी दूर दक्षिण में पहुँच गये थे। तामिल कवियों के इन वर्णनों से प्रतीत होता है, कि चोड और पांड्य राज्यों के भी कुछ हिस्सों को बिंदुसार मौर्य की सेनाओं ने अपने अधीन कर लिया था। संभवतः, ये सुदूर दक्षिण के प्रदेश स्थिररूप से मौर्यसाम्राज्य में नहीं रह सके। बाद में इन तामिल राज्यों ने परस्पर मिलकर, एक संघात (संघ) बना लिया, और मौर्यों से स्वतंत्रता प्राप्त की। अशोक के समय में तामिल राज्य उसके धर्मविजय के प्रभाव में तो थे, पर राजनीतिक दृष्टि से वे मागध साम्राज्य की अधीनता में नहीं थे। मौर्यवंश के पतनकाल में कलिंगराज खारवेल ने अपने शिलालेख में तामिल देशों के इस संघात का उल्लेख किया है, और इसे ११३ वर्ष पुराना बताया है। यह संघात ठीक बिंदुसार के समय में बना था।

बिंदुसार के समय की कुछ और घटनायें भी उल्लेखनीय हैं। उसके शासनकाल में तक्षशिला में दो बार विद्रोह हुआ। तक्षशिला मागध साम्राज्य के पश्चिमोत्तर प्रदेश (उत्तरापथ) की राजधानी थी। वहाँ की परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं, कि बार-

बार वहाँ विद्रोह हो सकते थे। अशोक के शासनकाल में भी वहाँ अनेक बार विद्रोह हुए। उत्तरपश्चिमी भारत का यह प्रदेश नया-नया ही मागध साम्राज्य के अधीन हुआ था। वहाँ के निवासियों में अपने पुराने जनपदों या गणराज्यों की स्वतंत्र सत्ता की स्मृति अभी नष्ट नहीं हुई थी। इसीलिये अवसर पाते ही वे लोग विद्रोह कर झगड़ा खड़ा कर देते थे। बौद्धग्रंथ दिव्यावदान में लिखा है- राजा बिंदुसार के तक्षशिला नगर ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह को शांत करने के लिये बिंदुसार ने कुमार अशोक को भेजा। उसने कहा —कुमार जाओ और तक्षशिला नगर के विद्रोह को शांत करो। उसने उस के लिये चतुरंग सेना तो दे दी, परंतु यान और हथियार नहीं दिये। जब तक्षशिला के पौरों ने सुना कि कुमार अशोक स्वयं विद्रोह को शांत करने के लिये आ रहे हैं, तो उन्होंने ३½ योजन तक तक्षशिला की सड़क को और तक्षशिला नगर को अच्छी तरह सजाया और पूर्ण घट लेकर पहले ही अशोक के स्वागत के लिये चल पड़े। कुमार अशोक का स्वागत करके 'पौर' ने कहा— न हम कुमार के विरुद्ध हैं, और न राजा बिंदुसार के। परंतु दुष्ट अमात्य हमारा परिभव करते हैं।' इसके बाद वे बड़े सत्कार के साथ अशोक को तक्षशिला में ले गये।

इसके बाद फिर एक बार तक्षशिला में विद्रोह हुआ। इसका वर्णन भी दिव्यावदान में उपलब्ध होता है। इस विद्रोह को शांत करने के लिये राजा बिंदुसार ने कुमार सुसीम को भेजा था। संभवतः अशोक उस समय उज्जैनी के शासक थे। कुमार सुसीम भलीभांति इस विद्रोह को शांत नहीं कर सका, और फिर अशोक को वहाँ भेजने की व्यवस्था की गई।

सम्राट् चंद्रगुप्त के समान बिंदुसार के समय में भी भारत

का विदेशों के साथ घनिष्ट संबंध था। बिंदुसार के समय में सीरियन साम्राज्य का स्वामी एंटियोकस सोटर था, जो सैल्यूकस का ही उत्तराधिकारी था। उसने मैगस्थनीज़ की जगह पर डायमेचस को अपना राजदूत बनाकर पाटलीपुत्र में भेजा था। प्राचीन यूनानी लेखकों ने एंटियोकस और बिंदुसार के संबंध में अनेक कथायें लिखी हैं। एक कथा के अनुसार एक बार बिंदुसार ने एंटियोकस को लिखा, कि कृपया मेरे लिये कुछ अंजीर, कुछ अंगूरी शराब और एक यूनानी अध्यापक खरीद कर भेज दीजिये। इसके उत्तर में एंटियोकस ने अंजीर और शराब तो खरीद कर भेज दी, पर अध्यापक के संबंध में कहला भेजा कि यूनानी प्रथा के अनुसार अध्यापक का क्रय-विक्रय नहीं हो सकता।

बिंदुसार के समय में मिश्र का राजा टाल्मी फिलेडेल्फस था। उसने डायोनीसियस नाम का एक राजदूत पाटलीपुत्र की राजसभा में भेजा था। डायोनीसियस चिरकाल तक बिंदुसार के दरबार में रहा और मैगस्थनीज़ के समान ही भारत का एक विवरण भी लिखा। यह विवरण ईसा की पहली सदी तक अवश्य ही उपलब्ध था, इसीलिये ऐतिहासिक प्लिनी ने इसका उपयोग अपने ग्रंथ में किया था। खेद है, कि डायोनीसियस का विवरण अब उपलब्ध नहीं होता।

चाणक्य के समय में ही सुबंधु नाम का एक अन्य अमात्य बिंदुसार की सेवा में नियुक्त था। चाणक्य ने ही इसकी नियुक्ति की थी। पर यह हृदय से चाणक्य का विरोधी था। इसने यत्न किया, कि बिंदुसार के हृदय में मौर्यवंश के प्रतिष्ठाता चाणक्य के विरुद्ध भावना उत्पन्न करे। पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। आचार्य चाणक्य ने अपने जीवन का अंतिम भाग प्राचीन आर्यमर्यादा के अनुसार तपोवन में व्यतीत

किया। वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते समय चाणक्य ने मौर्य साम्राज्य के संचालन का भार संभवतः अमात्य राधगुप्त के हाथ में सुपुर्द किया था। चाणक्य का एक अन्य नाम विष्णुगुप्त था। इस राधगुप्त का यशस्वी विष्णुगुप्त के साथ कोई संबंध था या नहीं, यह हम नहीं जानते। पर राधगुप्त बिंदुसार का प्रधानामात्य था और अपने कार्य में सर्वथा निपुण था।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यह लिखना भी आवश्यक है, कि मौर्यवंश की स्थापना के साथ एक नये संवत् की भी स्थापना हुई थी, जिसे कलिंगराज खारवेल ने अपने शिलालेख में 'मौरिय संवत्' के नाम से लिखा है।

२५ वर्ष तक शासन करने के बाद २७२ ई० पू० में सम्राट् बिंदुसार की मृत्यु हुई।

दसवाँ अध्याय

प्रियदर्शी राजा अशोक

(१) अशोक का राज्यारोहण

बिंदुसार का उत्तराधिकारी उसका पुत्र अशोक था, जो दिव्यावदान के अनुसार चंपा की परमसुंदरी ब्राह्मणकन्या से उत्पन्न हुआ था। मागध सम्राटों की पुरानी परम्परा के अनुसार बिंदुसार के विविध पुत्रों में राजसिंहासन के लिये युद्ध हुए और यह संघर्ष चार वर्ष तक निरन्तर जारी रहा। महावंश के अनुसार राजा बिंदुसार की सोलह रानियां और एक सौ एक पुत्र थे। इन पुत्रों में सुमन (दिव्यावदान का सुसीम) सब से बड़ा और तिष्य सब से छोटा था। अशोक ने विमाताओं से उत्पन्न सब भाइयों को मार कर स्वयं राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। दिव्यावदान में इस सारे घटना-चक्र का बड़े मनोरंजक रूप में वर्णन किया है। हम उसे यहां उद्धृत करते हैं।

राजा बिंदुसार के एक पुत्र हुआ जिसका नाम सुसीम रखा गया। इसी समय चंपा नगरी में एक ब्राह्मण निवास करता था, उसकी कन्या बहुत ही सुंदर 'दर्शनीया, प्रासादिका और जनपदकल्याणी' थी। इसके भविष्य के विषय में ज्योतिषियों से पूछा गया। उन्होंने बताया—इस लड़की का पति राजा होगा और इसके दो पुत्ररत्न होंगे। एक पुत्र तो चक्रवर्ती सम्राट बनेगा और दूसरा वैरागी होकर 'सिद्धव्रत' हो जायगा। यह भविष्यवाणी सुनकर ब्राह्मण को बड़ी प्रसन्नता हुई। दुनिया रुपये के पीछे चलती है। वह ब्राह्मण लड़की को लेकर पाटली-

पुत्र चला आया और उसे अलंकृत वस्त्र तथा आभूषणों से अलंकृत कर राजा बिन्दुसार की पत्नी बनाने के लिये उपहाररूप में दे दिया। जब वह राजा के अंतःपुर में प्रविष्ट हुई, तो अंतःपुर में रहने वाली स्त्रियों के दिल में आया कि यह कन्या बहुत सुंदर है, अत्यंत प्रासादिका और जनपदकल्याणी है। यदि कहीं राजा ने इसके साथ संभोग कर लिया, तो हमारी तो बात भी न पूछेगा और हमारी तरफ आँख उठाकर भी न देखेगा। यह सोचकर उन रानियों ने ब्राह्मणकन्या को नाइन का काम सिखा दिया। जब वह अपने कर्म में खूब निपुण हो गई तो राजा के बाल और मूँछ आदि संवारने लगी। जब राजा सोता था, तो वह उसके बाल संवारती थी। एक बार प्रसन्न होकर राजा ने उसे वर माँगने को कहा। उस कन्या ने उत्तर दिया—मैं देव के साथ समागम करना चाहती हूँ। यह सुनकर राजा बोला—तू नाइन है, मैं क्षत्रिय राजा हूँ, तेरा और मेरा समागम किस प्रकार हो सकता है? कन्या ने उत्तर दिया—मैं नाइन नहीं हूँ, अपितु ब्राह्मणकन्या हूँ, मेरे पिता ने मुझे आपकी पत्नी होने के लिये ही उपहाररूप में दिया था। यह सुनकर राजा ने पूछा—फिर तुझे नाइन का कार्य किस ने सिखाया है? ब्राह्मणकन्या ने उत्तर दिया—अन्तःपुर की रानियों ने।

इसके बाद इस परम सुंदरी कन्या को नाइन का कार्य करने की और अधिक आवश्यकता नहीं रह गई। राजा बिन्दुसार ने उसे अपनी पटरानी बना लिया, और उसके साथ क्रीड़ा, रमण आदि करने लगा। उसके गर्भ रह गया और नौ मास पश्चात् एक पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने अपनी पटरानी से पूछा—इसका क्या नाम रक्खा जाय? उसने उत्तर दिया—इस बच्चे के उत्पन्न होने से मैं 'अशोका' हो गई हूँ, अतः इसका नाम

अशोक रखा जाना चाहिये । कुछ समय बाद रानी के एक और पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम 'विगतशोक' रखा गया ।

अशोक का शरीर ऐसा नहीं था, कि उसके स्पर्श से सुख प्राप्त होता हो, वह 'दुःस्पर्शगात्र' था, इसलिये राजा बिंदुसार उससे प्रेम नहीं करता था । पर वह यह जानना चाहता था, कि उसके पुत्रों में कौन सबसे योग्य है । अतः उसने परिव्राजक पिंगलवत्साजीव के साथ सलाह की । राजा ने कहा—उपाध्याय ! कुमारों की परीक्षा लेते हैं, देखते हैं, कौन इनमें सबसे योग्य है और मेरे बाद राज्यकार्य को संभाल सकेगा । पिंगलवत्साजीव ने कहा—बहुत अच्छी बात है, कुमारों को लेकर उद्यान में सुवर्णमंडप में चलिये, वहाँ उनकी परीक्षा लेंगे । इस परीक्षा के परिणामस्वरूप पिंगलवत्साजीव यह जान गया कि राजा अशोक ही बनेगा, क्योंकि वही सब में योग्य था । पर क्योंकि बिंदुसार को वह पसंद नहीं था, अतः अपने विचार को पिंगलवत्साजीव ने स्पष्ट शब्दों में प्रकट नहीं किया ।

जब तक्षशिला में दुबारा विद्रोह हुआ, तो उसे शांत करने के लिये कुमार सुसीम को भेजा गया था । दिव्यावदान के अनुसार अशोक जान-बूझ कर, कोशिश करके, वहाँ जाने से बचा था । संभवतः बिंदुसार तब तक वृद्ध हो चुका था और बीमार था । उसे मरणासन्न जानकर राजा बनने के लिये उत्सुक अशोक पाटलीपुत्र से बाहर नहीं जाना चाहता था । इसी बीच में राजा बिंदुसार की मृत्यु हो गई और अशोक ने पाटलीपुत्र पर अपना कब्जा कर लिया । जब यह समाचार सुसीम ने सुना तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ । उसने तुरंत पाटलीपुत्र की ओर प्रस्थान किया । पर इस बीच में अशोक पूरी तैयारी कर चुका था । पाटलीपुत्र के सब दरवाजों पर सैनिक नियत कर दिये गये । राजधानी को आक्रमण से बचाने के लिये पूरी



अशोकस्तंभ का सिंहशिखर, सारनाथ
सारनाथ संग्रहालय
तीसरी शती ई० पू०



तैयारी कर ली गई। जब सुसीम पाटलीपुत्र के समीप पहुँचा, तो अग्र-अमात्य राधागुप्त ने उसे संदेश भेजा, कि यदि तुम अशोक को मारने में समर्थ होगे तभी राज्य प्राप्त कर सकोगे। दोनों भाइयों में घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें सुसीम मारा गया। पर यहीं पर मामले का फैसला नहीं हो गया। अशोक के और भी भाई थे। वे भी राजगद्दी के उम्मीदवार थे। चार साल तक यह लड़ाई चलती रही। अंत में अशोक की विजय हुई। अपने भाइयों को परास्त कर अशोक ने अपने मार्ग को निष्कंटक बना लिया।

अशोक के कितने भाई थे और कितनों को उसने युद्ध में मारा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उसके एक सौ एक भाइयों की बात कुछ अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। सब भाई भी उसके द्वारा नहीं मारे गये। अशोक के शिलालेखों में उसके कुछ भाइयों का उल्लेख आता है, जिनके साथ वह राजा, अच्छा बर्ताव करता था। संभव है, कि सब भाई उसके विरुद्ध नहीं उठ खड़े हुए थे। पर चार वर्ष तक गृहकलह और भ्रातृयुद्ध का रहना इस बात को सूचित करता है, कि अशोक को राजगद्दी पर अधिकार प्राप्त करने के लिये घोर संघर्ष करना पड़ा था, और उसमें कई भाइयों की हत्या भी हुई थी।

जब राजा बिंदुसार की मृत्यु हुई, तो अशोक पाटलीपुत्र में ही था, पर उन दिनों वह उज्जैनी का शासक था। पश्चिम की शक्तिशाली सेनाएँ उसी के अधीन थीं। उनकी सहायता उसे इस गृहयुद्ध में प्राप्त थी। कुमार सुसीम तक्षशिला के विद्रोह को शांत करने में सफल नहीं हुआ था, अतः उत्तर-पश्चिमी भारत की सेनाओं को वह स्वयं राजगद्दी प्राप्त करने के लिये प्रयुक्त नहीं कर सका था।

बौद्ध ग्रंथों में जो विवरण मिलते हैं, उनके अनुसार शुरू

में अशोक बहुत क्रूर और अत्याचारी था। प्रजा पर उसने घोर अत्याचार किये। पर बाद में बौद्ध धर्म का अनुसरण करने से उसकी वृत्ति बिलकुल बदल गई। वह बड़ा दयालु और धर्मात्मा बन गया। प्रारंभिक जीवन में अत्याचारी होने की जो बात पुरानी ऐतिहासिक अनुश्रुति में पाई जाती है, उसका आधार शायद सचाई पर आश्रित है। उसने राजगद्दी पर अपना अधिकार युद्ध द्वारा प्राप्त किया था। संभवतः, अपने विरोधियों को नष्ट करने के लिये उसे बहुत सख्ती से काम लेना पड़ा हो। गृहकलह के कारण जो अव्यवस्था और उथल-पुथल उत्पन्न हो गई होगी, उस पर काबू पाने के लिये भी अशोक को यदि जनता के कुछ अंग पर कठोर अत्याचार करने पड़े हों, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है।

(२) राज्यविस्तार

सम्राट् बिंदुसार की मृत्यु के बाद गृहकलह में सफल होकर अशोक एक बहुत बड़े साम्राज्य का अधिपति बन गया था। यह पूर्व में बंगाल की खाड़ी से शुरू हो कर पश्चिम में हिंदुकुश पर्वतमाला से भी परे तक फैला हुआ था। दक्षिण में भी तामिल देशों तक मगध का साम्राज्य विस्तृत था। पर कलिंग का राज्य इस साम्राज्य के अंतर्गत नहीं था। जब अशोक के राज्याभिषेक को आठ साल व्यतीत हो चुके, अर्थात् २६१ ई० पू० में, कलिंग पर आक्रमण किया गया। उस समय कलिंग अत्यंत शक्तिशाली और वैभवपूर्ण देश था। मैगस्थनीज के अनुसार वहाँ की सेना में साठ हजार पदाति, एक हजार घुड़सवार और सात सौ हाथी थे। इस शक्तिशाली राज्य पर बड़ी तैयारी के साथ हमला किया गया। मगध की विश्वविजयिनी सेनाओं का मुकाबला कर सकना कलिंग की सेना के लिये भी संभव नहीं था। अंत में उसकी

हार हुई। इस युद्ध में कलिंग के एक लाख आदमी मारे गये, डेढ़ लाख क़ैद किये गये और इनसे कई गुना आदमी युद्ध के बाद आने वाली स्वाभाविक विपत्तियों से काल के ग्रास हो गये। इस विजय का उल्लेख अशोक ने अपने 'चतुर्दश शिला-लेखों' में निम्नलिखित शब्दों में किया है:—

राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंग देश को विजय किया। वहाँ डेढ़ लाख मनुष्य क़ैद किये गये, एक लाख मनुष्य मारे गये और उससे कई गुना आदमी (महामारी आदि से) मरे। इसके बाद कलिंग देश विजय होने पर देवताओं के प्रिय का धर्मपालन, धर्म-कर्म और धर्मानुशासन अच्छी तरह से हुआ। कलिंग के जीतने पर देवताओं के प्रिय को बड़ा पश्चात्ताप हुआ, क्योंकि जिस देश की पहले विजय नहीं हुई है, उसकी विजय होने पर लोगों की हत्या व मृत्यु अवश्य होती है और न जाने कितने आदमी क़ैद किये जाते हैं। देवताओं के प्रिय को इससे बहुत दुःख और खेद हुआ। देवताओं के प्रिय को इससे और भी दुःख हुआ कि वहाँ ब्राह्मण, श्रमण तथा अन्य समुदाय के मनुष्य और गृहस्थ रहते हैं, जिनमें ब्राह्मणों की सेवा, माता-पिता की सेवा, गुरुओं की सेवा, मित्र, परिचित, सहायक जाति, दास और सेवकों के प्रति अच्छा व्यवहार किया जाता है, और जो दृढ़ भक्त होते हैं। ऐसे लोगों का वहाँ वध, विनाश या प्रियजनों से बलात् वियोग होता है। अथवा जो स्वयं तो सुरक्षित होते हैं, पर जिनके मित्र, परिचित, सहायक और संबंधी विपत्ति में पड़ जाते हैं, उन्हें भी अत्यंत स्नेह के कारण बड़ी पीड़ा होती है। यह सब विपत्ति वहाँ प्रायः हरेक मनुष्य के हिस्से पड़ती है। इससे देवताओं के प्रिय को विशेष दुःख होता है। क्योंकि ऐसा कोई देश नहीं है, जहाँ अनंत संप्रदाय न हों, और वे संप्रदाय

ब्राह्मणों और श्रमणों में (विभक्त) न हों, और कोई देश ऐसा नहीं है, जहाँ मनुष्य एक न एक संप्रदाय को न मानते हों। कलिंग देश में उस समय जितने आदमी मारे गये, मरे या कैद हुए, उनके सौवें या हजारवें हिस्से का नाश भी अब देवताओं के प्रिय को बड़े दुःख का कारण होगा।

कलिंगविजय के बाद अशोक की मानसिक वृत्ति बदल गई, उसने शस्त्रों के द्वारा विजय करना छोड़ कर धर्मविजय के लिये उद्योग प्रारंभ किया। पर कलिंगविजय के बाद मागध साम्राज्य अपने विकास की चरम सीमा को पहुँच गया और सुदूर दक्षिण के कुछ तामिल प्रदेशों को छोड़कर संपूर्ण भारत एक सम्राट् की अधीनता में आ गया। खून की नदी बहाकर जिस कलिंग पर विजय प्राप्त की गई थी, उसके सुशासन में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी गई। इस प्रदेश को एक नवीन प्रांत के रूप में परिणत किया गया। इसकी राजधानी तुषाली-नगरी थी, और इसके शासन के लिये राजघराने के एक 'कुमार' को ही प्रांतीय शासक के रूप में नियुक्त किया गया। कलिंग में किस शासननीति का अनुसरण किया जावे, इसे स्पष्ट करने के लिये अशोक ने वहाँ दो विशेष शिलालेख उत्कीर्ण कराये थे। इनमें वे आदेश उल्लिखित कराये गये थे, जिनके अनुसार शासन करने से कलिंग के गहरे घाव भलीभाँति ठीक हो सकें।

कलिंगविजय के अतिरिक्त अशोक ने अन्य किसी प्रदेश को जीत कर मागध साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया। शस्त्रयुद्ध से उसका मन बिलकुल ऊब गया था। कलिंग के समीप बहुत-सी आटविक जातियाँ निवास करती थीं, जिन्हें काबू में ला सकना सुगम बात नहीं थी। जब उसके राजकर्मचारियों ने अशोक से पूछा, कि क्या इनका दमन करने के लिये युद्ध किया जाय, तो उसने यही आदेश दिया, कि इन वनवासिनी

जातियों को भी धर्म द्वारा ही वश में किया जाय। उसने अपने एक शिलालेख में कहा है—कदाचित आप यह जानना चाहेंगे कि जो सीमांत जातियाँ नहीं जीती गई हैं, उनके संबंध में इस लोगों के प्रति राजा की क्या आज्ञा है। तो मेरा उत्तर यह है कि राजा चाहते हैं कि वे सीमांत जातियाँ मुझसे न डरें, मुझ पर विश्वास करें और मुझसे सुख ही प्राप्त करें, कभी दुःख न पावें। वे यह भी विश्वास रखें कि जहाँ तक क्षमा का व्यवहार हो सकता है, वहाँ तक राजा हम लोगों के साथ क्षमा का बर्ताव करेगा। अब इस शिक्षा के अनुसार चलते हुए आपको ऐसा काम करना चाहिये कि सीमांत जातियाँ मुझ पर भरोसा करें और समझें कि राजा हमारे लिये वैसे ही हैं, जैसे कि पिता।

(३) मागध साम्राज्य की सीमा

अशोक के समय में मागध साम्राज्य की सीमाएँ कहाँ तक पहुँची हुई थीं, इस विषय पर उसके शिलालेखों से अच्छा प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः इन्हीं शिलालेखों के आधार पर यह ठीक-ठीक जाना जा सकता है, कि मौर्यकाल में मगध का साम्राज्य कहाँ तक फैला हुआ था। अशोक के चतुर्दश शिलालेखों की दो प्रतियाँ बंगाल की खाड़ी के पास साम्राज्य के पूर्वी प्रदेश में उपलब्ध हुई हैं। इनमें से एक धौली नामक ग्राम के समीप, पुरी जिले के भुवनेश्वर नामक स्थान से दक्षिण की ओर सात मील की दूरी पर पाई गई है। दूसरी प्रति मद्रास प्रांत के गंजाम जिले में जौगढ़ नामक स्थान पर उपलब्ध हुई है। धौली और जौगढ़ दोनों प्राचीन कलिंग देश के अंतर्गत थे। कलिंग भारत के दक्षिणपूर्वी भाग में है, और निःसन्देह यह अशोक के साम्राज्य का भी दक्षिणपूर्वी भाग

ही था। चतुर्दश शिलालेखों की तीसरी प्रति देहरादून जिले के कालसी नामक ग्राम के समीप पाई गई है। देहरादून से चकरौता को जो सड़क गई है उससे कुछ दूर हट कर ठीक उस स्थान पर जहाँ कि जमुना नदी हिमालय पर्वत को छोड़ कर मैदान में उतरती है, यह तीसरी प्रति विद्यमान है। चौथी और पाँचवी प्रतियां भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश से प्राप्त हुई हैं। एबटाबाद से पंद्रह मील उत्तर की तरफ हजारा जिले में मनसेरा नामक स्थान पर एक प्रति मिली है, और पेशावर से चालीस मील उत्तरपूर्व की तरफ शाहबाजगढ़ी के समीप दूसरी। चतुर्दश शिलालेखों की छठवीं प्रति काठियावाड़ के जूनागढ़ नामक नगर के समीप और सातवीं प्रति बंबई से तीस मील उत्तर की ओर थाना जिले में सोपारा नामक स्थान पर मिली है। चतुर्दश शिलालेखों की कोई भी प्रति दक्षिणी भारत में अब तक उपलब्ध नहीं हुई है, परंतु सुदूर दक्षिण में अशोक के अन्य अनेक शिलालेख मिले हैं। लघु शिलालेखों की तीन प्रतियाँ मैसूर के चीतलाग जिले में, एक सिद्धपुर में, दूसरी ब्रह्मगिरि में और तीसरी जटिंग रामेश्वर पहाड़ पर मिली हैं। अशोक के शिलालेखों का इस प्रकार संपूर्ण भारत में प्राप्त होना उसके साम्राज्य की सीमा पर अच्छा प्रकाश डालता है। इससे हम सहज ही यह समझ सकते हैं, कि उसके साम्राज्य का विस्तार कहाँ-कहाँ तक था। मैसूर तक का सारा भारत उसके साम्राज्य के अंतर्गत था, इस संबंध में इन शिलालेखों से कोई संदेह नहीं रह जाता।

पर इस विषय में अधिक बारीकी से विचार करने के लिये अशोक के शिलालेखों की अंतःसाक्षी भी बहुत सहायक है। इनमें मौर्य सम्राट् के अधीन प्रदेशों को 'विजित' कहा गया है, और जो साम्राज्य के पड़ोस के स्वतंत्र राज्य थे, उन्हें

'प्रत्यंत' की संज्ञा दी गई है। दक्षिण के प्रत्यंत चोड, पांड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी थे। उस युग में चोड देश की राजधानी भूगोलवेत्ता टालमी के अनुसार ओर्थोरा थी। इसी का वर्तमान प्रतिनिधि त्रिचनापली के समीप उर्डयूर है। पांड्य देश की राजधानी मदुरा थी। केरल में मलाबार और कुर्ग के प्रदेश सम्मिलित थे। सातियपुत्र का अभिप्राय वर्तमान ट्रावनकोर से है। ताम्रपर्णी लंका या सिंहलद्वीप का ही प्राचीन नाम है। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि त्रिचनापली, मदुरा ट्रावनकोर तथा मलाबार के सुदूर दक्षिण में स्थित प्रदेश मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत नहीं थे। उनकी गिनती प्रत्यंत राज्यों में थी।

उत्तरपश्चिम में अशोक के प्रत्यंत राज्य वे थे, जहां अंतियोक नाम का यवन राजा राज्य करता था, और उससे परे तुरमय, अंतिकिनि, मक और अलिकसुन्दर नाम के राजा राज्य करते थे। अंतियोक से अभिप्राय सीरिया तथा पश्चिमी एशिया के अधिपति एंटियोकस द्वितीय थिओस से है। वह सैल्यूकस का पौत्र था और इस समय में उसके साम्राज्य का अधिपति था। तुरमय आदि और भी परे के राजा थे। सैल्यूकस ने हिंदूकुश और उसके समीप के जिन प्रदेशों को चंद्रगुप्त मौर्य को दे दिया था, उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। यह स्पष्ट है, कि अशोक का पड़ोसी स्वतंत्र राजा सैल्यूकस का वंशज अंतियोक ही था। इस प्रकार कांबोज से बंगाल की खाड़ी तक और हिमालय से चोड देश तक का सारा भारत उसके विजित या साम्राज्य के अंतर्गत था। मगध का विशाल साम्राज्य अब अपने विस्तार की चरम सीमा को पहुंच गया था।

अशोक के शिलालेखों में मौर्य साम्राज्य (विजित) की इन सीमाओं के अंतर्गत कुछ ऐसे विशेष जनपद भी थे, जिन्हें

अपने शासन के संबंध में विशेष अधिकार प्राप्त थे। अशोक के शिलालेखों में इनके नामों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—यवन, कांबोज, गांधार, रठिक, पितनिक, नाभक, नाभपंक्ति, आंध्र और पुलिंद। इन संरक्षित राज्यों का प्रथम वर्ग यवन, कांबोज और गांधार का है, जो उत्तरापथ में था। यवन या योन का अभिप्राय किसी यवन व ग्रीक बस्ती से है। सिकंदर ने जब भारत पर आक्रमण किया था, तो उसने हिंदूकुश पर्वत की उपत्यका में एक नगरी बसाई थी, जिसका नाम अलक्सांड्रिया रखा था। संभवतः वहाँ बहुत से यूनानी (यवन) लोग बस गये थे। सिकंदर अपने आक्रमण के स्थिर प्रभाव के रूप में यदि कुछ यवन बस्तियाँ भारत में छोड़ गया हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। कांबोज से पामीर पर्वतमाला के प्रदेश तथा बदख्शाँ का ग्रहण होता है। गांधार की राजधानी तक्षशिला थी और उसके समीपवर्ती उत्तरपश्चिमी सीमाप्रांत के प्रदेश इस राज्य के अंतर्गत थे। यह अशोक के संरक्षित राज्यों का पहला वर्ग है। दूसरा वर्ग नाभक और नाभपंति का था। इनकी ठीक स्थिति के संबंध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वानों ने प्रतिपादित किया है कि नाभक और नाभपंति का अभिप्राय खोतान से है, जो पामीर के उत्तर में था। तीसरा वर्ग भोज-पितनिक या रठिक-पितनिक का था। ये प्रदेश संभवतः आधुनिक बरार और महाराष्ट्र के अंतर्गत थे। चौथा वर्ग आंध्र और पुलिंद का था। आंध्र देश मद्रास प्रांत में अब भी है। पुलिंद की स्थिति आंध्र के उत्तर में थी। वायुपुराण के अनुसार पुलिंद जाति विन्ध्याचल की तराई में निवास करती थी। कुछ विद्वानों ने इनकी स्थिति वर्तमान जबलपुर जिले के समीप प्रतिपादित की है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि विशाल मौर्य साम्राज्य के अंत-

शेष कुछ ऐसे प्रदेश भी थे, जो अपना शासन स्वयं करते थे, मौर्य सम्राट् के अधीन होते हुए भी जिन्हें अपने आंतरिक मामलों में स्वतंत्रता प्राप्त थी। इनकी स्थिति वर्तमान भारत की रियासतों के सदृश समझी जा सकती है।

(४) विदेशों के साथ संबंध

सारे मागध साम्राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र ही थी, किंतु कई अन्य राजधानियाँ भी थीं, जिनमें राजा की तरफ से कुमार और महामात्य रहते थे। ऐसी उपराजधानियाँ तक्षशिला, उज्जैनी, तोषाली और सुवर्णगिरि थीं। मौर्यों के विशाल साम्राज्य का शासन एक राजधानी से नहीं हो सकता था।

सम्राट् अशोक ने अपने शिलालेखों में अनेक समकालीन विदेशी राज्यों और उनके राजाओं का उल्लेख किया है। इनके नाम ये हैं: —

१. अंतियोक—यह पश्चिमी एशिया का सीरियन सम्राट् एंटियोकस द्वितीय थिओस था, जिसका शासनकाल २६१ ई० पू० से २४६ ई० पू० तक है। यह सैल्यूकस का पौत्र था और उसी साम्राज्य का अधिपति हुआ था, जिसे सैल्यूकस ने सिकंदर के मैसीडोनियन साम्राज्य के भग्नावशेष पर क़ायम किया था। अंतियोक के साम्राज्य की सीमा मागध साम्राज्य की सीमा को छूती थी।

२. तुरमय—यह ईजिप्ट (मिश्र) का अधिपति टालमी द्वितीय फिलेडेल्फस (२८५-२४७ ई० पू०) था।

३. अंतिकिनि - यह मैसिडोनिया का राजा एंटिगोनस गोन्टस (२७६-२३९ ई० पू०) था।

४. मक—यह साइरिनि का अधिपति मेगस था, जिसका राज्यकाल ३०० से २५० ई० पू० तक है।

५. अलिकसुन्दर—यह कारिंथ का राजा एलेक्जेंडर (२५२-२४४ ई० पू०) था।

इन सब विदेशी राजाओं के साथ सम्राट् अशोक का संबंध था। इनके राज्यों में उसने धर्मविजय के लिये प्रयास किया। उसके इस प्रयत्न पर हम आगे विचार करेंगे। सीरिया के राजा के राजदूत चंद्रगुप्त और बिंदुसार के समय में पाटलीपुत्र की राजसभा में रह चुके थे। संभवतः अशोक के समय में भी इस राज्य का दूत भारत की राजधानी में रहा हो। ईजिप्ट के राजा टालमी फिलडेल्फस ने भी एक दूतमंडल पाटलीपुत्र में भेजा था, जिसका नेता डायोनीसियस था। मागध सम्राट् के राजदूत भी इन विदेशों में जाते थे। अशोक ने अपने एक शिलालेख में लिखा है कि जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं पहुँचते, वहाँ भी देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्मविधान और धर्मानुशासन सुन कर लोग धर्म के अनुसार आचरण करते हैं। इस से स्पष्ट है, कि अशोक के दूत विदेशों में अनेक स्थानों पर निवास करते थे।

(५) अशोक के शिलालेख

सम्राट् अशोक के बहुत से उत्कीर्ण लेख आजकल उपलब्ध हैं। उसके इतिहास को जानने के लिये इनसे उत्तम अन्य साधन नहीं। अशोक ने अपने इन शिलालेखों को धम्मलिपि कहा है। उनकी जो दो प्रतियाँ उत्तरपश्चिमी सीमाप्रांत के पेशावर और हजारा जिलों में मिली हैं, वे खरोष्ठी लिपि में हैं, शेष सब ब्राह्मी लिपि में। उसके लेख शिलाओं, पत्थर की ऊंची लाटों और गुफाओं में उत्कीर्ण किये गये हैं। इनका संक्षेप में वर्णन देना बहुत उपयोगी है।

(क) चतुर्दश शिलालेख—अशोक के लेखों में ये सब से प्रधान हैं, और एक के नीचे दूसरा करके सब इकट्ठे खुदे हुए हैं। इनकी आठ प्रतियाँ आठ विभिन्न स्थानों पर अविकल या अपूर्ण रूप में मिली हैं। जिन स्थानों पर ये चौदह लेख मिले हैं, वे निम्नलिखित हैं :—

१. पेशावर जिले में शाहबाजगढ़ी—पेशावर से चालीस मील उत्तरपूर्व की ओर यूसुफजाई ताल्लुके में शाहबाजगढ़ी नाम का गाँव है। उससे आध मील की दूरी पर एक विशाल शिला है, जो चौबीस फीट लम्बी, दस फीट ऊंची और दस फीट मोटी है। इस शिला पर बारहवें लेख को छोड़ कर अन्य सब लेख खुदे हुए हैं। बारहवाँ लेख पचास गज की दूरी पर एक पृथक् शिला पर उत्कीर्ण है। शाहबाजगढ़ी गाँव नया है, पर इसी जगह पुराने समय में एक विशाल नगर था, जिसके खंडहर अब तक पाये जाते हैं। एक ऐतिहासिक के अनुसार अशोक के अधीन यवनराज्य की राजधानी संभवतः यहीं पर थी।

२. मानसेरा—उत्तरपश्चिमी प्रांत के हजारा जिले में यह स्थान है। यहाँ केवल पहले बारह लेख ही उपलब्ध हुए हैं। तेरहवें और चौदहवें लेख अभी इस स्थान के समीप कहीं नहीं मिले। मानसेरा का शिलालेख जहाँ उत्कीर्ण है, उसके समीप से होकर संभवतः प्राचीन काल में वह सड़क जाती थी, जिसके द्वारा तीर्थयात्री लोग भट्टारिका देवी के दर्शनों को जाया करते थे। अब भी उधर छेरी नामक तीर्थस्थान है।

३. कालसी—देहरादून जिले में यमुना के तट पर एक विशाल शिला पर अशोक के पूरे चौदह लेख उत्कीर्ण हैं। यह स्थान हिमालय की उपत्यका के प्रदेश जौनपुर भावर के द्वार पर है। इस प्रदेश की सभ्यता, धर्म व चरित्र शेष भारत से बहुत कुछ भिन्न हैं। एक स्त्री के अनेक पति होने की बात अभी तक यहाँ

जाती है। इनके देवी-देवता भी अन्य हिंदुओं से भिन्न हैं। संभवतः मौर्य युग में भी यह प्रदेश सभ्यता की दृष्टि से पृथक् था, और इसीलिये इसमें अपने धर्मसंदेश को पहुँचाने के लिये अशोक ने इसके द्वार पर अपने लेख उत्कीर्ण कराये थे। प्राचीन समय का स्रुघ्न नगर भी इसी के समीप था।

४. गिरनार—काठियावाड़ की प्राचीन राजधानी गिरिनगर के समीप ही एक विशाल शिला पर ये चौदह लेख उत्कीर्ण हैं।

५. सोपारा—यह स्थान बंबई प्रांत के थाना जिले में है। प्राचीन शूर्पारक नगरी संभवतः यहीं पर थी। प्राचीन ग्रीक लेखकों ने भी इसे सुपारा और सुपारा नाम से लिखा है। यहाँ आठवें शिलालेख का केवल तिहाई हिस्सा भग्नावस्था में मिला है। पर इससे यह सहज में ही अनुभव किया जा सकता है, कि किसी समय में यहाँ पूरे चौदह लेख विद्यमान थे।

६. धौली—उड़ीसा में भुवनेश्वर (जिला पुरी) से सात मील की दूरी पर यह जगह है। मौर्ययुग में संभवतः यहीं तोषाली नगरी थी, जो कलिंग की राजधानी थी। वर्तमान धौली गाँव के पास अश्वस्तंभ नाम की एक शिला है, जिस पर अशोक के लेख उत्कीर्ण हैं। चतुर्दश शिलालेखों में नं० ११, १२ और १३ यहाँ नहीं मिलते। इनके स्थान पर दो अन्य विशेष लेख मिलते हैं, जिन्हें कि अशोक ने कलिंग के लिये विशेषरूप से उत्कीर्ण कराया था।

७. जौगढ़—मद्रास प्रांत के गंजाम जिले में यह स्थान है। यह भी प्राचीन कलिंग देश के ही अंतर्गत था, यहाँ भी ११, १२ और १३ नंबर नहीं मिलते। इनकी जगह पर धौली वाले वे दो विशेष लेख मिलते हैं, जो खास कर कलिंग के लिये उत्कीर्ण कराये गये थे।

८. अशोक के चतुर्दश शिलालेखों की आठवीं प्रति आंध्रदेश

में कुर्नूल जिले से पिछले दिनों में ही मिला है।

(ख) लघु शिलालेख—चतुर्दश शिलालेखों की भाँति ये भी साम्राज्य के दूर-दूर के प्रदेशों से उपलब्ध हुए हैं। इनकी विविध प्रतियाँ निम्नांकित स्थानों पर मिली हैं:—

१. रूपनाथ—मध्यप्रांत के जबलपुर जिले में कैमोर पर्वत की उपत्यका में एक शिला पर ये लेख उत्कीर्ण हैं। यह स्थान दुर्गम चट्टानों और जंगली जानवरों से भरा हुआ है। पर यह एक प्रसिद्ध स्थान है, जहाँ प्रतिवर्ष हजारों यात्री शिव की उपासना के लिये एकत्र होते हैं।

२. सहसराम—बिहार प्रांत के शाहाबाद जिले में सहसराम नाम का कसबा है। उसके पूर्व में चंदनपीर पर्वत की एक कृत्रिम गुफा में ये लेख उत्कीर्ण हैं. अशोक के समय में यहाँ भी एक प्रसिद्ध तीर्थ था। वर्तमान समय में यहाँ एक मुसलमान फकीर की दरगाह है।

३. बैराट - यह स्थान राजपूताने की जयपुर रियासत में है। इसके समीप ही हिसगीर नामक पहाड़ी के नीचे लघु शिलालेखों की एक प्रति उपलब्ध हुई है। पुरानी अनुश्रुति के अनुसार पांडव लोग वनवास के अंत में इसी स्थान पर आकर रहे थे।

४. सिद्दपुर—यह स्थान मैसूर के चीतलद्रुग जिले में है।

५. जतिङ्गरामेश्वर—यह भी चीतलद्रुग जिले में ही है।

६. ब्रह्मगिरि—यह भी चीतलद्रुग में सिद्दपुर और जतिङ्ग-रामेश्वर के समीप में ही है।

७. मास्की—यह निजाम हैदराबाद रियासत के रायचूर जिले में है। इस स्थान पर जो लेख मिले हैं, वे बहुत भग्नावस्था में हैं। पर ऐतिहासिक दृष्टि से उनका बड़ा महत्त्व है। इसी से यह बात प्रामाणिकरूप से ज्ञात हो सकी है, कि राजा प्रियदर्शी

के नाम से जो विविध शिलालेख भारत भर में उपलब्ध हुए हैं, वे वस्तुतः मौर्य सम्राट् अशोक के ही हैं। इसमें स्पष्ट रूप से राजा अशोक का नाम दिया गया है। यह नहीं समझना चाहिये, कि इन सातों स्थानों पर एक ही लेख की भिन्न-भिन्न प्रतियां मिलती हैं, जैसा कि चतुर्दश शिलालेखों के विषय में कहा जा सकता है। चीतलद्रुग के तीनों स्थानों—सिद्दपुर, जतिङ्ग रामेश्वर और ब्रह्मगिरि में थोड़े से पाठभेद के साथ एक ही लेख उत्कीर्ण है। यह लेख दो भागों में विभक्त है। पहला भाग थोड़े से पाठभेद के साथ सहसराम, रूपनाथ, वैराट और मास्की में भी मिलता है। पर दूसरा भाग चीतलद्रुग के इन तीन स्थानों के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं मिलता।

(ग) भाब्रू का लेख—जयपुर रियासत में वैराट नगर के पास ही एक चट्टान पर यह लेख उत्कीर्ण है। प्राचीन समय में यहां एक बौद्ध विहार था, और अशोक ने इस लेख को इसलिये खुदवाया था कि विहार में निवास करने वाले भिक्षुओं को यथोचित आदेश दिये जावें। इस लेख में अशोक ने उन बौद्ध ग्रंथों के नाम विज्ञापित कराये थे, जिन्हें वह इस योग्य समझता था कि भिक्षु लोग उनका विशेष रूप से अनुशासन करें। संभवतः इसी प्रकार के लेख अन्य बौद्ध विहारों पर भी लगवाये गये थे।

(घ) सप्त स्तंभ लेख—शिलाओं के समान स्तंभों पर भी अशोक ने लेख उत्कीर्ण कराये थे। वे स्तंभलेख निम्नलिखित स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं:—

१. दिल्ली में टोपरा स्तंभ—यह वर्तमान समय में दिल्ली में विद्यमान है। यह फीरोजशाह की लाट के नाम से मशहूर है। पहले यह स्तंभ दिल्ली से ९० मील की दूरी पर यमुना के किनारे टोपरा (अंबाला ज़िले में सढौरा के पास) में स्थित था।

सुलतान फीरोजशाह तुग़लक इसे दिल्ली ले आया था, और उसे इसके वर्तमान स्थान पर स्थापित किया था, जो कि दिल्ली दरवाजे के बाहर फीरोजशाह का कोटला कहलाता है।

२. दिल्ली में मेरठ स्तंभ—यह पहले मेरठ में था। फीरोजशाह तुग़लक इसे भी दिल्ली ले आया था, और काश्मीर दरवाजे के उत्तरपश्चिम में पहाड़ी पर स्थापित किया था। कहते हैं कि फर्रुखसियर (१७१३ से १७१९ तक) के समय में बारूदखाने के फट जाने से इसे, बहुत नुकसान पहुँचा था। गिर कर इसके अनेक टुकड़े हो गये थे। बाद में १८६७ में इसे फिर यथापूर्व खड़ा किया गया था।

३. इलाहाबाद स्तंभ—यह वही प्रसिद्ध स्तंभ है, जिस पर गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशस्ति भी उत्कीर्ण है। यह अब प्रयाग के पुराने क़िले में स्थित है। इस पर अशोक के दो लेख हैं, जो कौशाम्बी के शासनाधिकारियों को आदेश के रूप में संबोधन किये गये हैं।

४ लौड़िया अरराज स्तंभ—बिहार प्रांत के चंपारन जिले में राधिया नामक गाँव है। उससे २½ मील पूर्वदक्षिण में अरराजमहादेव का मंदिर है। वहाँ से मील भर लौड़िया नामक स्थान पर यह स्तंभ विद्यमान है। इस पर भी अशोक के लेख उत्कीर्ण हैं।

५. लौड़िया नंदनगढ़—यह भी बिहार के चंपारन जिले में है। पूर्वलिखित लौड़िया से उत्तर-पश्चिम में नेपाल राज्य की तरफ जाते हुए लौड़िया नंदनगढ़ का स्तंभ दिखाई पड़ता है। इसी स्थान पर पिप्पलिवन का प्रसिद्ध स्तूप प्राप्त हुआ है। पिप्पलिवन का मोरियगण, जिसके एक प्रतापी कुमार ने मौर्यवंश की स्थापना की, संभवतः यहीं पर स्थित था।

६. रामपुरवा स्तंभ—यह भी चंपारन जिले में ही है। एक ऐतिहासिक के अनुसार ये तीनों स्तंभ उस प्राचीन राजमार्ग को सूचित करते हैं, जो गंगा के उत्तर में पाटलीपुत्र से नैपाल की तरफ को जाता था। इस राजमार्ग पर आने जाने वाले यात्रियों का ध्यान आकृष्ट करने के लिये ही अशोक ने इन स्तंभों पर अपने धम्म के संदेश का उत्कीर्ण कराया था। चंपारन जिले की इन लाटों में से पहली दो पर सात स्तंभलेखों में से पहले छः लेख ही उत्कीर्ण हैं। रामपुरवा की लाट पर पहले चार लेख ही मिलते हैं। पूरे सातों लेख केवल दिल्ली के टोपरा स्तंभ पर हैं। इलाहाबाद स्तंभ पर पहले छः लेख हैं, यद्यपि इनमें से केवल दो ही अविकल अवस्था में हैं। दिल्ली-मेरठ स्तंभ पर पहले पाँच लेख ही मिलते हैं, वे भी भग्न दशा में हैं।

(क) लघु स्तंभलेख—ये तीन स्थानों पर उत्कीर्ण हुए मिले हैं। स्थान निम्नलिखित हैं:—

१. सारनाथ—बनारस के उत्तर में ३½ मील की दूरी पर यह अत्यंत प्राचीन स्थान है। यहाँ प्राचीन काल के बहुत से भग्नावशेष मिलते हैं। इन्हीं अवशेषों में एक स्तंभ पर अशोक का यह लघु लेख उत्कीर्ण है। इसमें बौद्ध संघ में फूट डालने वालों को कड़े दंड का विधान किया गया है।

२. साञ्ची—मध्य भारत की भूपाल रियासत में साञ्ची बहुत प्राचीन स्थान है। यहाँ के विशाल स्तूप के दक्षिणी द्वार पर, एक टूटे हुए प्राचीन स्तंभ पर यह लेख उत्कीर्ण है। यह सारनाथ के लेख का ही अपूर्ण और परिवर्तित स्वरूप है।

३. इलाहाबाद स्तंभ—प्रयाग के दुर्ग के जिस स्तंभ पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति और अशोक के सप्तस्तंभ लेख उत्कीर्ण हैं, उसी पर यह लेख भी पृथक् रूप से उत्कीर्ण है। साञ्ची के लेख के समान यह भी अपूर्ण और परिवर्तित है।

(च) अन्य स्तंभलेख—सप्त स्तंभलेखों और लघु स्तंभलेखों के अतिरिक्त अशोक के कुछ अन्य स्तंभलेख भी निम्नलिखित स्थानों पर मिले हैं—

१. रुम्मिनदेई स्तंभ—नैपाल राज्य की भगवानपुर तहसील में पडेरिया नाम का गाँव है। इसके एक मील उत्तर की तरफ रुम्मिनदेई का मंदिर है। वहाँ एक प्राचीन स्तंभ पर अशोक का एक लेख उत्कीर्ण है। यद्यपि यह लेख बहुत छोटा है, पर बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें लिखा है—'यहाँ भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था।' बुद्ध के जन्मस्थान लुम्बिनीवन की स्थिति का निश्चय इसी लेख से हुआ है।

२. निग्लीव स्तंभ—रुम्मिनदेई स्तंभ के उत्तरपश्चिम में तेरह मील दूर निग्लीव स्तंभ है। यह निग्लीव नाम के गाँव के पास, इसी नाम की झील के पश्चिमी तट पर स्थित है। इस स्तंभ को भी तीर्थयात्रा के संबंध में ही स्थापित किया गया था। इस स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख में अशोक द्वारा कनकमुनि बुद्ध के स्तूप की मरम्मत किये जाने का उल्लेख है।

३. रानी का लेख—यह लेख इलाहाबाद के स्तंभ पर ही उत्कीर्ण है। इसमें सम्राट् अशोक ने अपनी दूसरी रानी चारु-वाकी के दान का उल्लेख किया है।

४. गुहालेख—शिलाओं और स्तंभों के अतिरिक्त गुहा-मंदिरों में भी अशोक ने कुछ लेख उत्कीर्ण कराये थे। इस प्रकार के तीन लेख अब तक उपलब्ध हुए हैं। इनमें अशोक द्वारा आजीवक संप्रदाय के भिक्खुओं को दिये गये दान का उल्लेख है। अशोक के लेखों से युक्त गुहायें गया से सोलह मील उत्तर में बराबर नाम की पहाड़ियों में विद्यमान हैं।

(६) धर्मविजय का उपक्रम

इतिहास में अशोक के महत्त्व का मुख्य कारण उसकी धर्मविजय है। मागध साम्राज्य की विश्वविजयिनी शक्ति को सिकन्दर और सीज़र की तरह अन्य देशों पर आक्रमण करने में न लगाकर उसने धर्मविजय के लिये लगाया। कलिंग को जीतने में जो लाखों आदमी मारे गये थे, क़ैद हुए थे, लाखों स्त्रियां विधवा व बच्चे अनाथ हुए थे, उसे देखकर अशोक के हृदय में यह विचार आया, कि जहां लोगों का इस प्रकार वध हो, वह विजय निरर्थक है। इस प्रकार की विजय को देख कर उसे बहुत दुःख और अनुताप हुआ। उसने निश्चय किया, कि अब वह किसी देश पर आक्रमण कर इस तरह से विजय नहीं करेगा। अपने पुत्रों और पौत्रों के लिये भी उसने यही आदेश दिया, कि वे शस्त्रों द्वारा नये प्रदेशों की विजय न करें, और जो धर्म द्वारा विजय हो, उसी को वास्तविक रूप से विजय समझें।

इसी विचार से अशोक ने सुदूर दक्षिण के चोड, पांड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी के राज्यों में तथा साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित यवन अंतियोक आदि द्वारा शासित प्रदेशों में शस्त्रविजय की जगह धर्मविजय का उपक्रम किया। मागध साम्राज्य की जो सैनिक शक्ति उस समय थी, यदि वह चाहता तो उससे इन सब प्रदेशों को जीत कर अपने अधीन कर सकता था। पर कलिंगविजय के बाद जो अनुताप की भावना उसके हृदय में उत्पन्न हुई थी, उससे उसने अपनी नीति को बदल दिया। इसीलिये उसने अपने महामात्यों (उच्च राजपदाधिकारियों) को यह आज्ञा दी—शायद आप लोग यह जानना चाहेंगे, कि जो अंत (सीमावर्ती राज्य) अभी तक जीते नहीं गये हैं, उनके संबंध में राजा की क्या आज्ञा है।

मेरी प्रजा के बारे में यही इच्छा है कि वे मुझसे डरें नहीं, और मुझ पर विश्वास रखें। वे मुझसे सुख ही पावेंगे, दुःख नहीं। वे यह विश्वास रखें कि जहाँ तक क्षमा का बर्ताव हो सकेगा, राजा हमसे क्षमा का बर्ताव ही करेगा। (दूसरा कलिंग लेख)

यही भाव उन आटविक जातियों के प्रति प्रगट किया गया, जो उस समय के महाकांतारों में निवास करती थीं, और जिन्हें शासन में रखने लिये राजाओं को सदा शक्ति का प्रयोग करने की आवश्यकता रहती थी। शस्त्रों से विजय की नीति को छोड़ कर अशोक ने धर्म द्वारा विजय की नीति को अपनाया था।

अशोक का इस धर्म से क्या अभिप्राय था? जिस धर्म से वह अपने साम्राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने का प्रयोग कर रहा था, क्या वह कोई संप्रदाय विशेष था, या धर्म के सर्वसम्मत सिद्धांत? अशोक के शिलालेखों से यह बात भलीभांति स्पष्ट हो जाती है। वह लिखता है—धर्म यह है कि दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार किया जाय, माता पिता की सेवा की जाय, मित्र, परिचित रिश्तेदार, श्रमण और ब्राह्मणों को दान दिया जाय और प्राणियों की हिंसा न की जाय।

एक अन्य लेख में अशोक ने अपने धम्म को इस प्रकार समझाया है—माता और पिता की सेवा करनी चाहिये। (प्राणियों के) प्राणों का आदर दृढ़ता के साथ करना चाहिये। (अर्थात् जीवहिंसा नहीं करना चाहिये), सत्य बोलना चाहिये, धम्म के इन गुणों का प्रचार करना चाहिये, विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिये और सब को अपने ज्ञाति-भाइयों के प्रति उचित बर्ताव करना चाहिये। यही प्राचीन (धर्म की) रीति है। इससे आयु बढ़ती है, और इसी के अनुसार मनुष्यों को चलना चाहिये।

इसी प्रकार अन्यत्र शिलालेखों में लिखा है—'माता पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, स्वजातीय, ब्राह्मण और श्रमण को दान करना अच्छा है। थोड़ा व्यय करना और थोड़ा संचय करना अच्छा है।' फिर एक अन्य स्थान पर लिखा है—'धर्म करना अच्छा है, पर धर्म क्या है? धर्म यही है कि पाप से दूर रहे, बहुत से अच्छे काम करें, दया दान, सत्य और शौच (पवित्रता) का पालन करे।'

इन उद्धरणों से स्पष्ट है, कि अशोक का धम्म से अभिप्राय आचार के सर्वसम्मत नियमों से है। दया, दान, सत्य, मार्दव, गुरुजन तथा माता-पिता की सेवा, अहिंसा आदि गुण ही अशोक के धम्म हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अशोक अपने धम्म के संदेश को ले जाने के लिये उत्सुक था। इसीलिये उसने बार-बार जनता के साधारण व्यवहारों और धम्म-व्यवहार की तुलना की है। यहाँ कुछ ऐसी तुलनाओं को उद्धृत करना उपयोगी है। चतुर्दश शिलालेखों में से नवाँ लेख इस प्रकार है—'लोग विपत्तिकाल में, पुत्र के विवाह में, कन्या के विवाह में, सन्तान की उत्पत्ति में, परदेश जाने के समय और इसी तरह के अन्य अवसरों पर अनेक प्रकार के मंगलाचार करते हैं। ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ अनेक प्रकार के क्षुद्र और निरर्थक मंगलाचार करती हैं। मंगलाचार अवश्य करना चाहिये, किंतु इस प्रकार के मंगलाचार प्रायः अल्प फल देने वाले होते हैं। पर धर्म का मंगलाचार महाफल देने वाला है। इसमें (धर्म के मंगलाचार में) दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर, प्राणियों की अहिंसा और ब्राह्मणों व श्रमणों को दान—यह सब करना होता है। ये सब कार्य तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य धर्म के मंगलाचार कहलाते हैं। इसलिये पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र, साथी और कहाँ तक कहें,

पड़ोसी तक को भी यह कहना चाहिये—यह मंगलाचार अच्छा है, इसे तब तक करना चाहिये, जब तक अभीष्ट कार्य की सिद्धि न हो। यह कैसे ? (अर्थात् धर्म के मंगलाचार से अभीष्ट कार्य कैसे सिद्ध होता है ?) इस संसार के जो मंगलाचार हैं, वे संदिग्ध हैं, अर्थात् उन से अभीष्ट कार्य सिद्ध हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। संभव है, उनसे केवल भौतिक फल ही मिलें। किन्तु धर्म के मंगलाचार काल से परिच्छिन्न नहीं हैं (अर्थात् सब काल में उनसे फल मिल सकता है)। यदि इस लोक में उनसे अभीष्ट फल की प्राप्ति न हो, तो परलोक में तो अनंत पुण्य होता ही है। यदि इस लोक में अभीष्ट कार्य सिद्ध हो गया, तो दोनों लाभ हुए अर्थात् यहाँ भी कार्य सिद्ध हुआ, परलोक में भी अनंत पुण्य प्राप्त हुआ।

इसी प्रकार एक अन्य लेख में साधारण दान और धर्म-दान में तुलना की गई है। अशोक की सम्मति में ऐसा कोई दान नहीं है, जैसा धर्म का दान है। इस लिये जिस व्यक्ति को दान की इच्छा हो, वह धर्म का दान करे। धर्म का दान क्या है ? धर्म का अनुष्ठान। अतः माता-पिता की सेवा की जाय, हिंसा न की जाय, दासों और सेवकों से उचित व्यवहार किया जाय। सच्चा दान करने वाला व्यक्ति धर्म को जाने और धर्म का अनुष्ठान करे।

एक अन्य लेख में अशोक ने साधारण विजय और धर्म-विजय में भेद किया है। साधारणतया, राजा लोग शस्त्र द्वारा विजय करते हैं, पर धर्मविजय शस्त्रों द्वारा नहीं की जाती। इसके लिये तो औरों का उपकार करना होता है। धर्मविजय के लिये जनता का 'हित और सुख संपादित करना होता है, बुरे मार्ग से हट कर सन्मार्ग पर प्रवृत्त होना होता है, और सब प्राणियों को 'निरापद, संयमी, शांत और निर्भय, बनाने का

उद्योग करना होता है। यह विजय दया और त्याग से प्राप्त की जाती है।

इसके अतिरिक्त, धर्म की पूर्णता के लिये कुछ अवगुणों से भी बचने की आवश्यकता है। जहाँ तक हो सके, 'आसीनव' कम करने चाहिये। पर ये आसीनव हैं क्या? चंडता, निष्ठुरता क्रोध, अभिमान और ईर्ष्या। अशोक ने लिखा है—मनुष्य को यह देखना चाहिये, कि चंडता, निष्ठुरता, क्रोध, अभिमान और ईर्ष्या—ये सब पाप के कारण हैं। और उसे अपने मन में सोचना चाहिये, कि इन सब के कारण मेरी निंदा न हो। इस बात की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये, कि इस मार्ग से मुझे इस लोक में सुख मिलेगा और मेरा परलोक बनेगा।

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है, कि अशोक का धर्म कोई सांप्रदायिक नहीं था। यद्यपि अशोक स्वयं बौद्धधर्म का अनुयायी था पर उसने जिस धर्मविजय के लिये उद्योग किया था, वह कोई संप्रदाय विशेष का न होकर सब धर्मों के सर्व-सम्मत सिद्धांतों का समाहार ही था।

(७) धर्मविजय के उपाय

अशोक ने जिन उपायों से धर्मविजय को संपन्न करने का प्रयत्न किया, उन पर संक्षेप में प्रकाश डालना आवश्यक है। सब से पूर्व उसने अपने और अपनी प्रजा के जीवन में सुधार करने का उद्योग किया। भारत में जो क्रूरता व अकारण हिंसा प्रचलित थी, उसे अशोक ने रोकने का प्रयत्न किया। 'यहाँ किसी प्राणी की हत्या या होम न करना चाहिये, और न समाज करना चाहिये। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत दोष देखता है। किन्तु एक प्रकार के समाज हैं, जिन्हें देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा अच्छा मानता है। पहले देवताओं के

प्रिय प्रियदर्शी राजा के रसोईघर में शोरबे के लिये प्रतिदिन सैकड़ों हज़ारों प्राणी मारे जाते थे। पर अब जब यह धर्मलिपि लिखी गई, केवल तीन प्राणी, दो मोर और एक मृग मारे जाते हैं वह मृग भी सदा नहीं। भविष्य में ये तीन प्राणी भी न मारे जावेंगे।'

प्राचीन भारत में समाज का अभिप्राय उन मेलों से था, जिनमें रथों की दौड़ और पशुओं की लड़ाई होती और उन पर बाज़ी लगाई जाती थी। इन में पशुओं पर अकारण क्रूरता होती थी। ऐसे समाज अशोक को पसंद नहीं थे। परंतु ऐसे कुछ समाज भी होते थे, जिनमें गाना-बजाना और अन्य निर्दोष बातें होती थीं। इनमें विमान, हाथी, अग्निस्कंध आदि के दृश्य भी दिखाये जाते थे। अशोक को ऐसे समाजों से कोई एतराज़ नहीं था। अशोक ने उन प्राणियों का वध सर्वथा रोक दिया, जो न खाये जाते हैं, और न ऐसे ही किसी अन्य उपयोग में आते हैं। ऐसे प्राणी निम्नलिखित थे—सुग्गा, मैना, अरुण, चकोर, हंस, नांदीमुख, गेलाट, जतुका (चमगीदड़) अंबाक-पीलिका, कछुआ, बेहड्डी की मछली, जीवजीवक, गंगापुटक, संकुजमत्स्य, साही, पर्णशश, बारहसिंगा, सांड, ओकपिंड मृग, सफेद कबूतर और गाम के कबूतर। ये सब प्राणी केवल शौक के कारण मारे जाते थे। इन्हें खाने का रिवाज उस समय नहीं था। अशोक ने इस प्रकार की व्यर्थ हिंसा के विरुद्ध अपने शिलालेखों द्वारा आदेश प्रकाशित किया था। जहाँ खाने के लिये अथवा ऐसे ही उपयोगों के लिये पशुवध किया जाता है, उसे भी कम करने के लिये अशोक ने प्रयत्न किया था। वह लिखता है—गाभिन या दूध पिलाती हुई बकरी, भेड़ी और सूअरी तथा इनके बच्चों को, जो छः महीने तक के हों, नहीं मारना चाहिये। मुर्गों को बधिया नहीं करना चाहिये। जीवित

प्राणियों को भूसी के साथ नहीं जलाना चाहिये। अनर्थ करने या प्राणियों की हिंसा के लिये वन में आग नहीं लगानी चाहिये, प्रति चार-चार महीनों की, तीन ऋतुओं की तीन पूर्णमासियों के दिन, पौष मास की पूर्णमासी के दिन, चतुर्दशी अमावस्या और प्रतिपदा के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली नहीं मारना चाहिये। इन सब दिनों में हाथियों के वन में तथा तालाबों में कोई भी दूसरे प्रकार के प्राणी नहीं मारे जाने चाहिये।

पशुओं को कष्ट से बचाने के लिये अशोक ने यह भी प्रयत्न किया कि उन्हें दागा न जाय। इसीलिये पशुओं को दागने में अनेक बाधायें उपस्थित की थीं। 'प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या या पूर्णिमा तथा पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चार-चार महीने के त्योहारों के दिन बैल को नहीं दागना चाहिये। बकरा, भेड़ा, सूअर और इसी तरह के दूसरे प्राणियों को, जो दागे जाते हैं, नहीं दागना चाहिये। पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य के शुक्लपक्ष में घोड़े और बैल को नहीं दागना चाहिये।'

इन सब आदेशों का प्रयोजन यही था, कि व्यर्थ हिंसा न हो और लोगों में दया तथा अहिंसा की ओर प्रवृत्ति हो। अशोक अपने साम्राज्य में एक ऐसे वातावरण को उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा था, जिससे लोगों की प्रवृत्ति धर्ममार्ग की तरफ हो सके।

धर्मविजय के लिये ही अशोक ने धर्मयात्राओं का प्रारंभ किया। यात्रा तो पहले सम्राट् भी करते थे, पर इनका उद्देश्य आनंद व मौज होता था। वे विहारयात्रायें करते थे, धर्मयात्रा नहीं। अशोक ने धर्मयात्राओं का प्रारंभ किया। इनमें शिकार आदि द्वारा समय नष्ट न करके श्रमणों, ब्राह्मणों और वृद्धों का दर्शन, उन्हें दान देना, जनपद में निवास करने वाली जनता के पास जाकर उन्हें उपदेश देना और धर्मविषयक विचार करना

होता था। अशोक को इस प्रकार की धर्मयात्राओं से बहुत ही आनंद प्राप्त होता था।

अपने राजकर्मचारियों को अशोक ने यह आदेश दिया, कि वे जनता के कल्याण के लिये निरंतर प्रयत्नशील रहें, किसी को अकारण दंड न दें, किसी के साथ कठोरता का बर्ताव न करें। यदि उस के राजकर्मचारी इन बातों का ध्यान न रक्खेंगे, तो धर्मविजय कैसे हो सकेगी? उसने लिखा है—'देवताओं के प्रिय की तरफ से तोसाली के महामात्य नगरव्यावहारिकों (न्यायाधीशों) को ऐसे कहना। आप लोग हजारों प्राणियों के ऊपर इसलिये नियुक्त किये गये हैं, कि जिससे हम अच्छे मनुष्यों के स्नेहपात्र बनें। आप लोग इस अभिप्राय को भलीभाँति नहीं समझते। एक पुरुष भी यदि बिना कारण (बिना अपराध) बाँधा जाता है, या परिक्लेश पाता है, तो उससे बहुत लोगों को दुःख पहुँचता है। ऐसी दशा में आपको मध्यमार्ग से (अत्यंत कठोरता और अत्यंत दया, दोनों का त्याग कर) चलना चाहिये। किंतु ईर्ष्या, निठल्लापन, निठुरता, जल्दबाजी, अनभ्यास, आलस्य और तंद्रा के रहते ऐसा नहीं हो सकता। इसलिये ऐसी चेष्टा करनी चाहिये, कि ये (दोष) न आवें। इसका भी मूल उपाय यह है, कि सदा आलस्य से बचना और सचेष्ट रहना। इसलिये सदा काम करते रहो, उठो, चलो, आगे बढ़ो। नगरव्यावहारिक सदा अपने समय (प्रतिज्ञा) पर दृढ़ रहें। नगरजन का अकारण बंधन और अकारण परिक्लेश न हो। इस प्रयोजन के लिये मैं धर्मानुसार प्रति पाँचवें वर्ष अनुसंधान के लिये निकलूंगा। उज्जैनी से भी कुमार हर तीसरे वर्ष ऐसे ही वर्ग को निकालेगा और तक्षशिला से भी।'

इस प्रकार के आदेशों का उद्देश्य यही था, कि साम्राज्य का

शासन निर्दोष हो, राजकर्मचारी जनता के कल्याण में तत्पर रहें और किसी पर अत्याचार न होने पावें। यह सब किये बिना धर्मविजय की आशा ही कैसे की जा सकती थी। राज्य-सुशासन की स्थापना के लिये ही अशोक ने यह व्यवस्था की, कि 'सब समयों में, चाहे मैं खाता होऊं, चाहे जनाने में होऊं, चाहे शयनागार में होऊं, प्रतिवेदक हर समय प्रजा का कार्य मुझे बतावें। मैं सब जगह प्रजा का कार्य करूंगा।'

धर्मविजय के लिये मार्ग को साफ करने के लिये यह भी परम आवश्यक था, कि विविध संप्रदायों में मेल-जोल पैदा किया जाय। उस समय भारत में अनेक मत और संप्रदाय थे। इनमें परस्पर विरोध का रहना अस्वाभाविक नहीं था। अशोक ने इस तरफ भी ध्यान दिया। उसने लिखा है—'देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा विविध दान या पूजा से गृहस्थ व सन्यासी, सब संप्रदाय वालों का सत्कार करते हैं। किन्तु देवताओं के प्रिय दान या पूजा की इतनी परवाह नहीं करते, जितनी इस बात की कि सब संप्रदायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। संप्रदायों के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है, पर उसकी जड़ वाणी का संयम है, अर्थात् लोग केवल अपने ही संप्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे संप्रदाय की निंदा न करें। केवल विशेष-विशेष कारणों के होने पर ही निंदा होनी चाहिये। क्योंकि किसी न किसी कारण से सब संप्रदायों का आदर करना लोगों का कर्तव्य है। ऐसा करने से अपने संप्रदाय की उन्नति और दूसरे संप्रदायों का उपकार होता है। इसके विपरीत जो करता है, वह अपने संप्रदाय को भी क्षति पहुँचाता है, और दूसरे संप्रदायों का भी अपकार करता है। क्योंकि जो कोई अपने संप्रदाय की भक्ति में आकर, इस विचार से कि मेरे संप्रदाय का गौरव बढ़े, अपने संप-

दाय की प्रशंसा करता है और दूसरे संप्रदाय की निंदा करता है, वह वास्तव में अपने संप्रदाय को पूरी हानि पहुँचाता है। समवाय (मेल-जोल) अच्छा है, अर्थात् लोग एक दूसरे के धर्म को ध्यान देकर सुनें और उसकी सेवा करें। क्योंकि देवताओं के प्रिय की यह इच्छा है, कि सब संप्रदाय वाले बहुत विद्वान और कल्याण का कार्य करने वाले हों। इसलिये जहाँ-जहाँ जो संप्रदाय वाले हों, उनसे कहना चाहिये कि देवताओं के प्रिय दान या पूजा को इतना बड़ा नहीं मानते, जितना इस बात को कि सब संप्रदायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो।'

जनता को यह बात समझाने के लिये, कि वे केवल अपने ही संप्रदाय का आदर न करें, अपितु अन्य मतमतांतरों को भी सम्मान की दृष्टि से देखें, सब मत वाले वाणी के संयम से काम लें, और परस्पर मेलजोल से रहें, अशोक ने धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की। उनके साथ ही स्त्री महामात्र, व्रज-भूमिक तथा अन्य राजकर्मचारिगण यही बात लोगों को समझाने के लिये नियत किये गये।

इन्हीं धर्ममहामात्रों की नियुक्ति के प्रयोजन को एक अन्य लेख में भलीभांति स्पष्ट किया गया है—बीते जमानों में धर्ममहामात्र कभी नियुक्त नहीं हुए। इस लिये मैंने राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में धर्ममहामात्र नियुक्त किये। वे सब पाषण्डों (संप्रदायों) के बीच नियत हैं। वे धर्म के अधिष्ठान के लिये, धर्म की वृद्धि के लिये तथा धर्मयुक्त लोगों के सुख के लिये हैं। ... वे भृत्यों, ब्राह्मणों, धनी गृहपतियों, अनाथों, बूढ़ों के बीच हित-सुख के लिये, धर्मयुक्त प्रजा की अपरिबाधा (बाधा से बचाने) के लिये संलग्न हैं। बंधन और वध को रोकने के लिये, बाधा से बचाने के लिये, कैद से छुड़ाने के लिये, जो बहुत संतान वाले हैं, बूढ़े हैं उनके बीच में वे व्यापृत

हैं। वे यहाँ (पाटलीपुत्र में, बाहर के नगरों में, सब अंतःपुरों में, (मेरे) भाइयों के, बहनों के और अन्य जातियों के बीच सब जगह व्यापृत हैं। मेरे सारे विजित (साम्राज्य) में, धर्मयुक्त में वे धर्ममहामात्र व्यापृत हैं।'

इस प्रकार स्पष्ट है, कि धर्ममहामात्रों तथा उनके अधीनस्थ कर्मचारियों का काम यह था, कि वे सब संप्रदायों में मेल कायम करायें। जनता के हित और सुख के लिये यत्न करें। धर्मानुकूल आचरण करने वाली प्रजा को सब प्रकार की बाधाओं से बचाये रखें। शासन में किसी पर कठोरता न हो। कोई व्यर्थ कैद न किया जावे, किसी की व्यर्थ हत्या न हो। जो ग़रीब लोग हैं या जिन पर गृहस्थी की अधिक जिम्मेदारियाँ हैं ऐसे लोगों के साथ विशेष रियायत का बर्ताव हो। धर्ममहामात्र इन्हीं बातों के लिये सब नगरों में, सब संप्रदायों में व अन्यत्र नियुक्त किये गये थे।

ये धर्ममहामात्र केवल मौर्य साम्राज्य में ही नहीं, अपितु सीमांतवर्ती स्वतंत्र राज्यों में भी नियत किये गये। अपने 'विजित' में भलीभाँति धर्मस्थापना हो जाने के बाद अन्य देशों में भी धर्म द्वारा विजय का प्रयास शुरू किया गया। अशोक ने अपने शिलालेखों में इन सब राज्यों के नाम दिये हैं। सुदूर दक्षिण में चोड, पांड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी तथा पश्चिम में अंतियोक का यवन राज्य तथा इससे भी परे के तुरमाय, मक, अलिकसुन्दर और अंतिकिनि द्वारा शासित राज्य, जिनके संबंध में हम पहले लिख चुके हैं। दक्षिण में लंका तक और पश्चिम में सीरिया, मिश्र, मैसीडोनिया और ग्रीस तक अशोक ने अपने धर्ममहामात्र नियत किये। ये धर्ममहामात्र अपने धर्मविजय के उद्योग में केवल विविध संप्रदायों में मेल-जोल का ही यत्न नहीं करते थे, पर इनके समयुक्त

कुछ ठोस काम भी था। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यों कहता है—मैंने सब जगह मार्गों पर बरगद के वृक्ष लगवा दिये हैं, ताकि पशुओं और मनुष्यों को छाया मिले। आमों की वाटिकायें लगवा दी हैं। आठ-आठ कोस पर मैंने कुएं खुदवाये हैं और सरायें बनवाई हैं। जहां तहां पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिये बहुत से प्याऊ बैठा दिये हैं। किंतु ये सब आराम बहुत थोड़े हैं। पहिले राजाओं ने और मैंने भी विविध सुखों से लोगों को सुखी किया है। पर मैंने यह सब इसलिये किया है, कि लोग धर्म का आचरण करें।

'देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के विजित (साम्राज्य) में सब स्थानों पर और वैसे ही जो सीमावर्ती राजा हैं, वहां, जैसे चोड, पांड्य, सातियपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी में और अंतियोक नामक यवन राजा तथा जो उसके (अंतियोक के) पड़ोसी राजा हैं, उन सब देशों में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा, एक मनुष्यों की और दूसरी पशुओं की चिकित्सा, का प्रबंध किया है, और जहां पर मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिये उपयुक्त औषधियां नहीं प्राप्त होती थीं, वहां लाई और लगाई गई हैं। इसी तरह से मूल और फल भी जहां नहीं थे, वहां लाये और लगाये गये हैं। मार्गों में पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिये वृक्ष लगाये और कुएं खुदवाये गये हैं।'

'यह धर्मविजय देवताओं के प्रिय ने यहां (अपने साम्राज्य में) तथा छः सौ योजन दूर पड़ोसी राज्यों में प्राप्त की है। जहां अंतियोक नामक यवन राजा राज्य करता है। और उस अंतियोक से परे तुरमय, अंतिकिनि, मक और अलिकसुन्दर नाम के राजा राज्य करते हैं, और उन्होंने अपने राज्य के नीचे (दक्षिण में) चोड, पांड्य, तथा ताम्रपर्णी में भी धर्मविजय प्राप्त की

है।…सब जगह लोग देवताओं के प्रिय के धर्मानुशासन का अनुसरण करते हैं और अनुसरण करेंगे। जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जाते, वहाँ भी लोग देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्मविधान और धर्मानुशासन सुनकर धर्म के अनुसार आचरण करते हैं, और भविष्य में करेंगे।'

विदेशों में धर्मविजय के लिये जो महामात्य नियत किये गये थे, वे अंतमहामात्र कहलाते थे। इनका कार्य उन देशों में सड़कें बनवाना, सड़कों पर वृक्ष लगवाना, कुएँ खुदवाना, सराय बनवाना, प्याऊ बिठाना, पशुओं और मनुष्यों की चिकित्सा के लिये चिकित्सालय खुलवाना और इसी प्रकार के अन्य उपायों से जनता का हित और कल्याण संपादित करना था। जहाँ वे अंतमहामात्र इन उपायों से लोगों का हित और सुख करते, वहाँ साथ ही अशोक का धर्मसंदेश भी सुनाते। यह धर्मसंदेश यही था, सब संप्रदायों में मेल-मिलाप, सब धर्माचार्यों—ब्राह्मणों और श्रमणों—का आदर, सेवक, दास आदि से उचित व्यवहार, व्यर्थ हिंसा का त्याग, माता-पिता व गुरुजनों की सेवा और प्राणिमात्र की हितसाधना। अशोक की ओर से सुदूरवर्ती विदेशी राज्यों का धर्म द्वारा विजय करने के लिये जो अंतमहामात्र अपने कर्मचारियों की फौज के साथ व्यापृत हुए, वे उन देशों में चिकित्सालय खोलकर, मुफ्त दवा देकर, धर्मशाला और कुएँ बनवा कर, सड़कें, प्याऊ और बाटकायें तैयार कराके, जनता की सेवा करते थे। उस समय के राजा लोग प्रायः पारस्परिक युद्धों में व्यस्त रहते थे। उन्हें अपनी शक्ति और वैभव के अतिरिक्त अन्य किसी बात का ख्याल नहीं था। जनता के हित और सुख की बात पर वे कोई ध्यान नहीं देते थे। ऐसी दशा में अशोक के इन लोकोपकारी कार्यों का यह परिणाम हुआ, कि लोग अपने इन उपकर्त्ता महामात्रों को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि

से देखने लगे। जिस धर्म के अनुयायी इस प्रकार परोपकार के लिये अपने तन, मन और धन को निछावर कर सकते हैं, उसके लिये लोगों में स्वाभाविक रूप से श्रद्धा का भाव उत्पन्न हुआ, साधारण जनता के लिये वही राजा है, वही स्वामी है, जो उनके हित-अहित और सुख-दुःख का ध्यान रखे। उनके आराम के लिये चिकित्सालय, कूप, धर्मशाला आदि का प्रबंध करे। इसी का परिणाम हुआ, कि इन सब विदेशी राज्यों में खून की एक भी बूंद गिराये बिना, केवल परोपकार और प्रेम द्वारा अशोक ने अपना धर्म साम्राज्य स्थापित कर लिया।

अशोक की इस धर्मविजय की नीति का ही यह परिणाम हुआ कि अन्य देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये रास्ता साफ हो गया। जिन देशों में अशोक के अंतमहामात्र लोककल्याण के कार्यों में लगे थे, वहाँ जब बौद्ध प्रचारक गये, तो उन्होंने अपने धर्म को बहुत सुगम पाया।

(८) अशोक और बौद्ध धर्म

सम्राट् अशोक पहले बौद्ध धर्म का अनुयायी नहीं था। प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ दिव्यावदान की एक कथा के अनुसार जब अशोक ने राजगद्दी प्राप्त की, तो वह बहुत क्रूर और अत्याचारी था। एक बार अमात्यों ने उसकी आज्ञा का पालन नहीं किया तो अशोक को बहुत क्रोध आया। क्रोध में अपनी तलवार को म्यान से खींच कर उसने पाँच सौ अमात्यों के सिरों को धड़ से अलग कर दिया। एक और दिन की बात है, कि अंतःपुर की स्त्रियों ने, जो अशोक के कुरूप होने के कारण हँसा करती थीं, एक अशोक वृक्ष के पत्तों को तोड़ दिया। नामसाम्य के कारण अशोक इस वृक्ष को बहुत चाहता था। उसे बहुत क्रोध आया और पाँच सौ स्त्रियों को जीते-जी आग में जला दिया।

जब अमात्यों ने देखा कि राजा इस प्रकार अत्याचार कर रहा है, तो उन्होंने उससे प्रार्थना की कि आप अपने हाथों को इस प्रकार अपवित्र न कीजिये। क्यों नहीं आप अपराधियों को दंड देने के लिये किसी अन्य व्यक्ति को नियुक्त कर लेते? राजा को यह बात समझ में आ गई। उसने चंडगिरिक नाम का एक आदमी इस काम के लिये नियत कर दिया, जो बहुत ही क्रूर था। क्रूरता में उसका कोई मुकाबला नहीं कर सकता था। प्राणियों को कष्ट देने में उसे बड़ा आनन्द आता था। वह इतना क्रूर था, कि अपने माता-पिता को उसने स्वयं अपने हाथ से मारा था। इस भयानक आदमी को प्रधान 'वध्यघातक' के पद पर नियत करके एक भयंकर जेलखाना भी बनाया गया। इसका बाह्य रूप बड़ा सुन्दर और दर्शनीय था। लोग उसे देखते ही मोहित हो जाते और सोचते कि अंदर जाकर भी इस रमणीक स्थान को देखें। पर अंदर जाते ही उन पर घोर संकट आ पड़ते थे। राजा की आज्ञा थी, कि जो आदमी इस कारागार में पहुँच जावे, उसे जीता न छोड़ा जाय, अपितु नानाविध कष्ट देकर उसकी हत्या कर दी जाय।

जो कोई भी इस जेलखाने में आता, बच कर न लौट पाता। एक बार बालपंडित नाम का एक भिक्षु वहां चला गया। उसे भी चंडगिरिक ने जलती हुई भट्ठी में डाल दिया। परंतु भट्ठी में डाल कर जब वध्यघातक नीचे देखने लगा, तो उसने एक बहुत ही विचित्र दृश्य देखा। बालपंडित एक कमल पर बैठा हुआ था, चारों तरफ ज्वालायें उठ रही थीं, परंतु वे भिक्षु का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती थीं। इस चमत्कार की सूचना राजा को मिली, तो वह स्वयं देखने के लिये आया और अपनी आंखों से बालपंडित के प्रताप को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। भिक्षु ने उसे उपदेश दिया। अशोक पर इस उपदेश का बड़ा

प्रभाव पड़ा और वह क्रूरता का परित्याग कर बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया।

दिव्यावदान की यही कथा कुछ परिवर्तनों के साथ प्राचीन अनुश्रुति के अन्य बौद्ध ग्रंथों में भी पाई जाती है। ऐसा प्रतीत होता है, कि बौद्ध धर्म के उत्तम प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिये इन ग्रंथों में अशोक को अत्यंत क्रूर और अत्याचारी दिखाया गया है। कुछ भी हो, यह स्पष्ट है, कि अशोक पहले बौद्ध नहीं था। बाद में उसने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया। कलिंग विजय के बाद उसके जीवन में जो परिवर्तन आया था, हम पहले उसका उल्लेख कर चुके हैं। पर बौद्ध धर्म के प्रति उसका झुकाव पहले ही हो चुका था। क्रूरता और अत्याचारमय जीवन से ऊब कर उसने बौद्ध भिक्षुओं के शांतिमय उपदेशों में संतोष अनुभव करना प्रारंभ कर दिया था। कलिंग-विजय में उसे जो अनुभव हुए, उन्होंने उसकी वृत्ति को बिलकुल बदल दिया। बौद्ध धर्म की यह दीक्षा अशोक ने संभवतः राजगद्दी पर बैठने के आठ वर्ष बाद ली थी।

बौद्धधर्म को ग्रहण करने के बाद अशोक ने सब बौद्ध तीर्थों की यात्रा की। अमात्यों के परामर्श के अनुसार इस यात्रा में उपगुप्त नाम के एक प्रसिद्ध आचार्य की सहायता ली गई। उपगुप्त मथुरा के समीप नतभक्तिकारण्य में उरुमुंड पर्वत पर निवास करता था। इस अंतराल्पोत्पद आचार्य के साथ अठारह हजार भिक्षु और रहते थे। जब राजा ने उपगुप्त की विद्वत्ता और धर्मज्ञान के विषय में सुना, तो अपने मंत्रियों को बुलाकर कहा कि हाथी, घोड़े, रथ आदि अच्छी तरह तैयार करा दो, मैं उरुमुंड शैल जाऊंगा और भिक्षु उपगुप्त के दर्शन करूंगा। यह सुन कर मंत्रियों ने कहा—देव ! यान आदि भेज दीजिये, उपगुप्त ही यहां चला आवेगा, आपको

उसके पास जाने की आवश्यकता नहीं। राजा ने उत्तर दिया—हम इस योग्य नहीं हैं, कि उपगुप्त यहाँ आवें, हमीं को वहाँ जाना चाहिये। पर जब उपगुप्त को मालूम हुआ कि राजा बहुत से लोगों के साथ मेरे पास आ रहा है, तो उसने सोचा कि राजा के मेरे पास आने से बहुत से मनुष्यों और पशुओं को व्यर्थ कष्ट होगा। उसने अशोक को कहला भेजा कि वह स्वयं ही पाटलीपुत्र आ जावेगा। यह जानकर अशोक ने स्थविर उपगुप्त के तथा उसके अनुयायियों के पाटलीपुत्र जाने का समुचित प्रबंध कर दिया। बहुत सी नौकायें यमुना के तट पर एकत्र की गईं। इनमें उपगुप्त और अठारह हज़ार भिक्षु सवार हुए। मथुरा से प्रयाग तक यमुना में नौकाओं पर यात्रा करते हुए भिक्षुओं की यह विशाल मंडली फिर गंगा द्वारा पाटलीपुत्र पहुँच गई। जिस आदमी ने पहले-पहल अशोक को उपगुप्त के आगमन का समाचार दिया, प्रसन्न होकर अशोक ने उसे अपने शरीर से उतार कर चार हज़ार का एक हार इनाम में दे दिया। फिर 'घाँटिक' को बुलाकर आज्ञा दी—सारे शहर में एक साथ घंटे बजाये जावें, ताकि जनता को मालूम हो जाय कि आचार्य उपगुप्त पधार गये हैं।

उपगुप्त के स्वागत के लिये सारे पाटलीपुत्र को सजाया गया। अशोक स्वयं ३½ कोस तक आगे आचार्य को लिवाने के लिये गये। संपूर्ण 'पौर' और अमात्य उनके साथ थे। ज्यों ही अठारह हज़ार भिक्षुओं से घिरे हुए स्थविर उपगुप्त को अशोक ने देखा, वह हाथी से नीचे उतर गया। कुछ कदम पैदल चल कर वह उपगुप्त के पास पहुँचा और एक पैर नदी के तीर पर और दूसरा नाव पर रखकर उसने स्वयं उपगुप्त को नाव से नीचे उतारा और फिर इस तरह उसके पैरों पर गिर पड़ा, जैसे जड़ से कटा हुआ वृक्ष। फिर हाथ जोड़ कर अशोक ने

कहा—'जब मैंने शत्रुगण का नाश कर शैलों समेत यह पृथिवी प्राप्त की, जिसके समुद्र ही आवरण हैं और जिस पर राज्य करने वाला अन्य कोई नहीं है, तब भी मुझे वह सुख नहीं मिला, जो आज आपको देखकर मिला है।' स्थविर उपगुप्त ने अशोक के सिर पर अपना दांया हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया—'राज्य के सब कार्य को बिना प्रमाद के भलीभांति करते रहो और तीनों दुर्लभ रत्नों (बुद्ध, धम्म और संघ) की सदा पूजा करते रहो।' सम्राट् और स्थविर में देर तक बात होती रही। बाद में अशोक ने उससे कहा 'हे स्थविर! मेरी इच्छा है कि मैं उन सब स्थानों का दर्शन करूं, जहां भगवान बुद्ध ठहरे थे। उन स्थानों का मैं सम्मान करूं और वहां ऐसे स्थिर निशान छोड़ जाऊं, जिससे भविष्य में आने वाली संतति को शिक्षा मिलती रहे।'

स्थविर ने उत्तर दिया—'साधु-साधु! तुम्हारे हृदय में बहुत ही उत्तम विचार उत्पन्न हुआ है। मैं तुम्हें मार्ग दिखाने का काम बड़ी प्रसन्नता से करूंगा।'

इस प्रकार आचार्य उपगुप्त के मार्गप्रदर्शन में अशोक ने तीर्थयात्रा प्रारंभ की। पाटलीपुत्र से वे पहले चंपारन जिले के उन स्थानों पर गये, जहाँ अशोक के पाँच विशाल प्रस्तरस्तंभ प्राप्त हुए हैं। वहां से हिमालय की तराई के प्रदेश में से होते हुए वे पश्चिम की ओर मुड़ गये और लुम्बिनीवन जा पहुँचे। यहीं पर भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था। इस जगह पहुंच कर उपगुप्त ने अपना दांया हाथ फैला कर कहा—'महाराज! इसी प्रदेश में भगवान का जन्म हुआ था।' ये शब्द अब तक इस स्थान पर स्थित एक प्रस्तर स्तंभ पर उत्कीर्ण हैं। इसी स्तंभ पर जो लेख लिखा है वह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के बीस वर्ष बाद स्वयं

आकर इस स्थान की पूजा की। यहाँ शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ था। इस लिये यहाँ पत्थर का एक विशाल स्तंभ और एक बृहत् दीवार खड़ी की गई। यहाँ भगवान का जन्म हुआ था, इसलिये लुम्बिनी ग्राम का धार्मिक कर उठा दिया गया और (भूमि कर के रूप में केवल) आठवाँ भाग लेना निश्चित किया गया।' लुम्बिनीवन में अशोक ने बहुत दान-पुण्य किया। फिर वह कपिलवस्तु गया, यहाँ उपगुप्त ने फिर अपना दाँया हाथ फैला कर कहा—'महाराज इस स्थान पर बोधिसत्त्व ने राजा शुद्धोदन के घर में अपना बाल्यकाल व्यतीत किया था।'

दिव्यावदान के अनुसार कपिलवस्तु के बाद राजा अशोक बोधिवृक्ष के दर्शनों को गये। यहाँ भगवान को बोध हुआ था। अशोक ने यहाँ आकर एक लाख सुवर्ण मुद्रायें दान कीं। एक चैत्य भी इस जगह पर बनवाया गया। बोधिवृक्ष के बाद स्थविर उपगुप्त अशोक को सारनाथ ले गया, जहाँ भगवान ने पहले-पहल धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। सारनाथ के बाद अशोक कुशीनगर गया, जहाँ भगवान ने निर्वाण-पद प्राप्त किया था। उपगुप्त अशोक को श्रावस्ती और जेतवन भी ले गया, इन स्थानों के साथ महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओं का घनिष्ट संबंध है। साथ ही, सारिपुत्र मौद्गलायन, महाकश्यप आदि प्राचीन बौद्ध आचार्यों के स्थानों के भी दर्शन किये गये और वहाँ भी बहुत कुछ दान-पुण्य हुआ। बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य आनंद के स्तूप पर अशोक ने साठ लाख सुवर्ण मुद्रायें अर्पित कीं।

बौद्ध होकर अशोक ने कुछ ऐसे आदेश भी दिये, जो केवल बौद्ध लोगों के ही काम के थे। एक शिलालेख में उसने लिखवाया है—'मगध के प्रियदर्शी राजा संघ को अभिवादन (पूर्वक संबोधन करके) कहते हैं, कि वे विघ्नहीन और सुख से रहें।

हे भदन्तगण ! आपको मालूम है, कि बुद्ध, धम्म और संघ में हमारी कितनी भक्ति और आस्था है। हे भदन्तगण ! जो कुछ भगवान बुद्ध ने कहा है, सो सब अच्छा कहा है। पर भदन्तगण ! मैं अपनी ओर से (कुछ ऐसे ग्रंथों के नाम लिखता हूँ, जिन्हें मैं अवश्य पढ़ने योग्य समझता हूँ। हे भदन्तगण ! (इस विचार से कि) इस प्रकार सद्धर्म चिरस्थायी रहेगा, मैं इन धर्मग्रंथों (के नाम लिखता हूँ) यथा—विनय समुकसे (विनय समुत्कर्षः), अलियवसानि (आर्यवंशाः), अनागत भयानि, मुनिगाथा, मोनेयसूते (मौनेय सूत्र), उपतिसपसिने (उपतिष्य प्रश्नाः), राहुलवाद, जिसे भगवान बुद्ध ने झूठ बोलने के बारे में कहा है। इन धर्मग्रंथों को, हे भदन्तगण ! मैं चाहता हूँ, कि बहुत से भिक्षुक और भिक्षुणी बार-बार श्रवण करें और धारण करें और इसी प्रकार उपासक और उपासिका भी (सुनें और धारण करें)। हे भदन्तगण ! मैं इसलिये यह लेख लिखवाता हूँ, कि लोग मेरा अभिप्राय जानें।'

यह शिलालेख बड़े महत्त्व का है। इससे यह ज्ञात होता है, कि अशोक को किन बौद्ध ग्रंथों से विशेष प्रेम था। इन ग्रंथों में बौद्ध धर्म के विधि-विधानों और पारलौकिक विषयों का वर्णन न होकर सदाचार और जीवन को ऊँचा करने के सामान्य नियमों का उल्लेख है। अशोक की दृष्टि यही थी, कि बौद्ध लोग (भिक्षु और उपासक सब) भी धर्म के तत्त्व (सार) पर विशेष ध्यान दें।

बौद्ध धर्म के संबंध में अशोक का एक अन्य कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसने बौद्ध संघ में फूट न पड़ने पर, इसके लिये उद्योग किया। इस विषय में अशोक के तीन लेख उपलब्ध हुए हैं। "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं कि पाटलीपुत्र में तथा प्रांतों में कोई संघ में फूट न डाले। जो

कोई, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी, संघ में फूट डालेगा, उसे सफेद कपड़े पहना कर उस स्थान पर रख दिया जावेगा, जो भिक्षुओं या भिक्षुणियों के लिये उपयुक्त नहीं है। (अर्थात् उसे भिक्षुसंघ से बहिष्कृत कर दिया जायगा। हमारी यह आज्ञा भिक्षुसंघ और भिक्षुणीसंघ को बता दी जाय।) देवताओं के प्रिय ऐसा कहते हैं, इस तरह का एक और लेख आप लोगों के पास भेजा गया है, जिससे कि आप लोग उसे याद रखें। ऐसा ही एक लेख आप उपासकों के लिये भी लिख दें, जिससे कि वे हर उपवास के दिन इस आज्ञा के मर्म को समझें। साल भर प्रत्येक उपवास के दिन हर एक महामात्र उपवास-व्रत का पालन करने के लिये इस आज्ञा के मर्म को समझाने तथा इसका प्रचार करने के लिये आवेगा। जहाँ-जहाँ आप लोगों का अधिकार हो, वहाँ-वहाँ आप सर्वत्र इस आज्ञा के अनुसार प्रचार करें। इसी प्रकार आप लोग सब कोटों (दुर्गों) और विषयों (प्रांतों) में भी इस आज्ञा को भेजें।"

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा कौशाम्बी के महामात्रों को इस प्रकार आज्ञा देते हैं—संघ के नियम का उल्लंघन न किया जाय। जो कोई संघ में फूट डालेगा, उसे श्वेत वस्त्र पहना कर उस स्थान से हटा दिया जायगा, जहाँ भिक्षु या भिक्षुणियाँ रहते हैं।" "भिक्षु और भिक्षुणी, दोनों के लिये (संघ का) मार्ग नियत किया गया है।......जो कोई भिक्षु या भिक्षुणी संघ में फूट डालेगा, उसे उस स्थान से हटा दिया जायगा, जो भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिये नियत है। मेरी इच्छा है, कि संघ का मार्ग स्थिर रहे।"

सारनाथ, प्रयाग और साञ्ची में प्राप्त ये तीन शिलालेख संघ में एकता कायम रखने के लिये अशोक द्वारा किये गये प्रयत्नों का वर्णन करते हैं। संघ में फूट न हो, इसके लिये

अशोक तुला हुआ था। बुद्ध की मृत्यु के बाद ही संघ में मतभेद शुरू हो गये थे। अशोक से पूर्व इन्हीं मतभेदों को दूर कर, एकता स्थापित करने के लिये, बौद्धों की दो महासभायें हो चुकी थीं। पर मतभेद अभी तक विद्यमान था। अशोक की यह इच्छा थी, कि यह फूट अधिक न बढ़े। इस आदेश के पालन का उत्तरदायित्व धर्ममहामात्रों को दिया गया था। जहाँ उनका काम यह था, कि विविध संप्रदायों में समवाय (मेल-जोल) कायम करें, वहाँ बौद्ध संघ में फूट को रोकने का कार्य भी उन्हीं के सुपुर्द किया गया था। बौद्ध होने के नाते अशोक अपनी राजशक्ति का प्रयोग इस बड़े रूप से भी कर रहा था, कि बौद्ध संघ में एकता बनी रहे।

अशोक स्वयं बौद्ध था, पर सब धर्मों के प्रति उसके हृदय में आदर था। उसने जहाँ विविध संप्रदायों में समवाय स्थापित करने का उद्योग किया, वहाँ अन्य संप्रदायों को दान भी दिया। गया के समीप बराबर पहाड़ियों में तीन गुहामंदिर उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें अशोक ने आजीवक संप्रदाय को दिया था। इस समाज में वहाँ तीन लेख भी उत्कीर्ण हैं।

(६) कुमार कुनाल

अशोक के समय में भी तक्षशिला में विद्रोह जारी रहे। इन विद्रोहों का उल्लेख दिव्यावदान में किया गया है। प्रतीत होता है, कि विशाल मागध साम्राज्य के उत्तरपश्चिमी प्रदेश में इतने समय बाद अभी तक पूर्णतया शांति स्थापित नहीं हुई थी। वहाँ के महामात्यों को शासन में अधिक कठोर उपायों का अवलंबन करना पड़ता था, और इसीलिये वहाँ विद्रोह भी बहुधा होते रहते थे। ऐसे एक विद्रोह को शांत करने के लिये अशोक ने अपने बड़े कुमार कुनाल को भेजा था, और उसे अपने प्रयत्न में पूर्ण सफलता भी हुई थी। विद्रोह को

शांत करने के बाद कुनाल तक्षशिला में प्रांतीय शासक के रूप में कार्य करता रहा। वहां वह बहुत लोकप्रिय था।

कुनाल अशोक का बड़ा पुत्र था। उसे वह बहुत प्रिय भी था। उसकी आंखें हिमालय के कुनाल पक्षी के समान सुंदर थीं, इसीलिये उसका नाम कुनाल पड़ा था। वह देखने में बहुत सुंदर तथा प्रकृति से अत्यंत सुकुमार था। उस का विवाह कांचनमाला नाम की परम सुंदरी युवती से हुआ था। कुनाल और कांचनमाला का गृहस्थ जीवन बड़ा सुखी और प्रेममय था। वृद्धावस्था में अशोक ने तिष्यरक्षिता से विवाह किया। वह उज्जैन के एक संपन्न श्रेष्ठी की कन्या थी और परम युवती होने के कारण सौंदर्य उसमें बहुत था। वृद्ध अशोक से उसे संतोष नहीं हुआ। युवक कुनाल पर वह मोहित थी। उसके सुन्दर रूप और आकर्षक आंखों ने युवती तिष्यरक्षिता को पागल कर दिया था। एक बार एकांत में तिष्यरक्षिता ने कुनाल के सामने अपना प्रेम प्रगट किया। पर अपनी विमाता के इसी प्रेम की कुनाल ने कोई परवाह नहीं की। वह उसे अपनी माता समझता था और माता के समान ही उससे व्यवहार करता था। धीरे-धीरे तिष्यरक्षिता का निराश प्रेम भयंकर द्वेष के रूप में परिवर्तित हो गया और उसने कुनाल से बदला लेने का निश्चय किया। कुनाल ने तिष्यरक्षिता के प्रेम को अस्वीकार कर उसका घोर अपमान किया था, अब वह उससे बदला लेने को कटिबद्ध हो गई थी।

एक बार अशोक बीमार पड़े। यद्यपि तिष्यरक्षिता अशोक से जरा भी प्रेम नहीं करती थी, पर इस बार उसने राजा की बड़ी सेवा की। अशोक पर उसने प्रगट किया कि वह उनसे सच्चा प्रेम रखती है। तिष्यरक्षिता की सेवा से अशोक स्वस्थ हो गये। बीमारी के समय अशोक की सारी चिकित्सा

और उपचार तिष्यरक्षिता के ही हाथ में था। राजा इससे बहुत प्रसन्न हुआ। प्रसन्न होकर उसने एक सप्ताह के लिये सारा राजकार्य और राजमुद्रा तिष्यरक्षिता के सुपुर्द कर दी। वह इसी अवसर की प्रतीक्षा में थी। उसने एक आज्ञालेख तैयार कराया और उस पर अशोक की राजमुद्रा लगा दी। यह आज्ञालेख तक्षशिला के महामात्यों के नाम था। उन्हें यह आज्ञा दी गई थी, कि कुनाल की आँखें निकाल ली जाँय। जब यह आज्ञापत्र तक्षशिला पहुँचा, तो वहाँ के अमात्यों को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे कुनाल के गुणों और सद्व्यवहार के कारण उससे बहुत प्रसन्न थे। उनका साहस नहीं हुआ, कि वे कुमार को इस आज्ञापत्र की खबर दें। पर तिष्यरक्षिता का भिजवाया हुआ यह आज्ञालेख अशोक की दंतमुद्रा से अंकित था। यह मुद्रा उन आज्ञाओं पर लगाई जाती थी, जिनका तुरंत पालन होना आवश्यक होता था। अतः यह आज्ञा भी कुनाल के सम्मुख पेश की गई। कुनाल ने स्वयं वधिकों को बुलाया और यह कह कर कि सम्राट् की आज्ञा का पालन होना ही चाहिये, अपनी आँखें अपने आप ही बाहर निकलवा दीं। दंतमुद्रा से अंकित राजाज्ञा में यह भी आदेश था, कि कुनाल को राजपद से च्युत कर दिया जाय। कुनाल ने इसका भी पालन किया, राजपद छोड़कर वह अपनी पत्नी काञ्चनमाला के साथ पाटली-पुत्र की ओर चल पड़ा।

जब राजा अशोक ने यह समाचार सुना, तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। तिष्यरक्षिता और उसके साथी षड्यंत्र-कारियों को अत्यंत कठोर दंड दिये गये। एक बौद्ध ग्रंथ में लिखा है, कि रानी तिष्यरक्षिता को जीते-जी आग में जलवा दिया गया। जिस जगह कुनाल ने स्वयं अपनी आँखें निकलवाई थीं, वहाँ अशोक ने एक विशाल स्तूप खड़ा कराया। कुनाल

का यह कार्य राजकीय दृष्टि से परम आदर्श था। 'राजाज्ञा का पालन होना ही चाहिये'—इस आदर्श के बिना कोई भी राज-संस्था व साम्राज्य कायम रह ही नहीं सकता। इस घटना की स्मृति में अशोक ने जो स्तूप बनाया था, वह अशोक के नौ सदी बाद उस समय भी मौजूद था, जब चीनी यात्री ह्युएन्त्सांग भारत-यात्रा के लिये आया था।

(१०) मंत्रिपरिषद् से विरोध

दान-पुण्य की धुन में कई बार राजा अशोक ऐसे कार्य कर जाते थे, जो एक सम्राट् के लिये कदापि उचित नहीं कहे जा सकते। ऐसे अवसरों पर मंत्रियों का उसके साथ विरोध हो जाता था। ऐसी एक मनोरंजक कथा हम यहाँ दिव्यावदान से उद्धृत करते हैं:—

जब राजा अशोक को बौद्ध धर्म में बड़ा प्रसाद हुई, तो उन्होंने भिक्षुओं से पूछा—'भगवान् के लिये सबसे अधिक दान किसने दिया है?'

भिक्षुओं ने उत्तर दिया—'गृहपति अनाथपिण्डक ने।'

'भगवान् के लिये उसने कितना धन दान दिया?'

'सौ करोड़।'

यह सुनकर राजा सोचने लगे, अनाथपिण्डक ने साधारण गृहपति होकर सौ करोड़ दान दिया है, तो मुझे भी इतना दान अवश्य करना ही चाहिये? उसने भिक्षुओं से कहा—'मैं भी भगवान् के नाम पर सौ करोड़ दान करूँगा।'

अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिये अशोक ने बहुत यत्न किया। हजारों स्तूप, विहार आदि बनवाये। लाखों भिक्षुओं को भोजन और आश्रय दिया। इस प्रकार धीरे-धीरे अशोक ने नब्बे करोड़ तो भगवान् के नाम पर भिक्षुओं, विहारों

और संघ को दान कर दिया। पर दस करोड़ अभी और शेष बच गया। राजा इसे सरलता से नहीं दे सका। इस कारण इसे बहुत कष्ट हुआ। राजा को शोकातुर होते देख प्रधानामात्य राधागुप्त ने, जिसने कि दान में अशोक की बड़ी सहायता की थी, पूछा—'प्रबल शत्रुसंघ चारों तरफ से घेर कर भी जिस चंड सूर्य के समान दीप्यमान मुख को देख न सके, जिसकी शोभा के सन्मुख सैकड़ों कमल भी लजाते हैं, हे देव! तुम्हारा वह मुख आज म्लान क्यों है?'

राजा ने कहा—राधागुप्त! न मुझे धन के विनाश की चिंता है, न राज्य के नाश का ख्याल है, और न किसी आश्रय से मेरा वियोग हुआ है। मुझे शोक केवल इस बात का है, कि पूज्य भिक्षुओं से मुझे बिछुड़ना पड़ रहा है। मैंने प्रतिज्ञा की थी कि भगवान बुद्ध के कार्य में सौ करोड़ दान करूंगा, पर मेरा यह मनोरथ पूरा नहीं हुआ।

इसके बाद राजा अशोक ने अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिये राज्यकोष से शेष दस करोड़ धन देकर अपनी प्रतिज्ञा-पूर्ति का विचार किया। परंतु इस कार्य में भी उसे सफलता नहीं मिली। उस समय कुनाल का पुत्र (अशोक का पौत्र) संप्रति युवराज था। उससे अमात्यों ने कहा—'कुमार! राजा अशोक को सदा थोड़े ही रहना है। उसकी थोड़ी ही आयु शेष है। यह द्रव्य कुर्कुटाराम नामक विहार को भेजा जा रहा है। राजाओं की शक्ति कोष पर ही आश्रित है। इसलिये मना कर दो।' कुमार ने भाण्डागारिक को राजकोष में से दान देने से इनकार कर दिया।

पहले राजा अशोक सुवर्णपात्र में रख कर भिक्षुओं के लिये भोजन भेजा करता था। पर वह भी मना कर दिया गया। फिर उसने चाँदी के बरतन में भोजन भेजना चाहा, पर भी

निषिद्ध कर दिया गया। फिर उसने लोहे के पात्र में भोजन भेजना चाहा, इसके लिये भी अनुमति नहीं मिली। अंत में उसने मिट्टी के बरतन में कुर्कुटाराम के भिक्षुओं के लिये भेजना चाहा पर उसके लिये भी उसे अनुमति नहीं दी गई। अब उसके पास केवल आधा आँवला ही बच गया था, जो उस समय उसके हाथ में मौजूद था। केवल उसी पर उसका अपना अधिकार था। अन्य किसी वस्तु का उपयोग वह अपनी इच्छानुसार नहीं कर सकता था।

संविग्न होकर अशोक ने अमात्यों और 'पौर' को बुलाकर पूछा—'इस समय राज्य का स्वामी कौन है?' यह प्रश्न सुनकर प्रधानामात्य ने उठ कर और यथोचित रीति से अशोक का अभिवादन करके उत्तर दिया—'देव! आप ही पृथिवी के स्वामी हैं।' यह सुन कर अशोक की आँखों में आँसू छूट पड़े। वह वस्तुस्थिति को जानता था। आँसुओं से अपने बदन को गीला करते हुए उसने कहा—'तुम केवल दाक्षिण्य (विनय) से झूट-मूठ क्यों कहते हो, कि स्वामी मैं हूँ। मैं तो राज्यभ्रष्ट हो गया हूँ। मेरे पास तो केवल आधा आँवला ही अपना बच गया है। ऐसे ऐश्वर्य को धिक्कार है।'

इसके बाद अशोक ने वह आधा आँवला ही कुर्कुटाराम के भिक्षुओं के पास यह कहला कर भेज दिया, कि 'जो संपूर्ण जंबूद्वीप का स्वामी था, आज वह केवल आधे आँवले का ही स्वामी रह गया है। मंत्रियों ने मेरे अधिकारों को छीन लिया है।'

इस घटना से भलीभाँति सूचित होता है, कि बौद्ध धर्म की सहायता करने की धुन में राजा अशोक ने राजकोष को भी छोड़ने का प्रयत्न किया था। मंत्रिपरिषद् इसे नहीं सह सकी।

उन्होंने अशोक के विरुद्ध युवराज को भड़का दिया और अशोक के राज्याधिकार छीन लिये।

बौद्ध धर्म को स्वीकार करने के कुछ वर्ष बाद तक तो अशोक ने अपने राजकार्य की उपेक्षा नहीं की। पहले वह केवल उपासक था। बौद्ध धर्म में साधारण गृहस्थ उपासक कहलाते थे, पर बाद में वह संघ में बाकायदा प्रविष्ट हो गया था। इस समय भिक्षुरूप में ही वह अपना जीवन व्यतीत करने लगा था। बौद्ध धर्म के उत्साह में उसने राजकार्य की उपेक्षा शुरू कर दी थी। इसीलिए मंत्रिपरिषद् ने उसको राज्याधिकार से च्युत कर दिया था। अपने एक शिलालेख में अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रति अपने उत्साह का इस प्रकार उल्लेख किया है—'देवताओं के प्रिय इस तरह कहते हैं। ढाई वर्ष से अधिक हुए कि मैं उपासक हुआ था, पर तब मैंने अधिक उद्योग नहीं किया। किंतु एक वर्ष से अधिक हुआ जब मैं संघ में आया हूँ, तब से मैंने अच्छा उद्योग किया है।' पर सम्राट् का इस प्रकार का उद्योग मंत्रिपरिषद् को पसंद नहीं था।

सातवाँ अध्याय

बौद्ध धर्म का विदेशों में प्रचार

(१) बौद्ध धर्म की तीसरी महासभा

भगवान् बुद्ध के जीवनकाल में उनके धर्म का प्रचार प्राच्य और मध्यदेशों में ही हुआ था। मगध, अंग, काशी, कोशल और वत्स देशों में ही बुद्ध ने अपने धर्म का स्वयं उपदेश किया था। ये सब प्रदेश इस समय में बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। बुद्ध के समय में और उनके बाद भिक्खु लोग अपने आचार्य की इस शिक्षा का पालन करते रहे कि 'हे भिक्षुओ ! अब तुम सब जाओ और बहुतों के कुशल के लिये, संसार की दया के निमित्त, देवताओं और मनुष्यों की भलाई, कल्याण, और कुशल के लिये भ्रमण करो। तुममें से कोई भी दो एक ही मार्ग से न जाओ। हे भिक्षुओ ! तुम उस सिद्धांत का प्रचार करो, जो आदि में उत्तम है, मध्य में उत्तम है और अंत में उत्तम है। संपन्न, पूर्ण और पवित्र जीवन का प्रचार करो।' बुद्ध के बाद दो सदियों तक बौद्ध धर्म का प्रचार उत्तरी भारत में सर्वत्र होता रहा। पर इसमें विशेष उन्नति नहीं हुई। कारण यह कि बुद्ध के निर्वाणपद को पाने के बाद से ही बौद्ध संघ में आंतरिक झगड़ों का सूत्रपात हो गया। भिक्षु लोग साधारण-साधारण बातों पर विवाद करने लगे। बुद्ध की शिक्षाओं की उनके शिष्यों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्या शुरू की। इन्हीं का ठीक समाधान करने के लिये बौद्धों की पहली महासभा बुद्ध की मृत्यु के बाद और दूसरी उनकी

१०० वर्ष बाद हुई। इन महासभाओं ने बौद्ध संघ की शक्ति को दृढ़ करने और आंतरिक मतभेदों को दूर करने में बड़ी सहायता दी।

पर अशोक के समय में बौद्ध धर्म का न केवल भारत में सर्वत्र, अपितु विदेशों में भी प्रचार हुआ। संपूर्ण मनुष्यजाति का एक तिहाई भाग अब भी बौद्ध धर्म का अनुयायी है। भारत में अब बौद्ध धर्म का प्रायः लोप हो चुका है, पर लंका, बरमा, तिब्बत, चीन, जापान आदि अनेक देशों में अब भी इस धर्म की प्रमुखता है। जैसे भारत में बौद्ध धर्म का लोप हो गया, वैसे ही अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, जावा, सुमात्रा, मलाया आदि अन्य बहुत देशों में भी अब इस धर्म का लोप हो चुका है। पर एक समय था, जब ये सब देश भी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। भूमंडल के इतने बड़े भाग में जो बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ, उसके उद्योग का प्रारंभ अशोक के समय में ही हुआ था। वह सारा उद्योग पाटलीपुत्र में प्रारंभ हुआ। पाटलीपुत्र की राजनीतिक महत्ता जैसे मागध साम्राज्य द्वारा बढ़ी, वैसे ही इस नगरी की संस्कृति और धर्म के क्षेत्र में प्रमुखता बौद्ध शासन (धर्म) के विस्तार से बढ़ी।

बौद्ध धर्म के विदेशों में विस्तार का सारा आयोजन बौद्ध धर्म की तीसरी महासभा द्वारा किया गया था। यह महासभा बौद्ध धर्म और पाटलीपुत्र के इतिहास में बड़ा महत्त्व रखती है। इससे पूर्व बौद्ध संघ में बहुत कुछ शिथिलता आ चुकी थी। भिक्षु लोग आपस के विवाद में व्यापृत रहते थे। जिस भिक्षु को जो कुछ समझ में आता, जो कुछ अभीष्ट होता, वही बुद्ध के नाम से कह देता था। भगवान बुद्ध की शिक्षाओं को तरोड़-मरोड़ कर मनमानी व्याख्या की जाने लगी थी। धर्म में अनेक संप्रदाय उत्पन्न हो गये थे, जिनकी संख्या महावंश के अनुसार

अठारह थीं। इन संप्रदायों के आंतरिक मतभेदों के अतिरिक्त भिक्षु के झगड़े इस हद तक बढ़ गये थे, कि साधारण उपासना तक भी बंद हो गई थी। सात वर्ष तक निरंतर 'उपोसथ' भी नहीं हो पाया था। इस अवस्था में सम्राट् अशोक की संरक्षा में बौद्धों की तीसरी महासभा का आयोजन पाटलीपुत्र के प्रसिद्ध विहार 'अशोकाराम' में किया गया। इसका अध्यक्ष अशोक का धर्मगुरु स्थविर उपगुप्त बना। लंका की बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार इस आचार्य का नाम मोद्गलिपुत्र तिष्य था। संभवतः उपगुप्त और तिष्य एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं।

एक प्राचीन ग्रंथ के अनुसार सम्राट् अशोक ने सम्पूर्ण बौद्ध भिक्षुओं को एकत्र करने के लिये दो दूतों को नियत किया। वे सब जगह गये और भिक्षुओं को एकत्र कर लाये। सात दिन के बाद सब भिक्षु इकट्ठे हो गये। सातवें दिन अशोक अपने बनवाये हुए अशोकाराम में गया, जहाँ सब भिक्षु एकत्र थे। तब अशोक अपने गुरु आचार्य तिष्य के साथ सभामंडप के मध्य में विराजमान हुआ। वहाँ पहले मिथ्या दृष्टि वाले भिक्षुओं को एक-एक करके बुलाया गया और उनसे भगवान बुद्ध के धर्म के संबंध में प्रश्न किये गये। उन्होंने अपने अपने विचार के अनुसार धर्म के सिद्धांतों की व्याख्या की। इस पर इन सब मिथ्या दृष्टि वाले भिक्षुओं को बहिष्कृत कर दिया गया। जो भिक्षु इस तरह निकाले गये, उनकी संख्या साठ हजार थी। "अब धार्मिक भिक्षुओं को बुलाया गया। उनसे पूछा गया कि भगवान बुद्ध की शिक्षायें क्या थीं? उन्होंने उत्तर दिया—भगवान बुद्ध की शिक्षायें 'विभज्जवादी' हैं। धार्मिक भिक्षुओं के इस मंतव्य से आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य ने सहमति प्रगट की। इस पर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। पाप-

भिक्षु बहिष्कृत हो गये, और संघ शुद्ध हो गया। सात वर्ष के बाद फिर 'उपोसथ' किया जा सका।

पर तृतीय महासभा की समाप्ति यहीं पर नहीं हो गई। आचार्य तिष्य ने एक हजार ऐसे भिक्षुओं को चुन लिया, जो परम विद्वान और अनुभवी थे। इन एक हजार भिक्षुओं की सभा आचार्य तिष्य की अध्यक्षता में नौ मास तक होती रही। धर्मसंबंधी सब विवादग्रस्त विषयों पर इसमें विचार हुआ। अंत में मोद्गलिपुत्र तिष्य का रचा हुआ कथावत्थु नाम का ग्रंथ प्रमाणरूप से सबने स्वीकार किया। इस तरह, अशोक के राज्याभिषेक के सत्रह साल बाद, ७२ वर्ष के वृद्ध महाविद्वान धर्माचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य (या उपगुप्त) ने बौद्धधर्म की तृतीय महासभा की समाप्ति की। साथ ही पृथ्वी कांप कर कह उठी, 'साधु'।

बौद्ध धर्म के आंतरिक झगड़ों के समाप्त हो जाने और संघ में एकता स्थापित हो जाने पर आचार्य तिष्य ने देश-विदेश में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये एक महान योजना तैयार की। इसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि भिक्षुओं की मण्डलियाँ विविध देशों में उपदेश के लिये भेजी जांय। लंका की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार इन मण्डलियों के नेताओं और उनको समर्पित देशों की सूची इस प्रकार है—

देश	प्रधान भिक्षु
काश्मीर और गांधार	मज्झंतिक
महिष मण्डल	महादेव
वनवास	थेर रक्खित
अपरांतक	योनक धम्म रक्खित
महाराष्ट्र	महाधम्म रक्खित
योन लोक	महारक्खित

हिमवंत	थेर मज्झिम और कस्सप
सुवर्णभूमि	थेर सोण और उत्तर
लंका	महामहिन्द्र

आचार्य तिष्य की योजना के अनुसार ये भिक्षु विविध देशों में गये और वहां बौद्ध धर्म का प्रचारकार्य प्रारंभ किया। भारत के पुराने राजा चातुर्मास के बाद शरद् ऋतु के प्रारंभ में विजय-यात्रा के लिये जाया करते थे। इन भिक्षुओं ने भी शरद् के शुरू में अपना प्रचारकार्य प्रारंभ किया।

बौद्ध अनुश्रुति में प्रचारमण्डलों के जिन नेताओं के नाम दिये गये हैं, उनके अस्तित्व की सूचना कुछ प्राचीन उत्कीर्ण लेखों द्वारा भी होती है। सांची के दूसरे स्तूप के भीतर से पाये गये पत्थर के संदूक में एक धातुमंजूषा (वह संदूकड़ी जिसमें अस्थि के फूल रखे गये हों) ऐसी मिली है, जिस पर 'मोग्गलिपुत्त' उत्कीर्ण है। एक दूसरी धातुमंजूषा के तले पर तथा ढक्कन के ऊपर और अंदर हारितीपुत्त, मज्झिम तथा सब हेमवताचारिय (संपूर्ण हिमालय के आचार्य) कासपगोत्र के नाम खुदे हैं। इन मंजूषाओं में इन्हीं प्रचारकों के धातु (फूल) रखे गये थे, और यह स्तूप इन्हीं के ऊपर बनाया गया था। सांची से पांच मील की दूरी पर एक अन्य स्तूप में भी धातुमंजूषायें पाई गई हैं, जिनमें से एक पर कासपगोत्र का और दूसरी पर हिमालय के दुंदुभिसर के दायाद गोतीपुत्त का नाम उत्कीर्ण है। कासपगोत्र और दुंदुभिसर थेर मज्झिम के साथी थे, जो हिमालय के प्रदेश में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये गये थे। स्तूपों से प्राप्त ये धातुमंजूषायें इस बात का ठोस प्रमाण हैं, कि बौद्ध अनुश्रुति की प्रचारमण्डलियों की बात यथार्थ सत्य है। बौद्ध धर्म का विदेशों में प्रसार करने के लिये इन भिक्खुओं का भी बड़ा आदर हुआ और इनकी धातुओं पर भी वैसे ही

स्तूप खड़े किये गये, जैसे कि भगवान् बुद्ध के अवशेषों पर। इस युग में सर्वसाधारण लोग इन महाप्रतापी व साहसी भिक्खु प्रचारकों को कितने आदर की दृष्टि से देखते थे, इसका इससे सुन्दर प्रमाण नहीं मिल सकता। अशोक के समय में पाटलीपुत्र में हुई इस महासभा और आचार्य मोग्गलिपुत्त तिष्य (उपगुप्त) के पुरुषार्थ का ही यह परिणाम हुआ, कि बौद्धधर्म भारत से बहुत दूर-दूर तक के देशों में फैल गया।

(२) लङ्का में प्रचार

जो प्रचारक-मंडल लङ्का में कार्य करने के लिये गया, उसका नेता महेन्द्र था। वह सम्राट् अशोक का पुत्र था। उसके साथ कम से कम चार भिक्षु और थे। महेन्द्र की माता का नाम धर्मविमित्रा था। वह विदिशा के एक श्रेष्ठी की कन्या थी। राजा बिन्दुसार के शासनकाल में जब अशोक उज्जैनी का शासक था, उसका विवाह धर्मविमित्रा के साथ में हुआ था। इस विवाह से अशोक को दो संतान हुई, महेन्द्र और संघमित्रा। कुमारी संघमित्रा महेन्द्र से आयु में दो साल कम थी। अशोक के धर्मगुरु आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य ने महेन्द्र और संघमित्रा, दोनों को भिक्षुव्रत में दीक्षित किया। भिक्षु बनते समय महेन्द्र की आयु बीस साल की थी।

इस समय में लङ्का का राजा 'देवताओं का प्रिय' तिष्य था। उसकी अशोक से बड़ी मित्रता थी। राजगद्दी पर बैठने पर तिष्य ने अपना एक दूतमंडल अशोक के पास भेजा, जो बहुत से मणि, रत्न आदि मागध सम्राट् की सेवा में भेंट करने के लिये लाया। इस दूतमंडल का नेता राजा तिष्य का भानजा महाअरिट्ठ था। लङ्का का दूतमण्डल सात दिन में जहाज द्वारा ताम्रलिप्ति के बंदरगाह पर पहुँचा और उसके बाद सात

दिन में पाटलीपुत्र आया। अशोक ने इस दूतमण्डल का राज-
कीय रीति से बड़े समारोह के साथ स्वागत किया। पांच मास
तक लङ्का का दूतमण्डल पाटलीपुत्र में रहा। इसके बाद जिस
मार्ग से वह आया था, उसी से लङ्का वापस चला गया। दूत-
मण्डल को विदा करते हुए अशोक ने तिष्य के नाम पर संदेश
भेजा—"मैं बुद्ध की शरण में चला गया हूं। मैं धम्म की शरण
में चला गया हूं। मैं संघ की शरण में चला गया हूं। मैंने
शाक्यमुनि के धर्म का उपासक होने का व्रत ले लिया है। तुम
भी इसी बुद्ध, धर्म और संघ के त्रिपाद का आश्रय लेने के लिये
अपने मन को तैयार करो। जिन के उत्तम धर्म का आश्रय
लो। गुरु बुद्ध की शरण में आने का निश्चय करो।"

इधर तो अशोक का यह संदेश लेकर महाअरिट्ठ लङ्का
वापस आ रहा था, उधर आचार्य उपगुप्त के आदेशानुसार भिक्षु
महेन्द्र लङ्का में धर्मप्रचार के लिये अपने साथियों के साथ
जाने को कटिबद्ध था। महेन्द्र ने अशोक की अनुमति से लङ्का
जाने से पूर्व अपनी माता तथा अन्य संबंधियों से मिलने का
विचार किया। इस कार्य में उसे छः मास लग गये। महेन्द्र की
माता देवी असंधिमित्रा उन दिनों विदिशा में रहती थी। वह
अपने पुत्र से मिलकर बड़ी प्रसन्न हुई। महेन्द्र विदिशा में
अपनी माता के बनवाये हुए विहार में ही ठहरा। सम्भवतः,
यह सांची के बड़े स्तूप के साथ का ही विहार था, जिसे रानी
असंधिमित्रा ने बनवाया था। विदिशा में रहते हुए भी महेन्द्र
धर्मप्रचार के कार्य में संलग्न रहा। वहाँ उसने माता के भतीजे
के पुत्र भण्डु को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया।

विदिशा से महेन्द्र सीधा लङ्का गया। अनुराधपुर के आठ
मील पूर्व जिस जगह वह उतरा, उसका नाम महिन्दतल पड़
गया। अब भी वह मिहिन्तले कहलाता है। अशोक के संदेश के

कारण देवताओं का प्रिय राजा तिष्य पहले ही बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग रखता था। अब उसने महेन्द्र और उसके साथियों का समारोह के साथ स्वागत किया। महेन्द्र का उपदेश सुनकर अपने चालीस हजार साथियों के साथ राजा तिष्य ने बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया। राजकुमारी अनुला ने भी अपनी ५०० सहचारियों के साथ बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की इच्छा प्रगट की, पर उसे निराश होना पड़ा। उसे बताया गया कि भिक्षुओं को यह अधिकार नहीं है कि स्त्रियों को दीक्षा दे सकें। स्त्रियों को दीक्षा भिक्खुनी ही दे सकती है। इस पर राजा तिष्य ने महा-अरिट्ठ के नेतृत्व में फिर एक प्रतिनिधि-मण्डल पाटलीपुत्र भेजा। इसे दो कार्य सुपुर्द किये गये थे। पहला यह कि संघमित्रा (महेन्द्र की बहन) को लङ्का आने के लिये निमन्त्रण दे, ताकि कुमारी अनुला व लङ्कावासिनी अन्य महिलायें बौद्ध धर्म की दीक्षा ले सकें। दूसरा यह कि बोधिवृक्ष की एक शाखा को लङ्का ले जाये, ताकि वहाँ उसका आरोपण किया जा सके। यद्यपि अशोक अपनी प्रिय पुत्री से विदा नहीं होना चाहता था, पर बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये उसने संघमित्रा को लङ्का जाने की अनुमति दे दी। बोधिवृक्ष की शाखा को भेजने का उपक्रम बड़े समारोह के साथ किया गया। बड़े अनुष्ठानों के साथ सुवर्ण के कुठार से बोधिवृक्ष की एक शाखा काटी गई। उसे बड़े यत्न से लङ्का तक सुरक्षित पहुँचाने का आयोजन किया गया। इस शाखा के लङ्का तक पहुँचने का वर्णन बड़ी सुन्दरता से बौद्ध ग्रंथों में किया गया है। वहाँ उसका स्वागत करने के लिये पहले से ही सब तैयारी हो चुकी थी। बड़े सम्मान के साथ लङ्का में बोधि-वृक्ष का आरोपण किया गया। अनुराधपुर के महाविहार में यह विशाल वृक्ष अब तक भी विद्यमान है और संसार के सबसे पुराने वृक्षों में से यह एक है।

राजा तिष्य ने संघमित्रा के निवास के लिये एक भिक्षुणी-विहार बनवा दिया। वहाँ राजकुमारी अनुला ने अपनी ५०० सहेलियों के साथ भिक्षुणीव्रत की दीक्षा ली। संघमित्रा की मृत्यु लङ्का में ही हुई। २० वर्ष की आयु में वह भिक्षुणी बनी थी। ५९ वर्ष तक भिक्षुणीव्रत का पालन कर ७९ वर्ष की आयु में लङ्का में उसकी मृत्यु हुई। अब तक राजा तिष्य की भी मृत्यु हो चुकी थी। उसका उत्तराधिकारी राजा उत्तिय था। महेन्द्र की भी मृत्यु लङ्का में ही ८० वर्ष की आयु में ही हुई। लङ्का में बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रधान श्रेय महेन्द्र और संघमित्रा को ही है। समयांतर में सब लङ्कावासी बौद्ध धर्म के अनुयायी हो गये।

(३) दक्षिणी भारत में बौद्ध धर्म

आचार्य उपगुप्त (मोद्गलिपुत्र तिष्य) की योजना के अनुसार जो विविध प्रचारक मण्डल विभिन्न देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये गये थे, उनमें से चार को दक्षिणी भारत में भेजा गया था। अशोक से पूर्व बौद्ध धर्मका प्रचार मुख्यतया विन्ध्याचल के उत्तर में, उत्तरी भारत में ही था। लङ्का के समान दक्षिणी भारत में भी अशोक के समय में ही पहले-पहल बुद्ध के अष्टांगिक आर्यमार्ग का प्रचार हुआ। अशोक ने अपनी धर्मविजय की नीति का अनुसरण करते हुए चोड, पांड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी के पड़ोसी राज्यों में जहाँ अंतमहामात्र नियत किये, वे वहाँ अपने साम्राज्य में भी रठिक पेतणिक, आंध्र और पुलिंद प्रदेशों में धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की थी। ये सब प्रदेश दक्षिणी भारत में ही थे। अशोक द्वारा नियुक्त धर्ममहामात्रों और अन्त-महामात्रों के अतिरिक्त, अब आचार्य उपगुप्त के चार प्रचारक

मण्डल भी वहाँ गये। इनमें से भिक्षु महादेव महिशमण्डल गया। यह उस प्रदेश को सूचित करता है, जहाँ अब मैसूर रियासत है। वनवास उत्तरी कर्णाटक का पुराना नाम है। वहाँ आचार्य रक्खित धर्मप्रचार के लिये गया। अपरांत का अभिप्राय कोंकण से है, वहाँ का कार्य योनक धम्म रक्खित के सुपुर्द किया गया था। संभवतः, यह आचार्य यवन देश का निवासी था, इसीलिये इसे योनक कहा गया है। महारट्ठ (महाराष्ट्र) में कार्य करने के लिये थेर महाधम्म रक्खित की नियुक्ति हुई थी। दक्षिणी भारत में बौद्ध प्रचारकों के कार्य का वर्णन लङ्का के बौद्ध ग्रंथ महावंश में इस प्रकार किया गया है—

'आचार्य रक्खित वनवास देश में आकाश मार्ग से उड़ कर गया। वहाँ उसने जनता के बीच में 'अनमतग्ग' का प्रचार किया। साठ सहस्र मनुष्य बौद्ध धर्म के अनुयायी हुए। सैंतीस हजार मनुष्यों ने भिक्षु बनना स्वीकार किया। इस आचार्य ने वनवास देश में पाँच सौ विहारों का निर्माण कराया और बौद्ध धर्म की भलीभाँति स्थापना की।

'थेर योनक धम्म रक्खित अपरान्तक देश में गया। वहाँ जाकर उसने 'अग्गिक्खन्धोपमसुत्त' का उपदेश किया। यह आचार्य धर्म और अधर्म के भेद को खूब अच्छी तरह समझता था। इसका उपदेश सुनने के लिये सैंतीस हजार मनुष्य एकत्र हुए। इनमें से एक हजार पुरुष और इससे भी अधिक स्त्रियाँ जो कि विशुद्ध क्षत्रिय जाति की थीं, भिक्षुसंघ में प्रविष्ट होने के लिये तैयार हो गईं।

'थेर महाधम्म रक्खित महाराष्ट्र में प्रचार के लिये गया। यहाँ उसने 'महानारदकस्सपक जातक' का उपदेश किया। चौरासी हजार मनुष्यों ने सत्य बौद्ध मार्ग का अनुसरण किया और तेरह हजार ने भिक्खुव्रत की दीक्षा ली।

'आचार्य महादेव बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये महिश मण्डल में गया। वहाँ उसने 'देवदूत सुत्तन्त' का उपदेश किया। परिणाम यह हुआ कि चालीस हजार मनुष्यों ने प्रव्रज्या लेकर भिक्षुओं के पीतवस्त्रों को धारण किया।'

आन्ध्र देश में और पाण्ड्य आदि तामिल राज्यों में आचार्य उपगुप्त ने किस को कार्य दिया था, यह बौद्ध अनुश्रुति हमें नहीं बताती। पर प्रतीत होता है, कि सुदूर दक्षिण के इन प्रदेशों में महेन्द्र और उसके साथियों ने ही कार्य किया था। सातवीं सदी में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युनत्सांग जब भारत की यात्रा करते हुए दक्षिण में गया, तो उसने द्रविड़ देश में महेन्द्र के नाम का एक विहार देखा था। यह विहार सम्भवतः, महेन्द्र द्वारा दक्षिण भारत में किये गये प्रचारकार्य की स्मृति में ही बनवाया गया था।

(४) खोतान में कुमार कुस्तन

पुराने समय में खोतान भारत का ही एक समृद्ध उपनिवेश था। वहाँ बौद्ध धर्म, भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार था। पिछले दिनों में तुर्किस्तान और विशेषतया खोतान में जो खुदाई हुई है, उस से इस प्रदेश में बौद्ध मूर्तियों, स्तूपों तथा विहारों के अवशेष प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। संस्कृत के लेख भी इस प्रदेश से मिले हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि किसी समय यह सारा इलाका बृहत्तर भारत का ही अंश था। पांचवीं सदी में चीनी यात्री फाइयान और सातवीं सदी में ह्युनत्सांग ने इस प्रदेश की यात्रा की थी। उनके वर्णनों से सूचित होता है कि उस प्राचीन युग में सारा खोतान बौद्ध धर्म का अनुयायी था। सारा देश बौद्ध विहारों और स्तूपों से भरा हुआ था, और वहाँ के अनेक नगर बौद्ध शिक्षा और सभ्यता के केन्द्र थे।

खोतान में बौद्ध धर्म और भारतीय सभ्यता का प्रवेश

राजा अशोक के समय में ही हुआ। इसका वर्णन कुछ तिब्बती ग्रन्थों में उल्लिखित है। संभवतः ये तिब्बती ग्रन्थ खोतान की प्राचीन अनुश्रुति के आधार पर ही लिखे गये हैं। हम यहाँ बहुत संक्षेप से इस कथा को लिखते हैं—

राज्याभिषेक के तीस साल बाद राजा अशोक के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्योतिषियों ने बताया कि इस बालक में प्रभुता के अनेक चिन्ह विद्यमान हैं, और यह पिता के जीवनकाल में ही राजा बन जायगा। यह सुनकर अशोक को बड़ी चिन्ता हुई। उसने आज्ञा दी कि बालक का परित्याग कर दिया जाय। परित्याग करने के बाद श्री भूमि माता द्वारा बालक का पालन होता रहा। इसी लिये उसका नाम कुस्तन (कु = भूमि है स्तन जिसकी) पड़ गया।

उस समय चीन के एक प्रदेश में बोधिसत्त्व का राज्य था। उसके ९९९ पुत्र थे। इस पर बोधिसत्त्व ने वैश्रवण से प्रार्थना की कि उसके एक पुत्र और हो जाय, ताकि संख्या पूरी १००० हो जाय। वैश्रवण ने देखा कुस्तन का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। वह उसे चीन ले गया और बोधिसत्त्व के पुत्रों में सम्मिलित कर दिया। बोधिसत्त्व ने पुत्रवत् उसका पालन किया। एक दिन जब कुस्तन का बोधिसत्त्व के अन्य पुत्रों के साथ झगड़ा हो रहा था, तो उन्होंने उससे कहा—'तू सम्राट् का पुत्र नहीं है। यह जानकर कुस्तन को बड़ा कष्ट हुआ। इस बात की सचाई का निश्चय करके उसने राजा से अपने देश का पता लगाने और वहाँ जाने की अनुमति माँगी। इस पर राजा ने कहा—तू मेरा ही पुत्र है। यह तो अपना देश है। तुझे दुःखी नहीं होना चाहिये। पर कुस्तन को इससे भी संतोष नहीं हुआ। कुस्तन ने पूरा इरादा कर लिया था, कि उसका अपना पृथक् राज्य हो। अतः उसने अपने दस हजार साथियों को एकत्र किया और

पश्चिम की तरफ चल पड़ा। इस तरह चलते-चलते वह खोतान के गोस्तन नामक स्थान पर आ पहुँचा।

सम्राट् अशोक के एक मंत्री का नाम यश था। वह बहुत प्रभावशाली होता जाता था। धीरे-धीरे वह राजा की आँखों में खटकने लगा। यश को जब यह बात मालूम हुई, तो उसने भी यही निश्चय किया कि भारत छोड़ कर, अपने लिये देश ढूंढ ले। उसने अपने सात हजार साथियों के साथ भारत छोड़कर सुदूर पश्चिम में नये प्रदेशों का अनुसंधान प्रारंभ किया। इस प्रकार वह खोतान में उथेन नदी के दक्षिण तट पर आ पहुँचा।

अब ऐसा हुआ, कि कुस्तन के अनुयायियों में से दो व्यापारी घूमते फिरते तो-ला नाम के प्रदेश में आये। यह प्रदेश उस समय बिलकुल गैर-आबाद था। इसकी रमणीयता को देखकर उन्होंने विचार किया कि यह प्रदेश कुमार कुस्तन के द्वारा आबाद किये जाने के योग्य है। इसके बाद में मंत्री यश को कुस्तन के बारे में पता लगा। तो उसने यह संदेश उसके पास भेजा—तुम राजघराने के हो और मैं भी कुलीन घराने का हूँ। अच्छा हो कि हम परस्पर मिल जाँय और इस उथेन प्रदेश में मिलकर बस जाँय। तुम राजा बनो और मैं तुम्हारा मंत्री। यह विचार कुस्तन को बहुत पसंद आया। कुस्तन ने अपने चीनी अनुयायियों के साथ और यश ने अपने भारतीय साथियों के साथ परस्पर सहयोग से इस प्रदेश को आबाद किया। इसीलिये तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार "खोतान देश आधा चीनी है, और आधा भारतीय। लोगों की भाषा न तो पूरी तरह भारतीय ही है और न चीनी। यह दोनों का सम्मिश्रण है। अक्षर बहुत कुछ भारतीय लिपि से मिलते-जुलते हैं। लोगों की आदतें चीन से बहुत कुछ मिलती हैं।

धर्म और भाषा भारत से मिली हैं। खोतान में वर्तमान भाषा का प्रवेश आर्यों (बौद्ध प्रचारकों) द्वारा हुआ है।" जिस समय कुस्तन बोधिसत्त्व को छोड़कर नये राज्य के अन्वेषण के लिये जाता था, उसकी आयु केवल बारह साल की थी। जब उसने खोतान में अपने राज्य की स्थापना की, तो वह १९ साल का हो चुका था। ज्योतिषियों की यह भविष्यवाणी सत्य हुई, कि कुमार कुस्तन अशोक के जीवनकाल में ही राजा बनेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस प्राचीन तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार खोतान के प्रदेश में राजा अशोक के समय में भारतीयों ने अपना उपनिवेश बसाया, जिसमें चीनी लोगों का सहयोग भी प्राप्त था, और इसी समय में सुदूरवर्ती प्रदेश में भारतीय सभ्यता और धर्म का प्रवेश हुआ। तिब्बती अनुश्रुति की प्रत्येक बात पर विश्वास करने की हमें आवश्यकता नहीं है। पर इसमें संदेह नहीं कि अशोक के समय में खोतान में भारतीयों ने अपना उपनिवेश बसाया और वहां अपने धर्म, भाषा व सभ्यता का प्रवेश कराया। इस कार्य का श्रेय कुस्तन और यश को है।

(५) हिमवंत प्रदेशों में प्रचार

हिमालय के क्षेत्र में आचार्य मज्झिम को प्रचार कार्य करने के लिये नियत किया गया था। महावंश में केवल उसी का नाम इस प्रदेश में प्रचार करने वाले भिक्खु के रूप में दिया गया है। पर उसकी टीका में उसके चार साथियों के भी नाम दिये हैं। ये साथी निम्नलिखित थे, कस्सपगोत्त, दुंदुभिस्सर, सहदेव और मूलकदेव। हम ऊपर लिख चुके हैं, कि सांची के समीप उपलब्ध हुई धातुमंजूषाओं पर हिमवन्ताचार्य के रूप में मज्झिम,

कस्सप और दुन्दुभिस्सर के नाम उत्कीर्ण मिले हैं। हिमालय के संपूर्ण प्रदेश में अशोक के समय में बौद्ध धर्म का खूब प्रचार हुआ। महावंश के अनुसार बहुत से गांधर्व, यक्ष और कुम्भण्डकों ने बौद्ध धर्म को स्वीकृत किया। एक यक्ष ने, जिसका नाम पञ्चक था अपनी पत्नी हारीत के साथ धर्म के प्रथम फल की प्राप्ति की और अपने ५०० पुत्रों को यह उपदेश दिया, जैसे तुम अब तक क्रोध करते आये हो, वैसे अब भविष्य में न करो, क्योंकि सब प्राणी सुख की कामना करने वाले हैं, अतः अब कभी किसी प्राणी का घात मत करो। जीवमात्र का कल्याण करो। सब मनुष्य सुख के साथ रहें। पञ्चक से यह उपदेश पाकर उसके पुत्रों ने भी इसी का आचरण किया। तदनंतर नागराजा ने मज्झन्तिक को रत्नजटित आसन पर बिठाया और स्वयं खड़ा होकर पंखा झलने लगा। उस दिन काश्मीर और गांधार के कुछ निवासी नागराजा को विविध उपहार अर्पण करने के लिये आये हुए थे। जब उन्होंने थेर की अलौकिक शक्तियों और प्रभाव के विषय में सुना, तो वे भी उसके समीप आये और अभिवादन करके खड़े रह गये। थेर ने उन्हें 'आसीविसोपम धम्म' का उपदेश दिया। इस पर अस्सी हज़ार मनुष्यों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया और एक लाख मनुष्यों ने थेर द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण की। तब से लेकर आज तक काश्मीर और गांधार के मनुष्य बौद्ध धर्म के तीनों पदार्थों (बुद्ध, संघ और धम्म) के प्रति पूर्ण भक्ति रखते हैं और भिक्षुओं के पीत-वस्त्रों को धारण करते हैं।"

काश्मीर और गांधार में आचार्य मज्झन्तिक पृथक् रूप से भी कार्य कर रहा था। उसके कार्य का भी महावंश में बड़े विस्तार के साथ वर्णन है। पर प्रतीत होता है, कि हिमवताचार्य थेर मज्झिम ने भी उसके कार्य में सहायता की। अभि-

प्राय यह कि हिमवंत प्रदेश के समान काश्मीर और गांधार में भी बौद्ध धर्म का अशोक के युग में प्रचार हुआ।

हिमवंत प्रदेश में नेपाल की पुरानी राजधानी पाटन या ललित पत्तन राजा अशोक ने ही बसाई थी। यह काठमांडू से २½ मील की दूरी पर स्थित थी। पाटन के मध्य व चारों तरफ अशोक ने बहुत से स्तूप बनवाये थे, जिनमें से पाँच अब तक विद्यमान हैं। अशोक की पुत्री चारुमती नेपाल जाकर बस गई थी। उसने अपने पति देवपाल के नाम से वहाँ देवपत्तन नाम की नगरी भी बसाई थी। इसी के समीप एक विशाल बौद्ध विहार का भी निर्माण कराया था, जिसके अवशेष पशुपतिनाथ के मंदिर के उत्तर में अब तक विद्यमान हैं।

काश्मीर में भी अशोक के समय में बहुत से स्तूप और विहारों का निर्माण हुआ। कल्हणकृत राजतरङ्गिणी के अनुसार काश्मीर की राजधानी श्रीनगरी को अशोक ने ही बसाया था। 'श्रीविजयेश के टूटे-फूटे किले को हटा कर उसके स्थान पर इस राजा ने सब दोषों से रहित विशुद्ध पत्थरों का एक विशाल किला बनवाया, और समीप ही एक कमल बनवाया, जिसका नाम अशोकेश्वर रखा गया। अशोक ने जेहलम के सारे तट को स्तूपों द्वारा आच्छादित कर दिया था।'

हिमालय के प्रदेशों में गांधर्व, यक्ष आदि जिन जातियों को बौद्ध धर्म में दीक्षित करने का उल्लेख किया गया है, वे सब वहाँ के मूल निवासियों के नाम हैं। ये कोई लोकोत्तर व दैवी सत्तायें नहीं हैं।

(६) यवन देशों में प्रचार

भारत के पश्चिम में एंटियोक आदि जिन यवन राजाओं के राज्य थे, उनमें भी अशोक ने अपनी धर्मविजय की स्था-

पना का उद्योग किया था। अंत महामात्र इन सब देशों में चिकित्सालय, धर्मशाला, कूप, प्याऊ, आदि बनवा कर भारत और उसके धर्म के लिये विशेष आदर का भाव उत्पन्न कर रहे थे। इस दशा में जब आचार्य महारक्षित अपने प्रचारक मंडल के साथ वहां कार्य करने के लिये गया, तो उसने अपने लिये मैदान तैयार पाया। इस प्रसंग में महावंश ने लिखा है, कि 'आचार्य महारक्षित योन देश में गया। वहां उसने 'काल-काराम सुत्त' का उपदेश किया। एक लाख सत्तर हजार मनुष्यों ने बुद्धमार्ग के फल को प्राप्त किया और दस हजार स्त्री-पुरुष भिक्षु बने।' इसमें संदेह नहीं, कि अशोक के बाद बहुत समय तक इन पश्चिमी यवन देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार रहा। मिश्र के यूनानी राजा टालमी (तुरमय) ने अलेक्जेंड्रिया के प्रसिद्ध पुस्तकालय में भारतीय ग्रंथों के भी अनुवाद की व्यवस्था की थी। जब पैलेस्टाइन में अशोक से लगभग ढाई सौ वर्ष बाद महात्मा ईसा का प्रादुर्भाव हुआ, तो इस पश्चिमी दुनिया में ईसीन तथा थेराप्यूत नाम के विरक्त लोग रहते थे। ये लोग पूर्व की तरफ से पैलेस्टाइन और ईजिप्ट में आकर बसे थे और धर्मोपदेश के साथ-साथ चिकित्सा का कार्य भी करते थे। ईसा की शिक्षाओं पर इनका बड़ा प्रभाव था, और स्वयं ईसा इनके सत्संग में रहा था। संभवतः, ये लोग आचार्य महारक्षित के ही उत्तराधिकारी थे, जो ईसा के प्रादुर्भाव के समय में इन विदेशी यवन राज्यों में बौद्ध भिक्षुओं (थेरों) का जीवन व्यतीत करते थे। बाद में ईसाई धर्म और इस्लाम के प्रभाव के कारण इन पश्चिमी देशों से बौद्ध धर्म का सर्वथा लोप हो गया। पर यह निश्चित है, कि उनसे पूर्व इन देशों में बौद्ध धर्म अपना काफी प्रभाव जमा चुका था। बाद में बौद्ध के सदृश, शैव और वैष्णव लोग भी इन यवन देशों में

गये और वहाँ उन्होंने अपनी अनेक बस्तियाँ कायम कीं।

(७) सुवर्णभूमि में प्रचार

महावंश के अनुसार आचार्य उत्तर के साथ थेर सोण सुवर्णभूमि में गया। उस समय सुवर्णभूमि के राजकुल की यह दशा थी, कि ज्यों ही कोई कुमार उत्पन्न होता, एक राक्षसी उसे आकर खा जाती। जिस समय ये थेर सुवर्णभूमि पहुँचे, तभी रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। लोगों ने समझा कि ये थेर राक्षसी के सहायक हैं। अतः वे उन्हें घेर कर मारने के लिये तैयार हो गये। थेरों ने उनके अभिप्राय को समझ लिया और इस प्रकार कहा—"हम तो शील से युक्त श्रमण हैं, राक्षसी के सहायक नहीं हैं।" उसी समय राक्षसी अपने संपूर्ण साथियों के साथ समुद्र से निकली और सब लोग भयभीत होकर हाहाकार करने लगे। पर थेरों ने अपने अलौकिक प्रभाव से राजकुमार का भक्षण करने वाले राक्षसों को घेर लिया। इस प्रकार सर्वत्र अभय की स्थापना कर इन थेरों ने एकत्रित लोगों को 'ब्रह्मजाल सूत्र' का उपदेश किया। बहुत से लोगों ने बौद्ध धर्म को स्वीकृत कर लिया। विशेषतः साठ हजार आदमी तो धर्म से अच्छी प्रकार आकृष्ट हो कर उसके अनुयायी हो गये। एक हजार पांच सौ पुरुषों और इतनी ही स्त्रियों ने भिक्षु बनकर संघ में प्रवेश किया। क्यों कि राजकुमार का जीवन इन भिक्षुओं के प्रयत्न से बचा था, अतः वे और उसके बाद के सब कुमार सोणुत्तर कहाये।" संभवतः, महावंश के इस वर्णन में आलंकारिक रूप से यह उल्लेख है, कि रोग रूपी राक्षसी के आक्रमण के कारण सुवर्णभूमि का कोई राजकुमार जीवित नहीं रह पाता था। थेर सोण और उत्तर कुशल चिकित्सक भी थे। जब वे सुवर्णभूमि गये, तो उन पर भी इस

रोगरूपी राक्षस ने पुनः आक्रमण किया, पर इस बार इन थेर चिकित्सकों के प्रयत्न से राजकुमार की जान बच गई, और सुवर्णभूमि के निवासियों की बौद्ध धर्म पर बहुत श्रद्धा हो गई। राजकुल और सर्वसाधारण लोगों ने बड़ी संख्या में बौद्ध धर्म स्वीकार किया।

महावंश ने विविध प्रचारक मण्डलों के कार्य का वर्णन करने के उपरांत क्या ठीक लिखा है, कि इन सब सिद्ध थेरों ने अमृत से भी बढ़कर आनंद-सुख से परिपूर्ण जीवन का त्याग कर सुदूरवर्ती विदेशी राज्यों में भटक कर, सब कष्टों का सहन करते हुए संसार का हितसाधन किया था।

सुवर्णभूमि का अभिप्राय दक्षिणी बरमा से है। आधुनिक बरमा के पेगू-मालमीन के प्रदेशों में अशोक के समय में बौद्ध प्रचारक गये, और उन्होंने उस प्रक्रम का प्रारंभ किया, जिससे कुछ ही समय में न केवल संपूर्ण बरमा, पर उसके भी पूर्व के बहुत से देश बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये।

अशोक के समय में आचार्य उपगुप्त के आयोजन के अनुसार बौद्ध धर्म का विदेशों में प्रचार करने के लिये जो भारी प्रयत्न प्रारंभ हुआ, उसका केवल भारतवर्ष के इतिहास में ही नहीं, अपितु संसार के इतिहास में बड़ा महत्त्व है। बौद्ध भिक्षु जो उद्योग कर रहे थे, उस से 'बुद्ध के शासन' का प्रसार करते थे। इसमें संदेह नहीं कि मागध साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ धर्मसाम्राज्य के विस्तार का विचार भी उस समय के लोगों में पूर्णतया उत्पन्न हो गया था। चातुरंत संघ की सर्वत्र स्थापना कर वे धर्मचक्रवर्ती होने के प्रयत्न में लगे थे। इस कार्य में वे मगध के सम्राटों से भी बहुत आगे बढ़ गये। मागध साम्राज्य की अपेक्षा बहुत बड़ा धर्मसाम्राज्य उपगुप्त ने ऐसा बनाया, कि वह कुछ सदियों तक नहीं, अपितु सहस्राब्दियों तक कायम

रहा। दो हजार से अधिक साल बीत जाने पर भी वह साम्राज्य अब तक आंशिक रूप से कायम है। जब भारत की राजनीतिक शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई, पाटलीपुत्र का साम्राज्य नष्ट हो गया, तो भी इस धर्मसाम्राज्य के कारण चिरकाल तक भारत संसार के धर्म, सभ्यता और संस्कृति का केन्द्रस्थान बना रहा। वस्तुतः यह धर्मविजय बहुत चिरस्थायिनी रही।

—

आठवाँ अध्याय

अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य राजा

(१) राजा सुयश कुनाल

२३२ ई० पू० में अशोक का राज्यकाल समाप्त हुआ। उसके अनेक लड़के थे। शिलालेखों में उसके केवल एक पुत्र का उल्लेख है, जिसका नाम तीवर था। उसकी माता रानी कारु-वाकी के दान का वर्णन एक शिलालेख में किया गया है। परंतु प्राचीन अनुश्रुति से अशोक के अन्य अनेक पुत्रों का नाम ज्ञात होता है। इनमें महेन्द्र रानी असंधिमित्रा का पुत्र था। कुनाल उसका सबसे बड़ा लड़का था, जिसे रानी तिष्यरक्षिता की ईर्ष्या का शिकार होना पड़ा था। तिब्बती साहित्य में अशोक के एक पुत्र कुस्तन का उल्लेख है, जिसने खोतान में एक स्वतंत्र भार-तीय उपनिवेश की स्थापना की थी। महेन्द्र भिक्षु होकर लङ्का में बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिये चला गया था। राज-तरंगिणी के अनुसार अशोक के एक अन्य पुत्र का नाम जालौक था, जिसने अपने पिता की मृत्यु के बाद काश्मीर में अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की थी। कुमार तीवर का साहित्यिक अनुश्रुति में कहीं उल्लेख नहीं है। सम्भवतः अपने पिता से पूर्व ही वह स्वर्गवासी हो गया था।

वायुपुराण के अनुसार अशोक के बाद उसके लड़के कुनाल ने राज्य प्राप्त किया। इसी का उपनाम सुयश था। तिष्यरक्षिता के कपटलेख पर आंकित अशोक की दंतमुद्रा से अंकित राजाज्ञा से वह अंधा कर दिया गया था। संभवतः इसीलिये वह राज्यकार्य स्वयं नहीं कर सकता था। अशोक के समय में भी

युवराज के पद पर कुनाल का पुत्र संप्रति (संपदि) नियुक्त था और वही शासनकार्य संभालता था। कुनाल के समय में भी राज्य की बागडोर संप्रति के ही हाथ में रही। यही कारण है, कि कुछ ग्रंथों में अशोक के बाद संप्रति को ही मौर्यसम्राट् लिखा गया है। कुनाल का नाम बीच में छोड़ दिया गया है।

कुनाल के शासनकाल में ही विशाल मागध साम्राज्य टुकड़ों में विभक्त होना शुरू हो गया। काश्मीर पाटलीपुत्र की अधीनता से मुक्त हो गया, और वहां अशोक के एक अन्य पुत्र जालौक ने अपना पृथक् राज्य कायम किया। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के शासन के अंतिम दिनों में ही यवन लोगों ने साम्राज्य पर आक्रमण करने शुरू कर दिये थे। इनका मुकाबला करने के लिये अशोक ने जालौक को नियत किया था। जालौक यवन लोगों को परास्त करने में तो सफल हुआ, पर जिस शक्तिशाली सेना की सहायता से उसने यवनों को परास्त किया था, उसी की सहायता से साम्राज्य के पश्चिमोत्तर प्रदेश में उसने अपना पृथक् राज्य कायम कर लिया। यह बात राजतरंगिणी के निम्नलिखित वर्णन से भलीभांति स्पष्ट हो जाती है—'क्योंकि देश में म्लेच्छ लोग छा गये थे, अतः उनके विनाश के लिये राजा अशोक ने भूतेश को प्रसन्न करने के लिये एक पुत्ररत्न को प्राप्त किया। उसका नाम जालौक था। म्लेच्छों से जब सारी वसुधा आक्रान्त हो गई थी, तो जालौक ने उन्हें बाहर निकाल कर भूमंडल को शुद्ध किया और अन्य अनेक देशों को भी विजय किया।'

कल्हण का यह वृत्तांत स्पष्ट रूप से सूचित करता है, कि अशोक के समय में ही म्लेच्छों व यवनों (ग्रीकों) के आक्रमण शुरू हो गये थे, और उनका मुकाबला करने के लिये जालौक की नियुक्ति हुई थी। शौर्य से वह काश्मीर तथा समीपवर्ती

प्रदेशों पर स्वतन्त्ररूप से राज्य करने लगा। राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर में अशोक के बाद जालौक ही राजा हुआ।

काश्मीर की तरह आंध्र भी कुनाल के समय में स्वतंत्र हो गया। मौर्यों से पूर्व आंध्र देश मागध साम्राज्य के अंतर्गत नहीं था। सम्भवतः बिन्दुसार ने इसे जीतकर अपने साम्राज्य में शामिल किया था। मौर्यों के राज्य में भी आंध्र की स्थिति अधीनस्थ राज्य की थी। अशोक का मजबूत हाथ हटते ही आंध्र देश स्वतंत्र हो गया और वहां एक नये वंश का प्रारंभ हुआ, जो भविष्य में बड़ा शक्तिशाली और प्रसिद्ध हुआ। आंध्र और समीपवर्ती दक्षिण के प्रदेशों में इस नये वंश का संस्थापक सीमुक था, जिसने २३० ई० पू० के लगभग मौर्यों की अधीनता से स्वतंत्रता प्राप्त की थी।

(२) राजा बंधुपालित दशरथ

कुनाल ने २३२ ई० पू० से २२४ ई० पू० तक कुल आठ साल तक राज्य किया। उसके बाद उसका बड़ा लड़का दशरथ राजगद्दी पर बैठा। एक पुराण के अनुसार कुनाल के उत्तराधिकारी का नाम बंधुपालित था। संभवतः बंधुपालित दशरथ का ही विशेषण है। ऐसा प्रतीत होता है, कि दशरथ के शासनकाल में भी शासन की बागडोर संप्रति के ही हाथ में रही। संप्रति और दशरथ भाई थे। संप्रति अशोक और कुनाल के समयों में युवराज के रूप में शासन का संचालन करता रहा था। अब भी शासनसूत्र इसी अनुभवी और योग्य शासक के हाथ में रहा। शायद इसी लिये दशरथ को बंधुपालित विशेषण दिया गया था।

राजा दशरथ के तीन गुहालेख प्राप्त हुए हैं। ये गया के समीप नागार्जुनी पहाड़ी की कृत्रिम गुहाओं में उत्कीर्ण हैं। ये

गुहामंदिर दशरथ ने आजीवक संप्रदाय के साधुओं को दान दिये थे, और इन गुहाओं में उसका यही दान उत्कीर्ण किया गया है।

दशरथ के समय में भी मागध साम्राज्य का पतन जारी रहा। कलिंग इसी काल में स्वतंत्र हुआ। कलिंग के राजा श्री खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख से कलिंग देश की प्राचीन इतिहास संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। खारवेल शुंगवंशी पुष्यमित्र का समकालीन था, और वह १७३ ई० पू० में कलिंग के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। उससे पहले कलिंग में दो और स्वतंत्र राजा हो चुके थे। अतः यह अनुमान करना सर्वथा उचित है, कि कलिंग २२३ ई० पू० के लगभग मौर्यों के शासन से विमुक्त हुआ था। कलिंग को अशोक के समय में ही अधीन किया गया। उसे फिर से स्वतंत्र कराने वाले वीर पुरुष का नाम चैत्रराज था। वह चेतवंश का था। अशोक द्वारा शस्त्रों से स्थापित हुई कलिंग की विजय देर तक स्थिर नहीं रह सकी।

(३) राजा संप्रति (चंद्रगुप्त मौर्य द्वितीय)

मौर्यवंश के इतिहास में संप्रति का महत्त्व भी चंद्रगुप्त और अशोक के ही समान है। दशरथ की मृत्यु के बाद वह स्वयं पाटलीपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इससे पहले वह सुदीर्घ समय तक मागध साम्राज्य का कर्णधार रह चुका था। अशोक के समय में यह युवराज था। उसी ने अपने अधिकार से अशोक को राजकोष से बौद्धसंघ को दान करने का निषेध कर दिया था। कुणाल और दशरथ के समय में भी शासनसूत्र उसी के हाथ में रहा। यही कारण है, कि अनेक प्राचीन ग्रंथों में संप्रति को ही अशोक का उत्तराधिकारी लिखा

गया है। २१६ ई० पू० में दशरथ के बाद संप्रति स्वयं मगध का सम्राट् बना।

जैन साहित्य में संप्रति का वही स्थान है, जो बौद्ध साहित्य में अशोक का है। जैन अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् संप्रति जैनधर्म का अनुयायी था और उसने अपने धर्म का प्रसार करने के लिये बहुत उद्योग किया था। परिशिष्ट पर्व में लिखा है, कि एक बार रात्रि के समय संप्रति के मन में यह विचार पैदा हुआ कि अनार्य देशों में भी जैनधर्म का प्रचार हो और उनमें जैन साधु स्वच्छंदरूप से विचरण कर सकें। इसके लिये उसने इन अनार्य देशों में धर्मप्रचार के लिये जैन साधुओं को भेजा। साधु लोगों ने संप्रति के राजकीय प्रभाव से शीघ्र ही इन्हें जैनधर्म और आचार का अनुयायी बना लिया। इसी उद्देश्य से संप्रति ने बहुत से लोकोपकारी कार्य भी किये। गरीबों को मुफ्त भोजन बांटने के लिये अनेक दानशालायें खुलवाई गईं। इन लोकोपकारी कार्यों से भी जैनधर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली। संप्रति ने अनार्य देशों में जैन प्रचारक भेजे थे, इसका उल्लेख अन्य ग्रंथों में भी है। एक जैन पुस्तक में लिखा है कि इस कार्य के लिये संप्रति ने अपनी सेना के योद्धाओं को साधुओं के वेष में प्रचार के लिये भेजा था। एक ग्रंथ में इन देशों में से कतिपय के नाम भी दिये हैं, जिनमें संप्रति ने जैनधर्म का प्रचार किया था। ये नाम आंध्र, द्रविड़, महाराष्ट्र, कुडुक्क आदि हैं। इन्हें प्रत्यंत (सीमावर्ती पड़ोसी राज्य) कहा गया है। आंध्र व महाराष्ट्र अशोक के 'विजित' (साम्राज्य) के अंतर्गत थे, पर संप्रति के समय में वे 'प्रत्यंत' हो गये थे।

अनेक जैन ग्रंथों में अशोक के पौत्र और कुनाल के पुत्र का नाम चंद्रगुप्त लिखा है। संभवतः चंद्रगुप्त संप्रति का ही

बिरुद (उपनाम) था। संप्रति को हम चंद्रगुप्त द्वितीय कह सकते हैं। जैन ग्रंथों के अनुसार संप्रति (चंद्रगुप्त द्वितीय) के शासनकाल में एक बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा। वह बारह साल तक रहा। संप्रति ने राज्य छोड़ कर मुनिव्रत ले लिया और दक्षिण में जाकर अंत में उपवास द्वारा प्राणत्याग किया। भद्रबाहुचरित्र के अनुसार यह कथा इस प्रकार है—

अवंतिदेश में चंद्रगुप्त नाम का राजा राज्य करता था। इसकी राजधानी उज्जैनी थी। एक बार राजा चंद्रगुप्त को रात में सोते हुए भावी अनिष्ट फल के सूचक सोलह स्वप्न दिखाई दिए। प्रातःकाल होते ही राजा को भद्रबाहु स्वामी के आगमन का समाचार मिला। यह स्वामी उज्जैनी से बाहर एक सुन्दर उद्यान में आये हुए थे। वनपाल ने आकर खबर दी कि मुनिगण के अग्रणी आचार्य भद्रबाहु अपने मुनिसंदोह के साथ पधारे हुए हैं। यह जान कर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय भद्रबाहु को बुला भेजा और अपने स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्नों का फल ज्ञात होने पर राजा ने जैनधर्म की दीक्षा ले ली और अपने गुरु भद्रबाहु की सेवा में दत्तचित्त होकर तत्पर हो गया। कुछ समय बाद आचार्य भद्रबाहु सेठ जिनदास के घर गया। इस घर में एक अकेला बालक पालने पर झूल रहा था। यद्यपि इसकी आयु केवल साठ दिन की थी, तथापि उसने भद्रबाहु को देखकर 'जाओ-जाओ' ऐसा वचन बोलना शुरू किया। इसे सुनते ही त्रिकालज्ञ आचार्य समझ गया कि शीघ्र ही बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़ने वाला है। अतएव उन्होंने अपने ५०० मुनियों को लेकर दक्षिण देश में जाने का निश्चय किया। दक्षिण में पहुँच कर भद्रबाहु को शीघ्र ही ज्ञात हो गया, कि उनकी आयु बहुत कम रह गई है। अतः वे अपने स्थान पर विशाखाचार्य को नियत कर स्वयं एकांत में रह कर अपने अंतिम समय की प्रतीक्षा

करने लगे। राजा चंद्रगुप्त जब मुनि हो चुका था और अपने गुरु के साथ ही दक्षिण में आ गया था। वह आचार्य भद्रबाहु की सेवा में अंतिम समय तक रहा। यद्यपि भद्रबाहु ने चंद्रगुप्त को अपने पास रहने से बहुत मना किया, पर उसने एक न मानी। भद्रबाहु की मृत्यु के बाद चंद्रगुप्त इसी गुफगुहा में रहता रहा और अंत में उसने अनशन द्वारा प्राणत्याग किया।

जैन-साहित्य के बहुत से ग्रंथों में यह कथा थोड़े-बहुत भेद से पाई जाती है। इसकी पुष्टि श्रवणबेलगोला (मैसूर) में प्राप्त संस्कृत व कनड़ी भाषा के अनेक शिलालेखों से भी होती है। इन शिलालेखों को प्रकाशित करते हुए श्रीयुत राइस ने लिखा है, कि इन स्थानों पर जैनों की आबादी अंतिम श्रुत-केवली भद्रबाहु द्वारा हुई। भद्रबाहु की मृत्यु इसी स्थान पर हुई थी। अंतिम समय में मौर्य चंद्रगुप्त भी इसकी सेवा में तत्पर रहा था। श्रवणबेलगोला में दो पर्वत हैं, जिनमें से छोटे का नाम चंद्रगिरि है। स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार यह नाम चंद्रगुप्त नाम के एक महात्मा के नाम पर पड़ा था। इसी पर्वत पर एक गुफा को भद्रबाहु स्वामी की गुफा कहते हैं। वहां एक मठ भी है, जिसे चंद्रगुप्तबस्ति कहा जाता है। इसमें संदेह नहीं कि राजा संप्रति (चंद्रगुप्त द्वितीय) जैन मुनि होकर अपने गुरु के साथ दक्षिण में श्रवणबेलगोला चला गया था। उसका अंतिम जीवन वहीं व्यतीत हुआ था, और वहीं उसने जैन मुनियों की परिपाटी से प्राणत्याग किया था।

जिन प्रभासूरि के अनुसार सम्राट् संप्रति ने बहुत से जैन-मठों का भी निर्माण कराया था। ये मठ अनार्य देशों में भी बनवाये गये थे। निःसंदेह, जैनधर्म के भारत में दूर-दूर तक फैलाने का श्रेय राजा संप्रति को ही है। उसी के समय में जैन-

धर्म के लिये वह प्रयत्न हुआ जो पहले अशोक ने बौद्ध धर्म के
लिये किया था।

(४) राजा शालिशुक

२०७ ई० पू० में राजा संप्रति के राज्यत्याग के बाद शालि-
शुक पाटलीपुत्र की राजगद्दी पर बैठा। उसने कुल एक साल
तक राज्य किया। पर मौर्यवंश के इतिहास में शालिशुक के
शासन का यह एक साल बड़े महत्त्व का है। चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा
स्थापित विशाल मागध साम्राज्य का वास्तविक पतन इसी
साल में हुआ। शालिशुक के शासनकाल के संबंध में वृद्धगार्ग्य
संहिता के युगपुराण से बहुत सी आवश्यक बातें ज्ञात होती हैं।
पहली बात यह है, कि जैन मुनि बन कर जब संप्रति ने राज-
गद्दी छोड़ दी, तो राजा कौन बने इस प्रश्न को लेकर गृहकलह
हुआ। शालिशुक संप्रति का पुत्र था। पर प्रतीत होता है, कि
उसका कोई बड़ा भाई भी था। राजसिंहासन पर वास्तविक
अधिकार उसी का था। परंतु शालिशुक ने उसका घात करके
स्वयं राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। बारह वर्ष के घोर
दुर्भिक्ष से पहले ही देश को घोर विपत्ति का सामना करना पड़
रहा था। अब इस कलह से और भी दुर्दशा हो गई। ऐसा
प्रतीत होता है, कि इस गृहकलह के समय में भी मागध साम्रा-
ज्य का उत्तरपश्चिमी प्रदेश पृथक् हो गया। काश्मीर में पहले
ही स्वतंत्र राज्य की स्थापना हो चुकी थी। अब सिंध नदी से
परे के प्रदेश, जिनमें अफगानिस्तान, गांधार और हीरात भी
शामिल थे, साम्राज्य से पृथक् हो गये। इन में वृषसेन नाम
के एक व्यक्ति ने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। वृषसेन
भी मौर्यकुल का था और संभवतः संप्रति का ही अन्यतम पुत्र
था। ग्रीक लेखकों ने इसी को सोफागसेन या सुभागसेन लिखा

है। संभवतः सुभागसेन पहले गांधार देश का कुमार (प्रांतीय शासक) था। पर संप्रति के अंतकाल की अव्यवस्था से लाभ उठा कर स्वतंत्र हो गया था। तिब्बती बौद्ध अनुश्रुति में संप्रति का उत्तराधिकारी इसी को लिखा है।

राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर का राजा जालौक (अशोक का पुत्र) एक बड़ा विजेता था। इसने कान्यकुब्ज तक विजय की थी। राजतरंगिणी के अनुसार जालौक ने बहुत दीर्घ समय तक शासन किया था। अभी उसे राजगद्दी पर बैठे केवल २६ वर्ष हुए थे। कोई आश्चर्य नहीं, कि शालिशुक के समय के गृहकलह से लाभ उठाकर उसे राज्यविस्तार का अवसर मिल गया हो, और उसने कान्यकुब्ज तक आक्रमण कर विजय प्राप्त की हो।

संप्रति के बाद पारस्परिक गृहकलह के कारण मौर्य साम्राज्य बहुत शिथिल हो गया था। पाटलीपुत्र का केंद्रीय शासन व्यवस्थित और नियमित नहीं था। यद्यपि शालिशुक को गृहकलह में सफलता हुई, पर उसकी स्थिति सुरक्षित नहीं थी। संभवतः राजघराने के षड्यंत्र निरंतर जारी थे और शालिशुक की हत्या में उनका अंत हुआ, शालिशुक ने केवल एक ही साल राज्य किया। इसी से यह सूचित होता है, कि गृहकलह में सफलता के बाद भी उसे चैन नहीं मिला। अपने एक साल के शासन में शालिशुक ने प्रजा पर बड़े अत्याचार किये। उसने राष्ट्र का मर्दन कर डाला। जनता उससे तंग आ गई। मौर्य वंश के ह्रास में इससे और भी सहायता मिली।

अब तक मौर्य सम्राट् अशोक की धर्मविजय की नीति का अनुसरण करते रहे थे। संभवतः दशरथ और संप्रति ने भी 'धम्म' के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया था। शालिशुक ने अपने पूर्वजों की नीति को नाम के लिये जारी रखा, पर उसका दुरुपयोग करके उसे नाशकारी बना दिया। गार्गीसंहिता में इस

राजा को 'धर्म का ढोंग करने वाला' और 'अधार्मिक' कहा है, और यह भी लिखा है, कि इस मूर्ख ने धर्मविजय को स्थापित करने का यत्न किया है। 'विजयं नाम धार्मिकम्' में जो व्यंग है, उसे संस्कृत के ज्ञाता भलीभाँति समझ सकते हैं। शालिशुक ने धर्मविजय की नीति का दुरुपयोग करके अशांति और अव्यवस्था को और भी बढ़ा दिया। इस राजा के राष्ट्रमर्दन तथा धर्मविजय के ढोंग ने मागध साम्राज्य को कितनी हानि पहुँचाई होगी, इसका अनुमान कर सकना कठिन नहीं है।

इसी शालिशुक के एक साल के शासनकाल में यवनों ने फिर पश्चिमी भारत पर आक्रमण किये। चंद्रगुप्त मौर्य के समकालीन यवन राजा सैल्यूकस की मृत्यु २८० ई० पू० में हुई थी। उसके बाद उसका लड़का एंटिओकस सीरिया की राजगद्दी पर बैठा था। २६१ ई० पू० में उसकी मृत्यु हुई। फिर एंटियोकस द्वितीय थिओस राजा बना, जो अशोक का समकालीन था। उसके शासनकाल में बैक्ट्रिया और पार्थिया सीरियन साम्राज्य से पृथक् हो गये। बैक्ट्रिया में डायोडोरस प्रथम ने २५० ई० पू० में तथा पार्थिया में आर्सेकस ने २४८ ई० पू० में अपने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की। बैक्ट्रिया में डायोडोरस प्रथम के बाद डायोडोरस द्वितीय (२४५ ई० पू०) और यूथीडीमोस (२३० ई० पू०) राजा हुए। यूथीडीमोस के समय में सीरिया के सम्राट् एंटिओकस तृतीय ने बैक्ट्रिया पर आक्रमण करने शुरू किये। सीरिया और बैक्ट्रिया के इन युद्धों का अंत २०८ ई० पू० में हुआ। एंटियोकस ने बैक्ट्रिया की स्वतंत्रता को स्वीकार कर लिया।

इसी समय एंटियोकस तृतीय ने अपनी शक्तिशाली यवन सेना के साथ हिन्दुकुश पर्वत पार कर भारत पर आक्रमण किया। गांधार के राजा सुभागसेन के साथ उसके युद्ध हुए। पर शीघ्र ही दोनों राजाओं में संधि हो गई।

सुभागसेन के साथ संधि करके यवन सेनाओं ने भारत में आगे बढ़कर आक्रमण किये। इस समय पाटलीपुत्र के राज-सिंहासन पर शालिशुक विराजमान था, जिसने अपने बड़े भाई को मार कर राज्य प्राप्त किया था। गार्गीसंहिता के अनुसार यवनों ने न केवल मथुरा, पांचाल और साकेत को हस्तगत किया, पर मागध साम्राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र या पुष्पपुर पर भी हमला किया। इन आक्रमणों से सारे देश में अव्यवस्था मच गई। सारी प्रजा व्याकुल हो गई। पर ये यवन देर तक भारत के मध्यदेश में नहीं ठहर पाये। उनमें परस्पर गृहकलह शुरू हो गये और इन अपने अंदर उठे हुए युद्धों के कारण यवनों को शीघ्र ही भारत छोड़ देना पड़ा।

इस प्रकार यवन लोग तो भारत से चले गये पर भारत में मौर्यशासन की जड़ें हिल गईं। आपस के कलह के कारण मौर्यों का शासन पहले ही निर्बल हो चुका था, अब यवनों के आक्रमण से उसकी अवस्था और भी बिगड़ गई। गार्गीसंहिता के अनुसार, इसके बाद भारत में सात राजा राज्य करने लगे, या मागध साम्राज्य सात राज्यों में विभक्त हो गया। गांधार, काश्मीर, कलिंग और आंध्र—ये चार राज्य इस समय तक मागध साम्राज्य से पृथक् हो चुके थे। अब संभवतः उत्तरापथ में दो अन्य राज्य भी मगध की शक्ति के भग्नावशेष पर स्थापित हुए।

(५) मौर्यवंश का अंत

शालिशुक के बाद राजा देववर्मा पाटलीपुत्र के राजसिंहासन पर बैठा। उसने २०६ ई० पू० से १९९ ई० पू० तक राज्य किया। यवनों के आक्रमण उसके समय में भी जारी रहे। २०० ई० पू० में बैक्ट्रिया के राजा डेमेट्रियस (दिमित्र, जो यूथीडीमोस का पुत्र था) ने भारत पर आक्रमण किया और उत्तरापथ के कुछ प्रदेश पर यवन राज्य स्थापित कर लिया।

देववर्मा के बाद शतधनुष मगध का राजा बना। इसका शासनकाल १९६ ई० पू० से १८७ ई० पू० तक था। इसके शासनकाल में पश्चिमोत्तर भारत में यवनों ने अपना शासन अच्छी तरह से स्थापित कर लिया था। डेमेट्रियस बड़ा प्रतापी राजा हुआ है। इसका भारतीय राज्य काफी विस्तृत था। उसने अफगानिस्तान और भारत में अपने नाम से अनेक नये नगर स्थापित किये थे। प्राचीन आर्कोशिया में 'डेमेट्रियस पोलिस' नाम का एक नगर था। पतंजलिकृत महाभाष्य के अनुसार सौवीर देश में 'दात्तामित्रि' नाम का एक नगर विद्यमान था। यह दात्तामित्रि नगर डेमेट्रियस के नाम पर ही बसा था।

संभवतः विदर्भ देश शतधनुष के समय में ही मागध साम्राज्य से स्वतंत्र हुआ। कालिदास विरचित मालविकाग्निमित्र के अनुसार पुष्यमित्र शुंग से पूर्व विदर्भ में यज्ञसेन नाम का स्वतंत्र राजा राज्य करता था। वह शायद मौर्यवंश के इसी ह्रासकाल में स्वतंत्र हो गया था। बहुत से प्राचीन गणराज्य भी इस काल में फिर से स्वतंत्र हो गये थे।

१८७ ई० पू० में शतधनुष के बाद बृहद्रथ मगध का राजा बना। यह शतधनुष का भाई था। बृहद्रथ मौर्यवंश का अंतिम राजा था। इसके समय में मगध में फिर एक बार राज्यक्रांति हुई। बृहद्रथ का प्रधान सेनापति पुष्यमित्र शुंग था। शक्तिशाली मागध सेना उसी के अधीन थी। इस सेना की सहायता से पुष्यमित्र ने बृहद्रथ की हत्या करके पाटलीपुत्र के राजसिंहासन पर स्वयं अधिकार कर लिया। रिपुंजय, बालक आदि कितने ही पुराने मागध सम्राटों के विरुद्ध उनके सेनापतियों ने इसी प्रकार से विद्रोह किया था। मगध में सेना की ही प्रधान शक्ति थी। प्रतापी और विश्वविख्यात मौर्यवंश का अंत भी सेना द्वारा ही किया गया। मौर्यवंश के शासन का अंत १८४ ई० पू० में हुआ।

(६) मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण

अशोक के बाद शक्तिशाली मागध साम्राज्य में शिथिलता के चिह्न प्रगट होने लगे थे। शालिशुक के समय में वह सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया था। इसके क्या कारण हैं? पहला कारण अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्ति है। केन्द्रीभाव और अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों में भारत में सदा से संघर्ष होता आया है। एक तरफ जहाँ अजातशत्रु, महापद्मनंद और चंद्रगुप्त मौर्य जैसे साम्राज्यवादी और महत्वाकांक्षी सम्राट् सारे भारत को एकछत्र शासन में लाने का उद्योग करते रहे, वहाँ दूसरी तरफ पुराने जनपदों और गणराज्यों में अपने पृथक् राज्य कायम रखने की प्रवृत्ति भी विद्यमान रही। पुराने युग में भी इस देश में बहुत सी जातियां, अनेक भाषायें और विभिन्न क़ानून व व्यवहार विद्यमान थे। विविध जनपदों में अपनी पृथक् सत्ता की अनुभूति बहुत प्रबल थी। परिणाम यह था, कि वे सदा एक केन्द्रीभूत साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर अपनी स्वतंत्र सत्ता को स्थापित कर लेने के लिये तत्पर रहते थे। सम्राट् की शक्ति के ज़रा सा भी निर्बल होने पर विदेशी आक्रमण, दुर्भिक्ष या ऐसे ही किसी भी कारण के उत्पन्न हो जाने पर ये अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियां प्रबल हो उठती थीं। मौर्य साम्राज्य के पतन का भी यही प्रधान कारण था।

मगध के सम्राटों ने विविध जनपदों व गणराज्यों के अपने धर्म, व्यवहार, क़ानून और चरित्र को नष्ट करने का उद्योग नहीं किया। कौटल्य जैसे नीतिकारों ने यही प्रतिपादित किया था, कि राजा इन सब के व्यवहार और चरित्र को न केवल नष्ट न करे, पर उन्हें उसमें स्थापित रखे, अपने क़ानून का भी इस ढंग से निर्माण करे, कि इन के क़ानून से उसका विरोध न

हो। इस नीति का स्वाभाविक रूप से यह परिणाम हुआ, कि विविध जनपदों और गणराज्यों में अपनी पृथक् सत्ता की अनुभूति पूर्ण प्रबलता के साथ क़ायम रही। मौर्यों की शक्ति के क्षीण होने पर ये राज्य फिर स्वतंत्र हो गये। यही नीति शुंगों, कण्वों और आंध्रों की रही। गुप्तों ने भी इसी नीति का अनुसरण किया। इसी कारण मालव, लिच्छवि, यौधेय आदि गणराज्य और कलिंग, आंध्र आदि जनपद मगध के महत्त्वाकांक्षी सम्राटों से बार-बार परास्त हो कर भी फिर-फिर स्वतंत्र होते रहे।

मौर्य राजाओं की धर्मविजय की नीति ने भी उनकी राजनीतिक शक्ति के निर्बल होने में सहायता दी। अशोक ने जिस उच्च-उदात्त विचारसरणी से इस नीति का अनुसरण किया था, उसके निर्बल उत्तराधिकारी उसका सर्वांश में प्रयोग नहीं कर सके। राजा संप्रति ने सैनिकों को भी साधुओं के वस्त्र पहना कर उनसे अपने प्रिय धर्म का प्रचार कराया। राजा शालिशुक धर्मविजय का ढोंग करता था। मागध साम्राज्य की सत्ता ही उसकी अदम्य सेना पर आश्रित थी। कंबोज से वंग तक और काश्मीर से आंध्र देश तक विस्तीर्ण मागध साम्राज्य को एक सूत्र में बांधे रखने वाली शक्ति उसकी सेना ही थी। जब इस सेना के सैनिकों ने साधुओं के परिच्छद धारण कर धर्मप्रचार का कार्य प्रारंभ कर दिया, तो वह यवनों और म्लेच्छों का शस्त्र से कैसे मुक़ाबला कर सकते थे? धर्मविजय की नीति से भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति को विदेशों में विस्तीर्ण होने में चाहे कितनी ही सहायता क्यों न मिली हो, पर मगध की सैनिक शक्ति को उसने अवश्य निर्बल किया। यही कारण है, कि भविष्य के विचारकों ने अशोक, शालिशुक आदि का मज़ाक़ उड़ाते हुए 'देवानां प्रिय' शब्द का अर्थ ही मूर्ख कर डाला। उन्होंने यह भी लिखा कि राजाओं का काम

सिर मुँडा कर धर्मचिन्तन करना नहीं है, पर दण्ड (प्रचण्ड राजशक्ति) का धारण करना है। भारत में यह कहावत सी हो गई कि जो ब्राह्मण असंतुष्ट हो, वह नष्ट हो जाता है, और जो राजा संतुष्ट रहे, वह नष्ट हो जाता है। मगध के ये मौर्य राजा जिस प्रकार अपनी राजशक्ति से संतुष्ट हो, पहले श्रावक और बाद में श्रमण होकर, बौद्ध संघ के लिये अपना सर्वस्व निछावर करने के लिये तैयार हो गये थे, वह भारत की प्राचीन राजनीति के सर्वथा विरुद्ध था, और इसीलिये उनके इस रुख ने उनकी शक्ति के क्षीण होने में अवश्यमेव सहायता की। अकेन्द्रीभाव की बलवती प्रवृत्तियाँ, जनपदों व गणराज्यों में अपनी पृथक् अनुभूति, और धर्मविजय की नीति का दुरुपयोग — ये तीन कारण थे, जिनसे शक्तिशाली विशाल मौर्य साम्राज्य नष्ट हो गया।

(७) धर्मविजय की नीति

ऐतिहासिकों ने सम्राट् अशोक को संसार के सब से बड़े महापुरुषों में गिना है। निःसंदेह, अपनी शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच कर उसने उस सत्य को अनुभव किया, जिसके समझने की आज भी संसार को आवश्यकता है। शस्त्रों द्वारा विजय में लाखों मनुष्यों की हत्या होती है, लाखों स्त्रियाँ विधवा और बच्चे अनाथ होते हैं। ऐसी विजय स्थिर नहीं रहती। ये सत्य हैं, जिन्हें कलिंगविजय के बाद अशोक ने अनुभव किया। इसके स्थान पर, यदि धर्म द्वारा नये नये देशों की विजय की जाय, तो उससे खून की एक बूँद भी गिराये बिना, जहाँ अपनी शक्ति और प्रभाव का विस्तार होता है, वहाँ ऐसी विजय स्थिर भी रहती है। अशोक ने इसी धर्मविजय के लिये प्रयत्न किया और उसे अपने उद्देश्य में सफलता भी हुई। चोल, पांड्य,

लंका, यवन राज्य आदि सब भारतीय भाषा, धर्म, सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव में आ गये, और भारत के उस गौरव का प्रारंभ हुआ, जो संसार के इतिहास में वस्तुतः अद्वितीय है। सिकंदर और सीजर जैसे विजेताओं का शस्त्रों द्वारा विजित प्रदेशों में वह प्रभाव नहीं हुआ, जो अशोक का धर्म द्वारा जीते हुए देशों में हुआ। सिकंदर का विशाल साम्राज्य उसकी मृत्यु के साथ ही खंड-खंड हो गया। पर अशोक का धर्मसाम्राज्य सदियों तक कायम रहा। अब तक भी उसके अवशेष जीवित-जागृत रूप में विद्यमान हैं। भारत में ही मगध की सेनाओं ने जिस साम्राज्य की स्थापना की गई थी, वह एक सदी से भी कम समय में क्षीण होने लग गया, पर धर्म द्वारा स्थापित साम्राज्य की सदियों तक उन्नति और समृद्धि ही होती रही।

क्या अच्छा होता, यदि ये धर्मविजयी मौर्य सम्राट् सैनिक-बल की भी उपेक्षा न करते। भारत का यह आदर्श 'यह ब्रह्म-शक्ति है, और यह क्षत्रशक्ति। शास्त्र और शस्त्र, दोनों के उप-योग से हम अपना उत्कर्ष करते हैं' वस्तुतः अत्यंत क्रियात्मक आदर्श है। यदि अंतियोक, तुरमय आदि यवन राजाओं के राज्य में धर्म द्वारा विजय की स्थापना करते हुए मौर्य राजा शस्त्र-बल की भी वृद्धि करते रहते, तो अशोक के अंतिम काल में ही यवनों के आक्रमण भारत पर न प्रारंभ हो सकते, और शालि-शुक के समय में मथुरा, साकेत आदि को जीतते हुए यवन लोग पाटलीपुत्र तक न आ जाते।

नवाँ अध्याय

मौर्यकालीन कृतियाँ

(१) पाटलीपुत्र नगरी

मगध के मौर्य सम्राटों की राजधानी पाटलीपुत्र एक बहुत ही विशाल नगरी थी। सीरिया के राजा सैल्यूकस निकेटर का राजदूत मैगस्थनीज ३०३ ई० पू० में यहाँ आया था और कई साल तक पाटलीपुत्र में रहा था। उसने अपने यात्रा-विवरण में इस नगरी का जो वर्णन किया था, उसमें से कुछ बातें उल्लेखयोग्य हैं। उसके अनुसार "भारतवर्ष में जो सब से बड़ा नगर है, वह प्रेसिआई (प्राच्य देश) में पालीबोथ्रा (पाटलीपुत्र) कहलाता था। यह गंगा और एरेन्नाबोअस (सोन) नदियों के तट पर स्थित है। गंगा सब नदियों में बड़ी है, पर एरेन्नाबोअस संभवतः भारत में तीसरे नंबर की नदी है। भारत की नदियों में यद्यपि इसका नंबर तीसरा है, पर अन्य देशों की बड़ी से बड़ी नदी से भी यह बड़ी है। इस नगर की बस्ती लम्बाई में ८० स्टेडिया और चौड़ाई में १५ स्टेडिया तक फैली हुई है। (एक मील = ५½ स्टेडिया)। यह नगरी समानान्तर चतुर्भुज की शकल में बनी है। इसके चारों तरफ लकड़ी की एक प्राचीर (दीवार) है, जिसके बीच में तीर छोड़ने के लिये बहुत से छेद बने हैं। दीवार के साथ चारों तरफ एक खाई है, जो रक्षा के निमित्त और शहर का मैला बहाने के काम आती है। यह खाई गहराई में ४५ फीट और चौड़ाई में ६०० फीट है। शहर के चारों ओर की प्राचीर ५७० बुर्जों से सुशोभित है और इसमें ६४ द्वार बने हैं।

हजारों वर्ष बीत जाने पर अब इस वैभवशाली पाटलीपुत्र की कोई इमारत विद्यमान नहीं है। पर पिछले दिनों में जो खुदाई पाटलीपुत्र में हुई है, उसमें मौर्यकाल के अनेक अवशेष उपलब्ध हुए हैं। प्राचीन पाटलीपुत्र नगर वर्तमान समय में गंगा और सोन नदियों के सुविस्तृत पाट के नीचे दब गया है। बांकीपुर रेलवेस्टेशन, ईस्टइंडियन रेलवे तथा आसपास की बस्तियों ने भी इस प्राचीन नगरी के बहुत से भाग को अपने नीचे छिपा रखा है। ईस्टइंडियन रेलवे के दक्षिण में कुमराहार नाम के गाँव के समीप प्राचीन पाटलीपुत्र के बहुत से अवशेष प्राप्त हुए हैं। इस अनुश्रुति के अनुसार इस स्थान के नीचे पुराने जमाने के अनेक राजप्रासाद बने हुए हैं। इस अनुश्रुति में बहुत कुछ सचाई भी है। कुमराहार गाँव के उत्तर में कल्लू और चमन नाम के तालाबों के बीच में एक अशोककालीन स्तम्भ के कुछ अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह स्तम्भ चुनार पत्थर का बना हुआ है, और इस पर बड़ा सुंदर वज्रलेप किया गया है। मूल दशा में इसका व्यास तीन फीट था। इसी स्थान पर लकड़ी की बनी हुई एक पुरानी दीवार के भी अवशेष मिले हैं। अनुमान किया जाता है, कि ये पाटलीपुत्र की उसी प्राचीर के अवशेष हैं, जिसका उल्लेख मैगस्थनीज ने अपने यात्रावर्णन में किया था। लकड़ी की दीवार के कुछ अवशेष मौर्य महलों के भी माने जाते हैं।

(२) अशोक के स्तूप

प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् अशोक ने बहुत से स्तूपों व विहारों का निर्माण कराया था। विविध ग्रंथों में इनकी संख्या चौरासी लाख लिखी है। समय के प्रभाव से अब अशोक की प्रायः सभी कृतियाँ नष्ट हो चुकी हैं। पर अब से

बहुत समय पहले, चीनी यात्रियों ने इनका अवलोकन कर इनका वर्णन लिखा था। पांचवीं सदी के शुरू में चीनी यात्री फाइयान भारत में आया था। इसने अपनी आंखों से अशोक की अनेक कृतियों को देखा था। यद्यपि इसके समय में अशोक को मरे सात सौ साल के लगभग हो चुके थे, पर इतने समय बाद भी उसकी कृतियां अच्छी दशा में विद्यमान थीं। फाइयान ने लिखा है—'पुष्पपुर (पाटलीपुत्र) राजा अशोक की की राजधानी था। नगर में अभी तक अशोक का राजप्रासाद और सभाभवन है। सब असुरों के बनाये हुए हैं। पत्थर चुन कर दीवारें और द्वार बनाये गये हैं। उन पर सुंदर खुदाई और पच्चीकारी है। इस लोक के लोग उन्हें नहीं बना सकते। अब तक नये के समान हैं।'

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युनत्सांग सातवीं सदी में भारत आया था। उसने अपने यात्रा-विवरण में अशोक के बनवाये हुए बहुत से स्तूपों का वर्णन किया है, जिन्हें उसने अपनी आंखों से देखा था। तक्षशिला में उसने अशोक के बनवाये हुए तीन स्तूप देखे। जिनमें से प्रत्येक सौ-सौ फुट ऊंचा था। नगरहार के स्तूप की ऊंचाई ३०० फीट थी। इसी तरह मथुरा, थानेसर, कन्नौज, अयोध्या, प्रयाग, कौशांबी, श्रावस्ती, श्रीनगर, कपिलवस्तु, कुशीनगर, बनारस, वैशाली, गया, ताम्रलिप्ती आदि नगर में इसने बहुत से स्तूप देखे, जो अशोक ने बनवाये थे, और जो ऊंचाई में ७०, १००, २००या ३०० फीट तक थे। पाटलीपुत्र में उसने अशोक का राजमहल भी देखा, पर तब तक वह भग्न दशा में आ चुका था। ह्युनत्सांग फाइयान के प्रायः दो सौ वर्ष बाद पाटलीपुत्र गया था। इस अरसे में अशोक का महल खंडहर हो चुका था। गुप्तसाम्राज्य के क्षीण होने पर पाटलीपुत्र की जो दुर्दशा हो गई थी, उसमें संभवतः प्राचीन इमारतों

की रक्षा का यथोचित प्रबंध न रहा हो, और इसीलिये ह्युनत्सांग के समय तक नौ सौ साल पुराना अशोक का राजप्रासाद खंड-हर हो गया हो। इस चीनी यात्री ने पाटलीपुत्र में अशोक के समय का एक बहुत ऊंचा स्तंभ भी देखा, जहां अशोक ने चंडगिरिक की अध्यक्षता में नरकगृह का निर्माण कराया था। काश्मीर में ह्युनत्सांग ने अशोक के बनवाये हुए बहुत से स्तूपों और संघारामों को देखा था, जिनका उल्लेख कल्हण की राजतरंगिणी में भी किया गया है।

(२) सारनाथ

अशोक की अनेक कृतियां बनारस के समीप सारनाथ में उपलब्ध हुई हैं। इनमें से मुख्य ये हैं—

क. प्रस्तर-स्तंभ—इस पर अशोक की एक धर्मलिपि उत्कीर्ण है। यह स्तंभ बहुत ही सुंदर है। इसके सिर पर चार सिंह-मूर्तियां हैं, जो मूर्तिनिर्माण-कला की दृष्टि से अद्वितीय हैं। किसी प्राणी की इतनी सजीव मूर्तियां अन्यत्र कहीं भी नहीं बनीं। मूर्तिकला की दृष्टि से इनमें कोई भी न्यूनता व दोष नहीं है। पहले इन मूर्तियों की आंखें मणियुक्त थीं, अब इनमें मणियां नहीं हैं, पर पहले वहां मणि होने के चिह्न अभी तक विद्यमान हैं। सिंह की चार मूर्तियों के नीचे चार चक्र हैं। चक्रों के बीच में हाथी, सांड, अश्व और शेर अंकित हैं। इन चक्रों तथा प्राणियों को चलती हुई दशा में बनाया गया है। इनके नीचे का अंश एक विशाल घंटे की तरह है। स्तंभ तथा उसका शीर्ष भाग बलुए पत्थर का है, जिसके ऊपर एक वज्रलेप है। यह लेप बहुत ही चिकना, चमकदार तथा सुंदर है। यह वज्रलेप दो हजार से भी अधिक साल बीत जाने पर भी अब तक स्थिर रह सका है, यह सचमुच बड़े आश्चर्य की बात है। अनेक ऐतिहासिकों के मत में यह स्तंभ भारतीय

शिल्प का सब से उत्तम उदाहरण है। इससे बढ़िया शिल्प का अन्य कोई नमूना अब तक भारत में उपलब्ध नहीं हुआ।

ख. पाषाणवेष्टनी—सारनाथ में ही अशोक के समय की बनी हुई एक पाषाणवेष्टनी (रेलिंग) उपलब्ध हुई है। यह सारनाथ के बौद्ध विहार के प्रधान मंदिर के दक्षिण भाग वाले गृह में ईंट के एक छोटे स्तूप के चारों ओर लगी हुई निकली है। यह सारी की सारी एक ही पत्थर की बनी हुई है। बीच में कहीं भी जोड़ नहीं है। सारी पाषाणवेष्टनी बहुत ही सुंदर तथा चिकनी है। इसे बनाने का खर्च 'सर्वाहिका' नाम के किसी व्यक्ति ने दिया था। इसका नाम वेष्टनी पर उत्कीर्ण है।

ग. स्तूप—अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप के कुछ चिह्न सारनाथ की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। ये अशोक के प्रस्तरस्तंभ के समीप ही हैं। अब से कुछ साल पूर्व तक यह स्तूप विद्यमान था, पर सन् १७९३-९४ में काशी के राजा चेतसिंह ने अपने दीवान बाबू जगत सिंह के नाम से जगतगंज मुहल्ला बनवाने के लिये इस स्तूप को तुड़वा कर इस के ईंट, पत्थर आदि मंगवा लिये थे। बाबू जगतसिंह के नाम से ही इस स्तूप के पुराने स्थान को जगतसिंह स्तूप कहा जाता है। इसकी खुदाई के समय में प्राचीन समय की अनेक वस्तुएं प्राप्त हुई थीं।

(४) सांची

मौर्यकाल की कृतियों में सांची का स्तूप बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहां का मुख्य स्तूप मौर्यकाल का या उससे भी पहले का है। यह स्तूप बहुत बड़ा है। आधार के समीप इसका व्यास १२० फीट है। इसकी पूर्णावस्था में इसकी ऊंचाई ७७ फीट के लगभग थी। वर्तमान समय में इसका ऊपर का कुछ भाग टूट गया प्रतीत

होता है। स्तूप लाल रंग के बलुए पत्थर का बना है। यह अर्ध-गोलकाकार (अंड) रूप में बना हुआ है, और इसके चारों तरफ एक ऊंची मेधि है, जो प्राचीन समय में प्रदक्षिणापथ का काम देती थी। इस प्रदक्षिणापथ तक पहुँचने के लिये स्तूप के दक्षिणी भाग में एक दोहरी सोपान है। संपूर्ण स्तूप के चारों ओर भूमि के समतल के साथ एक अन्य प्रदक्षिणापथ है, जो कि पत्थर से बनी हुई पाषाणवेष्टनी से परिवेष्टित है। यह वेष्टनी बहुत ही सादे ढंग की है, और किसी तरह की पच्चीकारी आदि से खचित नहीं है। यह चार चतुष्कोण प्रकोष्ठों में विभक्त है, जिन्हें कि चार सुंदर द्वार एक दूसरे से पृथक् करते हैं। चारों द्वारों पर नानाविध मूर्तियों, उत्कीर्ण चित्रों तथा खचित पच्चीकारी से युक्त तोरण हैं। इनमें बौद्धधर्म की अनेक गाथाओं को व्यक्त किया गया है।

अनेक ऐतिहासिकों का विचार है, कि सांची का यह विशाल स्तूप अशोक के समय का बना हुआ नहीं है। यह उससे लगभग एक सदी पीछे बना था। अशोक के समय में ईंटों का एक सादा स्तूप था, जिसे बढ़ा कर बाद में वर्तमान रूप दिया गया।

सांची के भग्नावशेषों में सम्राट् अशोक के समय की एक अन्य कृति उपलब्ध हुई है। स्तूप के दक्षिणी द्वार पर एक प्रस्तर स्तंभ के अवशेष मिले हैं। विश्वास किया जाता है, कि असल में यह स्तंभ ४२ फीट ऊंचा था। इसके शीर्षभाग पर भी सारनाथ के स्तंभ के सदृश सिंहों की मूर्तियां हैं। वर्तमान समय में ये मूर्तियां भग्नप्राय हो गई हैं, पर अपनी भग्नावस्था में भी वे अशोककाल की कला की उत्कृष्टता का प्रमाण दिखाती हैं। इस स्तंभ पर अशोक का एक लेख भी उत्कीर्ण है। संभवतः, सांची का यह स्तंभ भी अपने असली रूप में सारनाथ के स्तंभ के ही सदृश था।

(५) भरहुत

यह स्थान इलाहाबाद से १५ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर, बघेलखंड की नागोद रियासत में है। यहाँ पर भी अशोक के समय की अनेक कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। सर अलैक्जैंडर कनिंघम ने सन् १८७३ में इस स्थान का पहले-पहल पता लगाया था। उस समय यहाँ एक विशाल स्तूप के अवशेष विद्यमान थे, जो कि ईंटों का बना हुआ था और जिसका व्यास ६८ फीट का था। स्तूप के चारों तरफ एक सुंदर पाषाणवेष्टनी थी, जिस पर विविध बौद्ध गाथायें चित्रों के रूप में अंकित की गई थीं। पाषाणवेष्टिनी की ऊँचाई सात फीट से भी अधिक थी। साँची स्तूप के समान यह पाषाणवेष्टनी चार चतुष्कोण प्रकोष्ठों में विभक्त थी और प्रकोष्ठों के कोनों से युक्त सुंदर द्वार थे। पाषाणवेष्टनी के ऊपर जो चित्र उत्कीर्ण हैं, उनमें जातक ग्रंथों की कथाओं की प्रधानता है, और ये उत्कीर्ण चित्र मौर्यकाल की कला के अत्युत्कृष्ट उदाहरण हैं।

भरहुत के स्तूप में सैकड़ों की संख्या में छोटे छोटे आले बने हुए थे। उत्सव के अवसरों पर इनमें दीपक जलाये जाते थे। वर्तमान समय में यह स्तूप प्रायः नष्ट हो चुका है, और इसकी पाषाणवेष्टनी के बहुत से खंड कलकत्ता म्यूज़ियम की शोभा बढ़ा रहे हैं। यह ध्यान में रखना चाहिये, कि भरहुत के सब अवशेष मौर्यकाल के नहीं हैं। उनमें से कुछ शुंग काल के तथा उसके भी बाद के हैं।

सारनाथ, साँची और भरहुत की पाषाणवेष्टनियों के सदृश ही अन्य वेष्टनियाँ और भी कई स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। बोधगया में प्राप्त एक वेष्टनी के अवशेषों को अशोक के समय का समझा जाता है। प्राचीन पाटलीपुत्र के अवशेषों में भी कम

से कम तीन इस प्रकार की पाषाणवेष्टनियों के खंड प्राप्त हुए हैं, जो मौर्यकाल के हैं। सांची के समीप ही भीलसा के पास बेसनगर नामक स्थान पर इसी प्रकार की पाषाणवेष्टनी प्राप्त हुई है। इस पर भी नानाविध चित्र उत्कीर्ण हैं। इसे भी मौर्य-काल का माना जाता है। ये पाषाणवेष्टनियां कला की दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं। ये प्रायः एक पत्थर की ही बनी हुई हैं, और इनमें कहीं भी जोड़ नहीं है।

(६) तक्षशिला

उत्तरापथ की इस प्राचीन राजधानी के स्थान पर जो खुदाई पिछले दिनों में हुई है, उसमें बहुत सी पुरानी कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। इनमें से केवल दो कृतियाँ मौर्यकाल की हैं। ये दोनों आभूषण हैं। तक्षशिला क्षेत्र के अन्तर्गत भिड़ नामक स्थान से ये आभूषण प्राप्त हुए थे। मौर्यकाल के ये आभूषण बहुत ही सुंदर हैं। ये प्रशस्त रत्नों से जटित हैं, और सोने के बने हुए हैं।

चीनी यात्री ह्युएनत्सांग ने तक्षशिला में जिस कुनाल स्तूप का अवलोकन किया था, वह भी अब वहाँ खुदाई में मिल गया है। पर अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि यह स्तूप मौर्यकाल के बाद का है। जिस स्थान पर अशोक की राजमुद्रा से अंकित कपटलेख के अनुसार कुनाल को अंधा किया गया था, वहाँ के पुराने स्तूप को बढ़ा कर बाद में बहुत विशाल स्तूप का निर्माण किया गया। ह्युएनत्सांग ने इसी स्तूप को देखा था, और तक्षशिला में अब जिस स्तूप के अवशेष मिले हैं, वह भी बाद का ही बना हुआ है।

(७) मौर्यकालीन मूर्तियाँ व अन्य अवशेष

मौर्यकाल की सब से प्रसिद्ध मूर्ति पटना और मथुरा के

बीच में परखम नामक गाँव से मिली है। यह सात फीट ऊँची है, और भूरे बलुए पत्थर की बनी है। ऊपर बहुत ही सुंदर वज्रलेप है। दुर्भाग्य से मूर्ति का मुँह टूट गया है और भुजायें भग्न हो गई हैं। मूर्ति के व्यक्ति की जो पोशाक बनाई गई है, उससे मौर्यकालीन पहरावे का भलीभाँति अनुमान किया जा सकता है। यह मूर्ति अब मथुरा के म्यूज़ियम में विद्यमान है।

मौर्यकाल की एक अन्य मूर्ति बेसनगर से मिली है। यह मूर्ति किसी स्त्री की है। इसकी भी भुजायें टूटी हुई हैं और मुख बिगड़ा हुआ है। मूर्ति की ऊँचाई ६ फीट ७ इंच है।

पटना और दीदरगंज से भी दो अन्य मूर्तियाँ मिली हैं, जो मौर्यकाल की मानी जाती हैं। ये परखम से प्राप्त मूर्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। कुछ ऐतिहासिकों ने इन्हें मौर्यों से भी पहले के शैशुनाक काल का माना है।

अशोक के ऐसे स्तंभों का उल्लेख पहले हो चुका है, जिन पर उसके लेख उत्कीर्ण हैं। पर अशोक द्वारा स्थापित कराये हुए कुछ ऐसे स्तंभ भी मिले हैं, जिन पर कोई भी लेख नहीं है। ऐसा एक स्तंभ बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में बखीरा नामक स्थान पर मिला है। यह स्तंभ ऊँचाई में ४४ फीट २ इंच है। सारा स्तंभ एक ही पत्थर का बना है। यह वजन में चालीस टन के लगभग है, और इसके शिखर पर सिंह की एक अत्यंत सुंदर मूर्ति बनाई है। ऐसा ही एक अन्य स्तंभ बिहार के चंपारन जिले में रामपुरवा नामक स्थान पर मिला है। इसके शिखर पर वृषभ की सुंदर मूर्ति है।

मौर्य काल के गुहाभवनों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। ये राजा अशोक और राजा दशरथ के समय के हैं। इनमें से सब से बड़ा गोपिका गुहाभवन है, जिसे दशरथ ने आजीवक संप्रदाय के साधुओं को दान किया था। इसकी लंबाई ४६

फीट ४ इंच, चौड़ाई १६ फीट २ इंच और ऊँचाई १० फीट ६ इंच है। पहाड़ काट कर गुहामंदिर बनाने की कला ने भारत में आगे चल कर बहुत उन्नति की। अजंता और एलोरा के गुहामंदिर इस कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। पर इसका प्रारंभ मौर्यकाल की गुहाओं से ही हुआ था।

दसवाँ अध्याय

मौर्यकाल की शासनव्यवस्था

(१) कौटलीय अर्थशास्त्र

बीसवीं सदी के प्रारंभ में मैसूर के प्रसिद्ध विद्वान श्री शाम-शास्त्री ने आचार्य चाणक्य द्वारा विरचित अर्थशास्त्र को प्रकाशित किया। प्राचीन भारत में क्या शासनव्यवस्था थी, पुराने समय में भारतीयों के राजनीतिशास्त्र-संबंधी क्या विचार थे, उस समय के क्या क़ानून, व्यवहार व रिवाज थे, आर्थिक दशा क्या थी, इत्यादि सब बातों का परिज्ञान प्राप्त करने के लिये यह ग्रंथ एक अमूल्य भंडार के समान है। इस ग्रंथरत्न की रचना चंद्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री और गुरु चाणक्य ने की, इसी लिये उसमें लिखा है—"जिसने बड़े अमर्ष के साथ शास्त्र का, शस्त्र का और नंदराज के हाथ में गई हुई पृथिवी का उद्धार किया, उसी ने इस शास्त्र की रचना की।" एक अन्य जगह लिखा गया है—'सब शास्त्रों का अनुक्रम करके और प्रयोग समझकर कौटल्य ने नरेंद्र के लिये यह शासन की विधि (व्यवस्था) बनाई।"

पाटलीपुत्र के नंदराजाओं का विनाश कर चाणक्य ने चंद्रगुप्त मौर्य को राजा बनाया, यह हम पहले लिख चुके हैं। उसी चाणक्य ने नरेन्द्र चंद्रगुप्त के लिये शासनविधि का प्रतिपादन करने के निमित्त इस ग्रंथ की रचना की। चाणक्य के अनेक नाम थे। एक पुरानी पुस्तक के अनुसार वात्स्यायन, मल्लनाग, कुटल, चाणक्य, द्रमिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त और अंगुल, आठ नाम इस आचार्य के थे। पुरानी अनेक पुस्तकों में अर्थ-

शास्त्र के कर्त्ता रूप में चाणक्य का उल्लेख किया गया है। कामंदकनीतिसार में चाणक्य द्वारा विरचित अर्थशास्त्र की चर्चा है। दंडी कवि ने दशकुमारचरित में आचार्य विष्णुगुप्त (चाणक्य) द्वारा बनाये गये ६००० श्लोकों वाले अर्थशास्त्र की बात लिखी है। पंचतंत्र, नीतिवाक्यामृत आदि पुस्तकों में भी अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध पंडित इस आचार्य का उल्लेख आता है। टीकाकार मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में 'इति कौटल्यः' लिख कर अर्थशास्त्र से उद्धरण दिये हैं।

ऐतिहासिकों में इस बात पर बहुत विवाद रहा है, कि अर्थशास्त्र की रचना किसी एक विद्वान् द्वारा हुई या वह एक संप्रदाय में धीरे-धीरे बहुत समय तक विकसित होता रहा। क्या वह मौर्ययुग में चाणक्य द्वारा बनाया गया या बाद में चाणक्य के मंतव्यों के अनुसार किसी अन्य व्यक्ति ने इसकी रचना की? हमें इस विवाद में यहाँ पड़ने की आवश्यकता नहीं। अब प्रायः विद्वानों ने यह स्वीकृत कर लिया है, कि कौटलीय अर्थशास्त्र मौर्यकाल की ही रचना है, और इसका निर्माण आचार्य चाणक्य द्वारा नरेन्द्र चंद्रगुप्त के शासन की 'विधि' के रूप में ही हुआ था। यदि इसके कुछ अंशों को बाद का भी बना हुआ माना जाय, तो भी इसमें तो कोई संदेह नहीं, कि इस ग्रंथ से हमें मौर्यकाल की शासनव्यवस्था, आर्थिक दशा और सामाजिक व्यवहार के संबंध में बहुत सी प्रामाणिक बातें मालूम हो जाती हैं। अर्थशास्त्र के अध्ययन से हम मौर्यकालीन भारत के विषय में जो जानकारी प्राप्त कर सकते हैं, वह प्राचीन भारत के किसी अन्य काल के संबंध में किसी भी अन्य साधन से प्राप्त नहीं की जा सकती।

(२) साम्राज्य का शासन

मौर्यों के समय में मगध का साम्राज्य बहुत विस्तृत हो चुका

था। यद्यपि संपूर्ण साम्राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र थी, पर वहाँ से कंबोज, बंग और आंध्र तक विस्तृत साम्राज्य का शासन सुचारु रूप से नहीं किया जा सकता था। अतः शासन की दृष्टि से मौर्यों के अधीन संपूर्ण 'विजित' को पाँच भागों में बाँटा गया था, जिनकी राजधानियाँ क्रमशः पाटलीपुत्र, तोसाली, उज्जैनी, तक्षशिला और सुवर्णगिरि थीं। इन राजधानियों को निगाह में रख कर हम यह सहज में अनुमान कर सकते हैं कि विशाल मौर्य साम्राज्य पाँच चक्रों में विभक्त था। ये चक्र (प्रांत या सूबे) निम्नलिखित थे—(१) उत्तरापथ, जिसमें कंबोज, गांधार, काश्मीर, अफगानिस्तान, पंजाब आदि के प्रदेश अंतर्गत थे। इस की राजधानी तक्षशिला थी। (२) पश्चिम चक्र—इसमें काठियावाड़-गुजरात से लगाकर राजपूताना, मालवा आदि के सब प्रदेश शामिल थे। इसकी राजधानी उज्जैनी थी। (३) दक्षिणापथ—विन्ध्याचल के नीचे का सारा प्रदेश इस चक्र में था, राजधानी सुवर्णगिरि थी (४) कलिंग—अशोक ने अपने नये जीते हुए प्रदेश को एक पृथक् चक्र बनाया था, जिसकी राजधानी तोसाली थी। (५) मध्यदेश—इसमें वर्तमान बिहार संयुक्तप्रांत और बंगाल सम्मिलित थे। इसकी राजधानी पाटलीपुत्र थी। इन पाँचों चक्रों का शासन करने के लिये प्रायः राजकुल के व्यक्तियों को नियत किया जाता था, जिन्हें कुमार कहते थे। कुमार महामात्यों की सहायता से अपने-अपने चक्र का शासन करते थे। अशोक और कुनाल राजा बनने से पूर्व उज्जैनी, तक्षशिला आदि में 'कुमार' रह चुके थे। इन पाँच चक्रों के नीचे फिर अनेक छोटे शासनकेंद्र भी थे, जिनमें 'कुमार' के अधीन महामात्य शासन करते थे। उदाहरण के लिये तोसाली के अधीन समापा में, पाटलीपुत्र के अधीन कौशांबी में और सुवर्णगिरि के अधीन इषिला में महामात्य रहते थे। उज्जैनी के अधीन

सुराष्ट्र का एक पृथक् प्रदेश था, जिसका शासक चंद्रगुप्त के समय में वैश्य पुष्यगुप्त था। अशोक के समय में वहाँ का शासन यवन तुषास्फ के अधीन था। मागध सम्राट् की ओर से जो आज्ञायें प्रचारित की जाती थीं, वे चक्रों के 'कुमारों' के महामात्यों के नाम ही होती थीं। यही कारण है, कि दक्षिणापथ में इसिला के महामात्यों के नाम अशोक ने जो आदेश भेजे, वे सुवर्णगिरि के कुमार व आर्यपुत्र के द्वारा भेजे। इसी प्रकार कलिंग में समापा के महामात्यों को तोसाली के कुमार की मार्फत ही आज्ञा भेजी गई। पर मध्यदेश (राजधानी पाटलिपुत्र) के चक्र पर किसी कुमार की नियुक्ति नहीं होती थी, उसका शासन सीधा सम्राट् के अधीन था। अतः उसके अंतर्गत कौशाम्बी के महामात्यों को अशोक ने सीधे ही अपने आदेश दिये थे।

चक्रों के शासन के लिये कुमार की सहायतार्थ जो महामात्य नियुक्त होते थे उन्हें शासन-संबंधी बहुत अधिकार रहते थे। अतएव अशोक ने चक्रों के शासकों के नाम जो आज्ञायें प्रकाशित कीं, उन्हें केवल कुमार या आर्यपुत्र के नाम से नहीं भेजा गया, अपितु कुमार और महामात्य—दोनों के नाम से प्रेषित किया गया। इसी प्रकार जब कुमार भी अपने अधीनस्थ महामात्यों को कोई आज्ञा भेजते थे, तो उन्हें वे अपने नाम से नहीं। अपितु महामात्य सहित कुमार के नाम से भेजते थे।

मौर्य साम्राज्य के पहले पांच बड़े विभाग थे, और फिर ये चक्र अनेक मंडलों में विभक्त थे। प्रत्येक मंडल में बहुत से जनपद होते थे। संभवतः, ये जनपद प्राचीन युग के जनपदों के प्रतिनिधि थे। शासन की दृष्टि से फिर जनपदों के विविध विभाग होते थे, जिन्हें कौटलीय अर्थशास्त्र में स्थानीय, द्रोण-मुख, खार्वटिक, संग्रहण और ग्राम कहा गया है। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। दस ग्रामों के समूह को संग्रहण

कहते थे। बीस संग्रहणों (या २०० ग्रामों) से एक खार्वटिक बनता था। दो खार्वटिकों (या ४०० ग्रामों से एक द्रोणमुख और दो द्रोणमुखों (८०० ग्रामों) से एक स्थानीय बनता था। संभवतः स्थानीय, द्रोणमुख और खार्वटिक शासन की दृष्टि से एक ही विभाग को सूचित करते हैं। जनपद शासन के लिये जिन विभागों में विभक्त होता था, उन्हें स्थानीय (संभवतः, वर्तमान समय का थाना) कहते थे। स्थानीय के हिस्सों को संग्रहण कहते थे। एक संग्रहण में प्रायः दस ग्राम रहते थे। स्थानीय में लगभग ८०० ग्राम हुआ करते थे। पर कुछ स्थानीय आकार में छोटे होते थे, या कुछ प्रदेशों में आबादी घनी न होने के कारण 'स्थानीय' में गाँवों की संख्या कम रहती थी। ऐसे ही स्थानों को द्रोणमुख या खार्वटिक कहा गया था।

ग्राम का शासक ग्रामिक, संग्रहण का गोप और स्थानीय का स्थानिक कहलाता था। संपूर्ण जनपद के शासक को समाहर्त्ता कहते थे। समाहर्त्ता के ऊपर महामात्य होते थे, जो चक्रों के अंतर्गत विविध मंडलों का शासन करने के लिये केंद्रीय सरकार की ओर से नियुक्त होते थे। इन मंडलमहामात्यों के ऊपर कुमार और उसके शासक महामात्य रहते थे। सब से ऊपर पाटलीपुत्र का मौर्य सम्राट् था।

सम्राट् की शासनकार्य में सहायता करने के लिये एक मंत्रिपरिषद् होती थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में इस मंत्रिपरिषद् का विस्तार से वर्णन किया गया है। अशोक के शिलालेखों में भी उसकी परिषद् का बार-बार उल्लेख है। चक्रों के शासक कुमार भी जिन महामात्यों की सहायता से शासनकार्य करते थे, उनकी एक परिषद् ही रहती थी। केंद्रीय सरकार की ओर से जो राजकर्मचारी साम्राज्य में शासन के विविध पदों पर नियुक्त थे, उन्हें 'पुरुष' कहते थे। ये पुरुष उत्तम, मध्यम और छोटे—इन तीन दर्जों के

होते थे। जनपदों के समूहों (मंडलों) के ऊपर शासन करने वाले महामात्यों की संज्ञा संभवतः प्रादेशिक या प्रदेष्टा थी। उनके अधीन जनपदों के शासक समाहर्ता कहलाते थे। निःसंदेह, ये उत्तम 'पुरुष' होते थे। इनके अधीन 'युक्त' आदि विविध कर्मचारी मध्यम व हीन दर्जे में रखे जाते थे।

जनपदों के शासन का संचालन करने के लिये जहां केंद्रीय सरकार की तरफ से समाहर्ता नियत थे, वहां जनपदों की अपनी आंतरिक स्वतंत्रता भी अक्षुण्ण रूप से कायम थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में बार-बार इस बात पर जोर दिया गया है, कि जनपदों, नगरों या ग्रामों के धर्म, चरित्र और व्यवहार को अक्षुण्ण रखा जाय। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि इनमें अपना स्थानीय शासन पुरानी परंपरा के अनुसार जारी था। सब जनपदों में एक ही प्रकार की आंतरिक स्वतंत्रता नहीं थी। हम जानते हैं, कि मागध साम्राज्य के विकास से पूर्व कुछ जनपदों में गणशासन और कुछ में राजाओं का शासन था। इनके व्यवहार और धर्म अलग-अलग थे। जब वे मगध के साम्राज्यवाद के शिकार हो गये, तो भी उनमें अपनी पुरानी परंपरा के अनुसार स्थानीय शासन जारी रहा। पर ग्रामों में पुरानी ग्रामसभा (पंचायत) और नगरों में नगरसभा (पौर सभा) के अधिकार कायम रहे। ग्रामों के समूहों जनपदों में भी जानपदसभा की सत्ता विद्यमान रही। पर केन्द्रीय सरकार की तरफ से भी विविध करों को एकत्र करने तथा शासन का संचालन करने के लिये 'पुरुष' नियुक्त होते रहे।

मौर्य साम्राज्य के शासन का यही स्थूल ढांचा है। अब हम इसका अधिक विस्तार से विवरण करेंगे।

(३) विजिगीषु राजर्षि सम्राट्

विविध जनपदों और गणराज्यों को जीतकर जिस विशाल मागध साम्राज्य का निर्माण हुआ था, उसका केन्द्र राजा या सम्राट् था। चाणक्य के अनुसार राज्य के सात अंगों में केवल दो ही की मुख्यता है, राजा और देश की। प्राचीन परंपरा के अनुसार राज्य के सात अंग होते थे—राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, सेना और मित्र। पुराने युग में जब छोटे-छोटे जनपद होते थे, उनमें एक ही जन का निवास होता था, तो राजा की उनमें विशेष महत्ता नहीं होती थी। इसीलिये आचार्य भारद्वाज की दृष्टि में राजा की अपेक्षा अमात्य को अधिक महत्ता थी। अन्य आचार्यों की दृष्टि में अमात्य की अपेक्षा भी जनपद का या दुर्ग व कोश आदि का महत्त्व अधिक था। एक जन के निवासस्थान, प्राचीन काल के जनपदों में राजा की अपेक्षा अन्य अंगों व तत्त्वों की प्रमुखता सर्वथा स्वाभाविक थी। जनपदों को जीतकर जिन साम्राज्यों का निर्माण हो रहा था, उनका केन्द्र राजा ही था, वे एक महाप्रतापी महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति की ही कृति थे। उसी ने कोष, सेना, दुर्ग आदि का संगठन कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। कौटिल्य के शब्दों में 'मंत्रि, पुरोहित आदि भृत्यवर्ग की और राज्य के विविध अध्यक्षों व अमात्यों की नियुक्ति राजा ही करता है। राजपुरुषों में, कोष व जनता में यदि कोई विपत्ति आ जाय, तो उसका प्रतीकार राजा द्वारा ही होता है। इनकी उन्नति भी राजा के हाथ में है। यदि अमात्य ठीक न हों, तो राजा इन्हें हटा कर नये अमात्यों की नियुक्ति करता है। पूज्य लोगों की पूजा कर व दुष्ट लोगों का दमन कर राजा ही सब का कल्याण करता है। यदि राजा संपन्न हो, तो उसकी समृद्धि से प्रजा भी संपन्न होती है। राजा

का जो शील हो, वही शील प्रजा का भी होता है। यदि राजा उद्यमी व उत्थानशील हो, तो प्रजा भी उत्थानशील होती है। यदि राजा प्रमादी हो, तो प्रजा भी वैसी ही हो जाती है। अतः राज्य में कूटस्थानीय (केंद्रीभूत) राजा ही है।'

जब साम्राज्यों में राजा का इतना महत्व है, तो राजा को भी एक आदर्श व्यक्ति होना चाहिये। कोई साधारण पुरुष राज्य का कूटस्थानीय नहीं हो सकता। चाणक्य के अनुसार राजा में निम्नलिखित गुण आवश्यक हैं। 'वह ऊँचे कुल का हो, उसमें दैवी बुद्धि और दैवी शक्ति हो, वृद्ध (Elders) जनों की बात को सुनने वाला हो, धार्मिक हो, सत्य भाषण करने वाला हो, परस्पर विरोधी बातें न करे, कृतज्ञ हो, उसका लक्ष्य बहुत ऊँचा हो, उसमें उत्साह अत्यधिक हो, दीर्घसूत्री न हो, सामंत राजाओं को अपने वश में रखने में समर्थ हो, उसकी बुद्धि दृढ़ हो, उसकी परिषद् छोटी न हो और वह विनय (नियंत्रण) का पालन करने वाला हो।' इन के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से गुणों का चाणक्य ने विस्तार से वर्णन किया है, जो राजा में अवश्य होने चाहिये। राजा की बुद्धि बहुत तीक्ष्ण होनी चाहिये। स्मरण-शक्ति, बुद्धि, और बल की उसमें अधिकता होनी चाहिये। वह अत्यंत उग्र, अपने ऊपर काबू रखने वाला, सब शिल्पों में निपुण, सब दोषों से रहित और दूरदर्शी होना चाहिये। काम, क्रोध, लोभ, मोह, चपलता आदि पर उसे पूरा काबू होना चाहिये।

चाणक्य इस बात को भली-भाँति समझता था, कि इस प्रकार का आदर्श पुरुष सुगमता से नहीं मिल सकता। पर शिक्षा और विनय से ये गुण उत्पन्न किये जा सकते हैं। यदि एक कुलीन और होनहार व्यक्ति को बचपन से ही उचित शिक्षा दी जावे, तो उसे एक आदर्श राजा बनने के लिये तैयार किया जा सकता है। चाणक्य ने उस शिक्षा और विनय का विस्तार से वर्णन

किया है, जो बचपन और युवावस्था में राजा को दी जानी चाहिये। राजा के लिये आवश्यक है, कि वह काम, क्रोध, लोभ मोह, मद और हर्ष—इन छः शत्रुओं को परास्त कर अपनी इंद्रियों पर पूर्णतया विजय करे। उसके समय का एक-एक क्षण काम में लगा हो। दिन में तो उसे बिल्कुल ही विश्राम नहीं करना चाहिये। रात को भी उसे तीन घण्टे से अधिक सोने की आवश्यकता नहीं। रात और दिन में उसके सारे समय का पूरा कार्यक्रम चाणक्य ने दिया है। भोग-विलास, नाच-रंग आदि के लिये कोई भी समय इसमें नहीं दिया गया। चाणक्य का राजा एक राजर्षि है, जो सर्वगुणसंपन्न आदर्श पुरुष है, जिसका एकमात्र लक्ष्य विजिगीषा है। वह संपूर्ण जनपदों को विजय कर अपने अधीन करने के लिये प्रयत्नशील है। चातुरंत साम्राज्य की कल्पना को उसे कार्यरूप में परिणत करना है। उनका मंतव्य है कि 'सारी पृथिवी एक देश है। उसमें हिमालय से लेकर समुद्रपर्यन्त सीधी रेखा खींचने से जो एक हजार योजन लम्बा प्रदेश है, वह एक चक्रवर्ती राजा का क्षेत्र है।' हिमालय से समुद्र तक फैली हुई एक हजार योजन लम्बी जो यह भारत भूमि (देश) है, वह सब एक चक्रवर्ती राजा के अधीन होनी चाहिये, इस स्वप्न को जिस व्यक्ति को 'कूटस्थानीय' होकर पूरा करना हो, वह यदि सर्वगुणसंपन्न न हो, राजर्षि का जीवन न व्यतीत करे, और काम-क्रोध आदि शत्रुओं का शिकार हो, तो वह कैसे सफलता प्राप्त कर सकता है? अतः कौटलीय अर्थशास्त्र के विजिगीषु राजा को पूर्ण पुरुष हो कर राजर्षि का जीवन व्यतीत करते हुए अपना कार्य करना चाहिये।

मगध ने जिस प्रकार के साम्राज्य का विकास किया था, उस की सफलता के लिये अवश्य ही राजा को अनुपम शक्तिशाली और गुणसंपन्न होना चाहिये था। निःसंदेह, मागध साम्राज्य

के शासन में राजा ही 'कूटस्थानीय' होता था। यही कारण है, कि यदि कोई राजा निर्बल या अयोग्य हुआ, तो उसके विरुद्ध विद्रोह उठ खड़े होते थे, और साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगती थी। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य चाणक्य ने राजा के वैयक्तिक गुणों पर अत्यधिक बल दिया है।

कूटस्थानीय एकराट् राजा की वैयक्तिक रक्षा इस युग में एक बहुत बड़ी समस्या होती थी। गुप्त शत्रुओं से राजा की रक्षा करने के लिये कौटलीय अर्थशास्त्र में बड़े विस्तार से उपायों का वर्णन किया गया है। अपने शयनागार में राजमहिषी के पास जाते हुए भी राजा निश्चिन्त नहीं हो सकता था। शैय्या के नीचे कोई शत्रु तो नहीं छिपा है, कहीं रानी ने ही अपने केशों में या वस्त्रों में कोई शस्त्र या विष तो नहीं छिपा लिया है, इन सब बातों का भलीभाँति ध्यान रखा जाता था।

(४) मन्त्रिपरिषद्

आचार्य चाणक्य के अनुसार राजवृत्ति तीन प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय। जो अपने सामने हो, वह प्रत्यक्ष है। जो दूसरे बतावें, वह परोक्ष है। किये हुए कर्म से, बिना किये का अंदाज करना अनुमेय कहलाता है। सब काम एक साथ नहीं होते। राजकर्म बहुत से होते हैं और बहुत से स्थानों पर होते हैं। अतः एक राजा सारे राजकर्म अपने आप नहीं कर सकता। इस लिये उसे अमात्यों की नियुक्ति करने की आवश्यकता होती है। इसीलिये यह भी आवश्यक है, कि मंत्री नियत किये जाँय, जो परोक्ष और अनुमेय राजकर्मों के संबंध में राजा को परामर्श देते रहें। राज्यकार्य सहायता के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। एक पहिये से राज्य की गाड़ी नहीं चल सकती, इस लिये राजा सचिवों की नियुक्ति करे, और उनकी सम्मति को

सुने। अच्छी बड़ी मंत्रिपरिषद् को रखना राजा के अपने लाभ के लिये है, इससे उसकी अपनी 'मंत्रशक्ति' बढ़ती है। परिषद् में कितने मंत्री हों, इस विषय में विविध आचार्यों के विविध मत थे। मानव, बार्हस्पत्य, औशनस आदि राजशास्त्र के संप्रदायों के मत में मंत्रिपरिषद् में क्रमशः बारह, सोलह और बीस मंत्री होने चाहिये। पर चाणक्य किसी निश्चित संख्या के पक्ष में नहीं थे। उनका मत था, कि जितनी सामर्थ्य हो, जितनी आवश्यकता हो, उतने ही मंत्रीपरिषद् में रख लिये जांय।

मंत्रिपरिषद् का कार्य सर्वथा गुप्त हो, इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था। चाणक्य के अनुसार इस के लिये ऐसा स्थान चुनना चाहिये, जहां पक्षियों तक की भी दृष्टि न पड़े, जहां से कोई भी बात बाहर का आदमी न सुन सके। सुनते हैं, कि शुक, सारिका, कुत्ते आदि जीव-जन्तुओं तक से मंत्र का भेद खुल गया। इसलिये मंत्ररक्षा का पूरा प्रबंध किये बिना इस कार्य में कभी प्रवृत्त न हो। यदि कोई मंत्र का भेद खोले, तो उसे जान से मार दे।

बहुत गुप्त बातों पर राजा मंत्रिपरिषद् में सलाह नहीं करते थे, वे एक-एक मंत्री से अलग-अलग परामर्श करते थे, और इस संबंध में चाणक्य का यह आदेश था, कि जिस बात पर सलाह लेनी हो, उससे उलटी बात इशारे से पूछी जाय, ताकि किसी मंत्री को यह न मालूम पड़े कि राजा के मन में क्या सोचना है, और वह वस्तुतः किस बात पर सलाह लेना चाहता है।

बड़ी मंत्रिपरिषद् के अतिरिक्त एक छोटी उपसमिति भी होती थी, जिसमें तीन या चार खास मंत्री रहते थे। इसे 'मंत्रिणः' कहा जाता था। जरूरी मामलों पर इसकी सलाह ली जाती थी। राजा प्रायः अपने 'मंत्रिणः' और 'मंत्रिपरिषद्' के परामर्श से ही राज्यकार्य का संचालन करता था। वह भलीभांति

समझता था, कि मंत्रसिद्धि अकेले से कभी नहीं हो सकती। जो बात मालूम नहीं है, उसे मालूम करना, जो मालूम है, उसका निश्चय करना, जिस बात में दुविधा है, उसके संशय को नष्ट करना, और जो बात केवल आंशिक रूप से मालूम है, उसे पूर्णांश में जानना, यह सब कुछ मंत्रिपरिषद् में मंत्र द्वारा ही हो सकता है। अतः जो लोग बुद्धिवृद्ध हों, उन्हें सचिव या मंत्री बनाकर उनसे सलाह लेनी चाहिये। मंत्रिपरिषद् में जो बात भूयिष्ठ (अधिक संख्या के) कहें, उसी के अनुसार कार्य करना उचित है। पर यदि राजा को भूयिष्ठ की बात 'कार्यसिद्धिकर' प्रतीत न हो, तो उसे उचित है, कि वह उसी सलाह को माने, जो उसकी दृष्टि में कार्यसिद्धिकर हो। जो मंत्री उपस्थित न हों, उनकी सम्मति पत्र द्वारा भी ली जाय। मंत्रिपरिषद् में केवल ऐसे ही व्यक्तियों को नियत किया जाय, जो 'सर्वोपधा शुद्ध' हों, अर्थात् सब प्रकार से परीक्षा करके जिनके विषय में यह निश्चय हो जाय, कि वे सब प्रकार के दोषों। निर्बलताओं से विरहित हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि मौर्यकाल में मगध के राजा राज्यकार्य में परामर्श लेने के लिये मंत्रिपरिषद् रखते थे। अशोक के शिलालेखों में जिसे 'परिषा' कहा है, वही कौटलीय अर्थशास्त्र की मंत्रिपरिषद् है। पर इस परिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति न तो निर्वाचन से होती थी और न इसके कोई कुलक्रमानुगत सदस्य होते थे। परिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति राजा अपनी स्वेच्छा से करता था। जिन अमात्यों व अन्य व्यक्तियों को वह 'सर्वोपधा शुद्ध' पाता था, उनमें से कुछ को आवश्यकतानुसार मंत्रिपरिषद् में नियुक्त कर लेता था। प्रायः राजा मंत्रियों की सलाह के अनुसार कार्य करता था, पर यदि वह उनके मत को कार्यसिद्धिकर न समझे, तो अपनी इच्छा-

नुसार भी कार्य कर सकता था। मागध साम्राज्य में केंद्रीभूत कूट-स्थानीय स्थिति राजा की ही थी। देश और प्रजा की उन्नति या अवनति उसी के हाथ में थी, अतः उसके मार्ग में मंत्रिपरिषद् बाधा नहीं डाल सकती थी। पर यदि राजा कुपथगामी हो जाय, राज्यकार्य की सर्वथा उपेक्षा कर ऐसे कार्यों में लग जाय, जिनसे प्रजा का अहित हो, तो प्रकृतियों (मंत्रियों और अमात्यों) को यह अधिकार अवश्य था, कि वे उसके विरुद्ध उठ खड़े हों और उसे बलात् ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करें। भारत की यह प्राचीन परंपरा थी। पुराने जनपदों में सभा, समिति या पौर जानपद राजा को सन्मार्ग पर स्थिर रखने में सदा प्रयत्नशील रहते थे। मागध साम्राज्य की मंत्रिपरिषद् यद्यपि राजा की अपनी कृति थी, तथापि वह प्राचीन परिपाटी के अनुसार राजा को सुपथ पर लाने के कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करती थी। यही कारण है, कि जब अशोक ने बौद्ध संघ को अनुचित रूप से राजकोष से दान देने का विचार किया, तो युवराज संप्रति द्वारा अमात्यों ने उसे रुकवा दिया।

(५) जनता का शासन

पर यदि मागध साम्राज्य के शासन में कूटस्थानीय राजा का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान था, और उसकी मंत्रिपरिषद् भी इसी तरह से उसकी अपनी नियत की हुई सभा होती थी, तो क्या मागध राजाओं का शासन सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी था? क्या उस समय की जनता शासन में ज़रा भी हाथ नहीं रखती थी? यह ठीक है, कि अपने बाहुबल और सैन्यशक्ति से विशाल साम्राज्य का निर्माण करने वाले मागध सम्राटों पर अंकुश रखने वाली कोई अन्य सर्वोच्च सत्ता नहीं थी, और वे राजा ठीक प्रकार से प्रजा का पालन करें, इस बात की प्रेरणा

करने वाली शक्ति उनकी अपनी योग्यता, अपनी महानुभावता और अपनी सर्वगुणसंपन्नता के अतिरिक्त और कोई चीज नहीं थी, पर मागध साम्राज्य के शासन में जनता का बहुत बड़ा हाथ था। मागध साम्राज्य ने जिन विविध जनपदों को अपने अधीन किया था, उनके व्यवहार, धर्म और चरित्र अभी अक्षुण्ण थे। वे अपना शासन बहुत कुछ स्वयं ही करते थे। इस युग के शिल्पी और व्यवसायी जिन श्रेणियों में संगठित थे, वे अपना शासन स्वयं करती थीं। नगरों की पौरसभायें व्यापारियों के पूग और निगम तथा ग्रामों की ग्रामसभायें अपने आंतरिक मामलों में अब भी पूर्ण स्वतंत्र थीं। राजा लोग देश के प्राचीन परंपरागत राजधर्म का पालन करते थे, और अपने व्यवहार का निश्चय उसी के अनुसार करते थे। यह धर्म और व्यवहार सनातन थे, राजा की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं थे। इन्हीं सब का परिणाम था, कि पाटलीपुत्र में विजिगीषु राजर्षि राजाओं के रहते हुए भी जनता अपना शासन अपने आप करती थी। इन सब बातों पर जरा अधिक विस्तार से प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

(क) जनपदों का शासन—मगध के साम्राज्यवाद ने धीरे-धीरे भारत के सभी पुराने जनपदों को अपने अधीन कर लिया था। पर इन जनपदों की पहले अपनी सभायें होती थीं, जिन्हें पौर जानपद कहते थे। जनपद की राजधानी की सभा को पौर और शेष प्रदेश की सभा को जानपद कहा जाता था। प्रत्येक जनपद के अपने धर्म, व्यवहार और चरित्र भी होते थे। मगध के सम्राटों ने इन विविध जनपदों को जीतकर इनकी आंतरिक स्वतंत्रता को कायम रखा। कौटलीय अर्थशास्त्र में एक प्रकरण है, जिसका नाम 'लब्ध प्रशमनम्' है। इसमें यह वर्णन किया गया है, कि नये जीते हुए प्रदेश के साथ क्या व्यवहार किया जाय,

उनमें किस प्रकार शांति स्थापित की जाय। इसके अनुसार नये जीते हुए प्रदेश में राजा अपने को जनता का प्रिय बनाने का प्रयत्न करे। जनता के विरुद्ध आचरण करने वाले का विश्वास नहीं बन सकता, अतः राजा उनके समान ही अपना शील, वेष, भाषा और आचार बना ले। देश के देवताओं, समाजों, उत्सवों और विहारों का आदर करे। इनके धर्म, व्यवहार आदि का उल्लंघन न करे।

सब जनपदों के साथ एक सा बरताव नहीं किया जाता था, पुराने गणराज्य मगध के साम्राज्यविस्तार के मार्ग में घोर रुकावट थे। आचार्य चाणक्य की इनके संबंध में नीति यह थी, कि इन सब को दमन करके 'एकराज' की स्थापना की जाय। संघ या गणराज्यों को वश में करने के लिये चाणक्य ने साम, दान, दंड, भेद—सब प्रकार के उपायों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। इन उपायों में से बहुत से ऐसे भी हैं, जिन्हें नैतिक दृष्टि से शायद उचित न समझा जाय। शराब, द्यूत, फूट आदि सब प्रकार के उपायों का अवलंबन करके संघराज्यों का सर्वथा अंत कर दिया जाय, यही चाणक्य को अभिप्रेत था। पुराने वज्जि, शाक्य आदि गणों ने बढ़ते हुए साम्राज्यवाद के मार्ग में किस प्रकार रुकावटें उपस्थित की थीं, इसी को दृष्टि में रखते हुए चाणक्य को गणराज्यों की सत्ता बिलकुल भी पसंद नहीं थी और इसने उनके संबंध में 'एकराज' नीति का उपदेश किया था। पर इस प्रकार के घोर उपायों से संघों को नष्ट करने के बाद भी उनके धर्म, व्यवहार और चरित्र का आदर किया जाता था, और उनमें पृथक् होने की अनुभूति विद्यमान रहती थी। इसी कारण मगध के साम्राज्यवादी सम्राट् गणों या संघों का पूर्णतया कभी विनाश नहीं कर सके, और उनकी शक्ति के शिथिल होते ही वे फिर से स्वतंत्र हो गये।

जनपदों का शासन करने के लिये सम्राट् की तरफ से समाहर्त्ता नामक राजपुरुष की नियुक्ति होती थी। पर यह जनपद के आंतरिक शासन में हस्तक्षेप नहीं करता था। पर आंतरिक स्वशासन की दृष्टि से सब जनपदों की स्थिति एक समान नहीं थी। मौर्यों से पहले भी अवंति, कोशल, वत्स आदि के राजाओं ने बहुत से जनपदों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। मगध के भी शैशुनाक, नंद आदि वंशों के राजा अपने साम्राज्य का बहुत कुछ विस्तार करने में सफल हुए थे। इनमें से अनेक राजा 'अधार्मिक' भी थे, और इन्होंने प्राचीन आर्यमर्यादा के विपरीत अपने जीते हुए जनपदों की आंतरिक स्वतंत्रता का भी विनाश किया था। जो जनपद देर से मागध साम्राज्य के अधीन थे, उनकी अपेक्षा नये जीते हुए जनपदों का पृथक् व्यक्तित्व अधिक सुरक्षित था। यही कारण है, कि मौर्य साम्राज्य की शक्ति के शिथिल होने पर सब से पहले यही कलिंग, आंध्र आदि जनपद मगध की अधीनता से विमुक्त हो गये।

(ख) नगरों का शासन—मौर्यकाल में नगरों में स्थानीय स्वशासन की क्या दशा थी, इसका सबसे अच्छा परिचय मैगस्थनीज के यात्राविवरण से मिलता है। मैगस्थनीज ने पाटलीपुत्र के नगरशासन का विस्तार से वर्णन किया है। उसके अनुसार पाटलीपुत्र की नगर सभा छः उपसमितियों में विभक्त थी। प्रत्येक उपसमिति के पाँच-पाँच सदस्य होते थे। इन उपसमितियों के कार्य निम्नलिखित थे।

पहली उपसमिति का कार्य औद्योगिक तथा शिल्पसंबंधी कार्यों का निरीक्षण करना था। मजदूरी की दर निश्चित करना तथा इस बात पर विशेष ध्यान देना कि शिल्पी लोग शुद्ध तथा पक्का माल काम में लाते हैं, और मजदूरों के कार्य का समय तय करना इसी उपसमिति का कार्य था। चंद्रगुप्त मौर्य के समय

में शिल्पी लोगों का समाज में बड़ा आदर था। प्रत्येक शिल्पी राष्ट्र की सेवा में नियुक्त माना जाता था। यही कारण है, कि यदि कोई मनुष्य किसी शिल्पी के ऐसे अंग को विकल कर दे, जिससे कि उसके हस्तकौशल में न्यूनता आ जावे, तो उसे मृत्यु-दंड की व्यवस्था थी।

दूसरी उपसमिति का कार्य विदेशियों का सत्कार करना था। इस समय जो काम विदेशों के दूतमंडल करते हैं, उनमें से अनेक कार्य यह समिति किया करती थी। जो विदेशी पाटली-पुत्र में आवें उन पर यह उपसमिति कड़ी निगाह रखती थी। साथ में, विदेशियों के निवास, सुरक्षा और समय-समय पर औषधोपचार का कार्य भी इस उपसमिति के सुपुर्द था। यदि किसी विदेशी की पाटलीपुत्र में मृत्यु हो गई, तो उसे उस देश के रिवाज के अनुसार दफनाने का प्रबंध भी इसी की तरफ से होता था। मृत परदेसी की जायदाद व संपत्ति का प्रबंध भी यही उपसमिति करती थी।

तीसरी उपसमिति का काम मर्दुमशुमारी करना होता था। मृत्यु और जन्म की सूची रखना इसी उपसमिति का कार्य था। कर लगाने के लिये यह सूची बड़ी उपयोगी होती थी।

चौथी उपसमिति क्रय-विक्रय के नियमों का निर्धारण करती थी। भार और माप के परिमाणों को निश्चित करना, व्यापारी लोग उनका शुद्धता के साथ-साथ और सही-सही उपयोग करते हैं, इसका निरीक्षण करना इस उपसमिति का कार्य था। व्यापारी लोग जब किसी खास वस्तु को बेचने की अनुमति प्राप्त करना चाहते थे, तो इसी उपसमिति के पास आवेदनपत्र भेजते थे। ऐसी अनुमति देते समय यह उपसमिति अतिरिक्त कर भी वसूल करती थी।

पाँचवीं उपसमिति व्यापारियों पर इस बात के लिये कड़ा

निरीक्षण रखती थी, कि वे लोग नई और पुरानी वस्तुओं को मिला कर तो नहीं बेचते। नई और पुरानी चीजों को मिलाकर बेचना नियम के विरुद्ध था। इसको भङ्ग करने पर सजा दी जाती थी। यह नियम इस लिये बनाया गया था, क्योंकि पुरानी वस्तुओं का बाजार में बेचना कुछ विशेष अवस्थाओं को छोड़ कर सर्वथा निषिद्ध था।

छठवीं उपसमिति का कार्य क्रय-विक्रय पर टैक्स वसूल करना होता था। उस समय में यह नियम था, कि जो कोई वस्तु जिस कीमत पर बेची जाय, उस का दसवाँ भाग कर रूप में नगरसभा को दिया जाय। इस कर को न देने से कड़े दण्ड की व्यवस्था थी।

इस प्रकार छः उपसमितियों के पृथक्-पृथक् कार्यों का उल्लेख कर मैगस्थनीज ने लिखा है, कि "ये कार्य हैं, जो उपसमितियाँ पृथक् रूप से करती हैं। पर सामूहिक रूप में, जहाँ उपसमितियों को अपने-अपने विशेष कार्यों का ख्याल करना होता है, वहाँ वे सब मिलकर सार्वजनिक या सर्वसाधारण हित के कार्यों पर भी ध्यान देती हैं। यथा, सार्वजनिक इमारतों को सुरक्षित रखना, उनकी मरम्मत का ख्याल रखना, कीमतों को नियंत्रित करना, बाजार, बंदरगाह और मंदिरों पर ध्यान देना।"

मैगस्थनीज के इस विवरण से स्पष्ट है, कि मौर्य चंद्रगुप्त के शासन में पाटलीपुत्र का शासन तीस नागरिकों की एक सभा के हाथ में था। सम्भवतः, यही प्राचीन पौरसभा थी। इस प्रकार की पौरसभायें तक्षशिला, उज्जैनी आदि अन्य नगरियों में भी विद्यमान थीं। जब उत्तरापथ के विद्रोह को शान्त करने के लिये कुमार कुणाल तक्षशिला गया था, तो वहाँ के 'पौर' ने उसका स्वागत किया था। अशोक के शिलालेखों में भी ऐसे निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे सूचित होता है, कि उस समय के बड़े

नगरों में पौर सभा विद्यमान थी। जिस प्रकार मागध साम्राज्य के अंतर्गत विविध जनपदों में अपने परंपरागत धर्म, व्यवहार और चरित्र विद्यमान थे, उसी प्रकार पुरों व नगरों में भी थे। यही कारण है, कि नगरों के निवासी अपने नगरों के शासन में पर्याप्त अधिकार रखते थे।

(ग) ग्रामों का शासन—जनपदों में बहुत से ग्राम सम्मिलित होते थे, और प्रत्येक ग्राम शासन की दृष्टि से अपनी पृथक् व स्वतंत्र सत्ता रखता था। कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से हमें इन ग्रामसंस्थाओं के संबंध में बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं। प्रत्येक ग्राम का शासक पृथक्-पृथक् होता था, जिसे ग्रामिक कहते थे। ग्रामिक ग्राम के अन्य निवासियों के साथ मिल कर अपराधियों को दंड देता था, और किसी व्यक्ति को ग्राम से बहिष्कृत भी कर सकता था। ग्राम की अपनी सार्वजनिक निधि भी होती थी। जो जुर्माने ग्रामिक द्वारा किये जाते थे, वे इसी निधि में जमा होते थे। ग्राम की तरफ से सार्वजनिक हित के अनेक कार्यों की व्यवस्था होती थी। लोगों के मनोरंजन के लिये विविध तमाशों (प्रेक्षाओं) की व्यवस्था की जाती थी, जिसमें सब ग्रामवासियों को हिस्सा बटाना होता था। जो लोग अपने सार्वजनिक कर्तव्य की उपेक्षा करते थे, उन पर जुर्माना किया जाता था। इससे यह सूचित होता है, कि ग्राम का अपना एक पृथक् संगठन भी उस युग में विद्यमान था। यह ग्रामसंस्था न्याय का भी कार्य करती थी। ग्राम सभाओं में बनाये गये नियम साम्राज्य के न्यायालयों में मान्य होते थे। अक्षपटल के अध्यक्ष के कामों में से एक यह भी था, कि वह ग्रामसंघ के धर्म, व्यवहार, चरित्र, संस्थान आदि को निबंध पुस्तकस्थ (रजिस्टर्ड) करे।

भारत की इन्हीं ग्रामसंस्थाओं के कारण यहां के निवासियों

की वास्तविक स्वतंत्रता सदा सुरक्षित रही है। इस देश की सर्वसाधारण जनता का बड़ा भाग सदा से ग्रामों में बसता रहा है। ग्राम के लोग अपने सुख व हित की अपने संघ में स्वयं व्यवस्था करते थे, अपने लिये स्वयं नियम बनाते थे और अपने मनोरंजन का भी स्वयं ही प्रबंध करते थे। इस दशा में साम्राज्य के अधिपति की निरंकुशता या एक सत्ता का उन पर विशेष असर नहीं होता था।

(ख) व्यवसायियों की श्रेणियां—मौर्यकाल के व्यवसायी और शिल्पी श्रेणियों (Guilds) में संगठित थे। ये श्रेणियां अपने नियम स्वयं बनाती थीं, और अपने संघ में सम्मिलित शिल्पियों के जीवन व कार्य पर पूरा नियंत्रण रखती थीं। इनके नियम, व्यवहार और चरित्र आदि को भी राजा की तरफ से स्वीकृत किया जाता था।

(ग) धर्म और व्यवहार—मगध के मौर्य सम्राट् अपने साम्राज्य पर अपनी स्वेच्छा और निरंकुशता से शासन न कर धर्म और व्यवहार के अनुसार राज्य करते थे। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है, कि जो राजा धर्म, व्यवहार, संस्था और न्याय के अनुसार अनुशासन करता है, वह चातुरंत पृथिवी को विजित कर लेता है। चाणक्य के विजिगीषु के लिये यह आवश्यक है, कि वह निरंकुश और स्वेच्छाचारी राजा न हो, अपितु धर्म, व्यवहार आदि के अनुसार ही शासन करे। अर्थशास्त्र में यह विचार विद्यमान है, कि राजा जनता से जो छठवां भाग कर के रूप में लेता है, वह उसका एक प्रकार का वेतन है। इसके बदले में वह प्रजा के योग-क्षेम का संपादन करता है। राजा को धर्म और न्याय के अनुसार शासन करना है, यह विचार प्राचीन समय में इतना प्रबल था, कि आचार्य चाणक्य ने यह व्यवस्था की है कि यदि राजा किसी निरपराधी को दंड

ले ले, तो राजा को उससे तीस गुना दंड दिया जाय। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि मौर्यकाल का राजा देश के कानून के अनुसार चलता था, और उसका शासन स्वेच्छाचारी न हो कर मर्यादित होता था।

जिस कानून के अनुसार वह शासन करता था उसके चार अंग होते थे धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन। इनमें से पिछला पहले का बाधक होता था। अभिप्राय यह है, कि यदि व्यवहार या चरित्र का राजशासन (राजा की आज्ञा) से विरोध हो, तो उसमें राजाज्ञा व्यवहार या चरित्र को काट देगी। धर्म वे कानून थे जो सत्य पर आश्रित शाश्वत नियम हैं। व्यवहार का निश्चय साक्षियों द्वारा किया जाता था। जो कानून पुराने समय से चले आते थे, उन्हें व्यवहार कहते थे। कौन से नियम पुराने समय से चले आते हैं, इसका निर्णय साक्षियों द्वारा ही हो सकता था। चरित्र वे कानून थे जो ग्राम, श्रेणि, आदि विविध समूहों में प्रचलित थे। इन सब से ऊपर राजा की आज्ञा थी पर मौर्यकाल के कानून में धर्म, व्यवहार और चरित्र की सुनिश्चित स्थिति का होना इस बात का प्रमाण है, कि राजा लोग अपने शासन में उन्हें काफ़ी महत्त्व देते थे, और जनता की इच्छा या चरित्र की वे सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकते थे।

मगध के एकराट् राजाओं की अपार शक्ति के बावजूद भी जनता की स्वतंत्रता ऊपर वर्णन किये गये विविध रूपों में सुरक्षित थी, और मौर्य युग के भारतीय अनेक प्रकार से अपने साथ संबंध रखने वाले विषयों का संचालन स्वयं करते थे।

(६) केंद्रीय शासन का संगठन

कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह भली-भांति ज्ञात

होता है, कि मौर्यकाल में विशाल मागध साम्राज्य का केंद्रीय संगठन किस प्रकार का था। शासन के विविध महकमे 'तीर्थ' कहलाते थे। इनकी संख्या अठारह होती थी। प्रत्येक तीर्थ एक महामात्य के अधीन रहता था। इन अठारह महामात्यों और उनके विविध कार्यों का संक्षेप में उल्लेख करना अत्यंत उपयोगी है:—

१. मंत्री और पुरोहित—ये दो अलग-अलग पद थे, पर चंद्रगुप्त मौर्य के समय में आचार्य चाणक्य मंत्री और पुरोहित दोनों थे। बाद में राधागुप्त जैसे प्रतापी अमात्य भी संभवत: मंत्री और पुरोहित दोनों पदों पर रहे। कौटलीय अर्थशास्त्र में इन दोनों पदों का उल्लेख प्राय: साथ-साथ आता है। राजा इन्हीं के साथ मिलकर अन्य राजकर्मचारियों के शौचाशौच की परीक्षा लेता था, प्रजा की मनोवृत्ति जानने के लिये गुप्तचरों को नियत करता था, विदेशों में राजदूतों की नियुक्ति और परराष्ट्र-नीति का संचालन करता था। शिक्षा का कार्य भी इन्हीं के अधीन रहता था। राज्य के अन्य विभागों पर भी मंत्री और पुरोहित का निरीक्षण रहता था। राजा इन्हीं के परामर्श से अपने राज्यकार्य का संचालन करता था।

२. समाहर्ता—विविध जनपदों के शासन के लिये नियुक्त राजपुरुष को जहाँ समाहर्ता कहते थे, वहाँ सारे जनपदों के शासन का संचालन करने वाला विभाग (तीर्थ) भी समाहर्ता नामक अमात्य के अधीन था। राजकीय करों का एकत्रित करना इस विभाग का सर्वप्रधान कार्य था। समाहर्ता के अधीन अनेक अध्यक्ष होते थे, जो अपने-अपने विभाग के राजकीय करों को एकत्र करते थे, और व्यापार, व्यवसाय आदि का संचालन करते थे। ऐसे कुछ अध्यक्ष निम्नलिखित हैं:—

(क) शुल्काध्यक्ष—विविध प्रकार के व्यापार से संबंध रखने वाले अनेकविध शुल्कों (करों) को एकत्र करना इसका कार्य था।

(ख) पौतवाध्यक्ष—तौल और माप के परिमाणों पर नियंत्रण रखने वाले राजपुरुषों को पौतवाध्यक्ष कहते थे। इन परिमाणों को ठीक न रखने से यह जुरमाना वसूल करता था।

(ग) मानाध्यक्ष—देश और काल को मापने के विविध साधनों का नियंत्रण राज्य के अधीन था। यह कार्य मानाध्यक्ष के अधिकार में होता था।

(घ) सूत्राध्यक्ष—राज्य की तरफ से अनेक व्यवसाय चलाये जाते थे। विधवा, विकलांग मनुष्य, अनाथ लड़की, भिखारी, राज्य के कैदी, वेश्याओं की वृद्ध माताएँ, वृद्ध राजदासी, देवदासी आदि के पालन-पोषण के लिये राज्य की ओर से उन्हें काम दिया जाता था। इन कामों में सूत कातना, कवच बनाना, कपड़ा बुनना और रस्सी बनाना मुख्य थे। यह सब कार्य सूत्राध्यक्ष के हाथ में होता था।

(ङ) सीताध्यक्ष—कृषि-विभाग के अध्यक्ष को सीताध्यक्ष कहते थे। वह न केवल देश में कृषि की उन्नति पर ही ध्यान देता था, अपितु राजकीय भूमि पर दास, मजदूर आदि से खेती भी कराता था।

(च) सुराध्यक्ष—शराब का निर्माण तथा प्रयोग राज्य द्वारा नियंत्रित था। सुराध्यक्ष शराब बनवाता था, उसे बिकवाने का प्रबंध करता था तथा उसके प्रयोग का नियंत्रण करता था।

(छ) सूनाध्यक्ष—इसका कार्य बूचड़खानों का नियंत्रण था। बूचड़खानों के संबंध में अनेक प्रकार के नियम होते थे। अनेकविध पशुओं और पक्षियों की हत्या निषिद्ध थी। सूनाध्यक्ष न केवल देश के विविध बूचड़खानों का नियंत्रण करता था, अपितु राजकीय सूना का सब प्रबंध भी करता था।

(ज) गणिकाध्यक्ष—मौर्यकाल में वेश्याओं का प्रयोग राजनीतिक दृष्टि से भी किया जाता था। संघ, सामंत आदि को वश में लाने के लिये गणिकायें प्रयुक्त की जाती थीं। अतः बहुत सी वेश्यायें राज्य की ओर से भी रखी जाती थीं। इनके वेतन आदि सब निश्चित होते थे। राजा के स्नान, मर्दन, छत्रधारण, शिविका, पीठिका, रथ आदि में साथ चलने आदि के लिये राज्य की ओर से वेश्याओं को रखा जाता था। यह सब विभाग गणिकाध्यक्ष के अधीन था। स्वतंत्र वेश्याओं का संपूर्ण प्रबंध तथा निरीक्षण भी इसी विभाग के कार्य थे।

(झ) मुद्राध्यक्ष—देश से बाहर आने या जाने के लिये राजकीय मुद्रा प्राप्त करना आवश्यक होता था। यह कार्य मुद्राध्यक्ष के अधीन था।

(ञ) विवीताध्यक्ष—गोचर भूमियों का प्रबंध इस विभाग का कार्य था। चोर तथा हिंसक जंतु चरागाहों को नुकसान न पहुंचावें, यह प्रबंध करना, जहाँ पशुओं के पीने का जल न उपलब्ध हो, वहाँ उसका प्रबंध करना और तालाब तथा कुएं बनवाना इसी विभाग के कार्य थे। जंगल की सड़कों को ठीक रखना, व्यापारियों के माल की रक्षा करना, काफिलों को डाकुओं से बचाना तथा शत्रुओं के हमलों की सूचना राजा को देना, यह सब कार्य विवीताध्यक्ष के सुपुर्द थे।

(ट) नावध्यक्ष—जलमार्गों का सब प्रबंध नावध्यक्ष के अधीन था। छोटी बड़ी नदियों, समुद्रतटों तथा महासमुद्रों को पार करने वाली नौकाओं वा जहाजों का यही प्रबंध करता था। जलमार्ग से यात्रा करने पर क्या किराया लगे, यह सब नावध्यक्ष द्वारा ही तय होता था।

(ठ) गोऽध्यक्ष—राजकीय दाय तथा सैनिक दृष्टि से राज्य की ओर से गौओं तथा अन्य उपयोगी पशुओं का संवर्धन का विशेष

प्रथक होता था। राज्य की ओर से बड़ी-बड़ी गोशालायें भी होती थीं। यह सब प्रबंध गोऽध्यक्ष के अधीन था।

(छ) अश्वाध्यक्ष—सैनिक दृष्टि से उस समय घोड़ों का बड़ा महत्व था। उनके पालन, नसल में उन्नति आदि पर राज्य की ओर से बहुत ध्यान दिया जाता था। घोड़ों को युद्ध के लिये तैयार करने के वास्ते अनेक प्रकार की कवायद कराई जाती थी। ये सब कार्य अश्वाध्यक्ष के अधीन थे।

(ज) हस्त्यध्यक्ष—यह जंगलों से हाथियों को पकड़वाने, हस्तिवनों की रक्षा करने तथा हाथियों के पालन और सैनिक दृष्टि से उन्हें तैयार करने पर ध्यान रखता था। इसी तरह ऊंट, खच्चर, भैंस, बकरी आदि के लिये भी पृथक् उपविभाग थे।

(झ) कुप्याध्यक्ष—कुप्य पदार्थों का अभिप्राय शाक, महुआ, तिल, शीशम, खैर, शिरीष, देवदार, कत्था, राल, औषधि आदि से है। ये सब पदार्थ जंगलों में पैदा होते थे। कुप्याध्यक्ष का कार्य यह था, कि वह जंगलों में उत्पन्न होने वाले विविध पदार्थों को एकत्र कराके उन्हें कारखानों में भेज दे, ताकि वहां कच्चे माल को तैयार माल के रूप में परिवर्तित किया जा सके। कुप्याध्यक्ष के अधीन द्रव्यपाल और वनपाल नाम के कर्मचारी और होते थे, जो जंगलों से कुप्य द्रव्यों को एकत्र कराने तथा जंगलों की रक्षा का कार्य करते थे।

(ट) पण्याध्यक्ष—यह न केवल स्वदेशी और विदेशी व्यापार का नियंत्रण करता था, अपितु राज्य द्वारा अधिकृत व निर्मित पदार्थों को बेचने का भी प्रबंध करता था।

(ठ) लक्षणाध्यक्ष—संपूर्ण मुद्रापद्धति (करेंसी) इसके अधीन थी। मौर्ययुग का प्रधान सिक्का पण कहलाता था, जो चांदी का बना होता था। पण के अतिरिक्त अर्धपण, पादपण तथा अष्टभागपण नाम के सिक्के भी होते थे।

(ङ) आकराध्यक्ष—मौर्यकाल में आकरों (खानों) से धातुओं व अन्य बहुमूल्य पदार्थों को निकालने का कार्य बहुत उन्नत था। यह सब कार्य आकराध्यक्ष के अधीन रहता था। इसके नीचे अन्य अनेक उपाध्यक्ष होते थे, जिनमें लोहाध्यक्ष, लवणाध्यक्ष, खन्याध्यक्ष और सुवर्णाध्यक्ष विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(च) देवताध्यक्ष—विविध देवताओं व उनके मंदिरों का प्रबंध इसके अधीन रहता था।

(छ) सौवर्णिक—टकसाल के अध्यक्ष को सौवर्णिक कहते थे।

ये बीस अध्यक्ष समाहर्ता के विभाग के अधीन होते थे। समाहर्ता राज्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण सचिव होता था, और जनपदों के शासन का संचालन बहुत कुछ उसके हाथ में रहता था।

३. सन्निधाता—राजकीय कोष का विभाग सन्निधाता के हाथ में रहता था। राजकीय आय और व्यय का हिसाब रखना और इसके संबंध में नीति का निर्धारण करना सन्निधाता का ही कार्य था। चाणक्य ने लिखा है—'सन्निधाता को सैकड़ों वर्ष की बाहरी तथा अंदरूनी आय-व्यय का परिज्ञान होना चाहिये, जिससे कि वह बिना किसी संकोच या घबराहट के तुरंत अवशेष (नेट इन्कम या सरप्लस) को बता सके।'

सन्निधाता के अधीन भी अनेक उपविभाग थे। चाणक्य ने उनका परिगणन इस प्रकार किया है:—कोषगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार, कुप्यगृह, आयुधागार और बंधनागार। कोषगृह के उपाध्यक्ष को कोषाध्यक्ष कहते थे। वह कोषगृह में सब प्रकार के रत्नों तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थों का संग्रह करता था। चाणक्य के अनुसार 'कोषाध्यक्ष का कर्त्तव्य है, कि वह रत्नों के मूल्य, प्रमाण, लक्षण, जाति, रूप, प्रयोग, संशोधन, देश तथा काल के अनुसार उनका घिसना या नष्ट होना, मिलावट, हानि का प्रत्युपाय आदि बातों का परिज्ञान रखे।' पण्यगृह में राजकीय

द्रव्य (विक्रेय पदार्थ) एकत्र किये जाते थे। राज्य की तरफ से अनेक व्यवसायों का संचालन होता था, उनसे तैयार किये गये पदार्थ संनिधाता के अधीन पण्यगृह में भेज दिये जाते थे। कोष्ठागार में वे पदार्थ संगृहीत किये जाते थे, जिनकी राज्य को आवश्यकता रहती थी। सेना, राजपुरुष आदि के खर्च के लिये राज्य की ओर से जो माल खरीदा जाता था, स्वयं बनाया जाता था या बदले में प्राप्त किया जाता था, वह सब कोष्ठागार में रखा जाता था। कुप्यगृह में कुप्य पदार्थ एकत्र होते थे। आयुधागार में सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का संग्रह रहता था। बंधनागार (जेलखाना) का विभाग भी संनिधाता के अधीन था। चाणक्य के अनुसार 'बंधनागार के सब कमरे सब ओर से सुरक्षित बनाये जाने चाहिये और स्त्री-पुरुष के रहने के लिये कमरे पृथक्-पृथक् बने होने चाहिये।'[1]

४. सेनापति—यह युद्धविभाग का महामात्य होता था। चाणक्य के अनुसार 'सेनापति संपूर्ण युद्धविद्या तथा अस्त्र-शस्त्रविद्या में पारंगत हो। हाथी, घोड़े तथा रथ के संचालन में समर्थ हो। वह चतुरंग (पदाति, अश्व, रथ, हस्ति) सेना के कार्य तथा स्थान का निरीक्षण करे। अपनी भूमि (मोरचा), युद्ध का समय, शत्रु की सेना, सुदृढ़ व्यूह का भेदन, टूटे हुए व्यूह का फिर से निर्माण, एकत्रित सेना को तितर-बितर करना, तितर-बितर हुई सेना का संहार करना, किले को तोड़ना, युद्धयात्रा का समय आदि बातों का हर समय ध्यान रखे।'[2]

५. युवराज—राजा की मृत्यु के बाद जहाँ युवराज राजगद्दी का उत्तराधिकारी होता था, वहाँ राजा के जीवनकाल में भी वह शासन में हाथ बटाता था। उसका तीर्थ (विभाग) अलग था, और शासनसंबंधी अनेक अधिकार उसे प्राप्त रहते थे। राजा की अनुपस्थिति में वह शून्यपाल (रीजेंट) का

कार्य करता था। वह सब कार्यों में राजा का हाथ बटाता और सहायता करता था।

६. प्रदेष्टा – मौर्यकाल में न्यायालय दो प्रकार के होते थे, धर्मस्थीय और कंटकशोधन। इनके भेद पर हम बाद में प्रकाश डालेंगे। कंटकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीश को प्रदेष्टा कहते थे। विविध अध्यक्षों और राजपुरुषों का नियंत्रण करना, वे बेईमानी, चोरी, रिश्वत आदि से पृथक् रहें, इसका ध्यान रखना भी प्रदेष्टा का कार्य था।

७. नायक—सेना के मुख्य संचालक को नायक कहते थे। सेनापति सैन्य विभाग का महामात्य होता था, पर नायक सेना का युद्धक्षेत्र में संचालन करता था। स्कंधावार (छावनी) तैयार कराने का काम इसी के हाथ में था। युद्ध का अवसर आने पर विविध सैनिकों को क्या-क्या काम दिया जाय, सेना की व्यूह-रचना आदि कैसे की जाय – इन सब बातों का निर्णय नायक ही करता था।

८. व्यावहारिक – धर्मस्थीय न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश को व्यावहारिक कहते थे। सारा न्यायविभाग व्यावहारिक के ही अधीन था।

९. कार्मान्तिक—मौर्यकाल में राज्य की ओर से अनेक कारखानों का संचालन होता था। खानों, जंगलों, खेतों आदि से एकत्रित कच्चे माल को भिन्न-भिन्न उपयोगों के लिये तैयार करने के लिये राज्य की ओर से जो विविध कारखाने थे, उनका संचालन कार्मान्तिक के अधीन था। चाणक्य ने लिखा है, 'खानों से जो धातुएं निकलें, उन्हें अपने-अपने कारखानों में भेज दिया जाय। जो माल तैयार हो, उसे बेचने का प्रबंध एक स्थान पर किया जाय। इन नियमों का उल्लंघन करने वाले

क्रेता, विक्रेता तथा कर्ता (पक्का माल तैयार करने वाला) को दंड दिया जाय।'

१०. मंत्रिपरिषद् अध्यक्ष—राजा को सलाह देने के लिये मंत्रिपरिषद् होती थी, यह हम पहले लिख चुके हैं। उसका एक पृथक् विभाग होता था, जिसके अध्यक्ष की गिनती राज्य के प्रधान अठारह तीर्थों में की जाती थी।

११. दंडपाल—सेना के दो महामात्यों, सेनापति और नायक का उल्लेख ऊपर हो चुका है। दंडपाल भी सेना के साथ ही संबंध रखता था। इसका विशेष कार्य सेना की सब आवश्यकताओं को पूरा करना और उसके लिये सब प्रबंध करना होता था।

१२. अंतपाल—मागध साम्राज्य में सीमांत प्रदेशों का बड़ा महत्त्व था। सीमा की रक्षा के लिये बहुत से दुर्ग इस समय बनाये जाते थे। विदेशी सेना जब आक्रमण करके अपने राज्य की सीमा को लाँघने लगे, तो ये दुर्ग के बचाव के लिये बड़े उपयोगी होते थे। सीमाप्रदेश के मार्गों पर भी जगह-जगह छावनी डाली जाती थी। यह सब कार्य अंतपाल के सुपुर्द था। सीमाप्रांत में ऐसी भी अनेक जातियों को बसाया जाता था, जिन्हें लड़ाई में ही आनंद आता था और जिनका पेशा ही युद्ध करना होता था। इन्हें भेद, दाम और भेद से अपने पक्ष में रक्खा जाता था। शत्रु के आक्रमण करने पर ये सब जातियाँ उसका मुकाबिला करने के लिये उठ खड़ी होती थीं। इनकी व्यवस्था भी अंतपाल के ही हाथ में थी।

१३. दुर्गपाल—जिस प्रकार सीमा प्रदेशों के दुर्ग अंतपाल के अधीन थे, वैसे ही साम्राज्य के अंतर्वर्ती दुर्ग दुर्गपाल के अधिकार में रहते थे। उस युग में बड़े-बड़े नगर दुर्गों के रूप में ही बसे होते थे। पाटलीपुत्र के चारों ओर भी प्राचीर और खाई

थी। यहां दुर्ग अन्य बड़े नगरों की थी। इन सब की दुर्ग रूप में व्यवस्था दुर्गपाल के हाथ में होती थी।

१४. नागरक—जैसे जनपदों का शासन समाहर्त्ता के अधीन था, वैसे ही पुरों या नगरों के शासन का सर्वोच्च अधिकारी नागरक होता। विशेषतया, राजधानी का शासन नागरक के हाथ में रहता था। साम्राज्य में राजधानी की विशेष महत्ता होती थी। पाटलीपुत्र उस युग में संसार का सब से बड़ा नगर था। रोम और एथन्स की जनसंख्या का विस्तार पाटलीपुत्र की अपेक्षा बहुत कम था। ९ मील लंबे और १½ मील चौड़े इस विशाल नगर का प्रबंध एक पृथक् महामात्य के अधीन हो, यह उचित ही था।

१५. प्रशास्ता—चाणक्य के अनुसार 'राजकीय लिखित आज्ञाओं पर शासन आश्रित होता है। संधि और विग्रह का मूल राजकीय आज्ञायें ही हैं।' इन सब आज्ञाओं (राज-शासन) को लिपिबद्ध करने के लिये एक पृथक् विभाग था, जिसके प्रधान अधिकारी को प्रशास्ता कहते थे। राज्य के अन्य सब विभागों का रिकार्ड रखना भी इसी का काम था। इसके अधीन जो विशाल कार्यालय होता था उसे 'अक्षपटल' कहते थे। राजकीय कर्मचारियों के वेतन, नौकरी की शर्तें, विविध देश, जनपद, ग्राम, श्रेणि आदि के धर्म, व्यवहार व चरित्र आदि का उल्लेख, खानों, कारखानों आदि के कार्य का हिसाब—ये सब अक्षपटल में भलीभांति 'निबंध पुस्तकस्थ' किये जाते थे।

१६. दौवारिक—यह राजप्रासाद का प्रधान पदाधिकारी होता था। मागध साम्राज्य के कूटस्थानीय राजा का राजप्रासाद एक अत्यंत विशाल चीज थी, जिसमें हजारों की संख्या में स्त्री-पुरुष रहते थे। इन सब का प्रबंध करना, अंतःपुर के गुप्त आंतरिक शत्रुओं से राजा की रक्षा करना दौवारिक का काम था।

१७. आंतर्वंशिक—राजा की निजी अंगरक्षक सेना के अध्यक्ष को आंतर्वंशिक कहते थे। अंतःपुर के अंदर भी आंतर्वंशिक के विश्वस्त सैनिक राजा की रक्षा के लिये सदा तत्पर रहते थे। जिस समय भी राजा रानी से मिलता था, तभी वह अकेला होता था। पर उस समय भी यह भलीभाँति देख लिया जाता था, कि रानी के शयनागार में कोई अन्य व्यक्ति तो छिपा हुआ नहीं है। वह परिचारिकायें रानी की भी अच्छी तरह तलाशी ले लेती थीं। यह सब प्रबंध आंतर्वंशिक के अधीन था।

१८. आटविक—मागध साम्राज्य की सेना में आटविक बल का बड़ा महत्व था। इसका उल्लेख अनेक बार पहले हो चुका है। मागध सम्राटों ने अपनी शक्ति के विस्तार में इन आटविक सेनाओं का भलीभाँति उपयोग किया था। इन्हीं के प्रधान राजकर्मचारी को आटविक या अटविपाल कहते थे और वह राज्य के अठारह तीर्थों में से एक माना जाता था।

(७) न्यायव्यवस्था

विशाल मागध साम्राज्य में न्याय के लिये अनेकविध न्यायालय होते थे। सब से छोटा न्यायालय ग्रामसंस्था (ग्रामसंघ) का होता था, जिसमें ग्राम के निवासी अपने मामलों का स्वयं निपटारा करते थे। इसके ऊपर संग्रहण का, फिर द्रोणमुख का और फिर जनपदसंधि के न्यायालय होते थे। इनके ऊपर पाटलीपुत्र में विद्यमान धर्मस्थीय और कंटकशोधन न्यायालय होते थे। सबसे ऊपर राजा होता था, जो अनेक न्यायाधीशों की सहायता से किसी भी मामले का अंतिम निर्णय करने का अधिकार रखता था।

ग्रामसंघ और राजा के न्यायालय के अतिरिक्त बीच के सब

न्यायालय धर्मस्थीय और कंटकशोधन, इन दो भागों में विभक्त रहते थे। धर्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीश धर्मस्थ या व्यावहारिक कहलाते थे और कंटकशोधन के प्रदेष्टा। इन दोनों प्रकार के न्यायालयों में किन-किन बातों के मामलों का फैसला होता था, इसकी विस्तृत सूची कौटलीय अर्थशास्त्र में दी गई है। धर्मस्थीय में प्रधानतया निम्नलिखित मामले पेश होते थे—दो व्यक्तियों या व्यक्तिसमूहों के आपस के व्यवहार के मामले। आपस में जो 'समय' या कंट्रैक्ट हुआ हो, उसके मामले। स्वामी और भृत्य के झगड़े। दासों के झगड़े। ऋण को चुकाने के मामले। धन को अमानत पर रखने से पैदा हुए झगड़े। क्रय-विक्रय संबंधी मामले। दिए हुए दान को फिर लौटाने या प्रतिज्ञात दान को न देने का मामला। डाका, चोरी या लूट के मुकदमे, किसी पर हमला करने का मामला। गाली, कुवचन या मानहानि के मामले। जुआ संबंधी झगड़े। मल्कियत के बिना ही किसी संपत्ति को बेच देना। मल्कियत संबंधी विवाद। सीमा संबंधी झगड़े। इमारतों के बनाने के कारण उत्पन्न मामले। चरागाहों, खेतों और मार्गों को क्षति पहुँचाने के मामले। पति-पत्नी संबंधी मुकदमे। स्त्रीधन संबंधी विवाद। संपत्ति के बटवारे और उत्तराधिकार संबंधी झगड़े। सहोद्योग, कंपनी तथा साझे के मामले। विविध रुकावटें पैदा करने के मामले। न्यायालय में स्वीकृत निर्णयविधि संबंधी विवाद और विविध मामले।

कंटकशोधन न्यायालयों में निम्नलिखित मामले पेश होते थे—शिल्पियों व कारीगरों की रक्षा तथा उनसे दूसरों की रक्षा। व्यापारियों की रक्षा तथा उनसे दूसरों की रक्षा। राष्ट्रीय व सार्वजनिक आपत्तियों के निराकरण संबंधी मामले। निषिद्ध विरुद्ध उपायों से आजीविका चलाने वाले लोगों की गिरफ्तारी। अपने गुप्तचरों द्वारा अपराधियों को पकड़ना। शक होने पर

या वस्तुतः अपराध करने पर गिरफ्तारी। मृत देह की परीक्षा कर मृत्यु के कारण का पता लगाना। अपराध का पता करने के लिये विविध भाँति के प्रश्नों तथा शारीरिक कष्टों का प्रयोग। सरकार के संपूर्ण विभागों की रक्षा। अंग काटने की सजा मिलने पर उसके बदले में जुर्माना देने के आवेदनपत्र। शारीरिक कष्ट के साथ या इसके बिना मृत्युदंड देने का निर्णय, कन्या पर बलात्कार और न्याय का उल्लंघन करने पर दंड देना।

ऊपर की सूचियों से स्पष्ट है, कि धर्मस्थीय न्यायालयों में व्यक्तियों के आपस के मुकदमे पेश होते थे। इसके विपरीत कंटकशोधन न्यायालयों में वे मुकदमे उपस्थित किये जाते थे, जिनका संबंध राज्य से होता था। कंटकशोधन का अभिप्राय ही यह है कि राज्य के कंटकों (काँटों) को दूर किया जाय।

न्यायालयों में मुकदमे किस प्रकार किये जाते थे, इस विषय पर भी अर्थशास्त्र में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। जब निर्णय के लिये कोई मुकदमा आता था, तो निम्नलिखित बातें दर्ज की जाती थीं—

१. ठीक तारीख।

२. अपराध का स्वरूप।

३. घटनास्थल।

४. यदि ऋण का मुकदमा है, तो ऋण की मात्रा।

५. वादी और प्रतिवादी दोनों का देश, ग्राम, जाति, गोत्र, नाम और पेशा।

६. दोनों पक्षों की युक्तियों तथा प्रत्युक्तियों का पूरा-पूरा विवरण।

इस संबंध में साक्षी, जिरह आदि सब बातों का चाणक्य ने विस्तार से उल्लेख किया है।

(८) राजकीय आय-व्यय

कौटलीय अर्थशास्त्र में राजकीय आय के निम्नलिखित साधनों का विस्तार से वर्णन किया है—

१. दुर्ग—नगरों से जो विविध आमदनी मागध साम्राज्य को होती थी, उसे दुर्ग कहा जाता था। दुर्गों की आमदनी के विविध साधन निम्नलिखित थे—(क) शुल्क—चुंगी। (ख) पौतव—तोल और माप के साधनों को प्रमाणित करने से प्राप्त कर। (ग) दण्ड—जुरमाना। (घ) नागरिक—जेलखानों से आय। (ङ) मुद्राध्यक्ष की आय। (च) मुद्रा—नगरप्रवेश के समय मुद्रा (सरकारी पास) देने से होने वाली आमदनी। (छ) सुरा—शराब के ठेकों की आय। (ज) सूना—बूचड़खानों की आमदनी। (झ) सूत्र—राज्य की ओर से अनाथ, रोगी, विकलांग आदि व्यक्तियों से काम कराया जाता था, उसकी आमदनी। (ञ) तैल—तैल के व्यवसाय पर राज्य कर लेता था, उसकी आय। (ट) घृत—घी के कारोबार में वसूल होने वाला कर। (ठ) नमक—नमक बनाने पर लगाया गया कर। (ड) सौवर्णिक—सुनारों से वसूल होने वाला कर। (ढ) पण्यसंस्था—राजकीय पण्य की बिक्री से होने वाली आय। (ण) वेश्या—वेश्याओं की आय तथा स्वतंत्र व्यवसाय करने वाली वेश्याओं से कर। (त) द्यूत—जुए की आय। (थ) वास्तुक—अचल संपत्ति से वसूल किया जाने वाला कर तथा जायदाद बिक्री के समय लिया जाने वाला कर (द) कारीगरों तथा शिल्पियों की श्रेणियों से वसूल होने वाला कर। (ध) देवताध्यक्ष—धर्ममंदिरों से प्राप्त होने वाली आमदनी का अंश। (न) द्वार—नगर के द्वार से आने या जाने वाले माल पर लिया हुआ कर। (प) बाहिरिकादेय—स्वतंत्र धनी लोगों से लिया जाने वाला अतिरिक्त कर।

२. राष्ट्र—देहात या जनपद से जो आमदनी राज्य को होती थी, उसे राष्ट्र कहते थे। इसके अंतर्गत निम्नलिखित आमदनियाँ होती थीं:—(क) सीता—राज्य की अपनी जमीनों से होने वाली आमदनी। (ख) भाग—जिन जमीनों पर राज्य का स्वामित्व नहीं था, उनसे वसूल किया जाने वाला अंश। (ग) बलि—तीर्थस्थान आदि धार्मिक स्थानों पर लगा हुआ विशेष कर। (घ) वणिक्—देहात के व्यापार पर लिया जाने वाला कर (ङ) नदी पालस्तर—नदियों पर बने हुए पुलों पर से पार उतरने पर लिया जाने वाला कर। (च) नाव—नौका से नदी पार करने पर लिया जाने वाला कर। (छ) पट्टन—कसबों का कर। (ज) विवीत—चरागाहों के कर। (झ) वर्तनी—सड़कों के कर। (ञ) चोररज्जु—हथकड़ियों से प्राप्त होने वाली आमदनी।

३. खनि—मौर्ययुग में खानें राज्य की संपत्ति होती थीं। सोना, चाँदी, हीरा, मणि, मुक्ता, मूँगा, शंख, लोहा, नमक, पत्थर तथा अन्य अनेक प्रकार की खानों से राज्यकोष को बहुत आमदनी होती थी।

४. सेतु—पुष्पों और फलों के उद्यान, शाक के खेत और मूलों (मूली, शलगम, कंद आदि) के खेतों से जो आय होती थी, उसे सेतु कहते थे।

५. वन—जंगलों पर उस युग में राज्य का अधिकार होता था। जंगलों से राज्य को अनेक प्रकार की आय थी।

६. व्रज—गाय, घोड़ा, भैंस, बकरी आदि पशुओं से होने वाली आय को व्रज कहते थे। उस काल में राज्य की अपनी पशुशालायें भी होती थीं।

७. वणिक्पथ—वणिक्पथ दो प्रकार के होते थे, स्थलपथ और जलपथ। इनसे होने वाली आय वणिक्पथ कहलाती थी।

कौटलीय अर्थशास्त्र में राजकोष आय के ये सात साधन

वर्णित हैं। यदि आधुनिक राजस्वशास्त्र के अनुसार मौर्यकाल के राज्य की आय का हम अनुशीलन करना चाहें, तो इस प्रकार कर सकते हैं—

१. भूमिकर — जमीन से राज्य की आमदनी दो प्रकार से होती थी, सीता और भाग। राज्य की अपनी जमीनों से जो आमदनी होती थी, उसे सीता कहते थे। जो जमीनें राज्य की अपनी संपत्ति नहीं थीं, उनसे 'भाग' वसूल किया जाता था। जो किसान सर्वथा स्वतंत्ररूप से खेती करते थे, जो सिंचाई का प्रबंध भी अपने आप करते थे, उनसे जमीन के उत्तम या निकृष्ट होने के अनुसार, कुल उपज का १/६ या १/४ भाग भूमिकर रूप में लिया जाता था। जो किसान सिंचाई के लिये सरकार से जल लेते थे, उनसे भूमिकर की दर और थी। जिन जमीनों की सिंचाई कूप आदि से हाथ द्वारा पानी खींच कर होती थी, उनसे उपज का १/५ भाग लिया जाता था। जिनको चरस, रहट आदि द्वारा पानी खींच कर सींचने के लिये दिया जाता था, उनसे उपज का १/४ भाग लिया जाता था। जहां सिंचाई पंप, वात-यंत्र आदि द्वारा होती थी, उनसे १/३ भाग लेने का नियम था। नदी या नहर से सिंचाई होने की दशा में भूमिकर की मात्रा उपज का चौथाई भाग होती थी।

यदि कोई किसान तालाब या पक्के मकान को नये सिरे से बनावे, तो उसे पांच साल के लिये भूमिकर से मुक्त कर दिया जाता था। टूटे-फूटे तालाब या मकान का सुधार करने पर चार वर्ष तक और बने हुए को बढ़ाने से तीन साल तक भूमिकर नहीं लिया जाता था।

२. तटकर — मौर्यकाल में तटकर दो प्रकार के होते थे, निष्क्राम्य (निर्यात कर) और प्रवेश्य (आयात कर)। आयात माल पर कर की मात्रा प्रायः २० फी सदी थी। इन के

कपड़े, मलमल, रेशम, लोहा, पारा आदि अनेक पदार्थों पर कर की दर १० फी सदी थी। कुछ पदार्थों पर कर की मात्रा ४, ६ २/३, ७ १/२ और १६ २/३ फी सदी भी होती थी, पर साधारण नियम २० फी सदी का ही था। कुछ देशों के साथ आयात कर के संबंध में रियायत भी की जाती थी। इसे 'देशोपकार' कहते थे। चाणक्य ने लिखा है—'देश और जाति के चरित्र के अनुसार नये और पुराने माल पर कर स्थापित करें। अन्य देशों के उपकार करने पर शुल्क को घटा दें।' जिन व्यवसायों पर राज्य का एकाधिकार था, उनके बाहर से आने पर अतिरिक्त कर (वैधरण) भी लिया जाता था। उदाहरण के लिये यदि नमक को विदेश से मँगाना हो, तो १६ २/३ फी सदी आयात कर लिया जाता था। उसके अतिरिक्त उतना वैधरण (हरजाना या अतिरिक्त कर) भी देना पड़ता था, जितना कि विदेशी नमक के आने से नमक के राजकीय व्यवसाय को हानि पहुँची हो। इसी तरह तेल, शराब आदि राज्याधिकृत वस्तुओं के आयात पर भी हरजाना देना होता था। इस आयात कर का उद्देश्य राजकीय आमदनी को बढ़ाना ही था। विदेशी व्यापार के संबंध में आचार्य चाणक्य की नीति यह थी—'विदेशी माल को अनुग्रह से स्वदेश में प्रवेश कराया जाय। इसके लिये नाविकों तथा विदेशी माल के व्यापारियों को लाभ के ऊपर लिये जाने वाला कर माफ कर दिया जाय।'

निर्यात माल पर भी कर लिया जाता था, यह तो कौटलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है, पर इस कर की दर क्या थी, इस संबंध में कोई सूचना चाणक्य ने नहीं दी। अपने देश के माल को बाहर भेजने के संबंध में अर्थशास्त्र के निम्नलिखित वाक्य महत्त्व के हैं—'जल मार्ग से विदेश में माल को भेजने से पहले, मार्गव्यय, भोजनव्यय, विनिमय में आने वाले विदेशी माल

की कीमत तथा परिमाण, यात्राकाल, भयप्रतीकार के उपाय में हुआ व्यय, बंदरगाहों के रिवाज, नियम आदि का पता लगावे। भिन्न-भिन्न देशों के नियमों को जान कर जिन देशों में माल भेजने से लाभ समझे, वहाँ माल भेजा जावे। जहाँ हानि की संभावना हो, वहाँ से दूर रहे।' इसी प्रकार परदेश में व्यापार के लिये, पण्य एवं प्रतिपण्य (निर्यात माल और उसके बदले में आने वाला माल) के मूल्य में से चुंगी, सड़क-कर गाड़ी का खर्च, दुर्ग का कर, नौका के भाड़े का खर्च आदि घटा कर शुद्ध लाभ का अनुमान करे। यदि इस ढंग से लाभ न मालूम पड़े, तो यह देखे कि अपने देश की चीज़ के बदले में कोई ऐसी वस्तु विदेश से मंगाई जा सकती है या नहीं जिसमें लाभ रहे। इसमें संदेह नहीं, कि आचार्य चाणक्य विदेशी व्यापार को उत्तम मानते थे, और उसकी वृद्धि में देश का लाभ समझते थे।

३. बिक्री पर कर—मौर्यकाल में बिक्री पर चुंगी लेने की व्यवस्था थी। चाणक्य ने लिखा है कि उत्पत्तिस्थान पर कोई भी पदार्थ बेचा नहीं जा सकता। कोई भी वस्तु चुंगी से न बच सके, इसलिये यह नियम बनाया गया था। जो इस नियम का उल्लंघन करते थे, उन पर भारी जुरमाना किया जाता था। इन जुरमानों की मात्रा बहुत अधिक होती थी। खानों से खनिज पदार्थ खरीदने पर ६०० पण, और खेत से अनाज मोल लेने पर ५३ पण जुरमाने की व्यवस्था थी। सब माल पहले शुल्काध्यक्ष के पास लाया जाता था। चुंगी दे देने के बाद उस पर 'अभिज्ञान मुद्रा' लगाई जाती थी। उसके बाद ही माल की बिक्री हो सकती थी, पहले नहीं।

चुंगी की मात्रा के संबंध में यह विवरण उद्धृत करने योग्य

है—नाप कर बेचे जाने वाले पदार्थों पर ६¼ फी सदी, तौल कर बेचे जाने वाले पदार्थों पर ५ फी सदी और गिन कर बेचे जाने वाले पदार्थों पर ९ १/११ प्रतिशत शुल्क लिया जाता था।

४. प्रत्यक्ष कर—मौर्ययुग में जो विविध प्रत्यक्ष कर लगाये जाते थे, उनमें से कुछ ये हैं।

(क) तौल और माप के परिमाणों पर—इन पर चार माषक कर लिया जाता था। अप्रामाणिक बट्टों या माप के साधनों को काम में न लाने पर दंड के रूप में २७¼ पण जुरमाना लिया जाता था।

(ख) जुआरियों पर—जुआ खेलने की अनुमति लेने पर कर देना पड़ता था, और जो धन जुए में जीता जाय, उसका ५ फी सदी राज्य ले लेता था।

(ग) रूप से आजीविका चलाने वाली वेश्याओं से दैनिक आमदनी का दुगना प्रतिमास कर रूप में लिया जाता था। इसी तरह के कर नट, नाटक करने वाले, रस्सों पर नाचने वाले, गायक, वादक, नर्तक व अन्य तमाशा करने वालों से भी वसूल करने का नियम था। पर यदि ये लोग विदेशी हों, तो इनसे पांच पण अतिरिक्त कर भी लिया जाता था।

(घ) धोबी, सुनार व इसी तरह के अन्य शिल्पियों पर अनेक कर लगाये गये थे। इन्हें अपना व्यवसाय चलाने के लिये एक प्रकार का लाइसेंस लेना होता था।

५. राज्य द्वारा अधिकृत व्यवसायों से आय—राज्य का जिन व्यवसायों पर पूरा आधिपत्य था, उनमें खानें, जंगल, नमक की उत्पत्ति और अस्त्र-शस्त्र का कारोबार मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त, शराब का निर्माण भी राज्य के ही अधीन था। इन सब से राज्य को अच्छी आमदनी होती थी। अनेक व्यापारों पर भी राज्य का स्वत्व उस युग में होता था। राज्य की ओर

से जो पदार्थ बिक्री के लिये तैयार होते थे, उनकी बिक्री भी वह स्वयं करता था।

६. जुरमानों से आय—मौर्यकाल में अनेक अपराधों के लिये दंड के रूप में जुरमाना लिया जाता था। इनका बड़े विस्तार से वर्णन कौटलीय अर्थशास्त्र में उपलब्ध होता है।

७. विविध—मुद्रापद्धति पूर्णतया राज्य के हाथ में होती थी। रूप्य, पण आदि सिक्के टकसाल में बनते थे। जो व्यक्ति चाहे अपनी धातु ले जाकर टकसाल में सिक्के ढलवा सकता था। पर इसके लिये १३½ फी सदी प्रीमियम देना पड़ता था। जो कोई सरकारी टकसाल में नियमानुसार सिक्के न बनवा कर स्वयं बनाता था, उस पर २५ पण जुरमाना होता था। ग़रीब और अशक्त व्यक्तियों के गुज़ारे का प्रबंध राज्य करता था, पर इस तरह के लोगों से सूत कताने, कपड़ा बुनने, रस्सी बटने आदि के काम भी लिये जाते थे। राज्य को इनसे भी कुछ आमदनी होती थी।

इन सब के अतिरिक्त आपत्काल में संपत्ति पर अनेक प्रकार के कर लगाये जाते थे। अर्थशास्त्र में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है। सोना-चांदी, मणि-मुक्ता आदि का व्यापार करने वाले धनी लोगों से ऐसे अवसर पर उनकी आमदनी का ५० फी सदी कर में ले लिया जाता था। अन्य प्रकार के व्यापारियों व व्यवसायियों से भी ऐसे अवसरों पर विशेष कर की व्यवस्था थी जिसकी मात्रा ५० फी सदी से ५ फी सदी तक होती थी। मंदिरों और धार्मिक संस्थाओं से भी ऐसे अवसरों पर उपहार और दान लिये जाते थे। जनता से अनुरोध किया जाता था, कि ऐसे अवसर पर उदारता के साथ राज्य को धन दें। इसके लिये दानियों का अनेक प्रकार से सम्मान भी किया जाता था।

राज्य को विविध करों से जो आमदनी होती थी, उसके व्यय के संबंध में भी बहुत सी उपयोगी बातें कौटलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होती हैं। यहाँ इनका भी संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है।

१. राजकर्मचारियों के वेतन—अर्थशास्त्र में विविध राजकर्मचारियों के वेतनों की दर पूरी तरह दी गई है। इसमें मंत्री, पुरोहित, सेनापति जैसे बड़े पदाधिकारियों का वेतन ४००० पण मासिक दिया गया है। प्रशास्ता, समाहर्ता और आंतर्वंशिक सदृश कर्मचारियों का २००० पण मासिक; नायक, व्यावहारिक, अंतपाल आदि का १००० पण मासिक; अश्व-मुख्य, रथमुख्य आदि का ६६० पण मासिक; विविध अध्यक्षों का ३३० पण मासिक; पदाति सैनिक, लेखक, संख्यायक आदि का ४२ पण मासिक और अन्य छोटे-छोटे कर्मचारियों को ५ पण मासिक वेतन मिलता था। इसके अतिरिक्त, यदि किसी राजसेवक की राजसेवा करते हुए मृत्यु हो जाती थी, तो उसके पुत्र और स्त्री को कुछ वेतन मिलता रहता था। साथ ही, उसके बालक, वृद्ध तथा व्याधिपीड़ित संबंधियों के साथ अनेक प्रकार के अनुग्रह प्रदर्शित किये जाते थे।

२. सैनिक व्यय—सेना के विविध सिपाहियों व अफसरों को किस दर से वेतन मिलता था, इसका पूरा विवरण अर्थशास्त्र में दिया गया है। मेगस्थनीज के अनुसार चंद्रगुप्त मौर्य की सेना में ६ लाख पदाति, तीस हजार अश्वारोही, ९००० हाथी और ८००० रथ थे। यदि अर्थशास्त्र में लिखे दर से इन्हें वेतन दिया जाता हो, तो केवल वेतनों में ही ३६½ करोड़ पण प्रतिवर्ष खर्च हो जाता था। इसमें संदेह नहीं, कि मागध साम्राज्य में सैनिक व्यय की मात्रा बहुत अधिक होती थी।

३. शिक्षा—मौर्यकाल में जो व्यय राज्य की तरफ से

शिक्षा के लिये किया जाता था उसे देवपूजा कहते थे। अर्थशास्त्र के अध्ययन से प्रतीत होता है, कि अनेक शिक्षणालयों का संचालन राज्य की तरफ से भी होता था, और उनके शिक्षकों को राजा की तरफ से वेतन मिलता था। इसे भृति या वृत्ति न कह कर 'पूजा वेतन' (आनरेरियम) कहते थे।

४. दान—बालक, वृद्ध, व्याधिपीड़ित, आपत्तिग्रस्त और इसी तरह के अन्य व्यक्तियों का भरण-पोषण राज्य की तरफ से होता था। इस खर्च को दान कहते थे।

५. सहायता—सरकार की ओर से अनेक कार्यों में अनेकविध लोगों की सहायता की जाती थी। मैगस्थनीज के अनुसार शिल्पी लोगों को राजकोष से अनेक प्रकार से सहायता दी जाती थी। इसी तरह, कृषकों को भी विशेष दशाओं में राज्य की ओर से सहायता प्राप्त होती थी। इन्हें समय-समय पर न केवल करों से ही मुक्त किया जाता था, पर राजकोष से धन भी दिया जाता था।

६. सार्वजनिक आमोद-प्रमोद—इस विभाग में वे पुण्य-स्थान, उद्यान, चिड़ियाघर आदि अंतर्गत हैं, जिनका निर्माण राज्य की तरफ से किया जाता था। राज्य की ओर से पशु, पक्षी, साँप आदि जन्तुओं के वहन से 'वाट' बनाये जाते थे, जिनका उद्देश्य जनता का मनोरंजन था।

७. सार्वजनिक हित के कार्य—इस संबंध में हम अगले अध्यायों में विस्तार से प्रकाश डालेंगे। मौर्यकाल में जनता की स्वास्थ्यरक्षा, चिकित्सालय आदि का राज्य की तरफ से प्रबंध किया जाता था। दुर्भिक्ष, आग, महामारी आदि आपत्तियों से भी जनता की रक्षा की जाती थी। जहाँ जल की कमी हो, वहाँ कूप, तड़ाग आदि बनवाने का विशेष ध्यान रखा जाता था।

इन सब में राज्य को बहुत खर्च पड़ता था और आमदनी का काफ़ी हिस्सा इन कार्यों में व्यय हो जाता था

८. राजा का वैयक्तिक खर्च—मौर्यकाल में राजा का वैयक्तिक खर्च भी कम नहीं था। अंतःपुर बहुत शानदार और विशाल बनाये जाते थे। सैकड़ों दौवारिक और हजारों आन्तर्वंशिक सैनिक हमेशा राजमहल में विद्यमान रहते थे। राजा बहुत शान के साथ रहता था उसके निजी ठाट-बाट में भी बहुत अधिक व्यय होता था। केवल महानस (रसोई) का खर्च इतना अधिक था, कि चाणक्य ने व्यय के विभागों में इसका पृथक् रूप से उल्लेख किया है। राजप्रासाद की अपनी सुरा (कुम्भशाला) पृथक् होती थी। राजमहल और अन्तःपुर के निवासी स्त्री-पुरुषों की संख्या हजारों में पहुँचती थी।

राजा के परिवार के विविध व्यक्तियों को राजकोष से बाकायदा वेतन दिया जाता था। इसकी दर भी बहुत अधिक होती थी। युवराज, राजमाता और राजमहिषी को चार-चार हजार पण मासिक और कुमार या कुमारमाता को एक-एक हजार पण मासिक वेतन मिलता था। यह उनकी अपनी निजी आमदनी थी, जिसे वे स्वेच्छा से खर्च कर सकते थे।

(९) मर्दुमशुमारी

मौर्यकाल में मनुष्यगणना के संबंध में संक्षेप से निर्देश पहले किया जा चुका है। पर इस विषय में कुछ अधिक विस्तार से लिखना आवश्यक है। मौर्ययुग में मनुष्यगणना प्रतिवर्ष होती थी। इसके लिये सरकार का एक स्थिर विभाग होता था, जो सदा मनुष्यों की संख्या अपनी निबंधपुस्तकों में दर्ज रखता था। केवल मनुष्यों की ही गणना नहीं होती थी, अपितु पशु व जंतु भी गिने जाते थे। समाहर्ता और नागरक की

[illegible] में यह कार्य गोप नाम के राजपुरुष (जो प्रायः कुछ ग्रामों के शासक होते थे) किया करते थे। ये राजपुरुष प्रत्येक ग्राम की निबंधपुस्तक में निम्नलिखित बातें दर्ज करते थे —

(१) गाँव में चारों वर्णों के कितने-कितने आदमी हैं।
(२) कितने किसान हैं।
(३) कितने गोरक्षक या ग्वाले हैं।
(४) कितने सौदागर हैं।
(५) कितने कारीगर हैं।
(६) कितने नौकर हैं।
(७) कितने दास हैं।
(८) कितने दो पैरों वाले जन्तु हैं।
(९) कितने चौपाये हैं।
(१०) गाँव में कुल धन कितना है।
(११) गाँव से कितनी बेगार मिल सकती है।
(१२) गाँव की चुंगी की आमदनी कितनी है।
(१३) गाँव के जुरमानों द्वारा कितनी आमदनी होती है।
(१४) कितने मकान हैं, जिनसे कर मिलता है।
(१५) ग्राम के निवासियों में कितने पुरुष, कितनी स्त्रियाँ कितने वृद्ध और कितने बालक हैं।
(१६) कितने घर हैं, जिनसे कर नहीं मिलता।
(१७) निवासियों के चरित्र किस तरह के हैं।
(१८) उनके पेशे क्या-क्या हैं।
(१९) आमदनी कितनी-कितनी है।
(२०) उनका खर्च कितना-कितना है।

मर्दुमशुमारी रजिस्टर में दर्ज होने वाली इन बीस बातों को पढ़ कर यह भलीभाँति समझा जा सकता है कि मौर्यकाल में मनुष्यगणना कितनी पूर्णता के साथ होती थी। मेगस्थनीज

ने भी मनुष्यगणना के संबंध में इस प्रकार निर्देश किया है — 'तीसरा वर्ग उन लोगों का है, जो जन्म और मृत्यु का पता लगाते तथा उनका हिसाब रखते हैं। ऐसा करने का उद्देश्य केवल यही नहीं है, कि इससे कर वसूल करने में सहायता मिलती है, पर असली अभीष्ट बात यह है कि चाहे कोई छोटा हो या बड़ा, किसी के जन्म या मृत्यु की बात राज-दृष्टि से बच न सके।'

(१०) गुप्तचर विभाग

विजिगीषु मागध सम्राटों के लिये गुप्तचर विभाग को उन्नत करना परम आवश्यक था। चाणक्य ने इस विभाग का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। मुख्यतया निम्नलिखित प्रयोजनों से गुप्तचरों का प्रयोग होता था:—

१. अमात्यों पर निरीक्षण रखने के लिये. अमात्य पद पर केवल वे ही व्यक्ति नियत किये जाते थे, जिनकी पहले गुप्तचरों द्वारा पूरी तरह परीक्षा ले ली जाती थी। पुरोहित, सेनापति आदि सब महामात्यों की परीक्षा के लिये अनेकविध उपाय कौटलीय अर्थशास्त्र में लिखे हैं। नियुक्ति के बाद भी अमात्यों के 'शौच' और 'अशौच' का पता गुप्तचर लोग लगाते रहते थे। बड़े-बड़े अमात्यों के अतिरिक्त राज्य के सब छोटे-बड़े कर्मचारियों पर गुप्तचरों की निगरानी रहती थी।

२. पौर और जानपद लोगों की भावनाओं का पता लगाने के लिये भी गुप्तचर नियत किये जाते थे। जनता में किस बात से असंतोष है, लोग राजा को पसंद करते हैं या नहीं, देश के धनी-मानी प्रभावशाली लोगों के क्या विचार हैं, अधीनस्थ सामंतों का क्या रुख है, इन सब बातों का पता लेकर गुप्तचर लोग राजा को सूचना भेजते रहते थे।

३. गुप्तचर लोग विदेशों में भी काम करते थे। पड़ोसी शत्रु देश व विदेशी राज्यों की नीति, विचार, भाव आदि का पता करने के लिये गुप्तचर सदा सचेष्ट रहते थे। जिस देश को अपने अधीन करना होता था, उसमें बहुत से गुप्तचर नाना विध वेश बनाकर भेज दिये जाते थे। ये शत्रुओं में परस्पर फूट डालने तथा सब गुप्त भेदों का पता लगाने के कार्य में तत्पर रहते थे। इस विभाग के गुप्तचरों के कुछ भेद ये होते थे:—

(क) कापटिक छात्र—विद्यार्थी के वेश में दूसरे के मर्म को जानने के लिये नियुक्त गुप्तचर।

(ख) उदास्थित—सन्यासी या वैरागी के वेश में प्रज्ञा और सदाचार से युक्त गुप्तचर।

(ग) गृहपतिक— किसान व अन्य सीधे-सादे गृहस्थी के वेश में, प्रज्ञा और सदाचार से युक्त गुप्तचर।

(घ) वैदेहक—सौदागर के वेश में प्रज्ञा और सदाचार से युक्त गुप्तचर।

(ङ) तापस— मुंड या जटिल तपस्वी साधु के वेश में गुप्तचर।

इनके अतिरिक्त, रसोइया, स्नापक (स्नान कराने वाला), बिस्तर बिछाने वाला, नाई, प्रसाधक, पानी भरने वाला, मसखरा आदि का वेश बनाकर तथा वेश के अनुसार ही कार्य करते हुए प्रज्ञा और सदाचार से युक्त उच्चशिक्षित गुप्तचर लोग विदेशों में अपना कार्य करते रहते थे। कुबड़ा, किरात, मूक (गूंगा) बधिर, जड़ आदि होने का बहाना करके भी बहुत से गुप्तचर दूसरों के मर्म का पता लगाने में प्रयत्नशील रहते थे। स्त्रियाँ, वेश्यायें आदि भी इस विभाग में नियुक्त होती थीं। बहुत से गुप्तचर भिखमंगे बनकर अपना कार्य करते थे।

गुप्तचर-विभाग के केंद्र अनेक स्थानों पर होते थे। इन

केंद्रों को 'संस्था' कहते थे। गुप्तचर लोग जिस किसी रहस्य का पता लगाते थे, उसे अपने साथ संबद्ध 'संस्था' में पहुँचा देते थे। वहाँ से वह बात उपयुक्त राजकर्मचारी के पास पहुँच जाती थी। इसके लिये गुप्तलिपि का प्रयोग किया जाता था। विविध बातों को सूचित करने के लिये पृथक् पृथक् संज्ञायें बनी हुई थीं। इस गुप्तलिपि में लिखकर संदेश को यथास्थान पहुँचा दिया जाता था। विविध संस्थाओं को आपस में एक दूसरे का हाल नहीं मालूम हो सकता था। गुप्तचर लोग भी स्वयं 'संस्था' को नहीं जानते थे। संस्था और गुप्तचरों के बीच मध्यस्थ का कार्य गुप्त वेश वाली स्त्रियाँ करती थीं। ये स्त्रियाँ दासी, कुशी-लवा, शिल्पकारिका, भिक्षुकी आदि नानाविध रूप बनाकर गुप्तचरों के संदेशों को 'संस्था' तक पहुँचाती थीं। संदेश को पहुँचाने के लिये केवल गुप्तलिपि का ही प्रयोग नहीं होता था, अपितु अन्य अनेक साधन भी काम में लाये जाते थे। इस काम के लिये बाजे, गीत आदि के संकेत बनाये हुए थे। गाना ही शंख दुंदुभी आदि की संज्ञायें बनी हुई थीं। खास तरह से गाने या बजाने से खास अभिप्राय का ग्रहण होता था। धुएं, आग आदि के संकेतों से भी संदेश भेजे जाते थे।

साम्राज्यवाद के इस युग में गुप्तचर-विभाग की बहुत ही महत्ता थी।

(११) डाकप्रबंध

कौटलीय अर्थशास्त्र में कुछ निर्देश ऐसे आते हैं, जिनसे उस समय के डाकप्रबंध पर प्रकाश पड़ता है। उस समय संदेश भेजने के लिये कबूतरों का प्रयोग किया जाता था। कबूतरों के गले में पत्र लटका कर उन्हें उड़ा दिया जाता था। खूब सधे हुए कबूतर ठीक स्थान पर ही पत्र पहुँचाने में समर्थ होते थे।

जिस मागध साम्राज्य में सड़कों, सराय आदि का समुचित प्रबंध था, वहाँ मुग़ल काल के समान इन सरायों का उपयोग डाक पहुँचाने के लिये भी किया जाता था या नहीं, इस विषय में कोई निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में हमें उपलब्ध नहीं होता।

(१२) राजशक्ति पर जनता का प्रभाव

मौर्यकाल की शासन-व्यवस्था के प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व राजशक्ति पर कुछ ऐसे प्रभावों का उल्लेख करना आवश्यक है, जिनकी उपेक्षा शक्तिशाली से शक्तिशाली सम्राट् भी नहीं कर सकता था। इस प्रकार का एक प्रभाव ब्राह्मण श्रमणों का था। यद्यपि ये लोग नगर से बाहर जंगलों में निवास करते थे, पर देश की घटनाओं और नीति पर उनकी सदा दृष्टि रहती थी। जब वे देखते थे कि राजा कुमार्ग में प्रवृत्त हो रहा है, तो उसका विरोध करना उनका कर्तव्य हो जाता था। इसी लिये चाणक्य ने लिखा है 'यदि ठीक तरह शासन न किया जाय या राजनीति में काम, क्रोध और अज्ञान आ जाय, तो वानप्रस्थ और परिव्राजक लोग भी कुपित हो जाते हैं।' ये वानप्रस्थ ब्राह्मण बहुत सादगी और ग़रीबी के साथ जंगलों में निवास किया करते थे। राज्य पर इनका प्रभाव बहुत अधिक होता था। चंद्रगुप्त मौर्य के शासन से कुछ पूर्व ही जब सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया, तो उसकी भेंट ऐसे अनेक नागिन ब्राह्मणों से हुई थी। ये ब्राह्मण सिकंदर के विरुद्ध भारतीय राजाओं को उभार रहे थे। एक बार एक ऐसे ब्राह्मण से सिकंदर ने पूछा—'तुम क्यों इस राजा को मेरे विरुद्ध भड़काते हो?' ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'मैं चाहता हूँ, कि यदि वह जीवे, तो सम्मानपूर्वक जीवे, नहीं तो सम्मानपूर्वक मर जाय।' यहाँ

जाता है, कि एक अन्य ब्राह्मण सन्यासी सिकंदर के पास आया और बोला—तुम्हारा राज्य तो एक सूखी हुई खाल की तरह है, जिसका कोई गुरुत्वकेंद्र नहीं होता। जब सिकंदर राज्य के एक पार्श्व पर खड़ा होता है, तो दूसरा पार्श्व विद्रोह कर देता है।' तक्षशिला के एक वृद्ध दंडी को सिकंदर के सम्मुख यह डर दिखाकर बुलाने की कोशिश की गई कि 'सिकंदर तो दुनिया के मालिक द्यौः का पुत्र है, यदि तुम उसके सामने नहीं आओगे, तो वह तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर देगा।' यह सुनकर दंडी ने उपेक्षाजनक हँसी हँस कर उत्तर दिया 'मैं भी द्यौः का उसी तरह पुत्र हूँ, जिस तरह सिकंदर। मैं अपने देश भारत से पूर्णतया संतुष्ट हूँ, जो माता की तरह मेरा पालन करती है।' उस दंडी ने व्यंग से यह भी कहा—यदि सिकंदर गंगा के पार के प्रदेश में जायगा, तो (नंद की सेना) उसे विश्वास दिला देगी, कि वह अभी सारे संसार का स्वामी नहीं बना है।

इसमें कोई संदेह नहीं, कि ऐसे ब्राह्मणों की निर्भीक वृत्ति का राज्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। राजा की अनीति को रोकने में ये बहुत सहायक होते थे। राजाओं के कुमार्गगामी हो जाने पर जब तपस्वी ब्राह्मण कुपित हो जाते थे, तब स्थिति को संभालना कठिन हो जाता था। नंद के शक्तिशाली वंश का पतन आचार्य चाणक्य के कोप से ही हुआ था, वह नंद की अनीति को देख कर उसके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था।

ब्राह्मण तपस्वियों के कोप की अपेक्षा भी जनता का कोप अधिक भयंकर माना जाता था। आचार्य चाणक्य ने लिखा है—'जनता का कोप सब कोपों से बढ़ कर है।' चाणक्य भली-भाँति समझता था, कि 'चाहे राजा न भी हो, पर यदि जनता की

व्यवस्था उत्तम हो, तो राज्य अच्छी तरह चल सकता है।' राज्य के संबंध में यह परंपरागत सिद्धांत मौर्यकाल में भी मान्य समझा जाता था कि 'प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, प्रजा के हित में ही राजा का हित है। हितकारक बात वह नहीं है, जो राजा को अच्छी लगती है। हितकारक बात तो वह है, जो प्रजा को प्रिय लगती है।'

ग्यारहवाँ अध्याय

मौर्यकाल का आर्थिक जीवन

(१) कृषि

मौर्यकाल में भी भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि ही था। मेगस्थनीज ने लिखा है, 'दूसरी जाति में किसान लोग हैं, जो संख्या में सबसे अधिक हैं। युद्ध करने तथा अन्य राजकीय कर्त्तव्यों से मुक्त होने के कारण वे अपना सारा समय खेती में लगाते हैं।' किसानों की अवस्था उस समय बहुत संतोषजनक थी, भारतवर्ष में वर्षा की प्रचुरता के कारण दो फसलें साल में हो सकती थीं और किसान लोग नानाविध अन्नों तथा अन्य पदार्थों को उत्पन्न कर सकते थे। इस विषय में मेगस्थनीज के निम्नलिखित उद्धरण ध्यान देने योग्य हैं—

'भूमि का अधिक भाग सिंचाई में है। अतएव उसमें एक साल के भीतर दो दो फसलें पैदा होती हैं।'

'यहाँ के लोग निर्वाह की सब सामग्री बहुतायत से पाकर प्रायः मामूली डील-डौल से अधिक होते हैं, और अपने गर्वीले हाव-भाव के लिये प्रसिद्ध हैं।'

'भूमि पशुओं के निर्वाहयोग्य तथा अन्य खाद्य पदार्थ भी प्रदान करती है। अतः यह माना जाता है कि भारतवर्ष में अकाल कभी नहीं पड़ा है, और खाने की वस्तुओं की महंगी भी साधारणतया कभी नहीं हुई है। चूँकि यहाँ साल में दो बार वर्षा होती है, एक जाड़े में, जब कि गेहूँ की बुआई होती है और दूसरी गरमी के दौरान में, जब कि तिल और ज्वार के बोने

का उपयुक्त समय होता है, अतः भारत के किसान प्रायः सदा साल में दो फसलें काटते हैं। यदि उनमें से एक फसल कुछ बिगड़ भी जाती है, तो लोगों को दूसरी फसल का पूरा विश्वास रहता है। इसके अतिरिक्त, एक साथ होने वाले फल और मूल जो दलदलों में उगते हैं, और भिन्न-भिन्न मिठास के होते हैं, मनुष्यों को प्रचुर खाद्य सामग्री प्रदान करते हैं। बात यह है, कि देश के प्रायः समस्त मैदानों में ऐसी नमी रहती है, जो सम-भाव से जमीन को उपजाऊ बना देती है, चाहे यह नमी नदियों द्वारा प्राप्त हुई हो, चाहे ग्रीष्म ऋतु की वर्षा के जल द्वारा। यह वर्षा प्रत्येक साल एक नियत समय पर आश्चर्यजनक नियमितता के साथ बरसा करती है। कड़ी गर्मी फलों और मूलों का को, विशेषतया कसेरू को पकाती है।'

'इतने पर भी भारतवासियों में बहुत सी ऐसी प्रथाएँ हैं, जो वहाँ अकाल पड़ने की भावना को रोकने में सहायता देती हैं। दूसरी जातियों में युद्ध के समय भूमि को नष्ट करने और इस प्रकार उसे परती व ऊसर कर डालने की चाल है। पर इसके विरुद्ध भारतवासियों में, जो कृषक समाज को पवित्र व अवध्य मानते हैं, भूमि जोतने वाले किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नहीं होते, चाहे उनके पड़ोस में युद्ध क्यों न हो रहा हो। दोनों पक्ष के लड़ने वाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो लोग खेती में लगे हुए हैं, उन्हें पूर्णतया निर्विघ्न अपना काम करने देते हैं। साथ ही न वे शत्रु देश को अग्नि से सत्यानाश करते हैं, और न उसके पेड़ काटते हैं।'

मौर्यकालीन भारत में किसानों की दशा के संबंध में कौटिलीय अर्थशास्त्र से भी बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं। चाणक्य ने निम्नलिखित फसलों के नाम दिये हैं—

वर्षा ऋतु के प्रारंभ में बोई जाने वाली वस्तुएं—शाली, व्रीहि, कोद्रव (तीन प्रकार के चावल), तिल, प्रियंगु, वरक (मोठ) आदि। वर्षा ऋतु के मध्य में बोई जाने वाली वस्तुएं—मूँग, उड़द, शैब्य आदि। वर्षा की समाप्ति के बाद बोई जाने वाली वस्तुएं—कुसुम्भ, मसूर, कुलत्थ, जौ, गेहूं, चना, अलसी, सरसों आदि। इनके अतिरिक्त ईख, कपास, नानाविध शाक-भाजियों के नाम तथा उनकी खेती के संबंध में चाणक्य ने उल्लेख किया है। इनमें मटर, आलू, ककड़ी, सहजन, तरबूज और खरबूजे के नाम आते हैं। ईख के विषय में चाणक्य ने लिखा है कि इसकी खेती में बहुत सी बाधायें पड़ती हैं, और बहुत खर्च होता है। अंगूरों तथा उनसे किशमिश बनाने का निर्देश भी अर्थशास्त्र में विद्यमान है। फलों में आम, अनार, आंवला, निम्बू, बेर, फालसा, अंगूर, जामुन, कटहल आदि के नाम दिये गये हैं।

मौर्यकाल में भी खेती के लिये हल और बैलों का प्रयोग होता था। भूमि को खूब अच्छी तरह हल चलाकर तैयार किया जाता था। फिर उसमें नानाविध खादों को डाल कर भूमि की उपजशक्ति को बढ़ाया जाता था। खाद के लिये गोबर, हड्डी और राख का प्रयोग होता था। बोने से पहले बीज को अनेक अवस्थाओं में रखा जाता था। चाणक्य ने लिखा है—'बोने से पहले धान को सात रात तक ओस तथा धूप में रखना चाहिये। दाल आदि कोशीधान्यों (फलियों) का तीन रात तक पाले तथा घाम में रखना चाहिये। गन्ना आदि के (जिनकी शाखा को बीज के रूप में बोया जाता हो) बीज को, जहाँ से काटा गया हो, उस स्थान पर घी, मधु, सूकर की चर्बी और गोबर को मिला कर लगाना चाहिये। कंदों के छेदों पर मधु और घी को मिलाकर लगाना चाहिये। बिनौलों को गोबर में मल लेना

चाहिये।" ईख के विषय में चाणक्य ने लिखा है—"जब अंकुर निकल आवें, तो उन पर कड़वी मछलियों के खूब बारीक कुटे हुए चूर्ण को डालना चाहिये तथा स्नुहि (थूहर) के दूध से सींचना चाहिये।

सिंचाई के लिये जो विविध साधन मौर्यकाल में प्रचलित थे उनका भी संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है। (१) हस्तप्रावर्तिमम्—पानी को किसी गढ़े में इकट्ठा कर फिर हाथ द्वारा सिंचाई करना। या डोल, चरस आदि की सहायता से कुएं से पानी निकाल कर सिंचाई करना। (२) स्कंध प्रावर्तिमम्—बैलों की सहायता से पानी निकाल कर सिंचाई करना। रहट, या चरस को जब बैल खींचते हैं, तो उनके कंधों से पानी निकालने के कारण इस प्रकार की सिंचाई को 'स्कंधप्रावर्तिमम्' कहते थे। (३) स्रोतयंत्र प्रावर्तिमम्—वायु द्वारा (पवन चक्की से) खींचे हुए पानी को स्रोतयंत्र प्रावर्तिमम् कहते थे। (४) नदीसरस्तटाककूपोद्घाटम्—नदी, सर, तटाक और कूप द्वारा सिंचाई करना। (५) सेतुबंध—बांध (डाम) बना कर उससे नहरें व नालियाँ निकाल कर उनसे सिंचाई करना।

वर्षा के अतिरिक्त इन विविध साधनों से सिंचाई का प्रबंध होने का परिणाम यह था, कि मौर्यकाल में जमीन बहुत उपजाऊ रहती थी और प्रचुर परिमाण में अन्न उत्पन्न होता था।

(ख) व्यवसाय

मेगस्थनीज ने भारत के विविध व्यवसायों और कारीगरों के संबंध में वर्णन करते हुए लिखा है, कि "वे कला कौशल में भी बड़े निपुण हैं, जैसा कि ऐसे मनुष्यों से आशा की जा सकती है, जो स्वच्छ वायु में सांस लेते हैं, और उत्तम जल का पान करते हैं।" कौटलीय अर्थशास्त्र में भिन्न-भिन्न व्यव-

सायों से आजीविका कमाने वाले लोग हैं। कई वार्तान जीवते हैं, कई व्यापारी हैं, कई सिपाही हैं।'

कौटलीय अर्थशास्त्र में उस युग के व्यवसायों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। भारत में मुख्य-मुख्य व्यवसाय निम्नलिखित थे—

१. तन्तुवाय—मौर्यकाल में सब से मुख्य व्यवसायी तन्तुवाय या जुलाहे थे। ये रुई, रेशम, सन, ऊन आदि के अनेकविध कपड़े तैयार करते थे। सूत चरखों पर काता जाता था, खड्डियों पर उसकी बुनाई होती थी। सूत बढ़िया, मध्यम या घटिया है, इसे जाँच कर उसकी कीमत दी जाती थी। कपड़े बुनने के लिये कारखाने (कर्मान्त) होते थे। इनमें बहुत से जुलाहे एक साथ खड्डियों पर काम करते थे। राज्य की तरफ से इन्हें प्रोत्साहन दिया जाता था। चाणक्य ने लिखा है, कि गंध और माल्य के दान तथा अन्य प्रकार के अनुग्रहों से इन्हें प्रोत्साहित करें। जुलाहे वस्त्र बनाते समय यदि सूत को चुरा लें, तो उन्हें दंड की व्यवस्था थी। यह दंड विविध वस्त्रों के लिये भिन्न-भिन्न था।

ऊनी कपड़ों में कंबलों का वर्णन अर्थशास्त्र में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। वहाँ लिखा है—'भेड़ की ऊन से बने हुए कंबल श्वेत, शुद्ध लाल तथा कमल की तरह लाल—इन तीन रंगों के होते हैं। इन्हें चार तरह से बनाया जा सकता है—(क) खचित (कटे हुए सूत से बुनकर)। (ख) वानचित्र (भिन्न-भिन्न रंग के ऊन से बुन कर)। (ग) खंड संघात्य (पट्टियाँ जोड़ कर)। (घ) तंतुविच्छिन्न (ऊन से ताना-बाना एक कर के फिर बुन कर)।' ऊनी कंबल दस तरह के होते थे। कौचपक (मोटा कंबल), कुलमितिक (सिर पर धारण करने के लिये प्रयुक्त होने वाला), सौमितिक (बैल के ऊपर

ओढ़ा जाने वाला) तुरगास्तरण (घोड़े पर डाला जाने वाला), वर्णक (रंगबिरंगा), तलिच्छक (बिस्तर पर बिछाया जाने वाला) वारवाण (कोट के लिये प्रयुक्त होने वाला), परिस्तोम (बड़े आकार का विशेष कंबल), समन्तभद्रक (हाथी की झूल), आविक (बारीक ऊन का कंबल) ।

भेड़ के अतिरिक्त अन्य पशुओं के बालों से भी विविध वस्त्र बनते थे। अर्थशास्त्र में ऐसे छः प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख किया है, संपुटिका, लंबरा, कटवानक, प्रावरक और सत्तलिका। किस देश में कौन सा कपड़ा अच्छा बनता है, इस संबंध में अर्थशास्त्र का निम्नलिखित उद्धरण बड़े महत्त्व का है—'जो कपड़ा वंगदेश में बनता है, वह श्वेत और चिकना होता है। पुंड्र देश का कपड़ा काला और मणि की तरह चिकना होता है। सुवर्णकुड्य देश का कपड़ा सूर्य की तरह रंग वाला और मणि के समान चिकना होता है। इसे गिला कर के बुना जाता है। इसे एक समान सीधा रख कर और उलटा-टेढ़ा रख कर, दोनों तरह से बुना जाता है। काशी तथा पुंड्र देश के बने हुए सन के कपड़े भी बहुत उत्तम होते हैं। मगध, पुंड्र और सुवर्णकुड्य देशों में विविध वृक्षों के पत्तों व छाल के रेशों से भी कपड़े बनाये जाते हैं।' बंगाल की मलमल मौर्यकाल में भी प्रसिद्ध थी। मैगस्थनीज ने भी लिखा है, कि भारतीय लोग बारीक मलमल के कपड़े पहनते हैं। इस देश के पहरावे के विषय में ग्रीक यात्री का यह वाक्य उल्लेखनीय है—'वे मलमल के फूलदार कपड़े पहनते हैं, सिर पर पगड़ी बांधते हैं और चमकीले रंगों से रंगे हुए वस्त्रों का प्रयोग करते हैं।'

वस्त्र-व्यवसाय के साथ संबंध रखने वाले धोबी, रंगरेज, दर्जियों का उल्लेख भी अर्थशास्त्र में हुआ है। साथ ही, रस्सी

और कवच बनाने वाले व्यवसायियों का भी वर्णन है।

२—खानों में काम करने वाले व्यवसायी—मैगस्थनीज ने भारत की खानों के विषय में यह लिखा है कि भारत की भूमि जो अपने ऊपर हर प्रकार के फल तथा कृषिजन्य पदार्थ उपजाती ही है, पर इसके गर्भ में भी सब प्रकार की धातुओं की अनगिनत खानें हैं। इस देश में सोना और चांदी बहुत होता है। तांबा और लोहा भी कम नहीं होता। जस्ता और अन्य धातुएं भी होती हैं। इनका व्यवहार आभूषण, लड़ाई के हथियार तथा साज आदि बनाने के निमित्त होता है।' चाणक्य ने अर्थशास्त्र में खानों के व्यवसाय का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इस विभाग के अध्यक्ष को 'आकराध्यक्ष' कहते थे। इस पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति के लिये यह आवश्यक था, कि वह ताम्र आदि धातुओं की विद्या में पूर्णतया दक्ष हो, पारा निकालने की विद्या को जानता हो, और मणि-माणिक्य आदि रत्नों की पहचान रखता हो। आकराध्यक्ष के अधीन कर्मचारी पहले विविध धातुओं की खानों का पता लगाते थे। कच्ची धातु की परीक्षा उसके भार, रंग, तेज, गंध और स्वाद द्वारा की जाती थी। खान का पता लगाने के संबंध में चाणक्य ने लिखा है, कि पहाड़ों के गढ़ों, गुफाओं, तराइयों तथा छिपे हुए छेदों से नानाविध द्रव बहते रहते हैं। यदि इस द्रव का रंग जामुन, आम, ताल फल, पकी हुई हरिद्रा, हड़ताल, शहद, सिंगरफ, तोता या मोर के पंख के समान हो, उसमें काई के सदृश चिकनाहट हो, वह पारदर्शक और भारी हो, तो समझना चाहिये, कि वह सोने की कच्ची धातु के साथ मिलकर निकल रहा है। यदि द्रव को पानी में डालते ही वह तेल की तरह संपूर्ण सतह को व्याप्त कर ले, सब गर्द और मैल को इकट्ठा कर ले, तो समझना चाहिये, कि वह ताम्र और चांदी की

धातु से मिश्रित है। इसी तरह से अन्य धातुओं की खानों की भी पहचान की गई है।

कच्ची धातु से शुद्ध धातु कैसे तैयार की जाय, धातु को कैसे नरम और लचकदार बनाया जाय और उसमें विशेष-विशेष प्रकार के गुण कैसे उत्पन्न किये जायें, इन सब बातों का विवरण कौटलीय अर्थशास्त्र में दिया गया है। विविध धातुओं के व्यवसाय के लिये पृथक्-पृथक् अध्यक्ष होते थे, जो 'आकराध्यक्ष' के अधीन अपना कार्य करते थे।

खानों पर राज्य का स्वत्व माना जाता था। उनका संचालन राज्य की तरफ से ही होता था। पर लोगों को किराये पर भी खानें दे दी जाती थीं। जितनी कुल उत्पत्ति हो, उसमें से अपना हिस्सा भी राज्य तय कर लेता था। खानों को बेच भी दिया जाता था।

३. नमक का व्यवसाय—लवणाध्यक्ष की अधीनता में नमक के व्यवसाय का संचालन होता था। नमक बनाने व बेचने के लिये राज्य की अनुमति आवश्यक थी। नमक बनाने में मुख्यतया समुद्रजल का ही प्रयोग होता था।

४. समुद्र से रत्न आदि निकालने का व्यवसाय—इस व्यवसाय के अध्यक्ष को 'खन्यध्यक्ष' कहते थे। समुद्र से शंख, मणि, मुक्ता आदि विविध पदार्थों को निकलवाने तथा उन्हें शुद्ध करवाने तथा उनकी विविध वस्तुएं बनवाने का कार्य खन्यध्यक्ष के अधीन होता था। अर्थशास्त्र में अनेकविध मणि, रत्न, मुक्ता, आदि के भेद तथा उनकी पहचान लिखी गई है।

५. सुनार, सोना, चांदी आदि बहुमूल्य धातुओं को शुद्ध कर उनके आभूषण बनाने का कार्य सुनार लोग करते थे। सुनारों की सहायता के लिये ध्मापक (भट्ठी में हवा देने वाले) पांसुधावक (गर्द साफ करने वाले) आदि अनेक कारीगर

होते थे। अर्थशास्त्र में बहुत प्रकार के हारों व अन्य आभूषणों का उल्लेख पाया जाता है।

६. वैद्य—चिकित्सा का काम करने वालों का पृथक् व्यवसाय था। ऐसे चिकित्सक भिषक् (साधारण वैद्य) जांगलीविद् (विष चिकित्सक), गर्भव्याधि संस्थाः (गर्भ की बीमारियों को ठीक करने वाले), और सूतिका चिकित्सक (संतान उत्पन्न कराने वाले), चार प्रकार के होते थे। वैद्यों के व्यवसाय पर भी राज्य का पूरा नियंत्रण था। इस संबंध में चाणक्य के निम्नलिखित नियम ध्यान देने योग्य हैं:—(क) सरकार को सूचना दिये बिना ही यदि चिकित्सक लोग ऐसे रोगी का इलाज करने लगें, जिनकी मृत्यु की संभावना हो, तो उन्हें 'पूर्व साहस दण्ड' दिया जाय। (ख) यदि किसी विपत्ति के कारण इलाज भली-भांति न किया जा सके, तो चिकित्सक को 'मध्यमदण्ड' दिया जाय। (ग) यदि इलाज के प्रति चिकित्सक उपेक्षा करे, रोगी पर समुचित ध्यान न दे और इस कारण रोग बढ़ जाय, तो चिकित्सक पर 'दंडपारुष्य' का अपराध लगाया जाय।

७. शराब का व्यवसाय—यद्यपि मैगस्थनीज ने लिखा है, कि भारतीय लोग यज्ञों के अतिरिक्त कभी मदिरा नहीं पीते, पर अर्थशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि मौर्यकाल में शराब का व्यवसाय भी बहुत उन्नत था। राज्य का इसके लिये भी एक पृथक् विभाग था जिस के अध्यक्ष को 'सुराध्यक्ष' कहते थे। अर्थशास्त्र में मेदक, प्रसन्न, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु छः प्रकार की शराब का उल्लेख कर इनके निर्माण की विधि भी लिखी है।

८. बूचड़खाने—मांसभक्षण का बहुत प्रचार होने के कारण मौर्यकाल में बूचड़ों का व्यवसाय भी बहुत उन्नत था। यह 'सूनाध्यक्ष' नामक अधिकारी द्वारा नियंत्रित होता था।

९. चमड़े का व्यवसाय—बूचड़खानों में मारे गये तथा जंगल, खेत आदि में मरे हुए पशुओं की खालों का उपयोग अनेक प्रकार से मौर्यकाल में किया जाता था। खाल को अनेक प्रकार के मुलायम चमड़ों में परिवर्तित करने का शिल्प इस समय बहुत उन्नत था। अर्थशास्त्र में बहुत तरह के चमड़ों का वर्णन है, जिनमें से कुछ तो इतने उत्कृष्ट होते थे, कि उनकी गणना रत्नों में की गई है।

१०. बर्तनों का व्यवसाय – अर्थशास्त्र में चार प्रकार के बर्तनों का उल्लेख है: धातु, मिट्टी, बेंत और छाल से बने हुए। चारों प्रकार के बर्तनों को बनाने वाले अलग-अलग शिल्पी होते थे, जो अनेक प्रकार के बर्तन तैयार करते थे।

११. जंगलों के साथ संबंध रखने वाले व्यवसाय—अर्थशास्त्र में जंगलों में होने वाले उन वृक्षों का विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है, जिनकी लकड़ी विविध प्रकार के कामों में आती है। इन में सारदारु (ठोस पक्की लकड़ी वाले), बांस, लताएं, रेशेदार पौधे, कागज बनाने के काम आने वाले वृक्ष आदि अनेक प्रकारों का वर्णन है। जंगल से विविध प्रकार के वृक्षों को काटना, उन्हें फिर विविध उपयोगों में लाना—यह सब व्यवसाय उस समय भली भांति उन्नत था। लकड़हारे, बढ़ई आदि अनेक शिल्पी इन कामों में लगे हुए थे।

१२. लुहार—लोहे से जहां खेती व अन्य शिल्पों के नानाविध उपकरण तैयार किये जाते थे, वहां अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण भी प्रधानतया लोहे से ही होता था। 'आयुधागाराध्यक्ष' की अधीनता में हथियार बनाने का बहुत बड़ा महकमा उस समय होता था, जिसमें सैकड़ों प्रकार के छोटे-बड़े हथियार तैयार किये जाते थे। यह शिल्प उस समय में बहुत ही उन्नत था।

१३. जहाज और नौकाएं बनाने वाले—मौर्यकाल में भारत

के जलमार्गों व समुद्र में अनेक प्रकार के छोटे-बड़े जहाज चलते थे। इन सब को भारत में ही बनाया जाता था।

१४. मनोरंजन करने वाले—इनमें नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव आदि अनेक प्रकार के शिल्पी सम्मिलित थे।

१५. खाना पकाने वाले—इनके भी अनेक भेद थे। चावल दाल पकाने वाले, मांस भोजन बनाने, रोटी सेकने वाले, हलवाई आदि अनेक प्रकार के पाचकों का उल्लेख चाणक्य ने किया है।

१६. शौण्डिक—शराब बेचने वाले।

१७. वेश्यायें—इनके दो मुख्य भेद थे, गणिका और रूपाजीवा। गणिकायें प्रायः राजा व अन्य धनी व्यक्तियों की सेवा का कार्य करती थीं। इनका कार्य राजा के छत्र, चामर, इत्र-दान, पंखा, पालकी, पीठिका, रथ आदि के साथ रह कर राजा की शोभा को बढ़ाना होता था। रूपाजीवा वेश्यायें स्वतन्त्र पेशा करती थीं।

१८. गन्धपण्या—सुगन्धियाँ बनाने और बेचने वाले।

१९. माल्यपण्याः—मालायें बनाने और बेचने वाले।

२०. गोरक्षक—ग्वाले।

२१. कर्मकर—मजदूर।

२२. तालावचराः—बाजे बनाने वाले।

२३. राज—मकान बनाने वाले। ये विविध इमारतों व दुर्गों का निर्माण करते थे।

२४. मणिकार—विविध रत्नों, मणियों व हीरे आदि को काट व तराश कर इनके आभूषण बनाने का कार्य ये शिल्पी करते थे।

२५. देवताकार—विविध देवी-देवताओं की मूर्तियां बनाना इनका काम होता था।

(३) व्यापार

कृषि और व्यवसायों के समान व्यापार भी मौर्यकाल में बहुत उन्नत था। ग्राम के छोटे-छोटे सौदागरों से लेकर बड़ी बड़ी कंपनियों तक उस काल में विद्यमान थीं। गाँवों के सौदागर व्यापार के साथ-साथ खेती व अन्य छोटे-छोटे काम भी अपनी आजीविका के लिये किया करते थे। देहात में माल की बिक्री के लिये मंडियाँ भी लगती थीं। ये मंडियाँ जल और स्थल-मार्गों के नाकों पर लगाई जाती थीं। शहरों के व्यापारियों के संबंध में अनेकविध नियमों का उल्लेख आचार्य चाणक्य ने किया है। इन नियमों का मुख्य प्रयोजन यह था, कि माल में मिलावट न हो सके। इस विषय में अर्थशास्त्र के निम्नलिखित नियम उल्लेखनीय हैं—

'जो घटिया माल को बढ़िया बता कर बेचता हो, जिस स्थान का वह माल हो उससे भिन्न किसी अन्य स्थान का बता कर बेचता हो, मिलावटी माल को असली बताता हो, जिस माल का सौदा किया गया हो, देते समय उसे बदल कर दूसरा माल रख देता हो, तो उस व्यापारी पर न केवल ५४ पण जुर्माना किया जाय, अपितु उससे क्षतिपूर्ति भी कराई जाय।'

यदि कोई दुकानदार तराजू और बट्टों को ठीक न रख कर जनता को ठगता था, तो उस पर भी जुर्माना किया जाता था। पर थोड़े से फरक पर ध्यान नहीं दिया जाता था। परिमाणी और द्रोण भर चीज के तोलने पर यदि आधे पल का फरक हो, तो उसे उपेक्षणीय समझा जाता था। पर इससे अधिक फरक होने पर दुकानदार को १२ पण दंड मिलता था। यदि कमी अधिक हो, तो दंड और अधिक किया जा सकता था।

यदि तराजू के दोष के कारण तोलने में १ कर्ष का फरक पड़े, तो उसे माफ कर दिया जाता था। पर इससे अधिक कमी होने पर दंड मिलता था। २ कर्ष से अधिक कमी होने पर दंड की मात्रा ६ पण होती थी। अधिक कमी होने पर इसी अनुपात से जुर्माना बढ़ता जाता था।

शहरों में भिन्न-भिन्न वस्तुओं के बाजार अलग-अलग होते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में जिस आदर्श नगर का चित्र उपस्थित किया गया है, उसमें मांस, चावल, रोटी, मिठाई आदि भोज्य पदार्थों की दूकानों के लिये पृथक् व्यवस्था की है, वहां सुगंधित तैल, माला, फूल, वस्त्र आदि की दूकानों के लिये अलग जगह रखी गई है। शहरों में जहां बड़ी-बड़ी दूकानें होती थीं, वहां फेरी वालों की भी कमी न थी। फेरी वाले घूम-घूम कर माल बेचते थे।

मौर्यकाल में भी व्यापारी लोग मुनाफा बढ़ाने के लिये अनेक अनुचित उपायों का प्रयोग किया करते थे। कभी-कभी वे माल को रोक कर दाम बढ़ा देते थे, या परस्पर एका करके माल को अधिक कीमत पर बेचने का निश्चय कर लेते थे। आचार्य चाणक्य की सम्मति में ये बातें अनुचित थीं, इसी लिये उन्होंने ऐसा करने वालों के लिये १००० पण जुर्माना की व्यवस्था की थी।

दूकानदार लोग कितना मुनाफा लें, इस पर भी राज्य की तरफ से नियंत्रण होता था। आम चीजों पर लागत से पांच सदी अधिक मुनाफा लिया जा सकता था, विदेशी माल पर १० फी सदी मुनाफा लेने की अनुमति थी। इससे ½ फी सदी मुनाफा लेने पर १०० पण से २०० पण तक के क्रय-विक्रय पर ५ पण जुर्माना किया जा सकता था। ½ फी सदी से और अधिक अनुचित मुनाफा लेने पर जुर्माने की मात्रा इसी अनुपात से बढ़ा दी जाती थी।

जब बाजार में माल बहुत था जाता था, और इस कारण कीमत गिरनी शुरू हो जाती थी, तो उसे एक स्थान पर एकत्र कर, या मुकाबला रोक कर कृत्रिम उपायों से कीमत का ह्रास रोक दिया जाता था। चाणक्य को यह अभीष्ट नहीं था, कि व्यापार में लाभ न हो। उनका सिद्धांत तो यह था, कि चाहे लाभ कितना होता हो, पर यदि वह प्रजा के लिये हानिकारक है, तो उसे रोक दिया जाय।

व्यापारियों की दुकानों पर माल को तोलने या मापने के लिये अनेक व्यक्ति होते थे। अर्थशास्त्र में इन्हें क्रमशः 'धरक' और 'मापक' लिखा गया है। यदि तोलने व मापने हुए ये लोग बेईमानी करते थे, तो इन्हें भी कठोर दंड दिया जाता था।

मौर्यकाल में भारत का आंतरिक व्यापार बहुत उन्नत था। यह व्यापार जल और स्थल दोनों प्रकार के मार्गों से किया जाता था। इन मार्गों का उल्लेख हम अगले प्रकरण में करेंगे। भिन्न-भिन्न स्थानों की भिन्न-भिन्न वस्तुएं प्रसिद्ध थीं। स्वाभाविक रूप से व्यापारी लोग इन प्रसिद्ध वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर बेचते थे। हिमालय के अतिरिक्त 'द्वादशग्राम', 'आरोह', 'बाह्लव' आदि स्थानों के अनेकविध चमड़े बहुत प्रसिद्ध थे। इसी तरह कोशल, काश्मीर, विदर्भ, कलिंग आदि के हीरे, ताम्रपर्णी, पांड्य, केरल आदि के मोती, मलयकूट आदि पर्वतों की मणियां उस समय सारे भारत में प्रसिद्ध थीं। नैपाल के कंबल, बंग देश के श्वेत और महीन कपड़े (मलमल) काशी तथा पुण्ड्र देश के सनियां कपड़े और मगध तथा सुवर्णकुड्य के रेशेदार वृक्षों के रेशों से बने वस्त्र उस समय सारे भारत में प्रसिद्ध थे। मौर्यकाल के सौदागर व्यापार के लिये बड़े-बड़े काफिले (सार्थ) बना कर सब जगह आया जाया करते थे। जब कोई काफिला माल लेकर किसी शहर में पहुँचता था, तो

शुल्कशाला (चुंगीघर) के चार पाँच आदमी सार्थवाह (काफ़िले का नेता) के पास जाकर पूछते थे—'तुम कौन हो? कहाँ के हो? तुम्हारे पास कितना और क्या माल है? पहली मुहर तुम्हारे माल पर कहाँ लगी थी?' इन काफ़िलों की रक्षा का भार राज्य पर होता था। उस समय के मार्ग भयंकर जंगलों में से होकर-गुजरते थे, जिनमें जंगली हिंस्र पशुओं के अति-रिक्त चोर डाकू व आटविक लोग भी रहते थे। मौर्यकाल का शासन इतना व्यवस्थित था, कि काफ़िलों को अपनी रक्षा के लिये स्वयं शस्त्र धारण करने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। राज्य सार्थ में चलने वाले प्रत्येक व्यापारी से १¼ पण मार्गकर (वर्तनी) लेता था। इसके बदले में उसकी भी जान की रक्षा का उत्तरदायित्व राज्य ले लेता था। इसी तरह माल पर कर लगता था। एक खुर वाले पशु पर लदे माल पर १ पण, अन्य पशुओं के लिये ½ पण, छोटे पशुओं पर ¼ पण और सिर पर उठाये हुए माल पर १ माष कर लिया जाता था। इन करों के बदले में सरकार का यह कर्तव्य था, कि यदि व्यापारी का माल मार्ग में लुट जाय, तो उसे राज्य की तरफ से हरजाना दिया जाय।

मौर्यकाल में विदेशी व्यापार भी बहुत उन्नत था। भारत की पश्चिमोत्तर, उत्तर तथा उत्तरपूर्वी सीमायें अनेक देशों के साथ लगी थीं। उनके साथ भारत का व्यापारिक संबंध विद्य-मान था। स्थलमार्ग से जाने वाले बड़े-बड़े काफ़िले इन पड़ोसी राज्यों में व्यापार के लिये आया जाया करते थे। कौटलीय अर्थ-शास्त्र में विदेशी काफ़िलों का भी उल्लेख किया गया है, जो व्या-पार के लिये भारत में आया करते थे।

विदेशी व्यापार जहाँ खुश्की के रास्ते से होता था, वहाँ समुद्र द्वारा भी बड़ी-बड़ी नौकायें व्यापार की वस्तुओं को ढोने का काम करती थीं। महासमुद्रों में जाने वाले जहाजों की

'संघात्य-नाव' और 'प्रवरण' कहते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में चीन तथा ईरान की व्यापारी वस्तुओं का उल्लेख है। चाणक्य ने लिखा है—'रेशम और चीनपट्ट, जो चीन देश में उत्पन्न होते हैं, श्रेष्ठ समझे जाते हैं।' इसी तरह मुक्ताओं की विविध किस्मों का उल्लेख करते हुए चाणक्य ने कार्दमिक भी मुक्ताओं का एक भेद बतलाया है। ईरान की कर्दम नदी में उत्पन्न हुए मोतियों को कार्दमिक कहते थे।

मौर्यकाल में भारत का पश्चिमी देशों से भी समुद्र के मार्ग से व्यापार प्रारंभ हो चुका था। यह व्यापार मुख्यतया मिस्र के साथ में था। सिकंदर के साम्राज्य के पतन के बाद मिस्र का राजा टालमी हुआ, जो चंद्रगुप्त मौर्य का समकालीन था। उस समय में मिस्र की राजधानी अलेक्जेंड्रिया विदेशी व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र थी। अलेक्जेंड्रिया से कुछ दूरी पर फेरोस नामी द्वीप में टालमी ने एक विशाल प्रकाशस्तंभ का निर्माण कराया। यह संसार के सात आश्चर्यों में गिना जाता था। अशोक के समकालीन मिस्र के राजा टालमी फिलेडेल्फस ने भारत आदि पूर्वी देशों के साथ मिस्र के व्यापार को बढ़ाने के लिये आर्सीनोए से लालसागर तक एक नहर बनवाने का संकल्प किया था। इस नहर को १५० फीट चौड़ा और ४५ फीट गहरा बनाया जा रहा था। इस नहर का उद्देश्य यही था कि भारतीय माल को अलेक्जेंड्रिया पहुंचाने के लिये स्थल पर न उतारना पड़े, और लालसागर से इस कृत्रिम नहर के रास्ते जहाज नील नदी होकर सीधे अलेक्जेंड्रिया पहुंच जावें। दुर्भाग्यवश, यह नहर पूरी नहीं हो सकी। पर मिस्र के साथ भारत का व्यापार जारी रहा। इसी प्रयोजन से टालमी ने लालसागर के तट पर एक नये बंदरगाह की स्थापना की, जिसका नाम बरनिस था। वहाँ से खुश्की के रास्ते अलेक्जेंड्रिया तक तीन सौ मील की दूरी

पर था । इस रास्ते पर माल को ढोने का काम काफिलों द्वारा होता था ।

(४) आने-जाने के साधन

मौर्यकाल में आने-जाने के मार्ग दो प्रकार के थे, जलमार्ग और स्थलमार्ग । दोनों प्रकार के मार्गों से विविध प्रकार के साधनों द्वारा यात्रा की जाती थी । चाणक्य की सम्मति में जलमार्गों की अपेक्षा स्थलमार्ग अधिक अच्छे होते हैं । उसने लिखा है—'पुराने आचार्यों की सम्मति है, कि जलमार्ग और स्थलमार्ग में जलमार्ग अधिक अच्छे होते हैं, क्योंकि जलमार्ग द्वारा परिश्रम कम पड़ता है, और खर्च भी कम होता है । साथ ही जलमार्ग द्वारा व्यापार में मुनाफा भी खूब होता है । पर चाणक्य का मत है कि स्थलमार्ग ज्यादा अच्छे हैं, क्योंकि जलमार्ग में खतरे बहुत हैं । जलमार्ग सदा प्रयुक्त नहीं हो सकते और फिर उनमें आशंका भी बनी रहती है ।'

जलमार्गों का महकमा 'नावाध्यक्ष' के अधीन रहता था । अर्थशास्त्र के अनुसार जलमार्गों के निम्नलिखित भेद होते थे—

१. कुल्या—देश के अंतर्गत नदियों, नहरों तथा अन्य प्रकार के जलमार्गों को कुल्या कहते थे ।

२. कूलपथ—समुद्र के तट के साथ-साथ जो छोटे-बड़े जहाजों से व्यापार होता था, उसे कूलपथ कहते थे । चाणक्य की सम्मति में कुल्या और कूलपथों में तुलना करने पर कूलपथ अधिक अच्छे पाये जाते हैं, क्योंकि उनमें व्यापार अधिक हो सकता है । ये कुल्यापथ की तरह अस्थिर व अनिश्चित नहीं होते । नदियाँ व नहरें सूख जाती हैं, व्यापार के अयोग्य हो जाती हैं, पर समुद्रतट नहीं ।

३. संयान पथ—महासमुद्रों के जलमार्गों को संयानपथ कहा जाता था ।

जलमार्गों द्वारा प्रयुक्त होने वाली विविध नौकाओं का अर्थशास्त्र में उल्लेख किया गया है।

१. संयात्यः नावः—बड़े-बड़े जहाज जो महासागरों में व्यापार के लिये जाया करते थे। जिस समय ये जहाज किसी बंदरगाह (पत्तन) पर पहुँचते थे, तो इनसे शुल्क लिया जाता था।

२. प्रवहण—समुद्रों में जाने वाले व्यापारी जहाजों को प्रवहण कहते थे। प्रवहणों का प्रबंध करने के लिये एक पृथक् अमात्य का उल्लेख अर्थशास्त्र ने किया है।

३. शंखमुक्ताग्राहिण्यः नावः—समुद्र से शंख, मोती आदि एकत्र करने वाली नौकायें।

४. महानावः—बड़ी नदियों में चलने वाली बड़ी-बड़ी नौकायें।

५. शासकनिर्यामकाधिष्ठिता नौ—निपुण नाविकों द्वारा अधिष्ठित राजकीय नौकायें। ये नौकायें राजा के अपने सैर के लिये काम आती थीं।

६. क्षुद्रिका नावः—नदियों में चलने वाली छोटी-छोटी नौकायें।

७. स्वतरणानि—लोगों की निजी नौकायें।

८. हिंस्रिका—सामुद्रिक डाकुओं के जहाज। मौर्यकाल में भी सामुद्रिक डाकुओं की सत्ता थी, जो व्यापारी जहाजों पर हमले कर उन्हें लूट लिया करते थे। चाणक्य ने इनके संबंध में एक ही नीति बनाई है। वह यह कि इन्हें नष्ट कर दिया जाय।

विविध प्रकार की इन नौकाओं के अतिरिक्त नदियों व नालों में पार उतरने के लिये काष्ठ संघात (लकड़ी के सलीपरों का बेड़ा), वेणुसंघात (बांसों का बेड़ा), अलाबु (तुम्बों का बेड़ा), चर्मकरण्ड (खाल से मढ़ा हुआ एक बड़ा टोकरा), दृति (खाल का हवा से भरा हुआ थैला), प्लव (छोटी डोंगी), गण्डिका (पशु विशेष की हवा से भरी हुई खाल) और वेणिका

(सरकण्डों का बेड़ा) का भी प्रयोग होता था । युद्ध के लिये भी इन विविध बेड़ों का प्रयोग किया जाता था ।

जहाजों और नौकाओं की सुरक्षा के लिये राज्य की ओर से बहुत ध्यान दिया जाता था । जलमार्गों में अनेक प्रकार के खतरे होते हैं, इस लिये उनसे बचाने के लिये राज्य की ओर से अनेक प्रकार की व्यवस्थायें की जाती थीं । आषाढ़ से कार्तिक तक, चौमासे में केवल वे ही नौकायें प्रयुक्त हो सकती थीं, जिनके पास राज्य की ओर से प्रमाणपत्र होता था । चाणक्य ने लिखा है—इस काल में केवल उन्हीं नौकाओं को चलने दिया जाय, जिनमें शासक, नियामक, रश्मिग्राहक, उत्सेचक आदि सब कर्मचारी सुचारु रूप से व्यवस्थित हों; और जो आकार में काफी बड़ी हों ।

नौकाओं व जहाजों की सुरक्षा का अधिकाधिक प्रबंध होते हुए भी जब कोई जहाज विपत्ति में फंस जाता था, तो उसके साथ बहुत अनुग्रह का बरताव किया जाता था । चाणक्य ने लिखा है, 'तूफान के कारण आहत हुआ कोई जहाज जब बंदरगाह पर पहुँचे, तो उस पर बंदरगाह का अध्यक्ष पिता के समान अनुग्रह करे ।' यदि जहाज का माल पानी के कारण खराब हो गया हो, तो उसको शुल्क से मुक्त कर दिया जाता था, या केवल आधा शुल्क लिया जाता था ।

विशाल मागध साम्राज्य में स्थलमार्गों (सड़कों) का एक जाल सा बिछा हुआ था । पाटलीपुत्र को केंद्र बनाकर उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, सब दिशाओं में सड़कें जाती थीं । मार्गों का प्रबंध राज्य के एक पृथक् विभाग के आधीन था । आधे कोस के बाद सड़कों पर दूरी सूचक प्रस्तर लगे रहते थे । जहां एक से अधिक मार्ग विभक्त होते थे, वहां प्रत्येक मार्ग की दिशा का प्रदर्शन करने वाले चिह्न लगे रहते थे । नगर

पश्चिमी सीमाप्रदेश की राजधानी को पाटलीपुत्र से मिलाने वाली एक १५०० कोस लम्बी सड़क थी। उस समय का कोस २०२२½ गज का होता था।

व्यापार के चार मार्ग पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर चारों दिशाओं में गये थे। चाणक्य ने इन व्यापारिक मार्गों की तिजारत की दृष्टि से तुलना की है। उसने लिखा है—'पुराने आचार्यों के अनुसार स्थलमार्गों में हैमवतपथ (उत्तरदिशा में हिमालय की तरफ जाने वाली सड़क) दक्षिणपथ (दक्षिण दिशा में जाने वाली सड़कों) से अच्छा है। क्योंकि उसी के द्वारा हाथी, घोड़े, गंधद्रव्य, हाथीदाँत, चमड़ा, चाँदी, सोने आदि बहुमूल्य पदार्थों का व्यापार होता है। पर कौटल्य इस सम्मति से सहमत नहीं है। कंबल, चमड़ा, घोड़ा तथा इसी तरह के कुछ व्यापारिक पदार्थों के अतिरिक्त शंख, वज्र, मणि, मोती, सोना आदि दक्षिणापथ से ही आते हैं। दक्षिणापथ में भी वह मार्ग सब से महत्त्व का है जो खानों में से गुजरता है, जिस पर आना-जाना बहुत रहता है, और जिस पर परिश्रम कम पड़ता है।' निःसंदेह, इस विषय में चाणक्य की सम्मति ही ठीक थी। पुराने छोटे जनपदों के युग में उत्तर की तरफ जाने वाले हैमवत पथों का चाहे कितना ही महत्त्व रहा हो, पर आसमुद्र क्षितीश मागध साम्राज्यों के समय में दक्षिण की तरफ जाने वाले वणिक्पथों का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। सोने, चाँदी, मोती आदि के अतिरिक्त विदेशी सामुद्रिक व्यापार भी इन्हीं मार्गों से होता था। व्यापार के अतिरिक्त इन मार्गों का राजनीतिक महत्त्व भी था। चाणक्य ने लिखा है—'शत्रु पर आक्रमण करने के आधार वणिक्पथ ही हैं। वणिक्पथों से ही गुप्तचरों का आना-जाना, शस्त्र, कवच, घोड़े, गाड़ी आदि का क्रयविक्रय किया जाता है।' दक्षिण की तरफ मागध साम्राज्य

का विस्तार करने वाले मौर्य सम्राटों के समय में [illegible] के रास्तों का महत्त्व अवश्य ही बहुत अधिक था।

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार राजमार्गों के निम्नलिखित भेद होते थे—(१) राजमार्ग—यह ३२ फीट चौड़ा होता था। (२) रथ्या—ये भी ३२ फीट चौड़े होते थे। (३) रथपथ—ये १२ फीट चौड़े होते थे। (४) पशुपथ—ये ८ फीट चौड़े होते थे। (५) महापशुपथ—इनकी चौड़ाई १६ फीट होती थी। (६) क्षुद्र पशुपथ—ये ४ फीट चौड़े होते थे। इनके अतिरिक्त, पादपथ (पगडंडी), मनुष्यपथ (पैदल का रास्ता), खरोष्ट्रपथ, चक्रपथ और अंसपथ का भी उल्लेख अर्थशास्त्र में विद्यमान है, पर इनकी चौड़ाई का कोई निर्देश नहीं किया गया है। ये सब सड़कें शहर के अन्दर की हैं पर जनपदों की विविध सड़कों के विषय में भी अर्थशास्त्र में बहुत कुछ परिचय मिलता है। जनपद की सड़कें निम्नलिखित होती थीं—

(१) राष्ट्रपथ—यह ३२ फीट चौड़ा होता था। राजधानी से विविध प्रदेशों व जनपदों की तरफ जो बड़े-बड़े मार्ग गये थे, उन्हें राष्ट्रपथ कहते थे। (२) विवीतपथ—विविध चरागाहों की तरफ जो रास्ते जाते थे, वे विवीतपथ कहलाते थे। इनकी भी चौड़ाई ३२ फीट होती थी। (३) द्रोणमुखपथ—चार सौ ग्रामों के बीच में एक दुर्ग (दीवारों से परिवेष्टित नगर) बनाया जाता था। ऐसे दुर्ग द्रोणमुख कहलाते थे। साम्राज्य में ऐसे बहुत से द्रोणमुख दुर्ग थे। इन्हें आपस में मिलाने वाली सड़कें भी ३२ फीट चौड़ी होती थीं। (४) स्थानीय पथ—जिस प्रकार चार सौ ग्रामों के बीच में द्रोणमुख होता था, वैसे ही आठ सौ ग्रामों के बीच में 'स्थानीय' होता था। इसकी सड़क भी ३२ फीट चौड़ी होती थी। (५) संयानीयपथ—ये सड़कें ६४ फीट चौड़ी होती थीं। ये मार्ग उन स्थानों पर होते थे, जहाँ आना-जाना ज्यादा

हों। राष्ट्रपथ जो उससे अधिक चौड़े कर दिये जाते थे, संयोनीयपथ कहलाते थे। (६) व्यूहपथ—छावनियों की सड़कों का नाम व्यूहपथ था। ये भी चौड़ाई में २४ फीट होती थीं। (७) श्मशानपथ। (८) ग्रामपथ। (९) वनपथ। (१०) हस्तिक्षेत्रपथ। (११) सेतुपथ—बड़े बाँधों और पुलों से गुजरने वाली सड़कें सेतुपथ कहलाती थीं।

बड़े-बड़े किलों की सड़कों के विषय में भी चाणक्य ने लिखा है। (१) रथचर्या संचार—लड़ाई के रथों के लिये विशेष सड़कें थीं, जो चपटे और मजबूत पत्थरों से बनाई जाती थीं। अर्थशास्त्र के अनुसार सड़कों में 'लकड़ी न लगाई जाय, क्योंकि लकड़ी में अग्नि छिप कर वास करती है।' (२) प्रतोली—दो अट्टालकों या बुर्जों के बीच के मार्ग को प्रतोली कहते थे। (३) देवपथ—मंदिर की तरफ जाने वाले मार्ग (४) चार्या—यह ८ फीट चौड़ी किले के अंदर की एक खास सड़क होती थी।

कौटलीय अर्थशास्त्र में स्थलमार्गों पर चलने वाले अनेकविध यानों का भी वर्णन मिलता है। इनका भी उल्लेख कर देना उपयोगी है। (१) पारियानिक रथ—साधारण प्रयोग के रथ। (२) सांग्रामिक रथ—लड़ाई के लिये इस्तेमाल होने वाले रथ। (३) परपुराभियानिक—शत्रुओं के दुर्गों पर आक्रमण करने के लिये उपयोगी रथ। (४) वैनयिक रथ—ऐसे रथ जिनका प्रयोग सैनिक शिक्षा में किया जाय। (५) देवरथ। (६) पुष्परथ। (७) लघुयान। (८) गोलिंगयान—बैलगाड़ी। (९) शकट (१०) शिविका पालकी। (११) डोलिका—डोली। इनके अतिरिक्त सवारी के लिये हाथी, घोड़ा ऊँट आदि का भी अर्थशास्त्र में उल्लेख है।

(५) तोल और माप के परिमाण

तोल और माप आदि के जिन परिमाणों की शुद्धता के लिये मौर्यकाल में इतना ध्यान दिया जाता था उनके संबंध में भी यहाँ विवरण देना आवश्यक है। तोल के लिये निम्नलिखित बट्टे काम आते थे:—

५ रत्ती = एक माषक (सुवर्णमाष) = वर्तमान समय का ५/८ मासा
१६ माषक = एक कर्ष (सुवर्ण) = वर्तमान समय का ५/६ तोला
४ कर्ष = एक पल = वर्तमान समय का ३⅓ तोला या आधी छटाँक

४ सुवर्ण (½ छटाँक), ८ सुवर्ण (१ छटाँक), २० सुवर्ण (२½ छटाँक), ४० सुवर्ण (५ छटाँक), और १०० सुवर्ण (१२½ छटाँक) के बट्टे उस समय प्रचलित थे। इसी तरह, १ पल (३⅓ तोला), १० पल (५ छटाँक), २० पल (१० छटाँक) के, ४० पल (२० छटाँक) और १०० पल (३ सेर २ छटाँक) के बट्टे मौर्ययुग में प्रयुक्त होते थे।

अधिक वजन के माल को तोलने के लिये ये बट्टे प्रचलित थे—

१२½ कर्ष (२०० माषक) = १ कुडुम्ब = वर्तमान समय का लगभग २ छटाँक
४ कुडुम्ब = १ प्रस्थ = ८ छटाँक
४ प्रस्थ = १ आढ़क = २ सेर
४ आढ़क = १ द्रोण = ८ सेर
१६ द्रोण = १ खारी = ३ मन ८ सेर
१० द्रोण = १ वह = २ मन
२० द्रोण = १ कुम्भ = ४ मन

बट्टे लोहे या पत्थर के होते थे। इनके बनाने में मगध और मेकल देशों का लोहा प्रधानतया प्रयोग में लाया जाता था।

मानमान के अनुसार बट्टे बनाने में ऐसी धातु या अन्य पदार्थ इस्तेमाल करने चाहियें, जो गीले होने से खराब न हों, और गरमी से भी जिन पर असर न पड़े।

माप के लिये निम्नलिखित परिमाण अर्थशास्त्र में लिखे गये हैं:

आठ परमाणु	=	एक विप्रुट्
आठ विप्रुट्	=	एक लिक्षा
आठ लिक्षा	=	एक यूकामध्य
आठ यूकामध्य	=	एक यवमध्य
आठ यवमध्य	=	एक अंगुल
चार अंगुल	=	एक धनुर्ग्रह
आठ अंगुल	=	एक धनुर्मुष्टि
बारह अंगुल	=	एक वितस्ति
दो वितस्ति	=	एक अरत्नि
४२ अंगुल	=	एक किष्कु
८४ अंगुल	=	एक व्याम
१०८ अंगुल	=	एक गार्हपत्य या धनु
१९२ अंगुल	=	एक दंड
१० दंड	=	एक रज्जु
१००० धनु	=	एक गोरुत या कोस
४ गोरुत	=	एक योजन

इस परिमाण में १ अंगुल वर्तमान समय के $\frac{3}{4}$ इंच के बराबर है, और इस हिसाब से १ गोरुत या कोस २२५० गज के और एक योजन ५$\frac{1}{9}$ मील के बराबर है।

अंगुल के जितने छोटे छोटे हिस्सों को मापने के परिमाण अर्थशास्त्र में दिये हैं, उनसे सूचित होता है, कि उस समय में चीजों की लम्बाई बड़ी बारीकी से नापी जाती थी। माप का सब से छोटा मान परमाणु इंच के लगभग चालीस हजारवें

हिस्से के बराबर था। इस संबंध में वैज्ञानिक दृष्टि से जो सूक्ष्म हिसाब उस समय लगाया जाता था, उसका इससे भली-भाँति परिचय मिल जाता है। दिन और रात्रि का हिसाब लगाने में इन सूक्ष्म मापों का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता था।

तोल के परिमाणों का विभाग पौतवाध्यक्ष के अधीन होता था; और माप के परिमाण मानाध्यक्ष के अधीन रहते थे। ये दोनों अमात्य तोल और माप की व्यवस्था बड़ी बारीकी के साथ मौर्यकाल में प्रतिपादित करते थे।

(६) मुद्रापद्धति

मौर्यकाल के कोई सिक्के अभी तक उपलब्ध नहीं हुए। पर कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से उस समय की मुद्रापद्धति के संबंध में अनेक उपयोगी निर्देश प्राप्त होते हैं। मौर्यकाल में मुद्रापद्धति के संचालन के लिये एक पृथक् अमात्य होता था, जिसे 'लक्षणाध्यक्ष' कहते थे। टकसाल का प्रधान अधिकारी 'सौवर्णिक' कहलाता था। अर्थशास्त्र में दो प्रकार के सिक्के लिखे हैं—

१. कोषप्रवेश्य—ये मुख्य सिक्के होते थे, वर्तमान परिभाषा में इन्हें 'लीगल टेंडर' कहा जा सकता है। राजकोष कर तथा क्रय-विक्रय के लिये इन्हीं को प्रामाणिक माना जाता था।

२. व्यावहारिक—इनकी कीमत कोषप्रवेश्य सिक्कों पर ही आश्रित थी। ये साधारण लेन देन के काम आते थे। वर्तमान परिभाषा में इन्हें 'टोकनमनी' कह सकते हैं।

सिक्के अनेक मूल्यों के होते थे। चाँदी के सिक्कों में चार भाग ताँबा, एक भाग त्रपु, सीसा या अन्य धातु और नौ भाग शुद्ध चाँदी रहती थी। इस सिक्के को पण या रूप्यरूप कहते थे। पण के अतिरिक्त, वर्तमान अठन्नी, चवन्नी व दुअन्नी के समान

अर्धपण, पादपण और अष्टभागपण सिक्के भी प्रयोग में आते थे। चाँदी के पणों व अर्धपण आदि के अतिरिक्त, ताँबे के सिक्के भी प्रचलित थे जिन्हें 'ताम्ररूप' या 'माषक' कहते थे। इसके भी भाग, अर्धमाषक, काकणी (¼ माषक) और अर्ध-काकणी (⅛ माषक) होते थे। ताँबे और चाँदी के अतिरिक्त संभवतः सोने का भी एक सिक्का उस युग में प्रचलित था। इसे सुवर्ण कहते थे इसका भार [illegible] तोले होता था।

जो नागरिक चाहे, धातु ले जाकर सौवर्णिक के पास से सिक्के बनवा सकता था। प्रत्येक सिक्के पर बनवाई के तौर पर एक काकणी ली जाती थी। सिक्कों के बदले में सोना चाँदी भी तुले तौर पर लिया जा सकता था। "पण के सिक्के 'क्षीण और परिजीर्ण' नहीं होने चाहिये, इनका भार ठीक हो, काल द्वारा या अन्य किसी कारण से वे हलके न हो गये हों।"

सिक्कों के अतिरिक्त कीमत चुकाने के कुछ अन्य साधन भी मौर्यकाल में प्रचलित थे। ऐसे एक साधन 'आदेश' का उल्लेख चाणक्य ने किया है। शब्दार्थ की दृष्टि से किसी व्यक्ति को अन्य किसी व्यक्ति को कीमत चुकाने की आज्ञा का नाम 'आदेश' है। वर्तमान समय में इसी को हुंडी कहते हैं।

(७) सूद के नियम

मौर्यकाल में सूद पर रुपया देने की प्रथा विद्यमान थी। उधार व ऋण को बहुत महत्त्व की बात माना जाता था। इसीलिये चाणक्य ने लिखा है, कि धनिक (उत्तमर्ण) और धारणिक (अधमर्ण) के संबंध पर राज्य का कल्याण आश्रित है। अर्थशास्त्र में सूद की जो दरें लिखी गई हैं वे वर्तमान काल की दृष्टि से बहुत अधिक हैं। उस रुपये के लिये, जिसके डूबने का डर नहीं होता था, जिसे भली भाँति सुरक्षित समझा जाता था,

१५ रु० प्रतिवर्ष प्रतिशत सूद देना होता था। यह दर कम से कम थी। चाणक्य ने इसे कानून से अनुमत लिखा है। पर व्यवहार में सुरक्षा की कमी के अनुसार सूद की दर इससे बहुत अधिक भी होती थी। साधारणतया, ५ प्रतिशत प्रतिमास या ६० की सदी की दर से रुपया उधार मिलता था। जहाँ खतरा अधिक था, वहाँ सूद की दर इससे भी बहुत अधिक होती थी। व्यापार के लिये जंगल में जाने वाले व्यापारियों को १० की सदी प्रतिमास के हिसाब से सूद देना होता था। समुद्र पर जाने वाले व्यापारियों को २० की सदी मासिक के हिसाब से सूद देने पर रुपया मिलता था, क्योंकि उसमें रुपये के डूबने का खतरा बहुत अधिक रहता था। इन व्यापारियों को जहाँ भयंकर खतरे का सामना करना होता था, वहाँ इन्हें मुनाफा भी बहुत मिलता था। इसीलिये वे इतना सूद दे सकते थे। इससे अधिक सूद की दर नहीं बढ़ सकती थी। इससे अधिक सूद लेने पर कड़े दंड की व्यवस्था थी।

कर्जदार या धारणिक के मर जाने पर उसका लड़का कर्ज के लिये उत्तरदायी माना जाता था। यदि मृत धारणिक के कोई संतान न हो तो जो भी उसकी संपत्ति का उत्तराधिकारी हो, वही उसकी देनगी को अदा करता था। यदि रुपया किसी अमानत के आधार पर लिया गया हो तो उस अमानत के माल को बेचकर रुपया चुका लिया जाता था।

यदि धनिक दस साल तक अपने ऋण की कोई परवाह न करे, उसे वसूल करने का प्रयत्न न करे, तो उस पर उसका कोई हक नहीं रह जाता था। पर इस नियम के कुछ अपवाद भी थे। नाबालिग, अत्यंत वृद्ध, रोगी, आपत्तिग्रस्त, देश से बहिष्कृत या देश के बाहर गये हुए धनिक दस साल बीत जाने पर भी ऋण वसूल करने के हकदार रहते थे। इसी तरह राज्यविप्लव

(राजनीतिक अव्यवस्था) के समय में भी धनिकों पर दस साल का नियम लागू नहीं होता था।

निम्नलिखित व्यक्ति सूद से मुक्त थे। इनको ऋणों पर सूद नहीं देना होता था—

१. जो दीर्घ सत्र या किसी बड़े अनुष्ठान में लगा हो।

२. जो बहुत समय से रोगी हो।

३. जो किसी विद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर रहा हो।

४. जो नाबालिग हो।

५. जिसके पास अपने पालनपोषण के लिये धन न हो।

यदि किसी कर्ज़दार ने दो भिन्न-भिन्न धनिकों से ऋण लिया हो, तो वह लेने के क्रम से ही ऋण को चुकाता था। न्यायालय में भी इस क्रम को ही स्वीकार किया जाता था।

(८) दासप्रथा

मैगस्थनीज ने लिखा है, कि 'भारतवर्ष के विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है, कि समस्त भारतीय स्वतंत्र हैं, उनमें से एक भी दास नहीं है। लैकिडिमोनियन्स और भारतवासी यहाँ तक तो एक दूसरे से मिलते हैं। पर लैकिडिमोनियन्स लोगों में हेलॉट लोगों को दासों की तरह रखा जाता है। ये हेलॉट लोग नीचे दर्जे का परिश्रम करते हैं। पर भारतीय लोग विदेशियों तक को दास नहीं बनाते, अपने देशवासियों की तो बात ही क्या है?'

इस प्रकार स्पष्ट है, कि ग्रीक लेखकों के अनुसार भारत में दासप्रथा का सर्वथा अभाव था। पर कौटलीय अर्थशास्त्र से इस बात की पुष्टि नहीं होती। संभवतः, ग्रीक लोगों की दृष्टि में जो दासप्रथा थी, वह भारत में नहीं थी। यहाँ दासों के साथ उतना कड़ा तथा भयंकर व्यवहार नहीं किया जाता था, जैसा

कि ग्रीस व रोम में होता था। पर इस देश में दासप्रथा का अभाव नहीं था। ग्रीक लेखकों में ही ओनिसिक्रिटस के अनुसार यह बात (दासप्रथा का अभाव) केवल उसी प्रदेश के संबंध में ठीक है, जहाँ मूसिकेनस (मुचुकर्ण) राजा था। यह राज्य सिकन्दर के आक्रमण के समय सिंध में था। वहाँ यदि अनार्य दासों का सर्वथा अभाव हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। अर्थशास्त्र के अनुशीलन से दासप्रथा के संबंध में जो बातें ज्ञात होती हैं, वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

१. उस समय जन्म से ही बहुत से दास होते थे। उन्हें खरीदा और बेचा जा सकता था।

२. म्लेच्छ (आर्यभिन्न) लोग अपने बच्चों व अन्य संबंधियों को दास की भाँति बेच सकते थे। पर आर्यों में यह प्रथा नहीं थी, उन्हें अपने संबंधियों को बेचने पर कठोर दंड मिलता था।

३. साधारणतया, आर्य दास नहीं बन सकता था। पर कुछ अवस्थाओं में आर्य भी थोड़े समय के लिये दास हो सकता था। (क) अपने परिवार को आर्थिक संकट से बचाने के लिये यदि अपने को बेचना आवश्यक हो। (ख) जुरमानों का दंड अदा करने के लिये (ग) यदि राज-दंड दास बनने का मिला हो। (घ) यदि युद्ध में जीतकर दास बनाया गया हो।

४. दासों से बुरा व्यवहार नहीं किया जाता था। उनसे मुरदा उठवाना, मूत्र, विष्ठा, या जूठा उठवाना निषिद्ध था। वे नंगे नहीं रक्खे जा सकते थे। उन्हें पीटना या गाली देना भी मना था।

५. दास लोग स्वामी के कार्य को नुकसान न पहुँचाते हुए

अपनी अलग कमाई कर सकते थे। अपने माता-पिता से प्राप्त संपत्ति पर भी दासों का अधिकार होता था।

६. कीमत चुका कर दास लोग फिर स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते थे।

७. बिना वारंट के दासों को कैद में नहीं डाला जा सकता था। ऐसा करने पर स्वामी को दंड मिलता था।

८. दास स्त्रियों व लड़कियों के साथ अनाचार नहीं किया जा सकता था। यदि दास किसी स्त्री से अनाचार करे, तो फिर वह दास नहीं रह जाती थी। स्वामी का उस पर अधिकार नहीं रहता था।

९. आर्य दास की संतान दास नहीं होती थी। वह आर्य ही मानी जाती थी।

१०. कीमत चुकाने पर जन्म के दास भी स्वतंत्र हो सकते थे। स्वतंत्र होने के लिये दास लोग अलग कमाई करते थे। संबंधी लोग भी कीमत चुका कर दास को स्वतंत्र करा सकते थे।

इन विविध नियमों के कारण भारत में दासप्रथा का रूप ग्रीस व रोम की दासप्रथा से बहुत भिन्न था। इसी कारण मेगस्थनीज को यहाँ इस प्रथा का सर्वथा अभाव अनुभव हुआ था।

दुर्गों का स्वरूप

मैगस्थनीज के अनुसार पाटलीपुत्र नगर कितना विशाल और किस प्रकार का था, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र में एक आदर्श नगर का चित्र खींचा गया है। अपने समय के वास्तविक नगरों को दृष्टि में रख कर ही इस कल्पित नगर की रूपरेखा बनाई गई है। चाणक्य के अनुसार नगर के चारों ओर एक-एक दंड की दूरी पर तीन खाइयाँ बनी होनी चाहियें। इनकी चौड़ाई क्रम से १४, १२, और १०

फीट हो। इसी तरह खाइयों की गहराई क्रमशः ४२, ३६, और ३० फीट या ६३, ५४, और ४५ फीट हो। इन खाइयों की दीवारें पत्थर या ईंट की बनी हुई हों। इनमें पानी भरा हो और मगर, मच्छ आदि हिंस्र जंतु रखे हुए हों। सबसे अंदर की खाई से २४ फीट दूर भीतर की तरफ ३६ फीट ऊंची और ७२ फीट चौड़ी प्राचीर (वप्र या शहरपनाह) हो। इस दीवार के ऊपर १२ हाथ से २४ हाथ तक चौड़ी दूसरी दीवार (प्राकार) बनाई जाय। इस तरह शहर को चारों ओर से दुर्ग या किले की तरह बनाया जाय। इस दीवार में १२ मुख्य दरवाजे हों, और अंदर तीन राजपथ (३२ फीट चौड़े) पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाले और तीन राजपथ उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले बनाये जावें। शहर के नवें हिस्से में, मध्यभाग से उत्तर की ओर, चारों वर्णों के लोगों के मकानों के बीच में राजा के लिये महल बनाया जाय। राजमहल के पूर्वोत्तर भाग में आचार्य और पुरोहित के मकान, पूजा का स्थान, जल का भंडार तथा मंत्रियों के निवास के लिये भवनों का निर्माण हो। पूर्वदक्षिण भाग में भोजनालय, हस्तिशाला और कोष्ठागार रहें। पूर्व में सुगंधित पदार्थ, माल्य, धान्य, तथा रस के दूकानदार, मुख्य शिल्पी तथा क्षत्रिय लोग बसाये जावें। इसी तरह शहर के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न लोगों के लिये स्थान निश्चित रहें। पूजामंदिर, श्मशान आदि के लिये भी पृथक् निश्चित स्थान रहें।

मौर्यकाल में गाँव का क्षेत्रफल प्रायः एक कोस से दो कोस तक होता था, और उनमें १०० से लेकर ५०० तक परिवार निवास करते थे। गाँवों की जनता प्रायः खेती से अपना निर्वाह करती थी। गाँवों की सीमा को निश्चित करने के लिये प्रायः नदी, पहाड़, जंगल, पेड़, गुफा, सेतुबंध, शिमल, वट, पीपल

आदि का प्रयोग किया जाता था। खेती की जमीन से पृथक गोचर भूमि अलग रहती थी। इस पर गाँव के पशु स्वच्छन्द रूप से चर सकते थे। कृषकों के अतिरिक्त, गड़रिये, ग्वाले, कारीगर, सौदागर आदि अनेक पेशे वाले लोग भी गाँवों में निवास करते थे।

(९) सार्वजनिक कष्टों का निवारण

मौर्यकाल में दुर्भिक्ष, अग्नि, बाढ़ आदि सार्वजनिक कष्टों के निवारण के लिये अनेकविध उपायों का अनुसरण किया जाता था। दुर्भिक्ष को निवृत्त करने के लिये नहरों द्वारा सिंचाई के सम्पन्न साधनों का निर्माण किया जाता था। भूमि को 'देव-मातृका' की जगह 'अदेवमातृका' बनाने का प्रयत्न होता था। पर सिंचाई का भलीभाँति प्रबन्ध होते हुए भी यदि कभी दुर्भिक्ष पड़ जाय, तो उसके निवारण के लिये यह व्यवस्था थी कि कोष्ठागार में संचित अन्न को लोगों में वितरण कर दिया जाय। उस युग में कोष्ठागार में सदा प्रभूत परिमाण में अन्न एकत्र रहता था। दुर्भिक्ष के समय इस पूर्वसंचित अन्न का उपयोग किया जाता था। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य उपायों का उल्लेख चाणक्य ने किया है—

१. दुर्गत कर्म—दुर्भिक्ष के निवारण के लिये विपद्ग्रस्त लोगों की सहायता के लिये राज्य की ओर से अनेकविध कार्यों को प्रारंभ किया जाता था। इनसे गरीब लोगों को काम मिलता था, और उससे वे भोज्य पदार्थ खरीद कर उदरपूर्ति कर सकते थे। ऐसे कार्यों को 'दुर्गत कर्म' कहते थे।

२. भक्तानुग्रह—भोजन को मुफ्त या कम कीमत में बेचने को 'भक्तानुग्रह' कहते थे। दुर्भिक्ष-पीड़ितों के लिये राज्य की ओर से सस्ते भोजन का प्रबन्ध रहता था।

३. दुर्गनिवेश—देश की जमानत पर या राज्य की साख पर उधार लेना। दुर्भिक्ष के निवारण के लिये राष्ट्र की तरफ से ऋण लिया जाता था, जिसे 'दुर्गनिवेश' कहते थे।

४. मित्रों की सहायता—मित्र राज्यों से सहायता की याचना की जाती थी।

५. कर्शन—धनी लोगों से जोर डाल कर धन लेना। दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिये जो निधि खोली जाती थी, उसमें मित्र देश जहाँ सहायता करते थे, वहाँ अपने देश के लोगों से भी चंदा लिया जाता था। धनी लोगों पर इस चंदे के लिये जोर भी डाला जाता था, इसीलिये इसे 'कर्शन' कहते थे।

६. वमन—राजकोष का प्रयोग। ऐसे अवसरों पर राजा अपने कोष का उदारतापूर्वक वमन करने में संकोच नहीं करता था।

आग की आपत्ति से ग्राम व नगर निवासियों की रक्षा करने के लिये राज्य की तरफ से यह प्रबंध था कि गाँव के लोग भोजन घर के बाहर बनावें। यदि उनके पास 'दशमूली संग्रह' मौजूद हो, तो भोजन मकान के अंदर भी बनाया जा सकता था। यही व्यवस्था शहरों के लिये भी थी। दशमूली संग्रह में ये दस उपकरण सम्मिलित थे—(१) पंच-घटयः—जल से भरे पाँच घड़े। (२) कुम्भ—जल से भरा एक बहुत बड़ा मटका। (३) द्रोणी—जल से भरा लकड़ी का बना एक बड़ा हौज। (४) निश्रेणी—सीढ़ी। (५) परशु—कुल्हाड़ी। (६) शूर्प—सूप। (७) अंकुश—ऊँची लकड़ियों को गिराने के लिये एक अंकुश। (८) कच-रस्से और रस्सियाँ। (९) पिटकी—मकान से वस्तुएँ बाहर निकालने के लिये टोकरी। (१०) दृति—चमड़े का थैला। ये सभी वस्तुएँ आग बुझाने में सहायक होती थीं। मौर्यकाल में प्रायः मकान लकड़ी के बने होते थे। इसलिये भोजन

के लिये भी यह व्यवस्था थी, कि यदि वे इन चीजों पास न रखें तो भोजन बाहर बनवाया जाय।

ऐसे उपाय भी किये जाते थे, जिनसे आग लगने की संभावना कम रहे। (१) ऐसे व्यवसायी जिन्हें आग से काम करना होता है, शहर में पृथक् एक स्थान पर बसाये जाते थे। (२) फूस और चटाई के मकान नहीं बनने दिये जाते थे। (३) गरमी के मौसम में दिन में दोपहर के समय आग जलाने की मनाही थी।

आग से रक्षा के लिये मार्गों, चौराहों तथा अन्य महत्त्व के स्थानों पर जल से भरे हुए हजारों बरतन रखे रहते थे। सब लोगों के लिये आवश्यक था, कि आग बुझाने में सहयोग दें। जो कोई इसमें प्रमाद करते थे, उन पर जुरमाना होता था। आग लगाने वालों का पता लिया जाता था और अपराधियों को कड़ा दंड मिलता था। यदि किसी से भूल से या प्रमादवश आग लग जाय, तो उसे ५४ पण जुरमाने की सजा थी। जान-बूझ कर आग लगाने वाले को मृत्युदंड दिया जाता था। आग से रक्षा के लिये अनेक आभिचारिक क्रियाओं का वर्णन भी आचार्य चाणक्य ने किया है। इस प्रकार के रासायनिक प्रयोग भी बताये जाते थे, जिनके प्रयोग से मकान में आग लगने का डर नहीं रहता। चाणक्य ने लिखा है—'दाहिने से बाईं ओर मानुष अग्नि यदि जनपद के चारों ओर घुमाई जाय, तो इसमें आग नहीं लग सकती। यदि बिजली की राख को ओले के पानी तथा मट्टी से सान कर दीवारों पर लीपा जाय, तो वहाँ कोई दूसरी आग नहीं लग सकती।'

आकस्मिक बाढ़ से बचने के लिये वर्षाकाल में नौकायें तथा अन्य साधन तैयार रखे जाते थे। जिन लोगों के पास नौकायें, तख्ते, तूम्बे, डोंगियाँ आदि होती थीं, उनका कर्तव्य

होता था कि वे बाढ़पीड़ितों की पूरी सहायता करें। इस कार्य में शिथिलता दिखाने पर १२ पण जुरमाना किया जाता था। बाढ़ के भय को दूर करने के लिये अनेक धार्मिक क्रियायें भी की जाती थीं। चाणक्य ने लिखा है—'पर्वों में नदी की पूजा की जाय। मायावेद तथा योगविद्या के जानने वाले वृष्टि के विरुद्ध प्रयोग करें। वर्षा के रुक जाने पर शचीनाथ, गंगा, पर्वत तथा महाकच्छ की पूजा की जाय।'

—:—



बाल यागी
पाटली पुत्र से प्राप्त पकी हुई मिट्टी का सिर
पटना संग्रहालय
तीसरी से पहली शती ई० पू०

बारहवाँ अध्याय

मौर्यकालीन समाज और सभ्यता

(१) भारतीय समाज के विविध वर्ग

मैगस्थनीज के अनुसार भारत की संपूर्ण बस्ती सात वर्गों में बंटी हुई थी। यवन यात्री का यह वर्णन उस समय के समाज पर बहुत अच्छा प्रकाश डालता है। अतः हम उसे यहाँ उद्धृत करते हैं—

'भारतवर्ष की सारी आबादी सात जातियों (वर्गों) में बंटी है। पहली जाति दार्शनिकों के समुदाय से बनी है, जो यद्यपि संख्या की दृष्टि से अन्य जातियों की अपेक्षा कम है, तथापि प्रतिष्ठा में इन सब से श्रेष्ठ है। दार्शनिक लोग सभी सार्वजनिक कर्तव्यों से मुक्त हैं, इस लिये न तो किसी के दास हैं और न किसी के स्वामी हैं। गृहस्थ लोगों के द्वारा ये बलि-प्रदान करने तथा मृतकों का श्राद्ध करने के लिये नियुक्त किये जाते हैं, क्योंकि लोगों का विश्वास है कि वे देवताओं के बहुत प्रिय हैं और परलोक संबंधी बातों में बहुत निपुण हैं। इन क्रियाओं के बदले में वे बहुमूल्य दान पाते हैं। भारत के लोगों को इनसे बहुत लाभ पहुँचता है। साल के प्रारंभ में जब ये लोग एकत्र होते हैं, तो अनावृष्टि, शीत, आँधी, रोग आदि की पहले से ही सूचना दे देते हैं। इसी तरह की अन्य बहुत सी बातों को भी ये पहले से ही बता देते हैं, जिनसे कि सर्व-साधारण को बहुत लाभ पहुँचता है। इस प्रकार राजा और प्रजा—दोनों भविष्य को पहले से ही जानकर उसका प्रबंध

कर सकते हैं। जो वस्तु आवश्यकता के समय काम आवेगी, उसका पहले से ही प्रबंध करने में वे कभी नहीं चूकते। जो दार्शनिक अपनी भविष्यवाणी में भूल करता है, उसको निंदा के सिवाय अन्य कोई दंड नहीं मिलता। भविष्यवाणी अशुद्ध होने की दशा में फिर दार्शनिक जीवन भर मौन अवलंबन कर लेता है।

'दूसरी जाति में किसान लोग हैं, जो दूसरों से संख्या में बहुत अधिक हैं। वे राजा को भूमिकर देते हैं। किसान लोग स्वयं अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ देहात में रहते हैं, और नगरों में जाने से बिलकुल बचते हैं।

'तीसरी जाति के अंतर्गत अहीर, गड़रिये तथा सब प्रकार के चरवाहे हैं, जो न नगरों में बसते हैं और न ग्रामों में, बल्कि वे डेरों में रहते हैं। शिकार तथा पशुओं को जाल आदि में फँसा कर वे देश को हानिकर पक्षियों और जंगली पशुओं से मुक्त करते हैं। वे अपने इस कार्य में बड़े उत्साह के साथ लगे रहते हैं। इसी लिये वे भारत को इन विपत्तियों से, जो कि वहाँ पर बड़ी मात्रा में विद्यमान हैं—जैसे सब प्रकार के जंगली जंतु और किसानों के बोये हुए बीजों का खा जाने वाले पक्षी—मुक्त करते हैं।

'चौथी जाति कारीगर लोगों की है। इनमें कुछ कवच बनाने वाले हैं, और कुछ उन विविध उपकरणों (औजारों) को बनाते हैं, जिनका किसान तथा अन्य व्यवसायी लोग उपयोग करते हैं।

'पाँचवीं जाति सैनिकों की है। यह भलीभाँति संगठित तथा युद्ध के लिये सुसज्जित रहती है। संख्या में इसका दूसरा स्थान है। शांति के समय यह आलस्य और आमोद-प्रमोद में

मस्त रहती है। सारी सेना, योद्धा सैनिक, युद्ध के घोड़े-हाथी सब का राजकीय खर्च से पालन होता है।

'छठवीं जाति में निरीक्षक लोग हैं। इनका काम यह है कि जो कुछ भारतवर्ष में होता है, उसकी खोज तथा देख-भाल करते रहें और राजा को, तथा जहाँ राजा न हो वहाँ अन्य किसी राजकीय शासक को, इसकी सूचना देते रहें।

'सातवीं जाति सभासदों तथा अन्य शासनकर्ताओं की है। ये लोग राज्यकार्य की देख-भाल करते हैं। संख्या की दृष्टि से यह जाति सब से छोटी है, पर अपने चरित्र तथा बुद्धि के कारण सब से प्रतिष्ठित है। इसी जाति से राजा के मंत्रीगण, राज्य के कोषाध्यक्ष और न्यायकर्ता लिये जाते हैं। सेना के नायक व मुख्य शासक लोग प्रायः इसी जाति के होते हैं।'

मैगस्थनीज द्वारा वर्णित भारतीय समाज के इन सात वर्गों को हम क्रमशः ब्राह्मण-श्रमण, कृषक, गोपाल-श्वगणिक-वागुरिक मार्गयुक, कारु-शिल्पि-वैदेहक, भट, प्रतिवेदक-अध्यक्ष-धर्मिक और मंत्रि-महामात्र-अमात्य कह सकते हैं। ये सात कोई पृथक् जातियाँ नहीं थीं। यवन यात्री मैगस्थनीज ने भारत के समाज की जो दशा देखी, उसके अनुसार उसने ये सात वर्ग वहाँ पाये।

(२) विवाह तथा स्त्रियों की स्थिति

मौर्यकाल में बहुविवाह की प्रथा विद्यमान थी। मैगस्थनीज ने लिखा है—'वे बहुत सी स्त्रियों से विवाह करते हैं।' विवाहित स्त्रियों के अतिरिक्त अनेक स्त्रियों को केवल आमोद-प्रमोद के लिये भी घर में रखा जाता था। मैगस्थनीज के अनुसार 'कुछ को तो वे दत्तचित्त सहधर्मिणी बनाने के लिये विवाह करके लाते हैं, और कुछ को केवल आनंद के हेतु तथा घर को लड़कों से भर देने के लिये।' कौटलीय अर्थशास्त्र से भी यह

बात पुष्ट होती है। वहाँ लिखा है—'पुरुष कितनी ही स्त्रियों से विवाह कर सकता है, स्त्रियाँ संतान उत्पन्न करने के लिये ही हैं।

अर्थशास्त्र में धर्मानुकूल चार प्रकार के विवाह लिखे हैं, ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष और दैव। ब्राह्म विवाह में कन्या को आभूषण आदि से सजा कर दिया जाता था। प्राजापत्य विवाह में वर-वधू के लिये परस्पर मिल कर धर्मचर्या का पालन ही पर्याप्त समझा जाता था। आर्ष विवाह में कन्यापक्ष की ओर से गौओं की एक जोड़ी वरपक्ष को दी जाती थी। दैव विवाह में यज्ञवेदी के सम्मुख ऋत्विज की स्वीकृति ही पर्याप्त मानी जाती थी।

इन के अतिरिक्त चार प्रकार के विवाह और होते थे। आसुर विवाह में दहेज देकर लड़की का विवाह किया जाता था। कन्या और वर के परस्पर मुक्त प्रेम से जो विवाह हो जाय, उसे गान्धर्व कहते थे। जिस विवाह में कन्या को जबर्दस्ती छीन कर ले जाया जाय, उसे राक्षस कहते थे। सोई हुई या अन्य प्रकार से बेसुध कन्या को जबर्दस्ती उठा ले जाकर जो विवाह कर लिया जाय, वह पैशाच कहलाता था। विवाह की ये आठों रीतियाँ मौर्यकाल में प्रचलित थीं।

मौर्य युग में दहेज प्रथा की सत्ता विशेषरूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि दहेज (शुल्क) लेकर किये गये विवाह को आसुर नाम दिया गया है, पर उस समय में यह अच्छी तरह प्रच-लित था। इसीलिये चाणक्य को दहेज के संबंध में बहुत से नियम बनाने की आवश्यकता हुई थी। शुल्क (दहेज) पर वर के माता-पिता का अधिकार होता था। दोनों के अभाव में ही वधू दहेज की अधिकारिणी हो सकती थी। पति के मरने पर स्त्री को दहेज का बचा हुआ भाग मिल जाता था।

पुरुष और स्त्री, दोनों को इस युग में पुनर्विवाह का अधिकार था। पुरुषों के पुनर्विवाह के संबंध में ये नियम दिये गये हैं—'यदि किसी स्त्री के आठ साल तक बच्चा न हो, या जिस के कोई पुरुष संतान न हो, या जो बंध्या हो, उसका पति पुनर्विवाह से पूर्व आठ वर्ष तक प्रतीक्षा करे। यदि स्त्री के मृत बच्चा पैदा हो, तो दस साल तक प्रतीक्षा करे। केवल लड़कियाँ ही उत्पन्न हों, तो बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करे। इसके बाद पुत्र की इच्छा होने पर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है।' स्त्री के मर जाने पर तो पुनर्विवाह हो ही सकता था।

पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी पुनर्विवाह का अधिकार था। पति के मरने पर यदि स्त्री दूसरा विवाह करना चाहे, तो उसे अपने श्वसुर तथा पतिपक्ष के अन्य संबंधियों द्वारा प्राप्त धन वापस देना होता था। परंतु यदि पुनर्विवाह श्वशुर की अनुमति से हो, तो स्त्री इस धन को अपने पास रख सकती थी। पति की मृत्यु के अतिरिक्त भी कुछ अवस्थाओं में स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार था। 'यदि किसी स्त्री के कोई सन्तान न हो और उसका पति विदेश गया हुआ हो, तो वह एक साल तक प्रतीक्षा करे। यदि उसके कोई संतान न हो, तो अधिक समय तक प्रतीक्षा करे। यदि पति स्त्री के लिये भरण-पोषण का प्रबंध कर गया हो, तो दुगने समय तक प्रतीक्षा की जाय' यदि पति विद्याध्ययन के लिये विदेश गया हो, तो संतानरहित स्त्री दस वर्ष और संतान सहित स्त्री बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करे, यह नियम था।

मौर्यकाल में नियोग की प्रथा भी प्रचलित थी। यदि कोई राजपुरुष विदेश गया हुआ हो, तो उसकी स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं था। पर वह किसी और पुरुष से बच्चा उत्पन्न कर सकती थी। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि इस प्रकार अपने

वंश की रक्षा के लिये संतान उत्पन्न कर लेना बदनामी का कारण नहीं होना चाहिये।

मौर्यकाल में तलाक की प्रथा भी विद्यमान थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में तलाक के लिये 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है। स्त्री और पुरुष, दोनों को ही तलाक का अधिकार था। इस विषय में अर्थशास्त्र के निम्नलिखित नियम ध्यान देने योग्य हैं —

'यदि कोई पति बुरे आचार का है, परदेश गया हुआ है, राज्य का द्वेषी है या यदि कोई पति खूनी है, पतित है या नपुंसक है, तो स्त्री उसका त्याग कर सकती है।

'पति से घृणा करती हुई स्त्री, उस (पति) की इच्छा के बिना तलाक नहीं दे सकती। इसी तरह स्त्री से घृणा करता हुआ पति, उस (स्त्री) की इच्छा के बिना तलाक नहीं दे सकता। पर पारस्परिक घृणा से तलाक हो सकता है।

'यदि स्त्री से तंग आकर पुरुष उसको तलाक देना चाहे, तो जो धन स्त्री की ओर से उसे मिला है, वह उसे लौटा दिया जाय। परंतु यदि स्त्री पति से तंग आकर तलाक देना चाहे तो उसका धन उसे न लौटाया जाय।'

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये, कि पहले प्रकार के चार 'धर्मानुकूल' विवाहों में तलाक नहीं हो सकता था। तलाक केवल पिछले चार विवाहों में ही विहित था।

मैगस्थनीज तथा कौटल्य—दोनों के ग्रंथों के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्यकाल में स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊँची नहीं थी। मैगस्थनीज ने स्त्रियों के खरीदने व बेचने की बात लिखी है, उसके अनुसार एक जोड़ा बैल देकर पुरुष स्त्रियों को खरीद लेते थे। इसी तरह राजा लोग अपने साथ रखने के लिये बहुत सी स्त्रियों को उनके माता पिता से खरीद लेते थे। वर्तमान अर्थ में स्त्रियों को स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। उन्हें प्रायः पति की आज्ञा

में और घर के भीतर ही रहना होता था। इस विषय में अर्थ-शास्त्र के निम्नलिखित नियम ध्यान देने योग्य हैं—'खतरे को छोड़ कर यदि किसी अन्य कारण से कोई स्त्री अपने पति के घर से बाहर जाय, तो उस पर छः पण जुरमाना किया जाय। यदि वह पति की आज्ञा के विरुद्ध घर से बाहर जाय, तो बारह पण जुरमाना किया जाय, यदि स्त्री पड़ोसी के घर से परे चली जाय, तो उस पर छः पण जुरमाना किया जाय। मौर्यकाल में स्त्रियाँ प्रायः परदे में रहती थीं। अर्थशास्त्र में स्त्रियों को 'न निकलने वाली' कहा गया है।

(३) धार्मिक विश्वास

चंद्रगुप्त मौर्य के समय में यज्ञों में पशुहिंसा, बलिदान तथा श्राद्ध प्रचलित थे। मैगस्थनीज ने लिखा है—'यज्ञ व श्राद्ध में कोई मुकुट धारण नहीं करता। वे बलि के पशु को छुरी धसा कर नहीं मारते, अपितु गला घोंट कर मारते हैं, जिससे देवता की भेंट खंडित वस्तु न करके पूरी वस्तु की जाय।

'एक प्रयोजन जिस के लिये राजा अपना महल छोड़ता है, बलि प्रदान करना है। पर गृहस्थ लोगों द्वारा ये दार्शनिक बलि प्रदान करने तथा मृतकों का श्राद्ध करने के लिये नियत किये जाते हैं।'

मैगस्थनीज के उदाहरणों से स्पष्ट है, कि चंद्रगुप्त मौर्य के समय में पशुबलि की प्रथा भलीभाँति प्रचलित थी। बौद्ध और जैन धर्मों का इस समय काफी प्रचार हो रहा था, पर अभी यज्ञों में पशुबलि देने की प्रथा नष्ट नहीं हुई थी। आगे चलकर अशोक के समय में बौद्ध धर्म का प्रचार विशेष रूप से हुआ, और तब पशुहिंसा, और 'समाजों' में पशुओं के द्वन्द्वयुद्धों को बंद करने का यत्न किया गया। कौटलीय अर्थशास्त्र में यज्ञों के विविध

अनुष्ठानों तथा ऋत्विक् आदि यज्ञकर्ताओं का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है।

अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्यकाल में अनेकविध संप्रदाय विद्यमान थे। वहाँ लिखा है—'नगर के मध्य में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैजयन्त, इनके कोष्ठ और शिव, वैश्रवण, अश्वि और श्रीमदिरा के घर बनाये जावें। इन कोष्ठों और गृहों में यथास्थान देवताओं वास्तुदेवता=स्थापत्य रूप में वर्तमान देवता, की स्थापना की जाय। भिन्न-भिन्न दिशाओं में यथास्थान दिग्देवताओं (दिशा के देवताओं) की स्थापना की जाय।'

स्पष्ट है, कि मौर्यकाल में भिन्न-भिन्न देवताओं की पूजा प्रचलित थी, और उसके लिये अलग-अलग मंदिर बने होते थे। देवताओं की मूर्ति बनाने का शिल्प उस समय उन्नति पर था, यह कार्य करने वाले 'देवताकारु' कहलाते थे। नगर के द्वारों के नाम ब्रह्मा, इन्द्र, यम आदि के नाम से रखे जाते थे। तीर्थयात्रा का भी उस समय रिवाज था। तीर्थों में यात्रा पर एकत्रित लोगों से 'तीर्थकर' लिया जाता था। विविध संप्रदायों के लिये 'पाषंड' शब्द व्यवहार में आता था। अशोक के शिलालेखों में संप्रदायों को पाषंड कहा गया है। संभवतः, विविध धर्मों के अनुयायी भिक्षुओं के मठों या अखाड़ों के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता था। चाणक्य को इनसे जरा भी सहानुभूति नहीं थी। उसके विचार सांसारिक उत्कर्ष, समृद्धि और गृहस्थ की उच्चता के पक्षपाती थे। संसार से विरक्त होकर 'पाषंडों' में शामिल होना उसके आदर्शों के प्रतिकूल था। इसीलिये उसने व्यवस्था की थी, कि पाषंडों को शहर से बाहर श्मशान के पास चांडालों की बस्ती के पास जगह दी जाय। शहरों से बाहर रहते हुए, सुवर्ण या सुवर्णमुद्रा न रखकर, ये सुखे बस सकते थे। पर यह

ध्यान रखा जाता था, कि एक पाषंड से दूसरे पाषंड को बाधा न पहुँचे।

देवताओं और धर्ममंदिरों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। उनके प्रति किसी तरह का कुवाक्य बोलने पर कड़े दंड की व्यवस्था थी। लोग तंत्र-मंत्र पर विश्वास रखते थे। मंत्र की साधना से अभिलषित फल की सिद्धि होती है, यह बात सर्वसाधारण में मान्य थी। उस युग में अनेक लोग धर्म के विविध ढोंग बनाकर जनता को ठगा भी करते थे। इसीलिये आचार्य चाणक्य ने अपनी कुटिल नीति का अनुसरण करते हुए शत्रुओं पर काबू करने के उपायों का वर्णन करते हुए लिखा है कि मुंड या जटिल के वेश में गुप्तचर बहुत से चेलों को साथ लेकर नगर के समीप आकर बैठ जाय। पूछने पर बतावें कि हम पर्वत की गुहा में रहने वाले हैं और हमारी आयु ४०० वर्ष की है। शिष्य लोग मूल, फल आदि लेने के लिये शहर में आकर अमात्यों और राजकुल के लोगों को महात्मा जी के दर्शनों के लिये प्रेरित करें। जब राजा दर्शनों के लिये आये तो उसे पुराने राजा और देश के संबंध में इधर-उधर की बातें बतलाए और कहे कि 'सौ-सौ साल बाद आग में प्रवेश कर मैं फिर बालक बन जाता हूँ। अब मैं आपके सम्मुख चौथी बार आग में प्रवेश करूंगा। आप अवश्य ही देखने आइये, जो इच्छा हो, तीन वर माँग लो।' इस प्रकार अपना विश्वास जमाकर गुप्तचर अपने कार्य की सिद्धि करते थे।

यह नहीं समझना चाहिये, कि महात्मा बुद्ध के बाद भारत में अन्य धर्मों का लोप होकर केवल बौद्ध धर्म का ही प्रचार हो गया था। प्राचीन यज्ञप्रधान वैदिक धर्म, विविध देवी-देवताओं की पूजा, अनेक पाषंड आदि उस युग में विद्यमान थे। अशोक के समय में बौद्ध धर्म का प्रचार भारत में बहुत बढ़ गया, पर

अन्य संप्रदाय भी कायम थे। भक्तिप्रधान वैष्णव या भागवत धर्म का अंकुर भी इस युग में भलीभांति पल्लवित हो रहा था। आगे चल कर यह भारत का प्रमुख धर्म हो गया। मैगस्थनीज ने लिखा है कि शूरसेन देश में कृष्ण की पूजा विशेष रूप से प्रचलित थी। राजपूताना में चित्तौड़ के समीप प्राचीन माध्यमिका नगरी के भग्नावशेषों के समीप घोसुंडी नामक गांव में मौर्यकाल का एक शिलालेख मिला है, जिसमें संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिये दान देने की बात उत्कीर्ण है। इससे सूचित होता है, कि भागवत धर्म का मौर्यकाल में प्रचार शूरसेन देश से बाहर भी राजपूताना तक उस समय में हो चुका था।

(४) भारतीयों का भोजन और पान

मैगस्थनीज ने लिखा है—'जब भारतीय लोग भोजन के लिये बैठते हैं, तो प्रत्येक व्यक्ति के सामने मेज रहती है, जो कि तिपाई की शक्ल की होती है। इनके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है, जिसमें सब से पहले चावल परोसे जाते हैं। वे इस तरह उबले हुए होते हैं, जैसे जौ हों। इसके बाद अन्य बहुत से पकान्न परोसे जाते हैं, जो भारतीय सामग्रियों के अनुसार तैयार किये जाते हैं।' एक अन्य स्थान पर इस यवन यात्री ने लिखा है—'वे सदैव अकेले में भोजन करते हैं। वे कोई ऐसा नियत समय नहीं रखते, जब कि इकट्ठे मिल कर भोजन किया जाय। जिस समय जिसकी इच्छा होती है, वह तभी भोजन कर लेता है।'

सोने के प्याले में तो राजकुल के व उच्च राजकर्मचारी ही भोजन करते होंगे, जिससे मिलने का सीरियन सम्राट् के राजदूत को प्रायः अवसर मिलता रहता होगा, पर मैगस्थनीज के इस विवरण से भोजन के संबंध में भारतीयों की परिपाटी का अवश्य परिचय मिल जाता है।

मौर्यकाल के भारतीय स्वादु भोजन बनाने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। राजा की जो महानस (रसोई) होती थी, उसके विषय में चाणक्य ने लिखा है कि तरह-तरह के सुस्वादु भोजन तैयार कराये जायें। भिन्न-भिन्न वस्तुओं को पकाने के लिये अलग-अलग पाचक होते थे। साधारण बाजार में भी अनेकविध भोज्य पदार्थों के अलग-अलग विक्रेता होते थे। मांस-भोजन का उस समय बहुत रिवाज था। उस युग में बहुत से पशु, पक्षी, मछली आदि जंतुओं को भोजन के लिये मारा व बेचा जाता था। मांस को सुखा कर रखा जाता था। विविध भोज्य पदार्थों को बनाने वालों में से कुछ के नाम निम्नलिखित हैं –

१. पक्वान्न पण्या:—पक्वान्न बेचने वाले।
२. मांस पण्या:—मांस बेचने वाले।
३. पक्व मांसिका:—मांस पका कर बेचने वाले।
४. औदनिका:—चावल, दाल पका कर बेचने वाले।
५. शौण्डिका:—शराब बेचने वाले।
६. आपूपिका:—रोटी बना कर बेचने वाले।

अशोक के प्रयत्नों से प्राचीन भारत में मांस का उपयोग कुछ कम अवश्य हुआ, पर बौद्धधर्म को स्वीकार करने के बाद भी अशोक के महानस में मांस बनना और उसके लिये पशु-हत्या जारी रही थी। यही दशा बौद्धधर्म के अन्य अनुयायियों की भी थी।

शराब का प्रचार भी मौर्ययुग में बहुत था। शराब के बेचने तथा पीने के लिये बड़ी-बड़ी दूकानें होती थीं, जिनमें अलग-अलग कमरे बने होते थे। प्रत्येक कमरे में सोने के लिये अलग-अलग बिस्तरे बिछे होते थे। साथ ही, बैठने के लिये अनेकविध आसन, सुगंधि, फूल, माला, जल तथा आराम की अन्य

वस्तुएँ सुसज्जित रहती थीं। इन सुन्दर सुसज्जित कमरों में विदेशी तथा भारतीय लोग शराब का आनंद उठाते थे। शराब-गृहों में दूकानदार लोग केवल शराब ही नहीं देते थे, अपितु अपने ग्राहकों के भोग के लिये सुन्दर रूप वाली दासियाँ व वेश्यायें भी पेश करते थे।

शराब केवल शराबखानों में ही पी जा सकती थी। बाहर ले जाकर उसे पीने की अनुमति नहीं मिलती थी। केवल वे ही लोग अपने घरों में शराब ले जा सकते थे, जो भलीभाँति सब के जाने-बूझे हों, और जिनके चरित्र की पवित्रता भलीभाँति ज्ञात हो। आचार्य चाणक्य अनुभव करते थे कि शराब एक हानिकारक वस्तु है। उनकी सम्मति में शराब के सेवन से यह भय सदा बना रहता था, कि काम में लगे हुए कर्मी लोग प्रमाद में न फँस जावें, आर्य लोग मर्यादा का भंग न करने लगें और तीक्ष्ण प्रकृति के लोग अव्यवस्था न मचा दें। इसीलिये यह नियम किया गया था कि लोगों के चरित्र तथा आचार को देख कर १/४ कुटुम्ब, १/२ कुटुम्ब, १ कुटुम्ब, १/२ प्रस्थ तथा १ प्रस्थ से अधिक शराब किसी को न दी जाय। संभवतः, इसी नियम का यह परिणाम था, कि शराब का सेवन भारत में बहुत मर्यादित था, और मैगस्थनीज यह लिख सका था, कि भारतीय लोग मदिरा नहीं पीते। उसके अनुसार मदिरा का सेवन केवल यज्ञों में ही होता था।

(५) आमोद-प्रमोद

अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्यकाल में बहुत से ऐसे लोग भी थे, जिनका पेशा लोगों का आमोद-प्रमोद करना तथा तमाशे दिखाना होता था। ये लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर तमाशे दिखाते हुए घूमते रहते थे। अर्थ-

शास्त्र में ऐसे नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन (तरह-तरह की बोलियाँ बोलकर आजीविका कमाने वाले), कुशीलव, प्लवक (रस्सी पर नाचने वाले), सौभिक (मदारी) और चारणों का उल्लेख किया गया है। ये सब शहर या गाँव के बाहर तमाशे दिखाया करते थे। प्रेक्षा (तमाशा) के लिये इन्हें लाइसंस लेना पड़ता था, और इसके लिये राज्य को पाँच पण दिये जाते थे। अनेक बार तमाशों का प्रबंध ग्राम की तरफ से होता था। इस दशा में ग्राम के सब निवासी उसमें अपनी तरफ से हिस्सा डालते थे। जो हिस्सा न डाले, उसे प्रेक्षा में शामिल होने का अधिकार नहीं होता था। आचार्य चाणक्य की सम्मति में नट, नर्तक आदि तमाशाई लोग गाँव के कार्य में विघ्न डालने वाले होते हैं, अतः इन्हें वहाँ खुली छूट नहीं देनी चाहिये। प्रेक्षायें उतनी ही होनी चाहियें, जिनसे कि ग्राम के लोगों को अपने कार्य में हानि न पहुँचे।

शिकार खेलने का उस समय बहुत रिवाज था। मैगस्थनीज ने लिखा है—'जब राजा शिकार के लिये राजप्रसाद से निकलता है, तो स्त्रियों की भीड़ उसे घेरे रहती है। उनके घेरे के बाहर बरछे वाले रहते हैं। मार्ग का चिन्ह रस्सों से डाला जाता है। इन रस्सों के भीतर जाना स्त्री या पुरुष सब के लिये मृत्यु को निमंत्रण देना है। ढोल और झाँझ लेकर आदमी इस दल के आगे-आगे चलते हैं। राजा घेरों के भीतर से शिकार खेलता है, और चबूतरे से तीर चलाता है। उसके बगल में दो या तीन हथियारबंद स्त्रियाँ खड़ी होती हैं। यदि वह खुले मैदान में शिकार करता है, तो वह हाथी की पीठ से तीर चलाता है। स्त्रियों में कुछ तो रथ के भीतर रहती हैं, कुछ घोड़ों पर और कुछ हाथियों पर। वे हर प्रकार के शस्त्रों से सुसज्जित रहती हैं, मानो वे किसी लड़ाई पर जा रही हों।' केवल आमोद-प्रमोद

के लिये मौर्य सम्राट् जो शिकारयात्रा करते थे, यह उसी का वर्णन है। उस युग में शिकार के लिये पृथक् रूप से वन सुरक्षित रखे जाते थे। राजा के विहार के लिये ऐसे जंगल भी होते थे, जिनके चारों ओर खाई खुदी रहती थी, और जिनमें प्रवेश के लिये केवल एक ही द्वार होता था। इनमें शिकार के लिये पशु पाले जाते थे, राजा इनमें स्वच्छन्दरूप से शिकार खेल सकता था।

विविध 'समाजों' में पशुओं की लड़ाई और मल्लयुद्ध देखने का भी जनता को बड़ा शौक था। अशोक को ये समाज पसंद नहीं थे, उन्हें उसने बंद कर दिया था।

(६) रीति-रिवाज और स्वभाव

मौर्यकालीन भारतीयों के रीतिरिवाजों के संबंध में यूनानी लेखकों के कुछ विवरण उद्धृत करने योग्य हैं। हम उन्हें यहाँ उल्लिखित करना उपयोगी समझते हैं—

'भारतीय लोग किफायत के साथ रहते हैं, विशेषतः उस समय जब कि वे कैम्प में हों। वे अनियन्त्रित भीड़ को नापसंद करते हैं। इसीलिये वे हमेशा व्यवस्था बनाये रखते हैं।'

'भारतीय लोग अपने चाल-चलन में सीधे और मितव्ययी होने के कारण बड़े सुख से रहते हैं।'

'उनके कानून और व्यवहार की सरलता इससे अच्छी तरह प्रमाणित होती है, कि वे न्यायालय में बहुत कम जाते हैं। उनमें गिरवी और धरोहर के अभियोग नहीं होते और न वे मुहर या गवाह की जरूरत रखते हैं। वे एक दूसरे के पास धरोहर रखकर आपस में विश्वास करते हैं। अपने घर व संपत्ति को वे प्रायः अरक्षित अवस्था में ही छोड़ देते हैं। ये बातें सूचित करती हैं, कि उनके भाव उदार व उत्कृष्ट हैं।'

'उनमें व्यायाम करने की सर्वप्रिय रीति संघर्षण है। यह कई प्रकार से किया जाता है पर संघर्षण प्रायः चिकने आबनूस के बेलनों का त्वचा पर फेर कर होता है।'

'उनके समाधिस्थल सादे होते हैं, मृतक के ऊपर उठाई हुई बेदी नीची होती है।'

'अपने चाल की साधारण सादगी के प्रतिकूल वे बारीकी और नकासत के प्रेमी होते हैं। उनके वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता है। वे (वस्त्र) मूल्यवान् रत्नों से विभूषित रहते हैं। वे लोग अत्यंत सुंदर मलमल के बने हुए फूलदार कपड़े पहनते हैं। सेवक लोग उनके पीछे-पीछे छाता लगाए चलते हैं। वे सौंदर्य का बड़ा ध्यान रखते हैं, और अपने स्वरूप को सँवारने में कोई उपाय उठा नहीं रखते।'

'सचाई और सदाचार, दोनों की ये समान रूप से प्रतिष्ठा करते हैं। इससे बुड्ढों को वे तब तक विशेष स्वत्व नहीं देते, जब तक वे अधिक उत्कृष्ट सदाचारी न हों।'

'भारतवासी मृतक के लिये कोई स्मारक नहीं उठाते, वरन् उस सत्वशालिता का, जिसे मनुष्यों ने अपने जीवन में दिखलाया है तथा उन गीतों को, जिनमें उनकी प्रशंसा वर्णित रहती है, मरने के बाद उनके स्मारक को बनाये रखने के लिये पर्याप्त समझते हैं।'

'चोरी बहुत कम होती है, मेगास्थनीज कहता है कि उन लोगों ने, जो चंद्रगुप्त के डेरे में थे, जिसके भीतर चार लाख मनुष्य पड़े थे, देखा कि चोरी जिसकी इत्तला किसी एक दिन होती थी, वह २०० ड्राचमी के मूल्य से अधिक की नहीं होती थी, और वह ऐसे लोगों के बीच जिनके पास लिपिबद्ध कानून नहीं, वरन् जो लिखने से अनभिज्ञ हैं, और जिन्हें जीवन के समस्त कार्यों में स्मृति ही पर भरोसा करना पड़ता है।'

'भारतवासियों में विदेशियों तक के लिये कर्मचारी नियुक्त होते हैं, जिनका काम यह देखना होता है कि किसी विदेशी को हानि न पहुँचने पावे। यदि इन (विदेशियों) में से कोई रोग-ग्रस्त हो जाता है, तो वे उसकी चिकित्सा के निमित्त वैद्य भेजते हैं तथा और प्रकार से भी उसकी रक्षा करते हैं। यदि वह विदेशी मर जाता है, तो उसे दफना देते हैं और जो संपत्ति वह पीछे छोड़ता है, उसे उसके संबंधियों को दे देते हैं। न्यायाधीश लोग भी उन मामलों का, जो विदेशियों से संबंध रखते हैं, बड़े ध्यान से फैसला करते हैं और उन लोगों के साथ बड़ी कड़ाई का बरताव करते हैं, जो उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं।'

'भूमि जोतने वाले, चाहे उनके पड़ोस में युद्ध हो रहा हो, तो भी किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नहीं होते। दोनों के लड़ने वाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो लोग खेती में लगे हुए रहते हैं, उन्हें पूर्णतया निर्विघ्न अपना कार्य करने देते हैं। इस के अतिरिक्त, न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं, और न उनके पेड़ काटते हैं।'

'ब्राह्मण लोग दर्शन के ज्ञान को स्त्रियों को नहीं बताते। उन्हें भय रहता है कहीं वे दुश्चरित्र न हो जायँ। निषेध किये गये रहस्यों में से किसी को खोल न दें, अथवा यदि वे कहीं उत्तम दार्शनिक हो जायँ, तो उन्हें छोड़ न दें।'

(७) शिक्षणालय

मौर्यकाल में शिक्षा का कार्य आचार्य, पुरोहित, श्रोत्रिय आदि करते थे। उन्हें राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी, उन्हें इतनी भूमि दे दी जाती थी, कि वे उसकी आमदनी से, निश्चिन्त होकर अध्यापनकार्य में व्यापृत रहें। इस तरह की भूमि को



चामर-ग्राहिणी

पटना संग्रहालय

तीसरी शती ई० पू०

'ब्रह्मदेय' कहते थे। इससे कोई कर आदि नहीं लिया जाता था। स्वतंत्र रूप से अध्यापन करने वाले इन ब्राह्मणों के अतिरिक्त इस युग में अनेक ऐसे शिक्षाकेंद्र भी थे, जिनमें बहुत से आचार्य शिक्षण का कार्य करते थे। मौर्यकाल का ऐसा सबसे प्रसिद्ध केंद्र तक्षशिला था, जहाँ आचार्य चाणक्य नीतिशास्त्र का अध्यापन करते थे।

तक्षशिला में शिक्षा का क्या ढंग था, इस विषय में एक जातक कथा को यहाँ उद्धृत करना बहुत उपयोगी है। "एक बार की बात है, कि बनारस के राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम कुमार ब्रह्मदत्त रखा गया। पुराने समय में राजा लोगों में यह प्रथा थी, कि चाहे उनके अपने शहर में कोई प्रसिद्ध अध्यापक विद्यमान हो, तो भी अपने कुमारों को दूर देशों में शिक्षा पूर्ण करने के लिये भेजना उपयोगी समझते थे। इससे वे यह लाभ समझते थे, कि कुमार अभिमान और दर्प को वश में करना सीखेंगे, गरमी और सरदी का सहन करेंगे, साथ ही दुनिया के रीति-रिवाजों से भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। राजा ब्रह्मदत्त ने भी यही किया। उसने अपने कुमार को बुला कर, जिसकी आयु अब सोलह वर्ष की हो चुकी थी, उसे एकतलिक जूते, पत्तों का छाता और एक हजार कार्षापण देकर कहा—'तात! तक्षशिला जाओ, और विद्या का अभ्यास करो।' कुमार ने उत्तर दिया—'बहुत अच्छा'। माता-पिता से विदा लेकर वह समय पर तक्षशिला पहुँच गया। वहाँ जाकर उसने आचार्य का घर पूछा। आचार्य विद्यार्थियों के सम्मुख अपना व्याख्यान समाप्त कर चुके थे और अपने घर के द्वार पर घूम रहे थे। आचार्य को देखते ही कुमार ने अपने जूते उतार दिये, छाता बंद कर दिया और सम्मानपूर्वक वंदना करके खड़ा हो गया। आचार्य ने देखा कि वह थका हुआ है,

अतः उसके भोजन का प्रबंध कर उसे आराम करने का आदेश दिया। भोजन करके कुमार ने कुछ देर विश्राम किया और फिर आचार्य के सम्मुख सम्मानपूर्वक प्रणाम करके खड़ा हो गया। आचार्य ने पूछा—'तात! तुम कहाँ से आए हो?' 'वाराणसी से।' 'तुम किसके पुत्र हो?' 'मैं वाराणसी के राजा का पुत्र हूँ।' 'तुम यहाँ किस लिये आये हो?' 'विद्याध्ययन के लिये' 'बहुत ठीक। क्या तुम आचार्य के लिये उपयुक्त फीस लाये हो, या शिक्षा के बदले सेवा की इच्छा रखते हो?' 'मैं आचार्य के लिये उपयुक्त फीस लाया हूँ।' यह कह कर उसने एक हजार कार्षापणों की थैली आचार्य के चरणों में रख दी। दो तरह के अंते-वासी आचार्य से शिक्षा ग्रहण करते थे। पहले 'धम्मन्तेवासिक', जो दिन में आचार्य का काम करते थे, और रात को शिक्षा प्राप्त करते थे। दूसरे 'आचारिय भागदायक' जो आचार्य के घर में ज्येष्ठ पुत्र की तरह रहते थे और सारा समय विद्याध्ययन में व्यतीत करते थे। क्योंकि कुमार ब्रह्मदत्त आवश्यक फीस साथ लाया था, और वह आचार्य के घर पर ही रहता था, अतः उसे नियमपूर्वक शिक्षा दी गई। इस प्रकार ब्रह्मदत्त ने शिक्षा समाप्त की।"

तक्षशिला में अनेक संसारप्रसिद्ध आचार्य शिक्षादान का कार्य करते थे। एक आचार्य के पास प्रायः ५०० विद्यार्थी पढ़ते थे। सम्भवतः, यह कल्पना अनुचित नहीं है, कि तक्षशिला में अनेक कालिज थे, जिनमें से प्रत्येक में ५०० के लगभग विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। इन कालिजों के प्रधान को आचार्य कहते थे, जो प्रायः 'संसार प्रसिद्ध' व्यक्ति होता था। एक जातक के अनुसार एक आचार्य के पास एक सौ एक राजकुमार शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। अनेक राजकुमारों के नाम भी दिये गये हैं। न केवल राजकुमार, पर ब्राह्मण और

क्षत्रिय भारत भर से तक्षशिला में विद्या प्राप्त करने के लिये आते थे। नीच जातियों के लोग तक्षशिला के 'संसार प्रसिद्ध' आचार्यों से लाभ नहीं उठा सकते थे। इसी लिये एक जातक में चांडाल की कथा लिखी है, जिसने वेश बदल कर तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त की थी।

इस शिक्षाकेंद्र में तीनों वेद, अष्टादश विद्या, विविध शिल्प, धनुर्विद्या, हस्तिविद्या, मंत्रविद्या, सब प्राणियों की बोलियों को समझने की विद्या और चिकित्साशास्त्र की विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी। शैशुनाग, और मौर्यकाल के अनेक प्रसिद्ध पुरुषों ने तक्षशिला में ही शिक्षा पाई थी। राजा बिंबिसार का राजवैद्य जीवक तक्षशिला का ही प्रसिद्ध आचार्य था। मागध सम्राट् अजातशत्रु के समकालीन कोशल के राजा प्रसेनजित ने तक्षशिला में ही शिक्षा ग्रहण की थी। मौर्य साम्राज्य का संस्थापक चंद्रगुप्त भी तक्षशिला में ही विद्याध्ययन के लिये गया था। संभवतः वहीं उसकी राजनीति शास्त्र के 'संसार-प्रसिद्ध' आचार्य चाणक्य से भेंट हुई थी। इसी भेंट का परिणाम हुआ, कि मौर्यवंश का शासन पाटलीपुत्र में स्थापित हुआ और नंदों की शक्ति का ध्वंस हुआ।

मौर्यकाल में काशी भी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केंद्र था। तक्षशिला में पढ़े हुए अनेक आचार्यों ने वहाँ शिक्षण का कार्य प्रारंभ किया, और धीरे-धीरे वह भी एक प्रसिद्ध विद्यापीठ हो गया।

तेरहवाँ अध्याय

शुंग और कण्व वंश

(१) मगध में फिर राज्यक्रांति

२१० ई० पू० के लगभग मौर्यवंश की शक्ति क्षीण पड़ने लगी थी। मागध साम्राज्य के अंतर्गत सुदूरवर्ती जनपदों में विद्रोह प्रारंभ हो गये थे। कलिंग, आंध्र और महाराष्ट्र मगध के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतंत्र हो गये थे। उत्तरपश्चिमी भारत पर यवनों के आक्रमण प्रारंभ हो चुके थे और इन विदेशियों ने अपने अनेक राज्य वहाँ स्थापित कर लिये थे। मौर्यवंश के अंतिम राजा निर्बल और विलासी थे। उनके लिये यह संभव नहीं था, कि मागध साम्राज्य जैसे विशाल साम्राज्य पर सफलता-पूर्वक शासन कर सकें।

मौर्यवंश का अंतिम राजा बृहद्रथ था। उसके प्रधान सेनापति का नाम पुष्यमित्र था। एक बार उसने सारी सेना को एकत्र कर उसके प्रदर्शन की व्यवस्था की। सम्राट् बृहद्रथ को भी इस प्रदर्शन के अवसर पर निमंत्रित किया गया गया। सब सेना अपने सेनापति पुष्यमित्र के साथ थी। सब के सामने ही बृहद्रथ को कत्ल कर दिया गया, और मगध के विशाल साम्राज्य का अधिपति पुष्यमित्र बन गया।

बृहद्रथ को 'प्रतिज्ञादुर्बल' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है, कि प्राचीन परंपरा के अनुसार राज्याभिषेक के समय राजा लोग जो प्रतिज्ञा करते थे, उसके पालन में वह दुर्बल था। सेना और प्रजा, सब उससे असंतुष्ट थी। वही

कारण है, कि सब के देखते-देखते ही उसका घात हो गया और बिना किसी बाधा के पुष्यमित्र का षड्यंत्र सफल हो गया।

बृहद्रथ को कत्ल कर पुष्यमित्र का राजा होना ठीक उसी प्रकार की घटना है, जैसी कि श्रेणिय भट्टिय के राजा बालक को मार राजगद्दी पर अधिकार करने की थी। अमात्य पुलिक ने भी इसी प्रकार रिपुंजय को मार कर सेना की सहायता से राज्य प्राप्त किया था। महापद्मनंद भी इसी तरह से मगध के राजसिंहासन का स्वामी हुआ था। मागध साम्राज्य की शक्ति उसकी सुसंगठित सेना पर निर्भर थी। जिसके हाथ में सेना थी, वह सुगमता से राजगद्दी पर भी अधिकार जमा सकता था। जिस सैनिकविद्रोह से मौर्यवंश का अंत हुआ वह १८४ ई० पू० हुआ था।

(२) शुंग पुष्यमित्र

मागध साम्राज्य की क्षीण होती हुई शक्ति पुष्यमित्र के प्रयत्न से फिर पुनः संजीवित हुई। आस-पास के जनपदों को जीत कर उसने फिर मगध के अधीन किया। विदर्भ (बरार) के प्रदेश में उस समय यज्ञसेन का शासन था। शुरू में वह मौर्यों की तरफ से वहाँ का शासन करने के लिये नियुक्त हुआ था। पर मौर्य सम्राटों की निर्बलता से लाभ उठा कर वह स्वतंत्र हो गया था। जनता उससे संतुष्ट नहीं थी। अभी राज्य में उसकी जड़ भलीभाँति नहीं जम पाई थी। इसी बीच में पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने उस पर आक्रमण कर दिया और विदर्भ को फिर मागध साम्राज्य की अधीनता में ले आया।

कलिंग के राजा खारवेल से पुष्यमित्र के कई युद्ध हुए। मौर्यवंश की अवनति के समय कलिंग स्वतंत्र हो गया था। इस समय वहाँ का राजा खारवेल था। वह बड़ा शक्तिशाली

सम्राट् हुआ है। दूर-दूर तक आक्रमण कर इसने भारत के बहुत से प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया था। अपने शासन के बारहवें वर्ष में उसने मगध पर आक्रमण किया। अब से पौने तीन सौ वर्ष पूर्व मागध राजा नंद कलिंग से जिन महावीर की जो मूर्ति विजयोपहार के रूप में पाटलीपुत्र ले गया था, खारवेल उसे अपने देश वापस ले गया। खारवेल जैन धर्म का अनुयायी था और इस समय में प्रायः सारा कलिंग देश जैन मत को मानता था। खारवेल की सेना के हाथी पाटलीपुत्र के सुगांग प्रासाद तक पहुँच गये। पुष्यमित्र को खारवेल के सम्मुख बुरी तरह नीचा देखना पड़ा। पर खारवेल मगध में टिका नहीं। अपने देश के सदियों पुराने अपमान का बदला लेकर वह कलिंग वापस लौट आया। मगध से बहुत से धन, रत्न, मणि-माणिक्य आदि को भी वह अपने साथ ले गया।

खारवेल से इस प्रकार अपमानित होने के बाद भी पुष्यमित्र ने हिम्मत नहीं हारी। इस समय उत्तरपश्चिमी भारत में यवनों के हमले निरंतर जारी थे। मौर्यवंश के शासन के अंतिम दिनों में प्रसिद्ध यवन आक्रांता दिमित्र ने मथुरा और अयोध्या से आगे बढ़ कर ठेठ मगध तक हमला बोल दिया था। पर इन यवनों को मगध की शक्ति को नष्ट करने में सफलता नहीं हुई। यवनों से मगध की रक्षा करने का प्रधान श्रेय पुष्यमित्र को ही है। उसने न केवल मगध में यवनों को परास्त किया, अपितु कोशल (अयोध्या) और मथुरा आदि से उन्हें निकाल कर दूर खदेड़ दिया। उसके साम्राज्य की सीमा पश्चिम में कम से कम शाकल (स्यालकोट) तक अवश्य थी। बंगाल के समुद्रतट से पश्चिम में स्यालकोट तक और हिमालय से लगा कर दक्षिण में नर्मदा नदी तक सम्राट् पुष्यमित्र का एकच्छत्र साम्राज्य था। कलिंगराज खारवेल ने मगध को परास्त करके भी उसे

स्थिररूप से अपने अधीन करने का प्रयत्न नहीं किया था। खारवेल ने अपनी शक्ति का विस्तार मुख्यतया कलिंग के दक्षिण व पश्चिम की ओर किया था। उत्तरी भारत में अब भी मगध का अखंड साम्राज्य स्थापित था।

पुष्यमित्र ने दो बार राजसूय और अश्वमेध यज्ञ किये। राजा जनमेजय के बाद भारत के किसी राजा ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान नहीं किया था। अब पुष्यमित्र ने इस प्राचीन यज्ञ का पुनरुद्धार किया। अश्वमेध में दिग्विजय के उपलक्ष में घोड़े की बलि दी जाती थी। अहिंसाप्रधान बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से इस यज्ञ की प्रथा बिलकुल विलुप्त सी हो गई थी। अब पुष्यमित्र ने इसे पुनः संजीवित किया। पतञ्जलि मुनि पुष्यमित्र के इन अश्वमेधों में प्रधान पुरोहित थे। उन्होंने पाणिनि के प्रसिद्ध व्याकरण अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा था, जो संस्कृत व्याकरण के सब से प्रसिद्ध और प्रामाणिक ग्रंथों में से एक है। पतञ्जलि विदिशा के निवासी थे। प्राचीन प्रथा के अनुसार अश्वमेध से पूर्व एक घोड़ा छोड़ा गया। उसकी देख-रेख के लिये पुष्यमित्र का पौत्र वसुमित्र नियत हुआ। इस घोड़े को सिंधु नदी के दाहिने तट पर यवनों ने पकड़ने की कोशिश की। घोर युद्ध के बाद यवनों का पराभव हुआ, और मेध्य अश्व को सकुशल पाटलीपुत्र वापस लाया गया। अश्वमेध यज्ञ चक्रवर्ती सम्राट् विश्व-विजय के उपलक्ष में किया करते थे। सिंधु नदी तक यवनों को खदेड़ कर प्रायः संपूर्ण उत्तरी भारत में मागध साम्राज्य की पुनः स्थापना की स्मृति में ही पुष्यमित्र ने इस यज्ञ की आयोजना की थी।

शुंग लोग मूलतः विदिशा के रहने वाले थे। मौर्यवंश की समाप्ति से पूर्व ही पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र वहाँ का शासक था अंतिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ के समय में मागध सेनाओं का

सेनापति पुष्यमित्र था, और अग्निमित्र विदिशा का शासक। जब पुष्यमित्र मगध का सम्राट् बन गया, तब भी अग्निमित्र विदिशा का शासन करता रहा। प्रतीत होता है, कि अग्निमित्र की अपने पिता से कुछ अनबन थी। इसी लिये अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर उपस्थित होने के लिये उसे विशेष प्रेरणा की आवश्यकता हुई थी। महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध नाटक मालविकाग्निमित्र में इसी शुंगवंशी अग्निमित्र का एक कथानक संकलित है।

पुराणों के अनुसार पुष्यमित्र ने ३६ वर्ष तक (१८४ ई० पू० से १४८ ई० पू० तक) राज्य किया।

(३) पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी

शुंग वंश के कुल दस राजा हुए। पुष्यमित्र के बाद अग्निमित्र राजगद्दी पर बैठा। उसने कुल आठ वर्ष तक राज्य किया। उसके बाद वसुज्येष्ठ ने सात वर्ष और फिर वसुमित्र ने दस वर्ष राज्य किया। ये दोनों अग्निमित्र के पुत्र थे। वसुज्येष्ठ का वसुमित्र ने दस वर्ष राज्य किया। ये दोनों अग्निमित्र के पुत्र थे। वसुज्येष्ठ का दूसरा नाम ज्येष्ठमित्र था. इसके कुछ सिक्के भी आजकल उपलब्ध होते हैं। वसुमित्र के बाद क्रमशः आर्द्रक, पुलिंदक घोष और वज्रमित्र मगध के सिंहासन पर बैठे। इन सब ने मिलकर बीस वर्ष तक राज्य किया। इनके संबंध की कोई भी घटना इस समय ज्ञात नहीं है। वज्रमित्र के बाद भागभद्र राजा बना। इसके समय की एक बात उल्लेखनीय है। उस समय उत्तरपश्चिमी भारत में अनेक यवनराज्य स्थापित हो चुके थे। इनमें से एक तक्षशिला का यवन राज्य था, जहां अब अंतियालकिदस राज्य करता था। उसने शुंग राजा भागभद्र के पास विदिशा में एक राजदूत भेजा था, जिसका नाम

हेलिओदोर था। इस दूत ने वहाँ भगवान् वासुदेव का एक गरुड़ध्वज बनवाया था। इस स्तम्भ पर प्राकृत भाषा में एक लेख खुदा हुआ है, जो निम्न प्रकार है - देवों के देव वासुदेव का यह गरुड़ध्वज, महाराज अंतलिकित के यहाँ से राजा काशीपुत्र भागभद्र त्राता के, जो अपने राज्य के चौदहवें वर्ष में वर्तमान हैं, पास आये हुए तक्षशिला के निवासी दिय के पुत्र योनदूत भागवत हेलिओदोर ने यहाँ बनवाया।

भारत के यवन आक्रान्ता इस काल में किस प्रकार भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रभाव में आ रहे थे, इस पर इस स्तम्भ-लेख से बड़ा अनुपम प्रकाश पड़ता है। योनदूत हेलिओदोर ने भागवत वैष्णव धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी, और अपनी श्रद्धा को प्रकट करने के लिये गरुड़ध्वज का निर्माण कराया था। उस समय के हिंदू धर्म में म्लेच्छ यवनों को अपने अंदर हज़म कर लेने की शक्ति विद्यमान थी। भागभद्र ने कुल ३२ वर्ष राज्य किया। उसके बाद देवभूति राजा बना। वह बड़ा विलासी था। इसके समय में फिर मगध में राज्यक्रांति हुई। उसके अमात्य वासुदेव कण्व ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र किया और देवभूति को क़त्ल कर स्वयं मगध के राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। शुंग वंश का प्रारंभ इसी प्रकार के षड्यंत्र में हुआ था। उसका अंत भी इसी प्रकार हुआ।

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी मागध साम्राज्य को अक्षुण्ण बना रखने में समर्थ नहीं रहे। पुष्यमित्र के समय में मागध साम्राज्य की पश्चिमी सीमा सिंधु नदी तक थी। पर उसके बाद शीघ्र ही यवनों के आक्रमण फिर प्रारंभ हो गये। उत्तर-पश्चिमी भारत में अनेक नये यवनराज्यों की स्थापना हुई और उस समय की राजनीतिक उथल-पुथल से लाभ उठाकर पंजाब के प्राचीन गणराज्यों ने भी फिर सिर उठा लिया।

परिणाम यह हुआ, कि इन शुंग सम्राटों के शासन काल में मागध साम्राज्य की पश्चिमी सीमा मथुरा तक ही रह गई। मथुरा के पश्चिम में पहले यौधेय, आग्नेय, मालव आदि गणों के स्वतंत्र राज्य थे, और उनके और अधिक पश्चिम में अनेक यवन राज्य। पर मथुरा व यमुना से लगाकर बंगाल की खाड़ी तक शुंगों का एकच्छत्र शासन था। खारवेल के बाद कलिंग राज्य भी निर्बल पड़ गया था। यद्यपि मागध ने उसे जीत कर अपने साम्राज्य में मिलाने का प्रयत्न नहीं किया, पर खारवेल के उत्तराधिकारियों से मागध सम्राटों को कोई भय नहीं था। दक्षिण में शुंगों का मागध साम्राज्य नर्मदा तक विस्तृत था। विदिशा और अवंति के प्रदेश अभी मागध साम्राज्य के ही अंतर्गत थे।

यद्यपि शुंगों के शासनकाल में मागध साम्राज्य का विस्तार मौर्यकाल से बहुत कम था, पर अब भी वह भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति थी। उत्तरी भारत में तो वही एकमात्र प्रबल सत्ता थी।

पुराणों के अनुसार शुंगों ने कुल ११२ वर्ष तक राज्य किया। १८४ ई० पू० से शुरू करके ७२ ई० पू० तक उनका शासनकाल रहा।

(४) कण्व वंश

अंतिम शुंग राजा देवभूति के विरुद्ध षड्यंत्र कर उसके अमात्य वासुदेव ने मगध के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया था। अपने स्वामी की हत्या करके वासुदेव ने जिस साम्राज्य को प्राप्त किया था, वह एक विशाल शक्तिशाली साम्राज्य का ध्वंसावशेष ही था। कारण यह कि इस समय भारत की पश्चिमोत्तर सीमा को लाँघ कर शक आक्रांता बड़े वेग से

भारत पर आक्रमण कर रहे थे। उत्तर-पश्चिमी भारत के यवनराज्यों और पंजाब के गणराज्यों को पददलित कर इन शकों ने मथुरा और विदिशा को भी अपने अधीन कर लिया था। मथुरा और विदिशा की रक्षा करने में मगध के शुंग व कण्व सम्राट् असमर्थ थे। शकों के हमलों से न केवल मागध साम्राज्य के सुदूरवर्ती जनपद ही साम्राज्य से बाहर निकल गये थे, पर मगध के समीपवर्ती प्रदेशों में भी अव्यवस्था मच गई थी। वासुदेव और उसके उत्तराधिकारी केवल स्थानीय राजाओं की हैसियत रखते थे। उनका राज्य पाटलीपुत्र और उसके समीप के प्रदेशों तक ही सीमित था। शुंगों का भी पूर्णतया उच्छेद करने में वे समर्थ नहीं हुए थे। मागध साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर कहीं कण्व और कहीं शुंग राज्य कर रहे थे।

कण्ववंश के कुल चार राजा हुए: वासुदेव, भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मा। इन चारों ने कुल मिलाकर ४५ वर्ष तक राज्य किया। इनका शासनकाल ६३ ई० पू० से २८ ईस्वी तक समझा जा सकता है।

पुराणों में इन कण्व या काण्वायन राजाओं को शुंगभृत्य के नाम से कहा गया है। यह तो स्पष्ट ही है, कि वासुदेव कण्व शुंग राजा देवभूति का अमात्य था। पर चारों कण्व राजाओं को शुंगभृत्य कहने का अभिप्राय शायद यह है कि नाम को इनके समय में भी शुंगवंशी राजा ही सिंहासन पर विराजमान थे, यद्यपि सारी शक्ति इन भृत्यों के हाथ में थी। संभवतः इसीलिये कण्वों के बाद जब आंध्रों के मागध साम्राज्य पर अधिकार कर लेने का उल्लेख आता है, तो वह लिखा गया है कि उन्होंने काण्व और शुंग—दोनों को परास्त कर शक्ति प्राप्त की।

(५) शकों का भारतप्रवेश

जिन शक आक्रान्ताओं के आक्रमणों से मागध साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था, उनके इतिहास पर संक्षेप से यहाँ प्रकाश डालना परम उपयोगी है।

शक लोगों का मूल निवास सीर नदी की घाटी में था। दूसरी सदी ई० पू० में उन पर उत्तरपूर्व की तरफ से युइशि लोगों ने आक्रमण किया। युइशि लोग तिब्बत के उत्तरपश्चिम में तकला मकान की मरुभूमि के दक्षिण में रहते थे। वे बड़े वीर और योद्धा लोग थे। इस समय उन पर हूणों के हमले बड़े वेग से हो रहे थे। हूण जाति उत्तरी चीन की रहने वाली थी। वह एक भयंकर उदंड जाति थी, जो अपने चारों तरफ बसे हुए अन्य लोगों पर निरंतर हमले करती रहती थी। लूट-मार ही इनका पेशा था। हूण लोग इस समय पश्चिम की तरफ एक प्रचंड आँधी के समान बढ़ रहे थे। उन्हीं की एक शाखा ने युइशियों पर हमला किया। युइशि परास्त हुए। उनके राजा की युद्धक्षेत्र में मृत्यु हुई। विधवा रानी के नेतृत्व में युइशि लोग अपने प्राचीन जनपद को छोड़कर आगे बढ़ने को विवश हुए। सीर नदी के प्रदेश में शक लोग रहते थे। युइशि ने उन पर हमला कर दिया। शक लोग उनका सामना नहीं कर सके। विवश होकर उन्हें भी अपना प्रदेश छोड़ना पड़ा और उनके विविध जन (कबीले) विविध दिशाओं में तितर-बितर होने लगे। हूणों ने युइशियों को धकेला और युइशियों ने शकों को। हूणों की बाढ़ ने युइशियों के प्रदेश को आक्रांत कर दिया और शकों के प्रदेश पर युइशि छा गये। सीर की घाटी से निकल कर शक लोगों ने कपिश देश की ओर प्रस्थान किया। चारों ओर से लूट-मार करते हुए वे दक्षिणपश्चिम में ईरान की ओर गये।

यह सब प्रदेश उस समय पार्थियन (पार्थिव) साम्राज्य के अंतर्गत था। पार्थियन साम्राज्य उस समय बड़ा शक्तिशाली था। सारा ईरान (पारस) देश पार्थियन लोगों के अधीन था। यवन साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर लगभग २४८ ई० पू० में इस पार्थियन राज्य की स्थापना हुई थी। अब शकों के हमलों से अपने साम्राज्य की रक्षा करने के लिये पार्थियन राजाओं को उत्कट प्रयत्न की आवश्यकता हुई। पार्थियन राजा फ्रावत द्वितीय १२८ ई० पू० में शकों से लड़ता हुआ मारा गया। उसके उत्तराधिकारी राजा अर्तबान के समय में शकों ने पार्थियन साम्राज्य में घुसकर उसे बुरी तरह लूटा।

अर्तबान के बाद मिथ्रदात द्वितीय पार्थिया का राजा बना। वह बड़ा शक्तिशाली वीर योद्धा था। शकों के आक्रमणों से अपने साम्राज्य की रक्षा में उसे पूरी सफलता हुई। मिथ्रदात की शक्ति से विवश होकर शकों का प्रवाह पश्चिम की तरफ से हट कर दक्षिणपूर्व की तरफ हो गया। परिणाम यह हुआ, कि भारत पर शकों के हमले प्रारंभ हुए। शक लोगों ने सिंध की पश्चिमी सीमा को लाँघ कर भारत में प्रवेश किया, और अपने वे प्रचंड आक्रमण शुरू किये, जिनके कारण मागध साम्राज्य की शक्ति जड़ से हिल गई। शकों के भारत में प्रवेश का समय १२३ ई० पू० के लगभग है। इस समय पाटलीपुत्र में शुंगवंश का राज्य था। प्रतापी पुष्यमित्र की मृत्यु हो चुकी थी और उस का वंशज आद्रक या पुलिंदक मागध साम्राज्य का स्वामी था। मगध के ये राजा निर्बल थे। शकों की बाढ़ को रोक सकना इनकी शक्ति में नहीं था।

भारत के जिस प्रदेश में शकों ने पहले पहल प्रवेश किया, वह इस समय मागध साम्राज्य से बाहर था। उत्तरपश्चिमी भारत में उस समय अनेक छोटे-छोटे यवन राजा राज्य कर

रहे थे। वे सब शकों से परास्त हो गये। सिंध में शकों का अबा-धित शासन स्थापित हो गया। सिंधु नदी के तट पर स्थित मीन नगर को शकों ने अपनी राजधानी बनाया। भारत में यह पहला शक राज्य था। इस समय से सिंध शकों का शक्तिशाली केंद्र बन गया। वहीं से वे भारत के अन्य प्रदेशों में फैलने लगे। एक जैन अनुश्रुति के अनुसार भारत में शकों को बुलाने का श्रेय आचार्य कालक को है। यह जैन आचार्य उज्जैन के रहने वाले थे, वहाँ के राजा गर्दभिल्ल के अत्याचारों से तंग आकर वे सुदूर पश्चिम में पार्थियन साम्राज्य में चले गये, और जब वहाँ के शक्तिशाली सम्राट् मिथ्रदात द्वितीय की दमन नीति के कारण परेशानी अनुभव कर रहे थे, तब उन्हें भारत आने के लिये प्रेरित किया। आचार्य कालक के साथ ये शक सरदार अपनी सेनाओं को लेकर सिंध में प्रविष्ट हुए, और वहाँ उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया। गर्दभिल्ल संभवतः एक ऐसा राजा था जिसने मागध साम्राज्य की निर्बलता से फायदा उठा कर उज्जैन तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया था।

सिंध के बाद शकों ने काठियावाड़ पर आक्रमण किया। वहाँ यवनों का शासन नहीं था। वहाँ अनेक छोटे छोटे गण-राज्य विद्यमान थे, जिनमें सब से मुख्य वृष्णि और कुकुर थे। कृष्ण के नेतृत्व में वृष्णि लोग मथुरा छोड़ कर सुदूर द्वारिका में जा बसे थे। उनका वहाँ का वृष्णिगण इस समय तक भी विद्यमान था। काठियावाड़ के गणराज्य शकों का मुकाबला नहीं कर सके। वे सब परास्त हो गये, और काठियावाड़ तथा दक्षिणी गुजरात शकों के अधिकार में चले गये। अब शकों ने उज्जैनी पर हमला किया। १०० ई० पू० के लगभग प्राचीन अवंति जनपद भी शकों की अधीनता में चला गया।

उज्जैनी का शासन करने के लिये मीन नगर (सिंध) के शक सम्राट् ने अपना एक क्षत्रप (प्रांतीय शासक) नियत किया,जिसका नाम नहपान था यह नहपान एक स्वतंत्र राजा के रूप में शासन करता था, और इसके बहुत से सिक्के व शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। पर इसने अपने को सर्वत्र क्षत्रप ही लिखा है, और निःसंदेह यह शक सम्राट् की अधीनता स्वीकार करता था।

उज्जैन को अधीन कर लेने के बाद शकों ने मथुरा पर आक्रमण किया। मथुरा उस समय मागध साम्राज्य के अंतर्गत था, पर पाटलीपुत्र के निर्बल शुंग राजा शकों का सामना नहीं कर सके। मथुरा उनके हाथ से निकल गया। वहां का शासन करने के लिये दूसरे क्षत्रप की नियुक्ति हुई। जिस प्रकार उज्जैनी के शक क्षत्रप प्रायः स्वतंत्ररूप से शासन करते थे, और उनका एक पृथक् वंश चल गया था, वैसे ही मथुरा में हुआ। वहां का पहला क्षत्रप हगमाश था। मथुरा से शकों ने पंजाब की तरफ अपना राज्य बढ़ाया। वहां के विविध गणराज्यों व यवन राजाओं को परास्त कर उन्होंने प्रायः सम्पूर्ण पूर्वी पंजाब को अपने अधीन कर लिया। वे केवल पूर्वी पंजाब से संतुष्ट नहीं हुए। कुछ समय बाद ही पश्चिमी पंजाब और उससे आगे सुदूर पश्चिम में, गांधार देश में भी शकों की सत्ता स्थापित हो गई। गांधार और पंजाब के सब यवन राज्य और विविध गण, सब शकों की बाढ़ में बह गये। मद्र, केकय और गांधार के सब प्राचीन जनपद अब शकों की अधीनता में आ गये।

शकों के इन हमलों से मागध साम्राज्य बिलकुल छिन्न-भिन्न हो गया था। मथुरा पहले ही उनके हाथ में चला गया था। अब शक क्षत्रपों ने विदिशा को भी जीत लिया। उज्जैन बहुत पहले मागध साम्राज्य से निकल चुका था, अब वहां भी शक्ति-

शाली शक क्षत्रप राज्य कर रहे थे और मागध साम्राज्य के सीमांतों पर उनके निरंतर हमले हो रहे थे। पाटलीपुत्र के शुंगवंशी और बाद में कण्ववंशी राजा शकों के सम्मुख अपने को असहाय अनुभव करते थे। इसी समय सातवाहनों के रूप में भारत में एक ऐसी शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने न केवल शकों से भारत स्वतंत्र किया, अपितु पाटलीपुत्र के निर्बल राजाओं का अंत कर फिर से भारत में एक शक्तिशाली सार्वभौम सत्ता की स्थापना की। निर्बल कण्व राजाओं से पाटलीपुत्र को जीत कर फिर एक बार इन सातवाहनों ने मागध साम्राज्य का उत्कर्ष किया। सातवाहन राजाओं की शक्ति के सामने शक लोग नहीं ठहर सके और लगभग आधी सदी के उत्कर्ष के बाद ही उनकी शक्ति भारत में क्षीण पड़ गई।

राजनीतिक शक्ति के नष्ट हो जाने के बाद भी शक लोग भारत में ही बने रहे। वे आर्य जाति की ही एक शाखा थे। प्राचीन ग्रीक, रोमन और ईरानी लोगों के समान वे भी विशाल आर्य जाति के एक अंग थे, जो देर से सीर नदी की घाटी में बसे हुए थे, और अब परिस्थितियों से विवश होकर भारत में प्रविष्ट हुए थे। भारत में आकर उन्होंने यहाँ की भाषा, धर्म, सभ्यता और संस्कृति को अपना लिया। विविध शकों ने भारत के वैष्णव, शैव, बौद्ध और जैन आदि धर्मों का ग्रहण किया, और भारतीय समाज के ही एक अंग बन गये। उज्जैनी और मथुरा के शक क्षत्रपों के जो बहुत से शिलालेख इस समय उपलब्ध हुए हैं, उनसे यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है, कि भारत में आकर शक लोगों ने भारतीय धर्मों को स्वीकार कर लिया था, और थोड़े ही समय में वे भारतीय आर्यों में घुलमिल गये थे।

चौदहवाँ अध्याय

मगध के सातवाहन और कुशाण राजा

(१) सातवाहनों का अभ्युदय

मौर्य सम्राटों की शक्ति के क्षीण होने पर मागध साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों में जो अनेक राजवंश स्वतंत्र हो गये थे, उनमें सातवाहन वंश सब से अधिक प्रसिद्ध है। इस वंश का मूल अभिजन कर्नाटक के बेल्लारि जिले में था। जाति से वर्णसंकर ब्राह्मण थे। माता की ओर से इनका संबंध नाग या आंध्र लोगों से था। यही कारण है, कि पुराणों में सातवाहन वंश को आंध्रवंश कहा गया है।

सातवाहन वंश के संस्थापक का नाम सिमुक था। उसकी राजधानी महाराष्ट्र में गोदावरी नदी के तट पर प्रतिष्ठान या पैठन थी। नासिक तथा इसके समीप के प्रदेश उसके राज्य में सम्मिलित थे। सिमुक के बाद उसका भाई कृष्ण राजा बना। कृष्ण के बाद उसका पुत्र सातकर्णि राजा हुआ। उसने महाराष्ट्र के एक मुख्य सरदार की कन्या नागनिका के साथ विवाह किया। इससे उसकी सत्ता महाराष्ट्र में बहुत बढ़ गई। सात-कर्णि बड़ा शक्तिशाली राजा था। धीरे-धीरे वह सारे महाराष्ट्र और कर्नाटक का स्वामी हो गया। पश्चिमी घाट के सब प्रदेश व कोंकण के बंदरगाह उसके अधीन थे। सातकर्णि ने अपनी विजयों के उपलक्ष में दो बार अश्वमेध यज्ञ किये। सातकर्णि मगधराज शुंग पुष्यमित्र और कलिंगराज खारवेल का सम-कालीन था। जिस प्रकार शुंग पुष्यमित्र ने उत्तरापथ में अनेक

विजय कर अश्वमेध किये थे, उसी प्रकार सातकर्णि ने दक्षिणापथ के सब प्रदेशों को जीत कर अश्वमेध यज्ञों का आयोजन किया था। खारवेल के साथ भी इसके अनेक युद्ध हुए थे।

सातकर्णि के उत्तराधिकारियों के विषय में लगभग एक शताब्दि तक केवल राजाओं के नाम ही पाये जाते हैं। ये राजा बहुत शक्तिशाली नहीं थे। इनका राज्य दक्षिणापथ तक ही सीमित था। दक्षिणापथ में भी शक लोग इन पर लगातार हमले कर रहे थे। जिस समय उज्जैनी में अपना अधिकार स्थापित कर शक लोगों ने चारों तरफ आक्रमण करने शुरू किये, तो महाराष्ट्र का यह सातवाहन राज्य भी उनसे न बच सका। कोंकण और महाराष्ट्र का उत्तर-पश्चिमी भाग सातवाहनों के हाथ से निकल कर शकों के हाथ में चला गया। सातवाहन राजाओं की शक्ति और भी क्षीण तथा सीमित रह गई।

(२) गौतमीपुत्र सातकर्णि

पर इसी समय में सातवाहन वंश में एक ऐसे वीर पुरुष का अभ्युदय हुआ, जिसने न केवल अपने राजवंश की क्षीण होती हुई शक्ति को पुनरुज्जीवित किया, पर साथ ही शकों को भारत से परास्त कर उनकी राजसत्ता का अंत कर दिया। इस वीर का नाम गौतमीपुत्र सातकर्णि था। इसने जिन प्रदेशों को जीत कर फिर से अपने अधीन किया था, उनमें अश्मक, मूलक, कुकुर, सुराष्ट्र, अनूप, विदर्भ, आकर और अवंति विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। अश्मक बौद्धकाल के सोलह महाजनपदों में से एक था, जिसकी राजधानी पोतन या पोतलि थी। मूलक उसके ठीक उत्तर में था। कुकुर देश प्राचीन समय में एक संघ-राज्य था, और उसकी स्थिति काठियावाड़ के समीप थी। अनूप का प्रदेश नर्मदा नदी की घाटी में था। आकर से विदिशा के

प्रदेश का ग्रहण होता था। इन सब प्रदेशों को विजय कर लेने से गौतमीपुत्र सातकर्णि काठियावाड़ (सुराष्ट्र) से विदिशा (वर्तमान ग्वालियर राज्य में) तक संपूर्ण गुजरात, महाराष्ट्र और मध्यभारत का स्वामी हो गया था। उज्जैनी के शक क्षत्रपों को परास्त कर उनके वहरात वंश का उसने अंत कर दिया था। अवन्ति, विदिशा, अश्मक, विदर्भ आदि जिन प्रदेशों पर उसने विजय प्राप्त की थी, वे सब पहले शक क्षत्रपों के अधीन थे। शकों को परास्त करके ही वह इन प्रदेशों का स्वामी हुआ था। शकों को अवंति विदिशा आदि से निकाल देना इतनी बड़ी घटना थी, कि गौतमीपुत्र सातकर्णि इतिहास में 'शकारि' कहलाया, और विक्रमादित्य की गौरवपूर्ण उपाधि से विभूषित हुआ। इस वीर राजा का शासनकाल ईसा से पूर्व पहली शताब्दि के मध्य में था। भारतीय दंतकथाओं का प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य, जिसके नामसे विक्रम संवत ५७ ई० पू० में प्रारंभ हुआ था, यही सातकर्णि था।

गौतमीपुत्र सातकर्णि के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले बहुत से शिलालेख व सिक्के वर्तमान ऐतिहासिक खोज द्वारा उपलब्ध हुए हैं। इनमें से एक लेख सातकर्णि की माता गौतमी बालश्री का उत्कीर्ण कराया हुआ है। यह राजमाता अपने पौत्र वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के शासनकाल में भी जीवित थी, और अपने पौत्र के शासन के १९ वें वर्ष में उसने यह लेख प्रकाशित कराया था। इस लेख के अनुसार विन्ध्याचल, पारियात्र (पश्चिमी विन्ध्य), सह्य, मलय, सतपुड़ा (सतपुड़ा) और कण्हगिरि (कान्हेरि) पर्वत गौतमीपुत्र सातकर्णि के राज्य के अंतर्गत थे। इनके अतिरिक्त उड़ीसा का महेन्द्र पर्वत भी सातकर्णि के साम्राज्य में था। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि खारवेल के वंशजों के हाथ में अब कलिंग नहीं रह गया था। आन्ध्र के पूर्वी

समुद्रतट पर स्थित इस कलिंग देश को भी सातवाहन वंश ने जीत कर अपने अधीन कर लिया था। यही कारण है, कि राजमाता गौतमी के इस शिलालेख के अनुसार सातकर्णि के घोड़ों ने पश्चिम, दक्षिण तथा पूर्व—तीनों समुद्रों का पानी पिया था। पश्चिम, दक्षिण तथा पूर्व तीनों समुद्रों के बीच का संपूर्ण दक्षिणी भारत सातवाहन साम्राज्य के अधीन था। कलिंग के साथ ही आंध्र देश भी सातकर्णि ने जीत कर अपने अधीन कर लिया था।

गौतमीपुत्र सातकर्णि के साथ संबंध रखने वाली एक जैन अनुश्रुति का भी यहाँ उल्लेख करना उपयोगी है। भरुकच्छ का राजा नहपाण कोष का बड़ा धनी था। दूसरी तरफ प्रतिष्ठान का राजा सातवाहन सेना का धनी था। सातवाहन ने नहपाण पर चढ़ाई की, किन्तु दो वर्ष तक उसकी पुरी को घेरे रहने पर भी वह उसे जीत नहीं सका। भरुकच्छ के पास कोष की कमी नहीं थी, इसलिये वे घिर कर भी अपना काम चलाते रहे। अब सातवाहन ने कूटनीति का आश्रय लिया, जिस प्रकार राजा अजातशत्रु ने चालाकी से अपने अमात्य वर्षकार को वज्जिसंघ में भेज दिया था, इसी प्रकार सातवाहन ने अपने एक अमात्य को उससे रुष्ट होने का नाटय कर उसे निकाल दिया। वह अमात्य भरुकच्छ गया और धीरे-धीरे नहपाण का अमात्य बन गया। उसकी प्रेरणा से नहपाण ने अपना बहुत धन देवमंदिर, तालाब, बावड़ी आदि बनवाने तथा अन्य दान-पुण्य में खर्च कर दिया। अब जब सातवाहन ने भरुकच्छ पर चढ़ाई की,तो नहपाण का कोष खाली था। वह परास्त हो गया और भरुकच्छ भी सातवाहन साम्राज्य में शामिल हो गया।

जैन अनुश्रुति के कालकाचार्य-कथानक के अनुसार जिस राजा विक्रमादित्य ने शकों का संहार किया था वह प्रतिष्ठान

का रहने वाला था। सातवाहन वंश के राजा प्रतिष्ठान के ही रहने वाले थे। यहीं से उनके राजवंश का उद्गम हुआ था। इसमें संदेह नहीं, कि प्रसिद्ध शकारि विक्रमादित्य और सातवाहनवंशी गौतमीपुत्र सातकर्णि एक ही थे, और इस परम प्रतापी राजा ने लगभग ९६ ई० पू० से ४४ ई० पू० तक, कुल ५२ वर्ष तक राज्य किया था।

(३) मागध सम्राट् वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि

गौतमीपुत्र सातकर्णि के बाद उसका लड़का वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि सातवाहन साम्राज्य का स्वामी बना। संपूर्ण मध्य तथा दक्षिणी भारत सातकर्णि के समय में ही सातवाहनों के अधीन हो चुका था। सुदूर दक्षिण में चोल देश पर भी सातवाहन राजा अपना अधिकार कर चुके थे। उनके सिक्के सुदूर दक्षिण में भी बहुत स्थानों पर मिले हैं। चोल मंडल के तट से राजा पुलुमावि के जो सिक्के मिले हैं, उन पर दो मस्तूल वाले जहाज का चित्र बना है। इससे स्पष्ट है, कि सुदूर दक्षिण में जारी करने के लिये जो सिक्के पुलुमावि ने बनवाये थे, वे उसकी सामुद्रिक शक्ति को भी सूचित करते थे। कलिंग से लगाकर चोलमंडल तक का समुद्रतट जीत लेने से सातवाहन राजाओं का सामुद्रिक बेड़े पर भी अधिकार हो गया था, और इसी लिये ये जहाज के चित्र वाले सिक्के विशेष रूप से प्रचलित किये गये थे। इसी समय में भारत के लोग समुद्र पार करके अपने उपनिवेशों की स्थापना करने में तत्पर थे। इस विषय पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

राजा पुलुमावि के समय की सबसे प्रसिद्ध घटना उसकी मगधविजय है। इस समय में पाटलीपुत्र में कण्ववंश के राजाओं का राज्य था। ये राजा निर्बल और शक्तिहीन थे।

अंतिम कण्वराजा का नाम सुशर्मा था। उसका शासनकाल ३८ ई० पू० से २८ ई० पू० तक था। सम्राट् पुलुमायि ने २८ ई० पू० में इस पर आक्रमण किया और पाटलीपुत्र पर अपना अधिकार कर लिया। मगध के समृद्ध पर निर्बल राजा दिग्विजयी सातवाहन आक्रांता के सामने न ठहर सके। इस समय में उत्तरी भारत पर भी सातवाहन वंश का आधिपत्य हो गया। मगध की पुरानी सैनिक शक्ति अब क्षीण हो गई थी। शकों से बार-बार परास्त होकर मागध साम्राज्य अब बलहीन सा हो गया था। जिन वीर सातवाहनों ने इन शकों को परास्त कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया था, उनकी सैनिक शक्ति के सामने ठहर सकना मगध के निर्बल राजाओं के लिये संभव नहीं था।

अब सातवाहन राजा प्रतिष्ठान के सम्राट् होने के साथ-साथ पाटलीपुत्र व मगध के भी सम्राट् हो गये। यही कारण है कि पुराणों में इन सातवाहनों व आंध्र राजाओं का वर्णन मौर्य शुंग और कण्व वंशों के सिलसिले में, उनके बाद पाटलीपुत्र के सम्राटों के रूप में किया गया है। अब सातवाहन राजा प्रायः सारे भारत के एकच्छत्र सम्राट् बन गये थे। उनकी यह स्थिति लगभग एक सदी तक कायम रही। गौतमीपुत्र सातकर्णि विक्रमादित्य ने जिस साम्राज्यविस्तार का प्रारंभ किया था, उसे उसके पुत्र वासिष्ठीपुत्र पुलुमायि ने पूरा किया। इन सातवाहन राजाओं ने उज्जैनी को अपनी राजधानी बनाया था। प्रतिष्ठान से प्रारंभ कर, अब ये उज्जैनी से अपने विशाल साम्राज्य का शासन करते थे। पाटलीपुत्र की श्री इस समय उज्जैनी के सम्मुख फीकी पड़ गई थी। सम्राट् पुलुमायि का शासन काल २८ ई० पू० से २ ई० पू० तक था।

(४) मगध के अन्य सातवाहन राजा

पुलुमायि के बाद कृष्ण द्वितीय सातवाहन साम्राज्य का

स्वामी हुआ। इसने कुल २५ वर्ष तक (८ ई० पू० से १५ ई० पू० तक) राज्य किया। इसके बाद हाल राजा हुआ। प्राकृत भाषा के साहित्य में इस राजा हाल का बड़ा महत्त्व है। वह प्राकृत भाषा का उत्कृष्ट कवि था, और अनेक कवि व लेखक इसके आश्रय में रहते थे। हाल की लिखी हुई गाथासप्तशती प्राकृत भाषा की एक प्रसिद्ध पुस्तक है। राजा हाल का दरबार साहित्य और संस्कृति का बड़ा आश्रयस्थान था। इस के संरक्षण और प्रोत्साहन से प्राकृत साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। प्राकृत भाषा का प्रसिद्ध ग्रंथ 'बृहत्कथा' भी इसी समय के लगभग लिखा गया।

हाल के बाद क्रमशः पत्तलक, पुरिकसेन, स्वाति और स्कंदस्वाति सातवाहन साम्राज्य के राजा हुए। इन चारों का कुल शासनकाल ५१ वर्ष था। राजा हालने १७ ई० से २१ तक चार साल राज्य किया था। स्कंद स्वाति के शासन का अंत ७२ ई० में हुआ। इन राजाओं के समय की कोई ऐतिहासिक घटना हमें ज्ञात नहीं है। पर इतना निश्चित है, कि इनके समय में सातवाहन साम्राज्य अक्षुण्ण रूप में बना रहा। स्कंदस्वाति के बाद महेन्द्र सातकर्णि राजा बना। इसी महेन्द्र को मंबर के नाम से पेरिप्लस में सूचित किया गया है। प्राचीन पाश्चात्य संसार के इस भौगोलिक यात्राग्रंथ में भरुकच्छ के बंदरगाह से शुरू करके मंबर द्वारा शासित आर्यदेश का उल्लेख किया गया है।

महेन्द्र सातकर्णि के बाद कुन्तल सातकर्णि (७५ ई० से ८३ ई० तक) राजा बना। इसके समय में फिर विदेशियों के आक्रमण भारत में प्रारंभ हो गये। जिन युइशि लोगों के आक्रमणों से, शक लोग सीर नदी की घाटी के अपने पुराने निवासस्थान को छोड़ कर आगे बढ़ने के लिये विवश हुए थे, वे ही

कालांतर में हिंदुकुश के पश्चिम में प्राचीन 'कंबोज' जनपद में बस गये थे। वहाँ के यवन निवासियों के संपर्क से युइशि लोग भी धीरे-धीरे सभ्य हो गये थे और उन्नति के मार्ग पर बढ़ने लगे थे। जिस समय राजा वासिष्ठीपुत्र पुलुमायि ने कण्व वंश का अंत कर मगध पर विजय की, लगभग उसी समय इन युइशियों में एक वीर पुरुष का उत्कर्ष हुआ, जिसका नाम कुशाण था। इस समय तक युइशियों के पाँच छोटे-छोटे जनपद थे। कुशाण ने उन सब को जीत कर एक सूत्र में संगठित किया और युइशियों के एक शक्तिशाली राज्य की नींव डाली। युइशियों को संगठित करके ही कुशाण संतुष्ट नहीं हुआ. धीरे-धीरे उसने अफगानिस्तान और तक्षशिला तक गांधार राज्य को भी जीत कर अपने अधीन कर लिया।

कुशाण के बाद उसका पुत्र विम युइशि साम्राज्य का स्वामी बना। वह ३५ ईस्वी के लगभग राजगद्दी पर बैठा था। उसने युइशि साम्राज्य को और विस्तृत किया। पंजाब को अपने अधीन कर उसने मथुरा पर आक्रमण किया। मथुरा परास्त हो गया। उत्तर-पश्चिमी भारत सातवाहनों के साम्राज्य से निकल कर युइशि या कुशाण साम्राज्य के अधीन हो गया। विम ने यह राज्य-विस्तार उस समय में किया, जब कि उज्जैनी के राजसिंहासन पर राजा हाल के उत्तराधिकारी, जिनके हमें केवल नाम ही उपलब्ध होते हैं, विराजमान थे। संभवतः वे राजा इतने प्रतापी नहीं थे, कि विम की प्रतापी सेनाओं का सामना कर सकते। परिणाम यह हुआ कि सातवाहन साम्राज्य का ह्रास और कुशाणों के उत्कर्ष का प्रारंभ हुआ। विम स्वयं हिंदुकुश के उत्तर-पश्चिम में कंबोज देश में रहता था, भारत के जीते हुए प्रदेश में उसके क्षत्रप राज्य करते थे।

युइशि लोग शकों से भिन्न थे। पर भारत की प्राचीन ऐतिहा-

लिक अनुश्रुति में उन्हें स्थूलरूप से शक ही कह दिया गया है। सातवाहन राजाओं ने देर तक 'शकों' के इन नवीन आक्रमणों को सहन नहीं किया। शीघ्र ही उनमें एक द्वितीय विक्रमादित्य का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने कि इन अभिनव शकों को परास्त कर दूसरी बार शकारि की उपाधि ग्रहण की। इस प्रतापशाली राजा का नाम कुन्तल सातकर्णि था। इसने मुलतान के समीप युइशि राजा विम की सेनाओं को परास्त कर एक बार फिर सातवाहन साम्राज्य का गौरव बढ़ाया।

विक्रमादित्य द्वितीय बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसकी रानी का नाम मलयवती था। वात्स्यायन के कामसूत्र में उसका उल्लेख आता है। कुन्तल सातकर्णि (विक्रमादित्य द्वितीय) के राज-दरबार में गुणाढ्य नाम का प्रसिद्ध लेखक व कवि रहता था, जिसने कि प्राकृत भाषा का प्रसिद्ध ग्रंथ बृहत्कथा लिखा था। सातवाहन राजा प्राकृत भाषा बोलते थे, पर कुन्तल सातकर्णि की रानी मलयवती की भाषा संस्कृत थी। राजा सातकर्णि इसे भलीभांति समझ नहीं सकता था। परिणाम यह हुआ, कि उसने संस्कृत सीखनी प्रारंभ की, और उसके अमात्य सर्ववर्मा ने सरल रीति से संस्कृत सिखाने के लिये कातन्त्र व्याकरण की रचना की। इस व्याकरण से राजा विक्रमादित्य इतना प्रसन्न हुआ, कि उसने पुरस्कार के रूप में भरुकच्छ प्रदेश का शासन सर्ववर्मा को दे दिया।

गुणाढ्यलिखित बृहत्कथा इस समय उपलब्ध नहीं होती पर सोमदेव द्वारा किया हुआ उसका संस्कृत रूपांतर कथा सरित्सागर इस समय प्राप्तव्य है। यह बृहत्कथा का अक्षरानुवाद न होकर साररूप से अनुवाद है। कथासरित्सागर प्राचीन संस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है, जिसमें प्राचीन समय की बहुत सी कथायें संगृहीत हैं। बृहत्कथा के आधार पर लिखा

हुआ एक और ग्रंथ क्षेमेंद्रविरचित बृहत्कथामंजरी भी इस समय उपलब्ध है। बृहत्कथा का एक तामिल अनुवाद दक्षिण भारत में भी मिलता है। कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी के लेखक काश्मीर के निवासी थे, और उनमें से सोमदेव ने अपना ग्रंथ काश्मीर की रानी सूर्यमती की प्रेरणा से लिखा था। इस प्रकार सातवाहन सम्राट् के आश्रय में कवि गुणाढ्य द्वारा लिखी गई बृहत्कथा उत्तर में काश्मीर से लगाकर दक्षिण में तामिल संस्कृति के केंद्र मदुरा तक प्रचलित हो गई। यह सातवाहन साम्राज्य के वैभव का ही परिणाम था, कि उसके केंद्र में लिखी गई इस बृहत्कथा की कीर्ति सारे भारत में विस्तीर्ण हो गई।

गुणाढ्य रचित बृहत्कथा के आधार पर लिखे गये संस्कृत ग्रंथ कथासरित्सागर के अनुसार विक्रमादित्य द्वितीय का साम्राज्य संपूर्ण दक्षिण, काठियावाड़, मध्यदेश, बंग, अंग, और कलिंग तक विस्तृत था, तथा उत्तर के सब राजा, यहाँ तक कि काश्मीर के राजा भी, उसके करद थे। अनेक दुर्गों को जीत कर म्लेच्छों (शक व युइशि) का उसने संहार किया था। म्लेच्छों के संहार के बाद उज्जैनी में एक बड़ा उत्सव किया गया, जिसमें गौड़, कर्नाटक, लाट, काश्मीर, सिंध आदि के अधीनस्थ राजा सम्मिलित हुए। विक्रमादित्य का एक बहुत शानदार जुलूस निकला, जिसमें इन सब राजाओं ने भाग लिया।

इस प्रकार कुंतल सातकर्णि एक बड़ा प्रतापी राजा हुआ। युइशियों को परास्त कर उसने प्रायः सारे भारत में एक अखंड साम्राज्य कायम रखा।

कुंतल सातकर्णि के बाद सुंदर सातकर्णि ने एक वर्ष और फिर वासिष्ठीपुत्र पुलोमावि द्वितीय ने चार वर्ष तक राज्य किया। इनके शासनकाल की कोई घटना हमें ज्ञात नहीं है। संभवतः इनके समय में सातवाहन साम्राज्य की शक्ति क्षीण होनी प्रारंभ

हो गई थी और बसंत दिगंत में विपत्ति के बादल फिर उमड़ने शुरू हो गये थे। इन राजाओं के बहुत थोड़े-थोड़े समय तक राज्य करने से यह भी प्रतीत होता है कि सातवाहन साम्राज्य की आंतरिक दशा भी इस समय बहुत दृढ़ नहीं रही थी।

(५) मगध में सातवाहन शासन का अंत

विक्रमादित्य द्वितीय ने शकराज विम को परास्त तो कर दिया, पर सातवाहनों की यह शक्ति देर तक कायम नहीं रही। युइशि साम्राज्य में विम का उत्तराधिकारी कनिष्क था, वह बड़ा प्रतापी और महत्वाकांक्षी राजा था। उसने युइशि शक्ति को पुनः संगठित कर सातवाहन साम्राज्य पर फिर आक्रमण किया। समीप के अन्य राजाओं से भी उसने इस कार्य में सहायता ली। खोतन के राजा विजयसिंह के पुत्र विजयकीर्ति और कुछ अन्य राजाओं को साथ ले उसने भारत की ओर प्रस्थान किया। विक्रमादित्य द्वितीय के निर्बल उत्तराधिकारी इनका सामना नहीं कर सके। बात की बात में काश्मीर व पंजाब के प्रदेश कनिष्क के अधिकार में आ गये। किसी विशेष बाधा के बिना ही यह नई म्लेच्छ सेना साकेत (अयोध्या) तक पहुँच गई। अयोध्या से आगे बढ़ वह पाटलीपुत्र पहुँच गया। वहाँ का राजा कनिष्क की प्रबल शक्ति के सम्मुख असहाय था। वह परास्त हो गया। हरजाने के रूप में भगवान बुद्ध का कमंडलु और अश्वघोष नाम के बौद्ध विद्वान को साथ लेकर कनिष्क पश्चिम को वापस लौट गया। कनिष्क बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उस समय भारत के धर्म दूर-दूर तक फैल चुके थे। राजा कुशाण भी बौद्ध था, और राजा विम शैव धर्म को मानने वाला था। शक और युइशि लोग प्राचीन आर्य मर्यादा के अनुसार चाहे म्लेच्छ हों, पर उन्होंने भारतीय धर्मों की दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

अब मगध से सातवाहन साम्राज्य का अंत हो गया था। न केवल मगध, अपितु, प्राय: सारा उत्तरी भारत सातवाहनों के हाथ से निकल कर कनिष्क के साम्राज्य में सम्मिलित हो गया था। कनिष्क के सिक्के उत्तरी भारत में रांची (बिहार प्रांत में) तक से पाये गये हैं, और उसके शिलालेख पेशावर से शुरू कर मथुरा और सारनाथ तक उपलब्ध हुए हैं। इसमें संदेह नहीं, कि ये सब प्रदेश अब कनिष्क के साम्राज्य में सम्मिलित थे। इन नये जीते हुए प्रदेशों का शासन करने के लिये कनिष्क ने दो क्षत्रप नियत किये, मथुरा में खरपल्लान और पाटलीपुत्र में वनस्पर। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार आंध्र सातवाहनों के बाद मगध में वनस्पर का शासन हुआ था। यह वनस्पर कनिष्क द्वारा नियत क्षत्रप ही था।

उत्तरी भारत पर कनिष्क का आक्रमण ८० ई० के लगभग हुआ था। इस समय से मगध तथा उत्तरी भारत के अन्य प्रदेशों में सातवाहनों का राज्य समाप्त हो गया। यह वंश इसके बाद भी देर तक दक्षिणापथ में राज्य करता रहा। सातवाहन राजाओं के कुशाण व युइशि सम्राटों से बाद में भी बहुत से युद्ध हुए। पर वे मगध पर फिर कभी अपना अधिकार स्थापित करने में समर्थ नहीं हुए।

(६) नया पुष्पपुर

पाटलीपुत्र को जीत कर कनिष्क ने अपने अधीन कर लिया था। अपने प्राचीन गौरव के कारण यही नगरी कनिष्क के विशाल साम्राज्य की राजधानी होनी चाहिये थी। पाटलीपुत्र का राजा ही भारत भर का सम्राट् होता था। पर चीन की सीमा तक विस्तृत कनिष्क के साम्राज्य के लिये पाटलीपुत्र उपयुक्त राजधानी नहीं थी। अतः उसने नये कुसुमपुर (पाटलीपुत्र)

की स्थापना की, और उसे पुष्पपुर नाम दिया। यही आजकल का पेशावर है।

पुष्पपुर में कनिष्क ने बहुत सी इमारतें बनवाईं। इनमें सब से मुख्य एक स्तूप था, जो चार सौ फुट ऊंचा था। इसमें तेरह मंज़िलें थीं। जब प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युएनत्सांग महाराज हर्षवर्धन के समय (सातवीं सदी) भारतभ्रमण को आया था, तो इस विशाल स्तूप को देख कर आश्चर्य में आगया था। कुसुमपुर के मुकाबले में कनिष्क ने पुष्पपुर को विद्या, धर्म तथा संस्कृति का भी केंद्र बनाया। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष को वह पाटलीपुत्र से ले ही आया था। बहुत से अन्य विद्वान भी इसके राजदरबार में आश्रय पाये हुए थे। इनमें आचार्य चरक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह अपने समय का सबसे बड़ा वैद्य था, और इसकी लिखी चरकसंहिता आज तक भी आयुर्वेद के ग्रंथों में परम उत्कृष्ट गिनी जाती है।

बौद्ध धर्म के प्रमुख संप्रदाय महायान का विकास मुख्य तौर पर कनिष्क के समय में ही हुआ। बौद्ध धर्म के इतिहास में अशोक के बाद कनिष्क का नाम सबसे प्रमुख है। उसने अशोक के समान ही बौद्ध धर्म की सेवा करने तथा उसे देश-देशांतरों में फैलाने के लिये विशेष उद्योग किया। उसने सैकड़ों स्तूप, चैत्य और विहारों का निर्माण कराया। उसी के आश्रय में बौद्ध धर्म की चौथी महासभा (समिति) काश्मीर की राजधानी श्रीनगर के समीप कुण्डलवन विहार में हुई। इसमें ५०० विद्वान भिक्खु एकत्रित हुए। आचार्य अश्वघोष, व उनके गुरु पार्श्व तथा वसुमित्र ने इस महासभा में प्रमुख भाग लिया। इस महासभा में बौद्ध त्रिपिटक का 'महाविभाषा' नाम का भाष्य तैयार किया गया। उसे ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराया गया और इस संपूर्ण विशाल ग्रंथ को ताम्रपत्र पर लिख कर एक स्तूप के आधार

में स्थापित किया गया। दुर्भाग्य से ताम्रपत्रों पर लिखे इस विशाल ग्रंथ का अभी तक पता उपलब्ध नहीं हुआ है, यद्यपि चीन में इसका चीनी अनुवाद मिल चुका है। महायान संप्रदाय की यह प्रामाणिक पुस्तक है। भारत के उत्तरी देशों में इसी महायान संप्रदाय का प्रचार हुआ था।

कनिष्क के उत्तराधिकारी वासिष्क, हुविष्क, कनिष्क द्वितीय और वासुदेव थे। इनके समय में कुशाण व युइशि साम्राज्य प्रायः अक्षुण्ण बना रहा। इन सम्राटों के सातवाहन राजाओं से प्रायः युद्ध होते रहे, पर दक्षिण में अपनी स्वतंत्र सत्ता कायम रखने में सातवाहन राजा सफल रहे। कुशाण वंश के अंतिम राजा वासुदेव ने १५२ ई० से १७६ ई० तक राज्य किया। पाटलीपुत्र इन सम्राटों के समय में अपना गौरवपूर्ण पद खो चुका था, उसकी स्थिति एक प्रांतीय नगर की सी रह गई थी, जहाँ कुशाणों द्वारा नियुक्त क्षत्रप शासन करते थे। वनस्पर के बाद पाटलीपुत्र के क्षत्रप कौन नियुक्त हुए, इसका परिचय हमें नहीं है।

इस समय पाटलीपुत्र (कुसुमपुर) का गौरवपूर्ण स्थान पुरुषपुर ने ले लिया था, जो न केवल राजनीतिक शक्ति का, अपितु विद्या, धर्म और संस्कृति का भी सर्वप्रधान केंद्र था। सारे कुशाण शासन में, पहली और दूसरी शताब्दियों में, पाटलीपुत्र की स्थिति पेशावर के सम्मुख हीन बनी रही। पर कुशाण साम्राज्य के पतन के साथ ही पाटलीपुत्र ने अपने विलुप्त गौरव को फिर प्राप्त कर लिया।

— —

पन्द्रहवाँ अध्याय

भारशिव और वाकाटक वंश

(१) कुशाण साम्राज्य का पतन

हम पहले लिख चुके हैं, कि ६० ई० के लगभग कुशाणवंशी सम्राट् कनिष्क ने लगभग सारे उत्तरी भारत को जीत कर अपने अधीन कर लिया था। पाटलीपुत्र भी इस समय सातवाहन वंश के स्थान पर कुशाणों के हाथ में चला गया था। कुशाण साम्राज्य की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी, और पाटलीपुत्र पर शासन करने के लिये क्षत्रप वनस्पर नियुक्त किया गया था। एक पुरानी अनुश्रुति के अनुसार नपुंसकों की सी आकृतिवाले पर युद्ध में विष्णु के समान बली इस महासत्त्व विश्वस्फूर्ति (वनस्पर) ने सब राजाओं का उत्सादन कर कैवर्त, पंचकान पुलिन्द, मद्रक, आदि दूसरे नीच वर्णों को पार्थिव बनाया। अधिकांश प्रजा को उसने ब्राह्मणों का विरोधी बना दिया। क्षत्र को उखाड़ कर उसने नया क्षत्र बनाया और जाह्नवी तीर पर देवों और पितरों का भलीभाँति तर्पण कर सन्यास ले शरीर छोड़ स्वर्ग को सिधारा। इस अनुश्रुति के अनुसार वनस्पर बड़ा प्रतापी शासक था। पुराने क्षत्रियों और ब्राह्मणों के लिये यह स्वाभाविक था, कि वे उसका आदर न करते। वह नपुंसकों की सी शकल वाला (संभवतः, मंगोल खून के कारण दाढ़ी मूँछ से रहित) म्लेच्छ यदि ब्राह्मणों और क्षत्रियों की सद्भावना न प्राप्त कर सका हो, तो इसमें क्या आश्चर्य है। पर कैवर्त आदि नीचे समझे जाने वाले लोगों को राज्यपद (पार्थिव

बना) देकर उसने नया क्षत्र (शासक वर्ग) उत्पन्न कर दिया, और जनता में ब्राह्मणों के लिये श्रद्धा उत्पन्न कर दी। वह स्वयं भारतीय धर्मपरम्परा का अनुयायी हो गया था, जैसा कि उस काल के सभी शक, यवन, तुखार आदि म्लेच्छ लोगों की प्रवृत्ति थी। इसी लिये आर्यमर्यादा का अनुसरण करते हुए, अंत में संन्यास ले उसने शरीर का त्याग किया था।

वनस्पर के बाद जो व्यक्ति पाटलीपुत्र के महाक्षत्रप बने, उनके नाम हमें ज्ञात नहीं है। पर इसमें संदेह नहीं, कि लगभग एक शताब्दी तक वनस्पर के उत्तराधिकारी महाक्षत्रप पाटलीपुत्र को राजधानी बना कर उत्तरी भारत में राज्य करते रहे, कुशाणों का संघर्ष सातवाहन राजाओं के साथ चलता रहा, पर उत्तरी भारत में उनका शासन निर्विघ्न रूप से जारी रहा। इस कुशाण साम्राज्य की सीमा पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक थी।

पर दूसरी सदी ईस्वी के अंत होते-होते कुशाण साम्राज्य का पतन प्रारंभ हो गया। कुशाणों के शासन को उत्तरी भारत से नष्ट करने का श्रेय दो शक्तियों को है, एक तो यौधेय आदि गणराज्यों को और दूसरा कांतिपुरी के नाग भारशिव राजाओं को। कुशाण साम्राज्य के विकास से पूर्व ही, मागध सम्राटों की निर्बलता से लाभ उठाकर यौधेय गण ने अपनी स्वाधीनता कायम कर ली थी। पर कनिष्क ने इन्हें अपने अधीन किया और इनका प्रदेश कुशाण साम्राज्य के अंतर्गत हो गया। पर दूसरी सदी ईस्वी के मध्य भाग में यौधेयों ने फिर अपना सिर ऊंचा किया। पर वे अपनी स्वतंत्रता को देर तक कायम नहीं रख सके। शक महाक्षत्रप रुद्रदामन ने उन्हें परास्त किया। रुद्रदामन ने बड़े अभिमान के साथ अपने एक शिलालेख में यह लिखा है कि किस प्रकार उसने सब क्षत्रियों में बलशाली यौधेयों को परास्त किया था। पर कुछ ही समय के बाद यौधेय

लोगों ने फिर विद्रोह का झंडा खड़ा किया। दूसरी सदी के समाप्त होने से पूर्व ही वे फिर स्वतंत्र हो गये। कुशाणों की शक्ति के मुकाबले में स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेना सुगम बात नहीं थी। कुशाणों का साम्राज्य वंक्षु से बंगाल की खाड़ी तक विस्तृत था। महाक्षत्रप रुद्रदामन उन्हीं की ओर से नियुक्त शासक था। इतने शक्तिशाली साम्राज्य को परास्त कर देना एक गणराज्य के लिये बड़े अभिमान की बात थी। इसी के उपलक्ष में उन्होंने अपने नये सिक्के प्रचलित किये, जिन पर 'यौधेयगणस्य जय' उत्कीर्ण कराया गया। इन सिक्कों पर कार्त्तिकेय का चित्र भी दिया गया। कार्त्तिकेय देवताओं का सेनापति माना गया है। यौधेयों ने जो विजय प्राप्त की थी, वह देवताओं के ही योग्य थी। जनता का विश्वास था, कि यौधेयों को विजय का एक मंत्र आता है, इसी लिये उनके लिये 'विजयमन्त्र धराणाम्' यह विशेषण दिया गया है। बिना किसी विशेष मंत्र या जादू के केवल बाहुबल से इतने शक्तिशाली कुशाण साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर के स्वतंत्रता कैसे प्राप्त की जा सकती थी। कुशाणों के विरुद्ध इस विद्रोह में कुणिन्द आर्जुनायन आदि अन्य गणराज्यों ने भी यौधेयों का साथ दिया था। ये सब गण इस समय स्वतंत्र हो गये थे, और संभवतः, उन्होंने यौधेयों के साथ मिल कर एक संघ बना लिया था। उत्तर में अंबाला और देहरादून से आरंभ कर उत्तरी राजपूताना तक इस संघ का राज्य था। इन गणों का स्वतंत्र शासन चौथी सदी के प्रारंभ तक कायम रहा। लगभग डेढ़ सदी तक ये शक्तिशाली गण बड़ी शान के साथ कायम रहे। इनके प्रमुख महाराज—महासेनापति कहलाते थे, और उसे संपूर्ण गण निर्वाचित करता था।

जिस प्रकार पूर्वी पंजाब में यौधेयों ने कुशाण साम्राज्य का अन्त किया, वैसे ही वर्तमान संयुक्तप्रान्त, ग्वालियर और पूर्वी

के प्रदेशों में भारशिव राजाओं द्वारा कुशाणों की शक्ति की हानि भी हुई। कुछ समय और पीछे तीसरी सदी के उत्तरार्ध में पाटलीपुत्र से भी कुशाण क्षत्रपों के शासन का अंत संभवत: इन्हीं भारशिव नागों द्वारा किया गया।

(२) भारशिव वंश

मागध साम्राज्य के निर्बल हो जाने पर भारत के विविध प्रदेशों में जो अनेक राजवंश स्वतन्त्र हो गये थे, उनमें विदिशा का नागवंश भी एक था। बाद में यह वंश पहले शकों की और फिर कुशाणों की अधीनता में चला गया। जब यौधेयों द्वारा कुशाणों के विरुद्ध विद्रोह करने से जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उससे लाभ उठा कर नागों ने अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारम्भ किया। ग्वालियर के समीप पद्मावती को उन्होंने अपना केंद्र बनाया; और वहाँ से बढ़ते-बढ़ते कौशांबी से मथुरा तक के सारे प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। इस प्रदेश में उस समय कुशाणों का राज्य था। उन्हें परास्त कर नाग राजाओं ने अपने स्वतंत्र राज्य की नींव डाली। बाद में नाग लोग पूर्व की तरफ और आगे बढ़े। मिर्जापुर जिले में विद्यमान कांतिपुरी को उन्होंने राजधानी बना लिया और गंगा नदी के आस-पास के प्रदेश को बहुत दूर तक विजय कर लिया।

ये नाग राजा शैव धर्म को मानने वाले थे। उनके किसी प्रमुख राजा ने शिव को प्रसन्न करने के लिये धार्मिक अनुष्ठान करते हुए शिवलिंग को अपने सिर पर धारण किया था, इसीलिये भारशिव कहलाने लगे थे। इसमें संदेह नहीं कि शिव के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के लिये ये राजा निशान के रूप में शिवलिंग को सिर पर रखते थे। इस प्रकार की एक मूर्ति भी उपलब्ध हुई है, जो इस अनुश्रुति की पुष्टि

करती है। नवनाग (दूसरी सदी के मध्य में) से भवनाग (तीसरी सदी के अंत में) तक इनके कुल सात राजा हुए जिन्होंने अपनी विजयों के उपलक्ष में काशी में दस बार अश्वमेध यज्ञ किया। सम्भवतः इन्हीं दस यज्ञों की स्मृति काशी के दशाश्वमेध घाट के रूप में अब भी सुरक्षित है। भारशिव राजाओं का साम्राज्य पश्चिम में मथुरा से पूर्व में काशी से भी कुछ परे तक अवश्य विस्तृत था। इस सारे प्रदेश में बहुत से स्थानों पर इनके सिक्के पाये जाते हैं। गंगा-यमुना के प्रदेश का कुशाण शासन से उद्धार करने के कारण गंगा-यमुना को ही इन्होंने अपना राजचिन्ह बनाया था। गंगा-यमुना के जल से अपना राज्याभिषेक कर इन राजाओं ने बहुत काल बाद इन पवित्र नदियों के गौरव का पुनरुद्धार किया था।

भारशिव राजाओं में सबसे प्रसिद्ध राजा वीरसेन था। कुशाणों को परास्त कर अश्वमेध यज्ञों का संपादन इसी ने किया था। संयुक्तप्रांत के फर्रुखाबाद जिले में एक शिलालेख भी मिला है, जिसमें इस प्रतापी राजा का उल्लेख है। संभवतः इसने एक नये संवत् का भी प्रारंभ किया था।

गंगा-यमुना के प्रदेश के कुशाण शासन से विमुक्त हो जाने के बाद भी कुछ समय तक पाटलीपुत्र पर महाक्षत्रप वनस्पर के उत्तराधिकारियों का शासन जारी रहा। वनस्पर के वंश को पुराणों में मुरुण्ड वंश कहा है। इस मुरुण्ड वंश में कुल १३ राजा या क्षत्रप हुए, जिन्होंने पाटलीपुत्र पर राज्य किया। २४४ ई० के लगभग फूनान उपनिवेश का एक राजदूत पाटलीपुत्र में आया था। उस समय यहाँ मुरुन (मुरुण्ड) राजा का शासन था। पाटलीपुत्र के उस मुरुन राजा ने यु शि देश के चार घोड़ों के साथ अपने राजदूत को फूनान भेजा था। मुरुण्ड शब्द का अर्थ स्वामी या शासक है। यह कुशाण के सदृश ही

शासक अर्थ में प्रयुक्त होता है। पाटलीपुत्र के ये कुषाण क्षत्रप मुरुण्ड ही कहलाते थे।

२८० ई० के लगभग पाटलीपुत्र से भी कुषाणों का शासन समाप्त हुआ। इसका श्रेय वाकाटक वंश के प्रवर्तक विन्ध्यशक्ति को है। पर इस समय तक वाकाटक लोग भारशिवों के सामन्त थे। भारशिव राजाओं की प्रेरणा से ही विन्ध्यशक्ति ने पाटलीपुत्र से मुरुण्ड शासकों का उच्छेद कर उसे कांतिपुर के साम्राज्य के अंतर्गत कर लिया था। मगध को जीत लेने के बाद भारशिवों ने और अधिक पूर्व की तरफ भी अपनी शक्ति का विस्तार किया। अंग देश की राजधानी चंपा भी बाद में उनकी अधीनता में आ गई। वायुपुराण के अनुसार नागराजाओं ने चंपापुरी पर भी राज्य किया था।

पर मगध और चंपा के भारशिव लोग देर तक शासन नहीं कर सके। जिस प्रकार पूर्वी पंजाब में यौधेय, आर्जुनायन आदि गण स्वतंत्र हो गये थे, वैसे ही उत्तरी बिहार में इस काल की अव्यवस्था से लाभ उठा कर लिच्छवि गण ने फिर से अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी। यौधेयों के सदृश लिच्छवि गण भी इस समय बड़ा शक्तिशाली हो गया था। कुछ समय पीछे लिच्छवियों ने पाटलीपुत्र को जीत कर अपने अधीन कर लिया। पुराणों में मुरुण्डों के साथ पाटलीपुत्र के शासकों में वृषलों को भी परिगणित किया गया है। संभवतः ये वृषल व्रात्य लिच्छवि ही थे। व्रात्य मौर्यों को विशाखदत्त ने वृषल कहा है। इसी प्रकार व्रात्य लिच्छवियों को पुराणों के इस प्रकरण में वृषल कह कर निर्दिष्ट किया गया है।

(३) वाकाटक वंश

हम ऊपर लिख चुके हैं कि वाकाटक विन्ध्यशक्ति भार-

शिव नागों का सामंत था। उसके पुत्र का नाम प्रवरसेन था। भारशिव राजा भवनाग की इकलौती लड़की प्रवरसेन के पुत्र गौतमीपुत्र को ब्याही थी। इस विवाह से गौतमीपुत्र के जो पुत्र हुआ, उसका नाम रुद्रसेन था। क्योंकि भवनाग के कोई पुत्र नहीं था, अतः उसका उत्तराधिकारी उसका दौहित्र रुद्रसेन ही था। गौतमीपुत्र की मृत्यु प्रवरसेन के जीवनकाल में ही हो गई थी अतः रुद्रसेन जहाँ अपने पितामह के राज्य का उत्तराधिकारी था, वहाँ साथ ही अपने नाना का विशाल साम्राज्य भी उसी के हाथ में आता था। धीरे-धीरे भारशिव और वाकाटक राज्यों का शासन एक हो गया। रुद्रसेन के संरक्षक रूप में प्रवरसेन ने वाकाटक और भारशिव दोनों वंशों के राज्यों के शासनसूत्र को अपने हाथ में ले लिया।

यह प्रवरसेन बड़ा शक्तिशाली राजा हुआ है। इसने चारों दिशाओं में दिग्विजय कर के चार बार अश्वमेध यज्ञ किये, और वाजपेय यज्ञ करके सम्राट् का गौरवमय पद प्राप्त किया। प्रवरसेन की विजयों का मुख्य क्षेत्र मालवा, गुजरात और काठियावाड़ था। बंगाल और उत्तरी भारत से कुशाणों का शासन इस समय तक समाप्त हो चुका था। पर गुजरात, काठियावाड़ में अभी तक भी कुशाणों के महाक्षत्रप राज्य कर रहे थे। प्रवरसेन ने इनका अंत किया। यही उसके शासनकाल की सब से महत्वपूर्ण घटना है। गुजरात और काठियावाड़ के महाक्षत्रपों को प्रवरसेन ने चौथी सदी के प्रारंभ में परास्त किया था।

३३५ ई० के लगभग प्रवरसेन की मृत्यु के बाद उसका पोता रुद्रसेन वाकाटक राजगद्दी पर बैठा। अपने नाना भारशिव भवनाग की इसे बड़ी सहायता थी। प्रवरसेन के तीन अन्य पुत्र भी थे जो उसके राज्य में प्रांतीय शासकों के रूप में शासन

करते थे। संभवतः प्रवरसेन की मृत्यु के बाद इन्होंने स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया। पर भवनाग की सहायता से रुद्रसेन अपने साम्राज्य को अक्षुण्ण रखने में सफल हुआ। भवनाग की मृत्यु के बाद रुद्रसेन भारशिव राज्य का भी स्वामी हो गया। वर्तमान संयुक्त-प्रान्त, मध्यभारत, मालवा, दक्खन, गुजरात और काठियावाड़—ये सब प्रदेश इस समय वाकाटक साम्राज्य में सम्मिलित थे। पर रुद्रसेन के शासन-काल के अंतिम भाग में गुजरात काठियावाड़ में फिर शक महाक्षत्रपों का राज्य हो गया। रुद्रदामन द्वितीय ने वहाँ फिर से शक कुशाण शासन की स्थापना की और स्वयं महाक्षत्रप रूप में शासन करना प्रारंभ किया। संभवतः अपने चाचाओं के साथ संघर्ष करने के कारण वाकाटक राजा रुद्रसेन की शक्ति कमजोर पड़ गई थी, और वह गुजरात काठियावाड़ जैसे सुदूरवर्ती प्रदेश को अपनी अधीनता में नहीं रख सका था।

रुद्रसेन के बाद पृथिवीसेन (३६० से ३८० ई० तक) वाकाटक राजा बना। इसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय था। इस समय पाटलीपुत्र के गुप्त सम्राट् अपनी शक्ति का विस्तार करने में व्याप्त थे। गुप्त सम्राटों की यह प्रबल इच्छा थी कि गुजरात काठियावाड़ से शक-महाक्षत्रपों के शासन का अंत कर भारत को कुशाण आधिपत्य से सर्वथा मुक्त कर दिया जाय। वाकाटक राजा इस कार्य में उनके सहायक हो सकते थे। क्योंकि इनके राज्य की सीमा शक महाक्षत्रपों के राज्य से मिलती थी। वाकाटक राजा इस समय तक किसी न किसी रूप में गुप्त सम्राटों की अधीनता स्वीकार कर चुके थे. यद्यपि शक्तिशाली सामंतों के रूप में अपने राज्य पर उनका पूरा अधिकार था। शकों को पराजित करने में वाकाटकों की पूरी सहायता प्राप्त करने के लिए गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने यह उपयोगी समझा, कि

उनके साथ और भी घनिष्ठ मैत्री का संबंध स्थापित किया जावे। संभवतः इसीलिये उसने अपनी कन्या प्रभावती गुप्त का विवाह रुद्रसेन द्वितीय के साथ कर दिया। इस राजा की मृत्यु केवल पांच वर्ष शासन करने के बाद ३९० ई० के लगभग हो गई थी, और उसके पुत्रों की आयु बहुत छोटी होने के कारण शासनसूत्र प्रभावती गुप्ता ने स्वयं अपने हाथों में ले लिया था।

इन वाकाटक राजाओं के संबंध में अधिक लिखने की हमें आवश्यकता नहीं है। इस समय पाटलीपुत्र में जिस शक्तिशाली गुप्त साम्राज्य का विकास हो रहा था, उसके प्रताप के सम्मुख इन वाकाटकों की शक्ति बिलकुल मंद पड़ गई थी, और ये गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत अधीनस्थ राजाओं के रूप में रह गये थे।

(४) पाटलीपुत्र में कौमुदी महोत्सव

भारशिव राजाओं के शासनकाल में वाकाटक विन्ध्यशक्ति ने मगध और अंग को जीत लिया था। पर शीघ्र ही शक्तिशाली लिच्छवि गण ने पाटलीपुत्र को जीत कर अपने अधीन कर लिया। प्रतीत ऐसा होता है, कि लिच्छवि लोग भी देर तक वहां स्थिर नहीं रहे। कुछ ही समय बाद मगध के किसी प्राचीन राजवंश ने पाटलीपुत्र को लिच्छवियों से स्वतंत्र किया। कौमुदी महोत्सव नाम का एक संस्कृत नाटक इस विषय पर बड़ा उत्तम प्रकाश डालता है। वस्तुतः, यह नाटक इसी काल के मागध इतिहास के एक कथानक को सम्मुख रख कर लिखा गया है।

मगध में सुंदरवर्मा नाम का एक राजा राज्य करता था। यह मागध वंश का था, अर्थात् मगध के ही किसी प्राचीन राजकुल के साथ इसका संबंध था। सुंदरवर्मा का कोई पुत्र नहीं था। अतः उसने चंडसेन नाम के एक कुमार को अपना 'कृतक'

पुत्र बना लिया था। पर वृद्धावस्था में सुंदर वर्मा के एक पुत्र उत्पन्न हो गया, जिसका नाम कल्याणवर्मा रखा गया। अब मागध राज्य का उत्तराधिकारी यह कल्याणवर्मा हो गया, और चंडसेन का राजगद्दी पर कोई अधिकार नहीं रहा। उसे यह बात बहुत बुरी मालूम हुई, और उसने लिच्छविगण की सहायता से मगध पर आक्रमण किया। लड़ाई में सुंदरवर्मा मारा गया, और बालक कल्याणवर्मा की प्राणरक्षा करने के लिये उसके अमात्य उसे पाटलीपुत्र से पंपा के जंगलों में ले गये। चंडसेन ने पाटलीपुत्र को जीत लिया और अपने को अभिषिक्त किया। उधर कल्याणवर्मा का प्रधानामात्य मंत्रगुप्त और सेनापति कुंजरक पुराने मागध कुल का राज्य पुनः स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील रहे। शीघ्र ही उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता हुई। राजा चंडसेन शबर और पुलिन्द लोगों के विद्रोह को शांत करने के लिये पाटलीपुत्र से बाहर गया हुआ था। इस विद्रोह को खड़ा करने का श्रेय भी नीतिनिपुण मंत्रगुप्त को ही था। अवसर पाते ही सेनापति कुंजरक की सेनाओं ने पाटलीपुत्र पर हमला कर दिया। सारी जनता ने मागध कुल के शासन के पुनः स्थापित होने पर हर्ष प्रगट किया। इसी खुशी में कौमुदीमहोत्सव बड़ी धूमधाम के साथ पाटलीपुत्र में मनाया गया। चंडसेन ने कल्याणवर्मा को परास्त करने के लिये पुनः प्रयत्न किया पर उसे सफलता नहीं हुई। संभवतः इन्हीं युद्धों में उसकी मृत्यु भी हो गई।

कौमुदीमहोत्सव में इस चंडसेन को 'कारस्कर' कहा गया है। कई ऐतिहासिकों ने चंडसेन को गुप्त वंश के प्रसिद्ध राजा चन्द्रगुप्त के साथ मिलाने की कोशिश की है। पर चंडसेन और चन्द्रगुप्त में कोई समता नहीं है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यह कारस्कर चंडसेन उन वीर पुरुषों में से था, जो अवसर

महाकुशाण के वंश के नष्ट होने पर मगध तथा उत्तरी भारत की तत्कालीन अव्यवस्था से लाभ उठा कर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। संभवतः चंडसेन इसका विशेषण है, और इसका असली नाम कारस्कर है। यदि यह कारस्कर के वंशजों में से कोई हो, तो भी आश्चर्य नहीं। इसकी वीरता से आकृष्ट होकर संतानहीन सुन्दरवर्मा ने इसे अपना 'कृतक' पुत्र बनाया था, पर इसने अपने स्वामी के विरुद्ध ही विद्रोह कर उनका घात किया।

इस काल का पाटलीपुत्र का इतिहास बहुत अस्पष्ट है। पर इतना निश्चित है, कि कुशाण साम्राज्य के शिथिल होने पर यहाँ कोई भी शक्तिशाली राज्य काफी समय तक कायम नहीं हो सका। कुछ देर तक पाटलीपुत्र भारशिव-वाकाटकों के हाथ में रहा, फिर उसे लिच्छवियों ने जीत लिया, फिर वहाँ एक पुराने मागध कुल ने कुछ समय तक शासन किया, फिर चंडसेन कारस्कर ने वहाँ की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। इस कार्य में लिच्छवियों ने इसकी सहायता की। सुन्दरवर्मा के मागध कुल ने ही लिच्छवियों के शासन का पाटलीपुत्र से अंत किया था। अतः ये स्वाभाविक रूप से कारस्कर के उस षड्यंत्र में सहायक थे, जो सुन्दरवर्मा के विरुद्ध किया गया था। पर चंड-सेन कारस्कर भी देर तक पाटलीपुत्र में राज्य नहीं कर सका। नीति-निपुण मंत्रगुप्त ने एक बार फिर प्राचीन मागध कुल के नायक कल्याणवर्मा को पाटलीपुत्र की राजगद्दी पर बिठाया।

पर शीघ्र ही पाटलीपुत्र की इस अराजक दशा का अंत हो गया। मगध के पड़ोस में ही एक ऐसे नये राजवंश का अभ्यु-दय हुआ, जिसने न केवल पाटलीपुत्र में एक स्थिर शासन की स्थापना की, अपितु मागध साम्राज्य के प्राचीन गौरव का पुनरुद्धार किया। इस वंश का नाम गुप्तवंश था।

सोलहवाँ अध्याय

मौर्योत्तरकालीन भारत का राजनीतिक और आर्थिक जीवन

(१) गण राज्यों का पुनरुत्थान

मागध साम्राज्य की शक्ति निर्बल होने पर जहाँ भारत के अनेक प्रदेशों में शक्तिशाली वीर पुरुषों ने स्वतंत्र राजवंशों की स्थापना की, वहाँ कई पुराने गणराज्य फिर स्वतंत्र हो गये। प्राचीन भारत में बहुत से गणराज्य थे। मगध के शक्तिशाली सम्राटों ने इनको जीतकर अपने अधीन कर लिया था। पर इनकी विविध जनपदों में पृथक् सत्ता अब भी विद्यमान थी। विविध कुलों, गणों और जनपदों के स्थानीय धर्म और व्यवहार को मागध सम्राटों ने अक्षुण्ण रखा था। परिणाम यह हुआ, कि जब मगध की शक्ति कमजोर हुई, तो अनेक गण राज्य फिर से स्वतंत्र हो गये। इनमें सबसे मुख्य यौधेय गण था। यमुना और सतलज के बीच के प्रदेश में इन्होंने अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। सिकंदर ने सतलज नदी को पार करके इन्हें परास्त नहीं किया था। मगध के राजा इन्हें जीतकर अपनी अधीनता में लाने में सफल हुए थे। पर अवसर पाते ही ये अब स्वतंत्र हो गये। यौधेय के अतिरिक्त कुलिंद (अंबाला, सहारनपुर और देहरादून के प्रदेश में), राजन्य (होशियारपुर के दक्षिण में), औदुम्बर (कांगड़ा में) और आर्जुनायन (उत्तरी राजपूताना में) गण भी इस समय फिर उठ खड़े हुए। पुष्यमित्र शुंग के समय तक मगध की शक्ति काफी प्रबल थी, पर उसके बाद शुंगों का राज्य पश्चिम में मथुरा तक ही सीमित

हो गया था। मथुरा के पश्चिम में प्रायः सारे पूर्वी व दक्षिणी पंजाब में अब गणराज्यों का पुनरुत्थान हो गया था। यद्यपि मद्र और गांधारों में पहले के से पंजाब के बहुत से गण राज्य अब फिर नहीं उठे। क्षत्रिय, क्षुद्रक, आग्नेय, रौहितक आदि गण अब फिर से स्वतंत्रता प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुए। कई सदियों तक मागध सम्राटों की अधीनता में रहते हुए इन वार्ताशस्त्रोपजीवि गणों ने अपनी शस्त्रोपजीविका को बिलकुल छोड़ दिया था। अब वे केवल वार्ता (कृषि, पशुपालन और वाणिज्य) में ही व्यापृत हो गये थे। वे धीरे-धीरे पृथक् जातियों के रूप में परिवर्तित हो रहे थे।

पंजाब के दो शक्तिशाली गणों, मालव और शिवि ने अपने पुराने जनपदों को छोड़कर दक्षिणपूर्व की तरफ प्रस्थान कर दिया था। उन्हें स्वतंत्रता इतनी अधिक प्रिय थी, कि उन्होंने सप्तसिन्धव के हरे भरे प्रदेश में पराधीन रहने के स्थान पर सुदूर राजपूताना की मरुभूमि में जाकर बसना पसंद किया। मालव लोग पहले वर्तमान जयपुर रियासत में दक्षिण प्रदेश में जा बसे, और फिर वहां से भी और आगे बढ़ उज्जैनी के समीप उस प्रदेश में चले गये, जो आज तक भी उनके नाम से मालवा कहलाता है। इसी तरह शिवि लोग उदयपुर में चित्तौड़ के पास जा बसे। वहां उन्होंने मध्यमिका नगरी की स्थापना की। वहां उनके अनेक सिक्के उपलब्ध हुए हैं।

मागध साम्राज्य के पतनकाल में भारत के राजनीतिक जीवन में इन गणराज्यों ने बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। जब शक आक्रान्ताओं ने भारत में प्रवेश कर प्राचीन आर्यावर्त की तरफ बढ़ना प्रारंभ किया तो पहले उन्हें इन्हीं से लड़ना पड़ा। इन्हें परास्त किये बिना वे मगध के उस निर्बल साम्राज्य तक नहीं पहुंच सकते थे, जिस पर पुष्यमित्र के शक्तिहीन उत्तरा-

धिकारियों का शासन था। इन्हीं की शक्ति के कारण मागध साम्राज्य के निर्बल राजा अपनी स्वतंत्र सत्ता को कायम रख सके। मागध साम्राज्य की रक्षा के लिये इन्होंने बड़ा काम किया। शकों को परास्त करने का श्रेय जहाँ उज्जैनी और प्रतिष्ठान के सातवाहन सम्राटों को है, वहाँ मालवगण ने भी इस विषय में बड़ा काम किया। मालवगण की सहायता और सहयोग से ही गौतमीपुत्र सातकर्णि ने शकों का उच्छेद किया था। शकों के पराभव के बाद मालवगण की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। इन्होंने इस समय के अपने जो सिक्के जारी किये, उन पर 'मालवानां जय' और 'मालवगणस्य जय' ये लेख उत्कीर्ण हैं। इनमें शकों के ऊपर प्राप्त की हुई इसी विजय की स्मृति अंकित है। इसी महत्त्वपूर्ण घटना की यादगार में एक नये संवत् का प्रारंभ किया गया, जो आजकल विक्रम संवत् के नाम से उत्तरी भारत में प्रयुक्त होता है। यह संवत् मालवगण की स्थिति या विजय के उपलक्ष में ५७ ई० पू० में प्रारंभ किया गया था, इसे अनेक प्राचीन शिलालेखों में 'मालवगणाम्नात' कहा गया है। यही विक्रम संवत् भी कहलाया, क्योंकि शकों की पराजय का श्रेय सातवाहन सम्राट् विक्रमादित्य (गौतमीपुत्र सातकर्णि) को भी उतना ही था, जितना कि मालवगण को। गणराज्यों के नष्ट हो जाने पर इस संवत् के एक प्राचीन गणराज्य के साथ संबंध होने की स्मृति तो लुप्त हो गई, और इसका नाम सम्राट् विक्रम के साथ ही जुड़ा रह गया।

शकों के बाद कुशाण सम्राटों ने इन गणों की शक्ति को फिर नष्ट किया। पर सब तरफ से आघात-प्रतिघात सहते हुए भी ये गणराज्य गुप्तों और उनके बाद तक भी जीवित रहे। साम्राज्यवाद के ज़रा भी निर्बल हो जाते ही ये लोग फिर से स्वतंत्र हो जाते थे। मौर्योत्तर काल की राजनीतिक दशा को

भलीभाँति समझने के लिये गणराज्यों की सत्ता को दृष्टि में रखना परम उपयोगी है।

(२) राज्यशासन

आलोचित युग के शासन में शासन का प्रकार वही रहा, जो मौर्यकाल में था। मागध सम्राट् इस समय में भी एकच्छत्र शासक थे। पर बंगाल की खाड़ी से लगा कर मथुरा तक विस्तीर्ण (पुष्यमित्र के बाद के शुंग काल में) साम्राज्य में बहुत से जनपद अंतर्गत थे। अनेक जनपदों में अपने पृथक् राजा भी थे, जिनकी स्थिति शुंग सम्राटों के सदृश थी। इस प्रकार के दो सामंतों, अहिच्छत्र के इंद्रमित्र और मथुरा के ब्रह्ममित्र, का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इनके अपने सिक्के भी उपलब्ध होते हैं। साम्राज्य के अंतर्गत इन जनपदों का शासन प्राचीन परंपरा के अनुसार होता था। जनपदों के धर्म, कानून, व्यवहार और आचार को मागध सम्राट न केवल अक्षुण्ण रखते थे, पर उनका भलीभाँति अनुसरण किया जावे इसका भी पूरा ख्याल रखते थे। पर इन जनपदों से मागध सम्राट् कर या बलि वसूल करते थे। जनपदों का शासन बहुत पुराने समयों से पौर और जानपद सभाओं द्वारा होता चला आता था। प्रत्येक जनपद का एक केंद्रीय नगर होता था, जिसे पुर कहते थे। यह सारे जनपद के जीवन का केंद्रस्वरूप होता था। इसके प्रमुखों की सभा को पौर कहते थे। जनपद के अन्य निवासियों के प्रमुख जानपद सभा में एकत्र होते थे। विविध जनपदों में ये सभाएँ अब तक भी जीवित थीं। यही कारण है कि शक रुद्रदामा ने अपने शिलालेख में 'पौरजानपद' का उल्लेख किया है। इसी प्रकार कलिंग चक्रवर्ती खारवेल ने भी पौर जानपदों के लाभ लिये अपने अनुग्रहों को अपने हाथों

गुम्फा के प्रसिद्ध शिलालेख में उत्कीर्ण कराया है। जनपदों के अतिरिक्त 'देशों' के संघों का भी उल्लेख स्मृति-ग्रंथों में आता है। राजा को इनके भी चरित्र, व्यवहार और धर्म को स्वीकार करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि मागध साम्राज्य शासन की दृष्टि से एक इकाई नहीं था, वह जनपदों और देशों के अनेक विभागों में विभक्त था। प्रत्येक विभाग के अपने धर्म, चरित्र, व्यवहार आदि थे। मागध सम्राट् उन्हें स्वीकार करते थे।

इस काल के सम्राट् एकतंत्र अवश्य थे, पर वे परंपरागत राजधर्म के अनुसार ही शासन करने का यत्न करते थे। राजा के संबंध में मनुस्मृति का सिद्धांत यह था कि अराजक दशा में सब तरफ से पीड़ा होने के कारण जनता की रक्षा के लिये प्रभु ने राजा की सृष्टि की। उसके निर्माण के लिये इंद्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चंद्रमा और कुबेर—सबकी मात्रायें ली गईं। क्योंकि राजा देवताओं की मात्रा से बना है। इस लिये उसका तेज सब मनुष्यों से अधिक है।

पर जिस प्रकार राजा ईश्वरीय है, देवताओं की मात्राओं से बना है, वैसे ही 'दंड' भी ईश्वरीय है। मनुस्मृति के अनुसार दंड ही असली राजा है, वही नेता है, वही शासन करने वाला है। दंड सब प्रजा का शासन करता है। दंड ही उसकी रक्षा करता है, सबके सोते हुए दंड ही जागता है, दंड को ही बुद्धिमान धर्म मानते हैं। दंड का अभिप्राय राजधर्म से है, जो परंपरागत धर्म और व्यवहार चले आते हैं, वही दंड है। वही वस्तुतः दैवी है। इसीलिये यदि राजा भलीभाँति इस दंड का प्रयोग करे, तब तो वह उन्नति करता है, अन्यथा कामात्मा, विषमी और क्षुद्र राजा दंड से ही मारा जाता है। दंड का बड़ा तेज है। धर्म से विचलित राजा का यह बंधु-

बांधव सहित मार डालता है। इस प्रकार मनु के अनुसार वास्तविक शक्ति दंड की है, न कि राजा की। राजा के लिये उचित नहीं है, कि वह परंपरागत राजधर्म के अनुसार न्याय-युक्त शासन करे। पर यह वही राजा कर सकता है, जो विषया-सक्त न हो। जिसकी बुद्धि निश्चित और क्रियाशील हो। जो मूढ़ और लुब्ध न हो, और जिसको अच्छे सहायकों (मन्त्रियों व अमात्यों) का साहाय्य प्राप्त हो।

मनु के विचार ठीक वैसे ही हैं, जैसे कि आचार्य चाणक्य ने अपने पूर्व पुरुष अविनीत राजा के संबंध में प्रगट किये हैं। मनु ने एक अन्य स्थान पर लिखा है, कि जो राजा मोह या बेपरवाही से अपने राष्ट्र को सताता है, वह शीघ्र ही राज्य से च्युत हो जाता है और अपने बंधु-बांधवों सहित जीवन से हाथ धो बैठता है। जैसे शरीर के कर्षण से प्राणियों के प्राण क्षीण हो जाते हैं, इसी प्रकार राष्ट्र के कर्षण से राजाओं के प्राण भी क्षीण हो जाते हैं। जिस राजा के देखते हुए चिल्लाती पुकारती प्रजा को दस्यु लोग पकड़ते हैं, वह मरा हुआ है, जीवित नहीं है।

मनु के इन संदर्भों में मौर्यों के बाद के निर्बल राजाओं के समय की दशा का कैसा सुन्दर आभास है! अधार्मिक राजाओं के विरुद्ध क्रांति कर के बार-बार उन्हें पदच्युत किया गया। शक और कुषाण सदृश दस्युओं के द्वारा चीखती-पुकारती भारतीय प्रजा विलुण्ठित हो रही थी। उसकी रक्षा करने में असमर्थ पिछले शुंग व कण्व राजा मरे हुए थे, जीवित नहीं थे।

शासनकार्य में राजा की सहायता करने के लिये मंत्रिपरि-षद् इस युग में भी विद्यमान थी। मनु के अनुसार सात या आठ सचिव होने चाहिये, जिनसे कि राज्य के प्रत्येक कार्य में

विषय में परामर्श लेना चाहिये। इनके अतिरिक्त, अमात्य आवश्यकता के अनुसार रखे जा सकते हैं। महाभारत के अनुसार भी मंत्रियों की संख्या आठ होनी चाहिये। इनके अतिरिक्त अमात्य ४७ होने चाहियें, जिन में ४ ब्राह्मण, १८ क्षत्रिय, २१ वैश्य, ३ शूद्र और १ सूत हों। इस युग में राज्यशासन में शूद्रों को भी स्थान मिल गया था, इस संबंध में यह निर्देश महत्त्वपूर्ण है। मालविकाग्निमित्र के अनुसार राजा अग्निमित्र (शुंग वंशी) युद्ध और संधि की प्रत्येक बात में अमात्य परिषद् से परामर्श करता था।

(३) आर्थिक जीवन

मौर्य युग के समान इस काल में भी आर्थिक जीवन का आधार 'श्रेणि' थी। शिल्पी लोग श्रेणियों (Guilds) में संगठित होते थे, और इसी प्रकार व्यापारी भी। इस युग के अनेक शिलालेखों में इन श्रेणियों का उल्लेख किया गया है, और उनसे श्रेणियों के आर्थिक जीवन पर बड़ा उत्तम प्रकाश पड़ता है। ऐसे लेखों में नासिक के गुहामंदिर में उत्कीर्ण शक उषवदात का यह लेख विशेष महत्त्व का और उल्लेखनीय है—

सिद्ध ! बयालीसवें वर्ष में, वैशाख मास में राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता दीनीकपुत्र उषवदात ने यह गुहामंदिर चातुर्दिश संघ के अर्पित किया, और उसने अक्षयनीवी तीन हज़ार पण चातुर्दिश संघ को दिये, जो इस गुहा में रहने वालों का चिवरिक (कपड़े का भत्ता) और कुशणमूल (विशेष महीनों में मासिक वृत्ति) होगा। और ये कार्षापण गोवर्धन में रहने वाली श्रेणियों के पास जमा किये गये, कोलिकों के निकाय में दो हज़ार, एक सैकड़ा सूद पर; दूसरे कौलिक निकाय



राजगृह की विशाल दीवार के अवशेष



के पास एक हजार, पौन फी सदी सूद पर। और ये कार्षापण लौटाये नहीं जावेंगे। केवल उनका सूद लिया जायगा। इनमें से जो एक फी सदी पर दो हजार कार्षापण रक्खे गये हैं, उनसे मेरे गुहामंदिर में रहने वाले बीस भिक्खुओं में से प्रत्येक को बारह चीवर दिये जावेंगे। और जो पौन फीसदी पर एक हजार कार्षापण है, उनसे कुशन मूल्य का खर्च चलेगा। कापुर प्रदेश में गांव चिक्खलपद्र के नारियल के ८००० पौदे भी दिये गये। यह सब निगमसभा में सुनाया गया, और फलकवार (लेखा रखने के दफ्तर) में चरित्र के अनुसार निबद्ध किया गया।

इस लेख से यह स्पष्ट है, कि कौलिक (जुलाहे) आदि व्यवसायियों का संगठन श्रेणियों के रूप में था। ये श्रेणियां जहाँ अपने व्यवसाय को संगठित रूप में संचालन करती थीं, वहाँ दूसरे लोगों का रुपया भी धरोहर के रूप में रखकर उस पर सूद देती थीं। उनकी स्थिति समाज में इतनी ऊंची और सम्मानास्पद थी, कि उनके पास ऐसा रुपया भी जमा करा दिया जाता था, जिसे फिर लौटाया न जावे, जिसका केवल सूद ही सदा के लिये किसी धर्मकार्य में लगता रहे। यही कार्य आजकल ट्रस्टी के रूप में बैंक करते हैं। इसके सूद की दर एक फीसदी और पौन फीसदी (संभवतः, मासिक) होती थी, और नगरसभा (निगम) में इस प्रकार की धरोहर को बाकायदा निबद्ध (रजिस्टर्ड) कराया जाता था, यह भी इस लेख से स्पष्ट हो जाता है।

श्रेणियों का इसी प्रकार का उल्लेख अन्य अनेक शिलालेखों में भी उपलब्ध होता है। श्रेणियों के पास केवल रुपया ही नहीं जमा किया जाता था, अपितु उनको भूमि भी धरोहर के रूप में दी जाती थी, जिसकी आय को वे यथेष्ट धर्मकार्य

प्रयुक्त करता था। शिल्पियों की श्रेणियों का वर्णन कौटिल्य अर्थशास्त्र, मनुस्मृति व अन्य सभी प्राचीन राजशास्त्र संबंधी साहित्य में विद्यमान है, पर इनके कार्यों का ऐसा सजीव चित्र इन गुहालेखों से ही प्राप्त होता है।

शिल्पियों के समान व्यापारी भी पूगों व निकायों में संगठित होते थे। उनके धर्म, व्यवहार और चरित्र को भी राज्य में स्वीकार किया जाता था। स्मृतियों में ऋण लेन-देने के नियमों का विस्तार से वर्णन है। किस प्रकार ऋणपत्र तैयार किया जाय, कैसे उसके साक्षी हों, कैसे प्रतिभू (जामिन) बने, कैसे कोई वस्तु आधि (रहन) रखी जावे, और कैसे इन सब के करण (कागज) तैयार किये जावें, इन सब के नियमों का विवरण यह सूचित करता है, कि उस युग में वाणिज्य-व्यापार भलीभाँति उन्नति कर चुका था। कौटलीय अर्थशास्त्र में जैसे संभूय समुत्थान का उल्लेख है, वैसे ही स्मृतियों में भी है। अधिक लाभ के लिए व्यापारी लोग मिलकर वस्तुओं को बाजार में रोक लिया करते थे, और इस उपाय से अधिक नफा उठाने में सफल होते थे। एक स्मृति के अनुसार केवल व्यापारी ही नहीं, अपितु किसान, मजदूर और ऋत्विक् भी इस उपाय का आश्रय लिया करते थे।

विदेशी व्यापार की भी इस युग में खूब उन्नति हुई। मौर्य वंश के निर्बल होने पर जो यवन राज्य उत्तर-पश्चिमी भारत में कायम हो गये थे, उनके कारण भारत का पश्चिमी संसार से संबंध और भी अधिक दृढ़ हो गया था। भारत के पश्चिमी समुद्र तट से व्यापारी लोग अरब और मिस्र जाकर व्यापार किया करते थे। उन दिनों मिस्र की राजधानी अलेक्जेण्ड्रिया थी, व्यापार और संस्कृति का बड़ा भारी केंद्र थी। भारतीय व्यापारी वहाँ तक पहुँचते थे। लाल सागर और नील नदी के बीच मार्गों पर

एक भारतीय व्यापारी का ग्रीक भाषा में लिखा हुआ एक शिलालेख भी उपलब्ध हुआ है। इस व्यापारी का नाम सोफोन था, जो शायद शोभन का ग्रीक रूपांतर है।

दूसरी सदी ई० पू० में एक घटना ऐसी हुई, जिसके कारण मिस्र और भारत का व्यापारिक संबंध और भी अधिक बढ़ गया। भारत से एक व्यापारी अपने साथियों के साथ समुद्रयात्रा को गया था। वह समुद्र का मार्ग भूल गया, और महीनों तक जहाज पर ही इधर-उधर भटकता रहा। उसके सब साथी एक-एक कर के भूख से मर गये। वह भी लहरों के साथ बहता हुआ, मिस्र के निकटवर्ती समुद्र में जा पहुँचा, जहाँ मिस्र के राजकर्मचारियों ने उसे आश्रय दिया। इस भारतीय व्यापारी की सहायता और मार्गप्रदर्शन से मिस्र के लोगों ने जहाज पर सीधे भारत आना-जाना प्रारंभ किया, और इन दोनों देशों में व्यापारिक संबंध और भी दृढ़ हो गया। इस युग के भारतीय व्यापारी मिस्र से भी बहुत आगे यूरोप में व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। प्राचीन रोमन अनुश्रुति के अनुसार, गाल (वर्तमान फ्रांस) के प्रदेश में, एल्ब नदी के मुहाने पर कुछ भारतीय व्यापारी जहाज भटक जाने के कारण पहुँच गये थे। अटलांटिक महासमुद्र तक भारतीय व्यापारियों का पहुँच जाना बड़े महत्त्व की बात है। यह घटना पहली सदी ई० पू० की है। रोमन साम्राज्य के साथ इस व्यापारिक संबंध का ही यह परिणाम है, कि हजारा, रावलपिंडी, कन्नौज, इलाहाबाद, मिर्जापुर, चुनार आदि के बाजारों में वर्तमान युग तक प्राचीन रोमन सिक्के उपलब्ध हुए हैं। अनेक स्तूपों की खुदाई में भारतीय राजाओं के सिक्कों के साथ-साथ रोमन सिक्के भी मिलते हैं, जो इस बात का उत्कृष्ट प्रमाण है, कि भारत और रोम का व्यापारिक संबंध इस युग में बड़ा घनिष्ठ

था। भारत से समुद्र के रास्ते हाथीदाँत का सामान, मोती, वैदूर्य, कालीमिर्च, लौंग, अन्य मसाले, सुगंधियाँ, औषधियाँ, रेशमी और सूती कपड़े बड़ी मात्रा में रोम भेजे जाते थे। रोम में मिर्च-मसालों के लिये एक गोदाम बना हुआ था, जिसमें भारत से यह माल लाकर जमा किया जाता था। रोम में काली मिर्च बहुत महंगी बिकती थी। उसका मूल्य दो दीनारों का एक सेर था। एक रोमन लेखक ने लिखा है, कि भारतीय माल रोम में आकर सौगुनी कीमत पर बिकता है, उसके द्वारा भारत रोम से हर साल छः लाख के लगभग सुवर्ण मुद्रायें खींच ले जाता है। एक अन्य रोमन लेखक ने लिखा है, कि रोमन स्त्रियां हवा की जाली की तरह बारीक बुनी हुई भारतीय मलमल को पहन कर अपना सौंदर्य प्रदर्शित करती हैं। रोम और भारत के इस सामुद्रिक व्यापार का सब से बड़ा केंद्र केरल प्रदेश में था। इसीलिए वहाँ कई स्थानों पर खुदाई में रोमन सिक्के बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं।

मिस्र और रोम की अपेक्षा बरमा, जावा, सुमात्रा, चंपा और चीन आदि के साथ भारत का विदेशी व्यापार और भी अधिक था। इन सुदूरवर्ती देशों को बड़े-बड़े जहाज माल भर कर जाया करते थे। उस युग के संसार में तीन साम्राज्य सब से अधिक शक्तिशाली थे, रोमन, भारतीय और चीनी। भारत इन तीनों के बीच में पड़ता था। यही कारण है, कि इसका रोम और चीन दोनों के साथ व्यापारिक संबंध था। चीन और रोम का पारस्परिक व्यापार भी उस समय भारत के व्यापारियों द्वारा ही किया जाता था।

(४) बृहत्तर भारत का विकास

मौर्य युग में भारत से बाहर भारतीय उपनिवेशों का

विस्तार प्रारंभ हुआ था। इन उपनिवेशों के दो क्षेत्र थे, पूर्व में सुवर्णभूमि और उत्तर-पश्चिम में हिन्दुकुश और पामीर की पर्वतमालाओं के पार तुर्किस्तान में। अशोक की धर्मविजय की नीति के कारण भारतीय भिक्खु किस प्रकार इन सुदूर देशों में गये, और वहाँ जाकर न केवल वहाँ के निवासियों को आर्यमार्ग का अनुयायी बनाया, पर वहाँ अनेक भारतीय बस्तियाँ भी बसाईं, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं। इस युग में भारतीय उपनिवेशों के विस्तार की यह प्रक्रिया जारी रही। विशेषतया, भारत के पूर्व में बरमा से सुदूर चीन तक हिन्द महासागर में जो बहुत से छोटे-बड़े द्वीप व प्रायद्वीप हैं, वे सब इस युग में भारतीय बस्तियों से इक गये। इस युग के इतिहास की यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है। यह प्रक्रिया गुप्त साम्राज्य के समय में और उसके कुछ बाद तक भी जारी रही। इन भारतीय उपनिवेशों के विस्तार का विशेष विवरण गुप्तकाल के इतिहास में देंगे, पर यहाँ यह निर्देश कर देना उचित है, कि इन उपनिवेशों का श्रीगणेश इसी युग में हुआ था। भारत के जिन जनपदों से जाकर लोग इन द्वीपों में बसते थे, वे अपने नये नगरों के नाम मातृभूमि के अपने पुराने नगरों व देशों के नाम पर ही रखते थे। वंग देश से गये लोगों ने सुमात्रा के दक्षिणपूर्वी सिरे पर नये वंग द्वीप की स्थापना की, वही अब बंका कहलाता है। इसी तरह आधुनिक युग की स्यामभूमि में नये तक्षशिला का निर्माण किया गया। यवद्वीप (जावा) में बस कर भारतीयों ने वहाँ की सबसे बड़ी नदी को सरयू नाम दिया। और अधिक पूर्व में चंपा की स्थापना की गई। अंग जनपद की राजधानी का नाम चंपा था, उसी के नाम से भारतीयों के इस नये उपनिवेश का नाम चंपा रखा गया। धीरे-धीरे चंपा की शक्ति

बहुत बढ़ी। बहुत से समीपवर्ती प्रदेशों को जीतकर चंपा के साम्राज्य का विकास हुआ। इसके विविध प्रांतों के नाम कौठार, पांडुरंग, अमरावती, विजय आदि थे। चंपा साम्राज्य की राजधानी इंद्रपुर थी। चंपा के पश्चिम में एक और उपनिवेश था, जिसमें आजकल के कंबोडिया (कंबोज) और स्याम प्रदेश सम्मिलित थे। यह एक शक्तिशाली भारतीय उपनिवेश था, चीनी लोग इसे फ़ूनान कहते थे। इस राज्य की स्थापना कौंडिन्य नाम के एक ब्राह्मण ने की थी, जिसने इस देश में जाकर एक नागी (उस देश की मूल निवासिनी) स्त्री से विवाह किया था। इस स्त्री का नाम सोमा था। उसी के नाम से फ़ूनान का राजवंश सोमवंश कहलाता था। इन सब प्रदेशों में आजकल धर्ममन्दिरों, मठों, विहारों और स्तूपों के अवशेष बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि के शिलालेख भी इनमें बड़ी मात्रा में मिले हैं।

वर्तमान आसाम की मणिपुर रियासत के पूर्व से शुरू करके सानकिन खाड़ी तक के विशाल भूखंड में, जहाँ अब बरमा, स्याम, मलाया और इंडोचायना के राज्य हैं, धीरे-धीरे भारतीय लोग अपने उपनिवेश बसा रहे थे। बरमा को पुराने ज़माने में सुवर्णभूमि कहा जाता था। सबसे पहले वे भारतीय बस्तियाँ बसाई गईं। मगध, अंग और बंग के लोग ताम्रलिप्ति बंदरगाह से सुवर्णभूमि के लिये जाया करते थे। अराकान में यह अनुश्रुति है, कि वहाँ का पहला राजा बनारस से आया था। संभवतः उसने अपने नाम से उसके एक प्रदेश का नाम रामवती रखा था। वही अब राम्बी कहलाता है। अराकान में ही पुराने समय में एक नगरी थी, जिसका नाम वैशाली था। इसी तरह दक्षिणी बरमा में भी विविध भारतीय बस्तियाँ बसाई गई थीं। आजकल का लओ प्रदेश पुराने ज़माने में

मालवा कहलाता था, और उसके पूर्वी भाग को दशार्ण कहते थे।

यह ध्यान में रखना चाहिये, कि विदेशों में पहले-पहल इन भारतीय उपनिवेशों को बसाने वाले आदि लोग शैव थे। आगे चलकर इन प्रदेशों में बौद्धधर्म का प्रचार हुआ, पर बौद्धों से भी पहले शैव लोगों ने इन देशों को आबाद किया था। उस समय के भारत में अपूर्व जीवनीशक्ति थी। भारतीय लोग बहुत बड़ी संख्या में विदेश जाते थे, व्यापार के लिये भी और बस्तियां बसाने के लिये भी। इन बस्तियों का ही यह परिणाम हुआ, कि धीरे-धीरे पूर्व में सुदूर चीन तक और पश्चिम में वंक्षु नदी की घाटियों तक बृहत्तर भारत का विस्तार हुआ।

सत्रहवां अध्याय

मौर्योत्तरकाल का साहित्य, धर्म और समाज

(१) साहित्य

मौर्यवंश के बाद पाटलीपुत्र में शुंग, काण्व, आंध्र सातवाहन और कुशाण राजाओं का शासन रहा। इस काल का राजनीतिक इतिहास अविकल रूप में उपलब्ध नहीं होता। पुष्यमित्र शुंग के बाद मगध की राज्यशक्ति निर्बल होती गई, और भारत की राजनीतिक शक्ति का केन्द्र पहले उज्जैन और बाद में पुरुषपुर (पेशावर) बन गया। भारत भर में इस समय कोई एकच्छत्र सम्राट् स्थिर रूप से नहीं रहा। यवन, शक और कुशाणों के आक्रमणों से देश में बहुत कुछ अव्यवस्था मची रही।

पर इस मौर्योत्तर युग की सभ्यता और संस्कृति के संबंध में इस काल के साहित्य से हमें बहुत कुछ परिचय मिलता है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के बहुत से ग्रंथों का इस काल में ही संकलन हुआ। बौद्ध और जैन साहित्य के भी बहुत से ग्रंथ इसी समय में बने। इन सब के अनुशीलन से इस समय की जनता के जीवन पर बड़ा उत्तम प्रकाश पड़ता है।

पर पहले इस साहित्य का संक्षेप से परिचय देना आवश्यक है। पतंजलि मुनि पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे। उन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा, इसमें शुंगकालीन भारत की दशा के संबंध में बड़े सुंदर निर्देश मिलते

है। महाभाष्य एक विशाल ग्रंथ है, जिसमें पाणिनीय व्याकरण की बड़ी विस्तृत व्याख्या की गई है।

स्मृति ग्रंथों का निर्माण शुंग काल में प्रारंभ हुआ। सब से प्राचीन स्मृति मनुस्मृति है। उसका निर्माण १५० ई० पू० के लगभग हुआ था। इसका प्रवक्ता आचार्य भृगु था। नारदस्मृति के अनुसार सुमति भार्गव ने इस स्मृति का प्रवचन किया था। प्राचीन भारत में विचारकों के अनेक संप्रदाय थे। किसी बड़े आचार्य द्वारा जो विचारधारा प्रारंभ होती थी, उसके शिष्य उसी का विकास करते जाते थे, और एक पृथक् संप्रदाय (नया धार्मिक मत नहीं, अपितु विचार-संप्रदाय) सा बन जाता था। इसी प्रकार का एक सम्प्रदाय मानव था। कौटलीय अर्थशास्त्र और कामंदक नीतिसार में इस मानव संप्रदाय का उल्लेख है, और इसके अनेक मत उद्धृत किये गये हैं। इसी संप्रदाय में आगे चल कर मनु के एक परंपरागत शिष्य आचार्य सुमति भार्गव ने मनुस्मृति की रचना की और उसमें परम्परागत मानव सम्प्रदाय के विचारों का संग्रह किया। अपने समय की परिस्थितियों का भी इन विचारों पर प्रभाव पड़ा, और इसीलिये मनुस्मृति के अनुशीलन से हमें शुंगकाल की सामाजिक दशा का भलीभांति परिचय मिल जाता है।

मनुस्मृति के बाद विष्णु स्मृति की रचना हुई। फिर याज्ञवल्क्य स्मृति बनी, जिसका निर्माणकाल १५० ई० पश्चात् के लगभग है। इसके बाद भी अनेक आचार्य नई स्मृतियां बनाते रहे। स्मृतियों के निर्माण की यह प्रक्रिया गुप्त सम्राटों के काल में और उसके बाद भी जारी रही। पर मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति का भारतीय स्मृतिग्रंथों में जो महत्त्व है, वह अन्य किसी स्मृति को प्राप्त नहीं हुआ। इन दोनों ग्रंथों के अनुशीलन से हम शुंग और सातवाहन राजाओं के समय के भार-

तीय जीवन का बड़ा उत्तम परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

महाभारत और रामायण के वर्तमान रूप भी प्रधानतया इसी काल में संकलित हुए। महाभारत प्राचीन भारतीय साहित्य का सबसे विशाल और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति, धर्म, काम और मोक्ष संबंधी विचार, राजधर्म, और पुरातन गाथाओं का जैसा उत्तम संग्रह इस ग्रंथ में है वह अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता। महाभारत मौर्यकाल से भी पहले विद्यमान थे, पर उसके नये-नये संस्करण निरंतर होते जाते थे और विविध आचार्य उसमें लगातार वृद्धि करते जाते थे। शुंग और सातवाहन राजाओं के समय में इसमें बहुत कुछ वृद्धि हुई, और उसके बहुत से संदर्भ निःसंदेह इस काल की दशा पर प्रकाश डालते हैं।

इस काल में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में अनेक काव्य और नाटकों का निर्माण हुआ। संस्कृत का सुप्रसिद्ध कवि भास कण्ववंश के समय में हुआ। वह मगध का रहने वाला था। उसके लिखे प्रतिज्ञा यौगंधरायण आदि नाटक संस्कृत साहित्य में अद्वितीय स्थान रखते हैं। उन्हें कालिदास और भवभूति के नाटकों के समकक्ष माना जाता है। आचार्य अश्वघोष कनिष्क का समकालीन था। उसने बुद्धचरितम् नाम का महाकाव्य और अनेक नाटक लिखे। प्रसिद्ध नाटक मृच्छकटिक का लेखक कवि शूद्रक भी सातवाहन वंश के शासनकाल में हुआ। नाट्यशास्त्र का लेखक भरतमुनि और कामसूत्र का रचयिता आचार्य वात्स्यायन भी इसी काल में हुआ।

प्राकृत साहित्य के भी अनेक ग्रंथ इस समय में बने। सातवाहन राजा प्राकृत भाषा के बड़े संरक्षक थे, यह हम पहले लिख चुके हैं। राजा हाल स्वयं बड़ा उत्तम कवि और लेखक था। गुणाढ्य जैसा प्राकृत का सर्वोत्कृष्ट कवि इसी काल में हुआ।

था। संस्कृत साहित्य के समान प्राकृत साहित्य भी बड़ा उन्नत था।

बौद्ध और जैन साहित्य का भी इस काल में बड़ा विकास हुआ। सम्राट् कनिष्क के संरक्षण में जिस महायान संप्रदाय का विकास हुआ था, उसका बहुत सा साहित्य इसी समय में बना। त्रिपिटक के महाविभाष्य का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् अश्वघोष, पार्श्व और वसुमित्र इसी समय में हुए। आचार्य नागार्जुन ने इसी समय में महायान धर्म के अनेक सूत्रों (सुत्तों) की रचना की। जैन साहित्य का भी इस काल में पर्याप्त विकास हुआ। पहले छः श्रुतकेवली (पूर्णज्ञानी) आचार्यों के बाद सात दशपूर्वी आचार्य हुए, जिनमें से अंतिम वज्रस्वामी का समय ७० ई० के लगभग था। इन आचार्यों द्वारा जैन साहित्य का निरंतर विकास हो रहा था। वज्रस्वामी के शिष्य का नाम आर्यरक्षित था। उसने जैन सूत्रों को अंग, उपांग आदि चार भागों में विभक्त किया था।

प्राचीन भारत के षड्दर्शनों का उनके वर्तमान रूप में संकलन भी इसी काल में हुआ। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदांत और मीमांसा, ये छः दर्शन भारतीय विचार तथा तत्त्व-चिंतन के स्तंभ रूप हैं। इन विचारधाराओं का प्रारंभ तो अत्यंत प्राचीन काल में हो चुका था, तत्त्वदर्शी आचार्यों द्वारा जो विचारसंप्रदाय प्रारंभ किये गये थे, उनमें शिष्यपरंपरा द्वारा तत्त्वचिंतन बहुत पुराने समय से चला आ रहा था। पर षड्दर्शनों का जो रूप वर्तमान समय में उपलब्ध है, उसका निर्माण इसी मौर्योत्तर काल में हुआ।

वैद्यक और ज्योतिष शास्त्र ने भी इस काल में बहुत उन्नति की। चरकसंहिता का लेखक आचार्य चरक कनिष्क का समकालीन था। नागार्जुन भी उत्कृष्ट चिकित्सक था। प्रसिद्ध वैद्यक ग्रंथ सुश्रुत जिस रूप में आजकल मिलता है, वह नागार्जुन द्वारा ही

संपादित हुआ था। प्राचीन भारतीय इतिहास में नागार्जुन का बड़ा महत्त्व है। यह महापुरुष केवल वैद्य ही नहीं था, अपितु सिद्ध रसायन शास्त्र, लौहशास्त्र और रसायन विज्ञान का बड़ा पंडित था। इसने खनन विज्ञान पर भी एक ग्रंथ लिखा। आगे चलकर यह बौद्ध संघ का प्रमुख बना। बौद्ध पंडित के रूप में भी इसने अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमें माध्यमिक सूत्र-वृत्ति विशेषरूप से उल्लेखनीय है। अश्वघोष के बाद महायान संप्रदाय का यही नेता बना था।

ज्योतिष शास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक गर्गसंहिता इसी समय में लिखी गई। इसके रचयिता गर्गाचार्य थे। उन्होंने यवन लोगों के आक्रमणों का इस तरह उल्लेख किया है, जैसे कि ये घटनायें उनके अपने समय में हुईं। खेद यही है, कि इस ग्रंथ के कुछ अंश ही इस समय में प्राप्त होते हैं। पूरा ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका। आचार्य वराहमिहिर द्वारा ज्योतिष-शास्त्र संबंधी जिन सिद्धांतों का संग्रह आगे चल कर गुप्तकाल में पञ्चसिद्धांतिका ग्रंथ में किया गया, उनका विकास व प्रतिपादन इस मौर्योत्तर काल में ही प्रारंभ हो गया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि यद्यपि यह काल राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था, विद्रोह और अशांति का था पर साहित्य ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में इस समय में भी निरंतर उन्नति हो रही थी। इस विशाल साहित्य में इस समय के सामाजिक जीवन, धर्म, सभ्यता, संस्कृति और आर्थिक दशा के संबंध में जो अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं, उनका संक्षेप से यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है।

(२) वैदिक धर्म का उत्थान

मौर्योत्तर काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना भारत में बौद्ध

धर्म का ह्रास और सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान है। अशोक ने धम्म विजय की जिस जोखमपूर्ण नीति का अवलंबन किया था, निर्बल हाथों में वह नाशकारिणी भी हो सकती थी। आखिर, विशाल मागध साम्राज्य का आधार उसकी सैनिक-शक्ति ही थी। सेना से ही अधीनस्थ जनपदों, नष्टीभूत गण-राज्यों और विविध सामन्त सरदारों को एक साम्राज्य के अधीन रखा जा सकता था। अशोक के समय में यह मागध सेना (मौल, भृत और श्रेणिबल) अक्षुण्णरूप में विद्यमान थी। कलिंग के शक्तिशाली जनपद को इसीलिये वह अपने अधीन कर सका था। यद्यपि अशोक स्वयं अस्त्रों द्वारा विजय की अपेक्षा धर्म द्वारा स्थापित की गई विजय को अधिक महत्व देने लगा था, पर उसके समय में मागध सेना शक्तिहीन नहीं हुई थी। पर जब उसके उत्तराधिकारी भी निरंतर इसी प्रकार शस्त्रविजय की अपेक्षा धर्मविजय को महत्व देते रहे, तो यह स्वाभाविक था कि मागध साम्राज्य की सेना शक्तिहीन होने लगे। इसी-लिये अंतिम मौर्य सम्राटों के समय में यवनों के आक्रमण प्रारंभ हो गये, और मागध सेना उनकी बाढ़ को नहीं रोक सकी। अशोक की धर्मविजय की नीति उसके निर्बल उत्तराधिकारियों के हाथों में असफल और बदनाम हो गई। सर्वसाधारण जनता में उससे बहुत असंतोष था। इसीलिये एक प्राचीन ग्रंथकार ने कहा था, राजाओं का काम शत्रुओं का दमन व प्रजा का पालन करना है, सिर मुड़ाकर चैन से बैठना नहीं। यह स्वाभाविक था, कि मौर्य राजाओं की इस असफल नीति से जनता में बौद्धधर्म के प्रति भी असंतोष का भाव उत्पन्न होने लगे। भिक्षुसंघ इस समय बड़ा ऐश्वर्यशाली हो गया था। सर्वत्र विशाल वैभव संपन्न विहारों की स्थापना हो गई थी, जिनमें बौद्ध भिक्षु बड़े आराम के साथ निवास करते थे। मनुष्यमात्र की सेवा करने वाले,

प्राणिमात्र का हित संपादन करनेवाले, भिक्षावृत्ति से दैनिक भोजन करने वाले और निरंतर घूम-घूम कर जनता को कल्याण-मार्ग का उपदेश करने वाले बौद्ध भिक्षुओं का स्थान अब सम्राटों के आश्रय में सब प्रकार का सुख भोगने वाले भिक्षुओं ने ले लिया था। सर्वसाधारण जनता के हृदय में भिक्षुओं के प्रति जो आदर था, यदि उसमें न्यूनता आने लगे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसी का परिणाम यह हुआ, कि भारत में बौद्ध-धर्म के प्रतिकूल एक प्रतिक्रिया का प्रारंभ हुआ और लोगों की दृष्टि उस प्राचीन सनातन धर्म की ओर आकृष्ट हुई, जो शत्रुओं को परास्त कर सर्वत्र दिग्विजय कर अश्वमेध यज्ञ का विधान करता था। यही कारण है, कि सेनानी पुष्यमित्र ने अंतिम मौर्य राजा बृहद्रथ को मार जब राजसिंहासन प्राप्त किया, तो मागध साम्राज्य के शत्रुओं के विरुद्ध उसने तलवार उठाई और फिर से अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया। सातवाहन राजा सातकर्णि ने भी इसी काल में दो बार अश्वमेध यज्ञ किये थे। इस समय अश्वमेध यज्ञ करने की एक प्रवृत्ति सी उत्पन्न हो गई थी और इस प्रवृत्ति के पीछे प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करने की प्रबल भावना काम कर रही थी।

एक बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार शुंग सम्राट् पुष्यमित्र ने तलवार के बल से भी बौद्ध लोगों का दमन किया था। उसने बहुत से बौद्ध भिक्षुओं का कत्ल करा दिया था, और अनेक स्तूपों व विहारों को गिरवा दिया था। इस वर्णन में चाहे अतिशयोक्ति से काम लिया गया हो, पर इसमें संदेह नहीं, कि शुंगकालीन भारत में बौद्धों के विरुद्ध एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया हो रही थी।

पर बौद्धधर्म का यह ह्रास केवल मगध और उसके समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित था। सुदूर उत्तर-पश्चिम में बौद्ध

भिक्षु अब भी प्राचीन आदर्शों का पालन करते हुए प्राणिमात्र का कल्याण करने की आकांक्षा से हिंदुकुश और पामीर की पर्वतमालाओं को लांघते हुए आगे बढ़ रहे थे। शक, युइशि और युग जातियों में अष्टांगिक आर्यमार्ग का संदेश पहुंचाने के लिये वे भारी उद्योग कर रहे थे। इसी प्रकार लंका, बरमा और उससे भी परे के प्रदेशों में बौद्धभिक्षुओं का आर्यमार्ग फैलाने का प्रयत्न जारी था। इन सब प्रदेशों में बौद्धभिक्षु एक नई सभ्यता, एक ऊंचे धर्म और एक परिष्कृत संस्कृति के संदेशवाहक बनकर परिभ्रमण कर रहे थे। इन सब स्थानों में बौद्धधर्म का उत्कर्ष इस काल में भी जारी रहा। पर वैभवशाली मौर्य सम्राटों का संरक्षण पाकर मगध तथा उत्तरी भारत के अन्य जनपदों में बौद्धभिक्षु कुछ निश्चेष्ट से हो गये थे। उनके विहारों में अपार धन था। जब अशोक और अनाथपिंडक जैसे धनियों ने अपना कोटि-कोटि धन इन बौद्ध-विहारों के अर्पण कर दिया हो, तो यदि उनमें पतन का प्रारंभ हो जावे और वे सुख-समृद्धि के कारण अपने कर्तव्य से विमुख हो जावें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। यही कारण है, कि पुष्यमित्र ने विहारों के धन-वैभव को अपना शिकार बनाया, और बौद्धभिक्षुओं की हत्या करने में भी संकोच नहीं किया।

शुंगकाल में जिस वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, वह प्राचीन वैदिक धर्म से बहुत कुछ भिन्न था। बौद्ध और जैन धर्मों ने जिन विचारधाराओं का प्रसार किया था, वे अन्य धर्मावलम्बियों के विचारों पर प्रभाव न डालतीं, यह संभव नहीं था। हमें बौद्ध विचारों का असर इस काल के दर्शनों और धार्मिक विश्वासों पर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध व जैन सृष्टि के कर्ता रूप में किसी ईश्वर को नहीं मानते

थे। सांख्य दर्शन में भी किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर को स्थान नहीं है। योगदर्शन भी सृष्टि के निर्माण के लिये किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझता। वेदांत का ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है, निमित्त कारण नहीं। जैसे मिट्टी से घट बनता है, घट मिट्टी का ही एक रूप है, घट मिट्टी से भिन्न कुछ नहीं है, ऐसे ही सृष्टि ब्रह्म से बनी है, सृष्टि ब्रह्म का ही एक रूप है। सृष्टि ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता नहीं रखती। वैदिक षड्दर्शनों में से तीन के ईश्वर संबंधी विचार बौद्ध विचारों के कितने समीप हैं। प्राचीन वैदिक ईश्वर से इनकी विचारप्रणाली में भारी भेद है। बौद्ध और जैन लोग लोकोत्तर पुरुषों में विश्वास करते थे। बोधिसत्त्व और तीर्थंकर परम पूर्ण पुरुष थे, जो सत्य-ज्ञान के भंडार, पूर्ण ज्ञानी और बुद्ध कहलाते थे। सांख्य ने इसी विचारसरणी का अनुसरण कर कपिल को लोकोत्तर ज्ञानी माना। योग ने जिस ईश्वर का प्रतिपादन किया, वह केवल 'सब से बड़ा ज्ञानी' है। ईश्वर की सत्ता के लिये उसकी केवल एक युक्ति है, 'निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्'। हमें ज्ञान के बारे में सातिशयता नजर आती है। एक व्यक्ति दूसरे से अधिक ज्ञान रखता है। कोई अन्य उससे भी अधिक ज्ञान रखता है। ऐसे ही विचार करते-करते कोई ऐसी सत्ता होगी, जिससे अधिक ज्ञानवान कोई नहीं होगा, जो सर्वज्ञ होगा, वही ईश्वर है। ऐसा व्यक्ति बुद्ध भी हो सकता है, वर्धमान महावीर भी, कपिल भी, श्रीकृष्ण भी या अन्य कोई भी। बौद्ध और जैन ऐसे ही भगवान् को मानते थे। योग-शास्त्र पर इन संप्रदायों के विचारों का असर कितना स्पष्ट है।

प्राचीन वैदिक धर्म में प्रकृति की विविध शक्तियों के रूप में

ईश्वर की पूजा की जाती थी। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि उस धर्म के प्रधान देवता थे। पर अब उनका स्थान ले लिया उन महापुरुषों ने, जिनका कि सर्वसाधारण में अपने लोकोत्तर गुणों के कारण अनुपम आदर था। शुंगकाल में जिस सनातन धर्म का पुनरुद्धार हुआ, उसके उपास्य देव वासुदेव, संकर्षण और शिव थे। बौद्ध और जैन धर्मों में जो स्थान बोधिसत्वों और तीर्थंकरों का था, वही इस सनातन धर्म में इन महापुरुषों का हुआ। बुद्ध और महावीर सर्वज्ञ थे, पूर्ण पुरुष थे। उनके गुणों को प्रत्येक मनुष्य जान सकता था, उनके चरित्र का अनुशीलन कर शिक्षा ग्रहण कर सकता था, उनकी मूर्ति के सम्मुख बैठ कर उनका साक्षात्कार कर सकता था। अब प्राचीन परिपाटी का अनुसरण कर अश्वमेध यज्ञ का पुनरुद्धार करने वाले शुंगों और सातवाहनों के धर्म में भी संकर्षण और वासुदेव पूर्ण पुरुष थे, पूर्णज्ञानी थे और उनकी मूर्तियाँ दर्शनों के लिये विद्यमान थीं। इस काल के धार्मिक नेताओं ने प्राचीन महापुरुषों में देवत्व की कल्पना कर उनको बुद्ध और महावीर के समकक्ष बना दिया। निर्गुण और निराकार ईश्वर के स्थान पर सगुण अवतार ग्रहण करने वाले ईश्वर की कल्पना हुई। इन अवतारों की मूर्तियाँ बनने लगीं और उन्हें मन्दिरों में प्रतिष्ठापित कर उनकी पूजा प्रारंभ हुई। प्राचीन वैदिक धर्म में यज्ञों के कर्मकांड की प्रधानता थी। कुण्ड में अग्नि की प्रतिष्ठा कर विविध देवताओं आवाहन किया जाता था, और पशु, अन्न समिधा आदि की आहुति देकर इन देवताओं को संतुष्ट किया जाता था। पर बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से जब एक बार यज्ञों की परिपाटी मन्द पड़ गई, तो उसका इस युग में भी पूर्णतया पुनरुत्थान नहीं हुआ। इस काल में अश्वमेधयज्ञ चाहे किये भी जाने लगे हों, पर सर्वसाधारण

में यज्ञों का पुनः प्रचलन नहीं हुआ। यज्ञों का स्थान इस समय मूर्तिपूजा ने लिया। शुंग युग में जिस प्राचीन सनातन धर्म का पुनरुद्धार हुआ, वह शुद्ध वैदिक नहीं था। उसे पौराणिक कहानी कहना अधिक उपयुक्त होगा।

इस नये पौराणिक धर्म की दो प्रधान शाखायें थीं, भागवत और शैव। शूरसेन जनपद के सात्वत लोगों में देर से वासुदेव कृष्ण की पूजा चली आ रही थी। पुराने युग में कृष्ण शूरसेन देश के महापुरुष और नेता हुए थे। कृष्ण जहाँ अंधक वृष्णि संघ के प्रमुख थे, वहाँ बड़े विचारक, दार्शनिक और धर्मोपदेशक भी थे। कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में अपने निकट संबंधियों को युद्ध के लिये सम्मुख खड़ा देख जब अर्जुन दुविधा में पड़ गया था, तो कृष्ण ने उन्हें गीता का उपदेश दिया था। उन्हीं के उपदेश से अर्जुन में बल आया, और वह कर्तव्यपालन के लिये तत्पर हुआ। वृद्धावस्था में कृष्ण योगी हो गये थे, और अंधक वृष्णिसंघ का नेतृत्व छोड़ उन्होंने मुनियों का जीवन स्वीकार किया था। जिस प्रकार वर्धमान महावीर ज्ञातृक गण में उत्पन्न हुए और गौतम बुद्ध शाक्यगण में उसी प्रकार कृष्ण अंधक वृष्णि गण में प्रादुर्भूत हुवे थे। उनके अपने गण में गीता की विचारधारा उसी समय से प्रचलित थी। शूरसेन-वासी न केवल कृष्ण की शिक्षाओं को मानते थे, पर साथ ही उन्हें भी लोकोत्तर पुरुष के रूप में पूजते थे। अब जब कि बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से सनातन आर्य धर्मावलंबी लोग भी लोकोत्तर महापुरुषों में, ईश्वरीय शक्ति का आभास देखने के लिये उद्यत थे, कृष्ण की पूजा का लोकप्रिय हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। सात्वतों का यह भागवत धर्म अब सर्वत्र फैलने लगा। निःसंदेह कृष्ण लोकोत्तर पुरुष थे। उनका जीवन आदर्श था, उनकी शिक्षायें अपूर्व थीं। यदि उनमें

ईश्वरीय भावना करके, उन्हें ईश्वर का अवतार मान के, उनके रूप में सगुण परमेश्वर की पूजा की प्रवृत्ति प्रारंभ हो, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। कृष्ण को बुद्ध और महावीर के समकक्ष रखा जा सकता था। बुद्ध और महावीर के रूप में जिस प्रकार के पुरुषों की पूजा का जनता को सदियों से अभ्यास था, कृष्ण का इस युग का रूप उसी के अनुकूल था। धीरे-धीरे कृष्ण को वैदिक विष्णु का अवतार माना जाने लगा, और उनके संबंध में बहुत सी गाथाओं का प्रारंभ हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता इस भागवत संप्रदाय का मुख्य धर्मग्रंथ था। महाभारत और भागवत पुराण में कृष्ण के दैवी रूप और महात्म्य के साथ संबंध रखनेवाली बहुत सी कथायें संगृहीत हैं।

शैव संप्रदाय का प्रवर्तक लकुलीश था। उसे शिव का अवतार माना जाता था और वह दक्खिनी गुजरात में उत्पन्न हुआ था। उसके चार शिष्यों ने शैवों की चार शाखाओं का प्रारंभ किया, जिन में से पाशुपत शाखा आगे चल कर बहुत प्रसिद्ध हुई। शैव लोग शिव की मूर्ति बना कर उसकी पूजा करते थे। शिव त्रिशूल धारण करते और नंदी की सवारी करते थे।

वैष्णव (भागवत) और शैव संप्रदायों के अतिरिक्त भी अन्य कितने ही संप्रदाय इस काल में प्रचलित हुए। ईरान से जो शक लोग भारत में आये थे, वे ईरानी लोगों की अग्नि-पूजा और सूर्यपूजा से भलीभांति परिचित थे। इन्हीं के संपर्क से भारत में सूर्य के मंदिर बने। मूलस्थानपुर (मुलतान) का सूर्यमंदिर भारत में सब से प्राचीन है। इसके पुजारी भी शाकद्वीप (शकस्थान) के ब्राह्मण नियत किए गये। सूर्य की उपासना वैदिक-काल में भी होती थी। पर उस समय सूर्य के मंदिर नहीं होते थे। सूर्य प्रकृति की एक प्रकाशमान शक्ति थी,

जिसमें भगवान् के प्रकाशमान रूप का बोध होता था। पर अब सूर्य की मूर्ति बनाई गई, जो बोधिसत्वों और तीर्थंकरों की मूर्तियों के समान हाथ, पैर, सिर वाली मनुष्य रूप थी। वेद के अन्य देवताओं, रुद्र, इंद्र, ब्रह्मा, स्कंद, नारायण, काली आदि सब की इस समय में मूर्तियाँ बनीं और मंदिर स्थापित हुए।

भारत के प्राचीन आर्यधर्म में यह एक महान् परिवर्तन था। आर्यों के पुराने जनों का धर्म बड़ा सरल था। प्रकृति की शक्तियों की देवताओं के रूप में पूजा करना, यज्ञकुंड में आहुतियाँ देकर इन देवताओं को तृप्त करना, यही प्राचीन धर्म का सार है। पर मगध के साम्राज्यवाद के विस्तार के साथ भारत के जन-समाज में प्राचीन आर्य जनों की अपेक्षा आर्य-भिन्न जातियों का महत्त्व निरंतर बढ़ने लगा था। जिन सैनिकों ने मगध के साम्राज्य को हिंदुकुश या उससे भी परे तक फैला दिया था, प्रधानतया वे आर्य-भिन्न लोगों की सेनायें ही थीं। उन्हीं में से 'भृत' सैनिक भरती किये गये थे, उन्हीं की आटविक या वनेचर सेनाओं का सहयोग लिया गया था, और उन्हीं की सैनिक श्रेणियों को अपने पक्ष में कर के मागध सम्राटों ने अपनी शक्ति का विस्तार किया था। इन आर्य-भिन्न लोगों का धार्मिक अनुष्ठान दूसरा था। इनके देवी-देवता भिन्न थे। इनके उपास्य देवों का माहात्म्य, शक्ति और गाथायें दूसरी थीं। फिर, यवन, शक और कुशाण लोग जो भारत में बहुत अंदर तक हजारों-लाखों की संख्या में घुस आये थे, उनके देवी-देवता और धार्मिक विश्वास भी प्राचीन आर्यों से भिन्न थे। मौर्यों के पतनकाल में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की जो लहर शुरू हुई, उसमें इन सब लोगों की धार्मिक परंपराओं के साथ वैदिक धर्म का समन्वय किया गया। मूलस्थानपुर का

सूर्यमंदिर शकों की धार्मिक परंपरा के साथ वैदिक देवता सूर्य के समन्वय का सर्वोत्तम उदाहरण है। शूरसेन जनपद में प्रचलित भागवत धर्म शुद्ध धर्म था। पर शूरसेन के पड़ोस में प्रबल आभीर जाति का निवास था। ये लोग वनेचर थे और पशुपालन इन का मुख्य पेशा था। इनके देवता का नाम गोपाल था। गोपाल गौओं को चराने वाला, बांसुरी बजा कर सब गौओं को इकट्ठा करने वाला और दूध-दही का शौकीन था। पशुपालक आभीरों के जीवन का वह आदर्शरूप था। यवन और शकों के आक्रमण के समय में जब आभीरों और सात्वतों का मेल हुआ, तब इनके धर्म में भी समन्वय हुआ। सात्वतों का वासुदेव कृष्ण अब गौओं को चराने वाला, बांसुरी बजाने वाला और दूध, मक्खन का शौकीन गोपाल कृष्ण बन गया।

शिव के साथ अब बहुत से विचित्र-विचित्र शक्लों वाले गणों को जोड़ दिया गया। ये गण आटविक जातियों के विविध देवता थे। जब आटविकों का आर्यों के साथ निकट संपर्क हुआ, तो उनके देवताओं का भी आर्य शिव से निकट संपर्क होना स्वाभाविक था। त्रिशूलधारी शिव नंदी बैलके साथ चलता था, उसकी शक्ति अनंत थी, उसकी उपासना से अभीष्ट फल की प्राप्ति की जा सकती थी। आटविकों या वनेचरों के देवता उसके 'गण' रूप में साथ-साथ रहते थे। बोधिसत्त्वों या तीर्थंकरों से उसकी महिमा और शक्ति किस प्रकार कम थी।

इस प्रकार इस युग में आर्यों के प्राचीन वैदिक धर्म का एक नया संस्करण हुआ। बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से इस नये पौराणिक आर्य धर्म के उपास्य देव अमूर्त न होकर मूर्त थे। मनुष्य की आकृति में उनके दर्शन किये जा सकते थे। वे अनंत शक्तिशाली सर्वज्ञ और महामहिमामय थे। उनकी

उपासना करके यथेष्ट फल की प्राप्ति की जा सकती थी। यज्ञों का माहात्म्य इस समय कम हो गया था।

इस नई धार्मिक लहर में अपूर्व जीवनी शक्ति थी। कितने ही शक, यवन और कुशाण राजाओं ने भारत में आकर इस पौराणिक धर्म को अपनाया। यदि बौद्ध लोग दूर-दूर देशों में जा कर अपने धर्म का प्रसार कर सकते थे और विदेशी म्लेच्छ लोगों को अपने धर्म में दीक्षित कर सकते थे, तो इस नवीन आर्य धर्म में भी यही शक्ति विद्यमान थी। यवन हेलिउदोर ने भागवत धर्म को अपना कर वासुदेव में अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिये विदिशा में एक गरुडध्वज का निर्माण कराया था। प्रसिद्ध कुशाण सम्राट् विम कफस शैव धर्म का अनुयायी था। कनिष्क यद्यपि बौद्ध था, पर उसके बहुत से ऐसे सिक्के भी पाये गये हैं, जिन पर शिव, स्कंद और वायु के चित्र हैं। इससे प्रतीत होता है, कि कनिष्क भी इस नये शक्तिसंपन्न आर्य धर्म का आदर करता था। कुशाण वंश का अंतिम राजा वासुदेव शैव धर्म का अनुयायी था। उसके सिक्कों पर त्रिशूल-धारी शिव की नंदी सहित प्रतिमा उत्कीर्ण है।

नये धार्मिक पुनरुत्थान के इस युग में आर्य धर्म के पुरोहित व अग्रणी ब्राह्मण लोग भी प्रारम्भिक बौद्धकाल के भिक्खुओं के समान अधिक क्रियाशील हो गये थे। संभवतः उनके संघ भी इस समय में संगठित हो गये थे, जिनमें हजारों की संख्या में ब्राह्मण लोग मनुष्य जाति का कल्याण करने के उद्देश्य से निवास करते थे। यही कारण है, कि शक और सातवाहन राजाओं के दानों का जहाँ उल्लेख है, वहां हजारों ब्राह्मणों को गौवें व अन्य संपत्ति दी गई, इस प्रकार का वर्णन आता है।

(३) जाति भेद का विकास

प्राचीन आर्य बहुत से जनों में बँटे हुए थे। जन के सब

लोगों को 'विशः' कहा जाता था। शुरू में उन में कोई वर्ण या जातियाँ नहीं थीं। सारे आर्यजन खेती, पशुपालन आदि से अपना निर्वाह करते थे। युद्ध के अवसर पर सब लोग हथियार उठा कर लड़ने के लिये प्रवृत्त हो जाते और धार्मिक अनुष्ठान के अवसर पर स्वयं सब कर्मकांड का अनुसरण करते। पर जब जन एक निश्चित प्रदेश में बस कर जनपद बन गये, तब उन्हें युद्ध की आवश्यकता अधिक अनुभव होने लगी। आर्यों को उन अनार्य जातियों से निरंतर युद्ध करना होता था, जिन्हें परास्त कर वे अपने जनपद बसा रहे थे। विविध जनपदों में आपस का भी संघर्ष जारी था। परिणाम यह हुआ, कि एक ऐसी विशेष श्रेणी बनने लगी, जिसका कार्य केवल युद्ध करना था, जो जनपद की 'जन' से रक्षा करने में प्रवृत्त हुई। इस प्रकार धीरे-धीरे एक क्षत्रिय वर्ग का विकास हुआ। इसी तरह जब यज्ञों के कर्मकांड ज्यादा जटिल होने लगे, ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख के लिये विविध अनुष्ठानों का प्रारंभ हुआ, तो ऐसे लोगों का भी पृथक् विकास होने लगा, जो इन धार्मिक विधि-विधानों में अधिक निपुणता रखते थे। ये लोग ब्राह्मण कहलाये। साधारण विशः से ब्राह्मणों और क्षत्रियों के वर्ग पृथक् होने लग गये। जो आर्य-भिन्न लोग आर्य जनपदों में बसे रह गये थे, वे आर्यों की सेवा करके ही अपनी आजीविका चला सकते थे। कृषि, शिल्प, व्यापार आदि ऊंचे पेशे वे नहीं कर पाते थे। उनकी जमीन, उनकी पूंजी—सब आर्य विशः के हाथ में चली गई थी। ये लोग शूद्र कहलाते। इस प्रकार प्रत्येक आर्य जनपद की जनता को मोटे तौर पर चार वर्णों में बाँटा जा सकता था, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का यह विभाग गुण और कर्म के ही आधार पर था, और इसका विकास सामाजिक उन्नति की विशेष परिस्थितियों के कारण ही हुआ था।

पर आर्य लोग ज्यों-ज्यों पूर्व की तरफ को बढ़ते गये, उनके जनपदों में आर्य-भिन्न लोगों की संख्या अधिकाधिक होती गई। पंजाब और गंगा-यमुना की घाटियों में विद्यमान आर्य जनपदों में अनार्य लोगों की संख्या बहुत कम थी। शूद्र रूप में उन्हें सुगमता से अपने समाज का ही एक अंग बनाया जा सकता था। पर पूर्व और दक्षिण में आगे बढ़ने पर आर्यों को एक नई परिस्थिति का सामना करना पड़ा। मगध, अंग, वंग, कलिंग और अवंति जैसे जनपदों में अनार्य लोग बहुत बड़ी संख्या में थे। उनका न जड़ से उन्मूलन किया जा सकता था और न उन्हें आगे-आगे खदेड़ा जा सकता था। उनकी सैनिक शक्ति भी कम नहीं थी। वे अच्छे वीर योद्धा थे, और संख्या में बहुत अधिक थे। पूर्व और दक्षिण में बहुत दूर तक आगे बढ़ जाने वाले आर्य विजेताओं ने विवश होकर इन अनार्यों की स्त्रियों से विवाहसंबंध भी स्थापित किये थे। आर्य स्त्रियाँ पर्याप्त संख्या में आर्य विजेताओं के साथ इतनी दूर तक नहीं आ सकती थीं। परिणाम यह हुआ, कि अनेक वर्णसंकर जातियों का विकास हुआ। मगध और उसके समीपवर्ती जनपदों में बौद्ध और जैन धर्मों के रूप में जिन नवीन धार्मिक आंदोलनों का प्रारंभ हुआ था, उनके वर्णभेद और जातिभेद संबंधी विचार इसी नई परिस्थिति के परिणाम थे। ब्राह्मण व किसी विशेष श्रेणी की उत्कृष्टता की बात उन्हें समझ नहीं आती थी। वहाँ जो सैनिक लोग थे, वे भी शुद्ध आर्य क्षत्रिय न होकर व्रात्य थे। व्रात्यों को भी प्राचीन ग्रंथों में वर्णसंकर गिना गया है। वज्जि, मल्ल, लिच्छवि आदि सब व्रात्य ही थे। पूर्व और दक्षिण के इन जनपदों में न केवल क्षत्रिय ही, पर ब्राह्मण भी वर्णसंकर थे। [illegible] जाति के ब्राह्मण समझे जाते थे, पर उनमें आर्य खून विद्यमान था। जब मागध साम्राज्य

का विकास हुआ, और मगध की अनार्य प्रधान सेनाओं ने सारे भारत को जीत लिया, तो प्राचीन आर्य जनों के शुद्ध ब्राह्मणों व क्षत्रियों की उत्कृष्टता कैसे कायम रह सकती थी। बौद्ध और जैन ब्राह्मण व क्षत्रियों की उत्कृष्टता को नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में कोई व्यक्ति अपने गुणों व चरित्र से ही ऊंचा होता था जन्म या जाति से नहीं। मागध साम्राज्य के विकास की नई परिस्थितियों में यह सिद्धांत कितना समयानुकूल था।

अब शक, यवन, कुशाण लोगों के आक्रमणों से एक और नई परिस्थिति उत्पन्न हुई। इन विजेताओं ने भारत के बहुत बड़े भाग को जीत कर अपने अधीन कर लिया था। ये उत्कट योद्धा थे। बहुत बड़ी संख्या में ये लोग भारत के विविध जनपदों में विजेता के रूप में बस गये थे। इनकी राजनीतिक और सामाजिक स्थिति बहुत ऊंची थी। बौद्ध और जैन विचारधारा के अनुसार इनमें सामाजिक जीवन में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती थी। भारत में आकर इन्होंने बौद्ध या जैन धर्म को अपनाना शुरू कर दिया था। जाति-पांति व वर्णभेद के विचारों से शून्य इन धर्मों के लिए इन म्लेच्छ विजेताओं को अपने समाज का अंग बना लेना विशेष कठिन नहीं था।

पर सनातन आर्य धर्म के पुनरुत्थान के इस काल में इस नई परिस्थिति का सामना चातुर्वर्ण्य में विश्वास रखने वाले पौराणिक धर्मावलंबियों ने किस प्रकार किया? चातुर्वर्ण्य का सिद्धांत प्राचीन आर्य धर्म की एक विशेषता थी। बौद्धों के समय में उसका सर्वथा परित्याग कर सकना संभव नहीं था। पर इन शक्तिशाली आर्य-भिन्न योद्धाओं, यवनों, शकों व अन्य बहुत सी जातियों को चातुर्वर्ण्य में किस प्रकार स्थान दिया जाता? किस प्रकार ऐसी व्यवस्था की जाती, कि इस युग की नई भावना

से चातुर्वर्ण्य का सिद्धांत पुनः अनुप्राणित हो जाता ? वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के नेताओं ने इस संबंध में जिस नीति का अनुसरण किया, वह बड़े महत्व की है। उन्होंने कहा यवन, शक, पारद, पल्हव, कांबोज, द्रविड़, पौण्ड्रक, आदि ये सब जातियाँ मूलतः क्षत्रिय थीं, पर ब्राह्मणों का संपर्क न रहने से ये वृषलत्व (म्लेच्छत्व) को प्राप्त हो गईं। पर अब जब इन्हें फिर ब्राह्मणों का संपर्क मिला, इन्होंने वैदिक संप्रदायों को अपनाया, तो इन्हें क्षत्रिय क्यों न समझ लिया जाता। भारत में जो शक, पल्हव, यवन आदि आये, वे सब इस समय क्षत्रियों में शामिल कर लिये गये। हमारे पुरखाओं की यह युक्ति कितनी सुन्दर थी ! जो ये म्लेच्छ आक्रांता भारत पर आक्रमण कर यहाँ अपनी राजनीतिक शक्ति को स्थापित करने में सफल हुए थे, वे सब मनु के इस सिद्धांत के अनुसार क्षत्रियवर्ग में शामिल हो गये। ब्राह्मणों के पुनः संपर्क से अब उन्होंने वासुदेव कृष्ण और शिव की उपासना प्रारंभ कर दी थी, उनमें वृषलत्व कुछ शेष नहीं रहा था। इसी तरह इन विदेशी म्लेच्छों के पुरोहित ब्राह्मणवर्ग में सम्मिलित कर लिये गये, क्योंकि उन्होंने भी प्राचीन आर्य विचारधारा को अपना लिया था। मुलतान के सूर्यमंदिर में शाकद्वीप (शकस्थान) के 'ब्राह्मणों' को पुजारी के रूप में नियत करना इसका स्पष्ट उदाहरण है।

मगध, अवंति, अंग आदि जनपदों में आर्य अपनी रक्तशुद्धि को कायम रखने में समर्थ नहीं हुए थे। उन्होंने आर्य-भिन्न जातियों के साथ रक्तसंबंध स्थापित किये थे। इन्हें इस काल में व्रात्य और वर्णसंकर कहा गया। मनुस्मृति के अनुसार भूर्जकंटक और आवंत्य व्रात्य ब्राह्मणों की संतान थे, और झल्ल, मल्ल, व लिच्छवियों की उत्पत्ति व्रात्य क्षत्रियों से हुई थी। कारूष और सात्वत व्रात्य वैश्यों की संतति थे। वैश्य

और क्षत्रिय के सम्मिश्रण से मागध और वैश्य व ब्राह्मण के सम्मिश्रण से वैदेह लोगों का विकास हुआ था। मनु के इस मत में कोई सचाई हो या न हो, पर इस वैदिक पुनरुत्थान युग के विचारक इस तथ्य को दृष्टि में ला रहे थे कि मागध, वैदेह, आवंत्य, लिच्छवि, सात्वत आदि लोग शुद्ध आर्य नहीं हैं, पर समाज में उनका बड़ा महत्व है। उन्हें वे व्रात्य, ब्राह्मण, व्रात्य क्षत्रिय, व्रात्य वैश्य व वर्णसंकर बताकर चातुर्वर्ण्य के दायरे में शामिल करने का प्रयत्न कर रहे थे।

इस समय के विचारकों ने एक और सिद्धांत का प्रतिपादन किया। अपने कर्म से शूद्र ब्राह्मण बन जाता है, और ब्राह्मण शूद्र। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी अपने कर्म से ही होते हैं। युग की परिस्थितियों के अनुसार यह सिद्धांत कितना क्रियात्मक और समयानुकूल था। जब शक, यवन और कुशाण जैसी म्लेच्छ जातियाँ आर्यक्षत्रियों को परास्त कर राज्य करने में व्यापृत थीं, शूद्रजाति में उत्पन्न हुए बौद्धभिक्खु जनता के धर्मगुरु बने हुए थे, तब यदि कर्म के अनुसार चातुर्वर्ण्य का प्रतिपादन किया जावे, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

पर यहाँ यह भी स्पष्ट करने की आवश्यकता है, कि वर्ण और जाति दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। किसी भी आर्य 'जन' में चारों वर्ण हो सकते थे। गुण और कर्म के अनुसार किसी भी मानवसमूह को इन चार वर्णों में रखा जा सकता है। जब प्राचीन विचारकों को एक छोटे से आर्य जनपद के क्षेत्र से निकल कर विशाल भारत के जनसमाज में इस चातुर्वर्ण्य के सिद्धांत का प्रयोग करना पड़ा, तो उन्हें नई विभिन्न परिस्थितियों के कारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, यह हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं। पर इस युग के भारत में बहुत सी जातियों का पृथक्-पृथक् रूप में विकास हो रहा था। वर्तमान

भारत में खत्री, अरोड़ा, रस्तोगी, कोली, मुरई आदि जो सैकड़ों जातियां पाई जाती हैं, उन्हें किसी वर्ण में सम्मिलित करना सुगम नहीं है। कोली और मुरई शूद्रों में शामिल किये जाने से इनकार करते हैं। पर क्षत्रिय लोग उन्हें क्षत्रिय मानने को तैयार नहीं हैं। यही बात और बहुत सी जातियों के संबंध में कही जा सकती है।

वास्तविकता यह है कि प्राचीन भारत में जो सैकड़ों छोटे-बड़े गण राज्य थे, वे ही इस युग में धीरे-धीरे जातियों का रूप धारण करने लगे। प्राचीन गणराज्य दो प्रकार के थे, वार्ता-शस्त्रोपजीवि और राजशब्दोपजीवि। 'वार्ता' का अभिप्राय कृषि, पशुपालन और वाणिज्य से है। कुछ गण जहां कृषि, पशुपालन और वाणिज्य करके जीवननिर्वाह करते, वहां शस्त्र भी धारण करते थे। कंबोज, क्षत्रिय और श्रेणि गण इसी प्रकार के थे। लिच्छवि, वज्जि, कुकुर, कुरु, पंचाल आदि गण राजशब्दोपजीवि थे। इन में प्रत्येक कुल का नेता राजा कहलाता था, और अपने राजत्व का इन्हें बड़ा अभिमान था। प्रत्येक गण में एक-एक 'जन' का अभिजन था। इन जनों को अपने वंश की उच्चता और रक्त की शुद्धता का बड़ा गर्व था। कोशल-राज प्रसेनजित् के प्रयत्न करने पर भी शाक्यगण के राजा अपनी कुमारी को उसके साथ विवाह में देने के लिये तैयार नहीं हुए थे। अब मगध के साम्राज्यविस्तार के साथ इन गणों की राजनीतिक स्वतंत्रता का अंत हो गया था। मागध सम्राटों ने गणों को नष्ट करने तथा उनकी स्वतंत्रता को मिट्टी में मिला देने में कुछ भी उठा नहीं रक्खा। परिणाम यह हुआ कि गण-राज्य समाप्त हो गये। पर मागध सम्राटों की नीति यह थी, कि वे गणों के कुछ धर्मों को नष्ट न करें। इन गणराज्यों में जो अपने रीतिरिवाज व स्थानीय कानून प्रचलित थे, उन्हें

मागध सम्राटों ने न केवल स्वीकार ही किया था, पर उन्हें साम्राज्य के कानून का एक अंग मान लिया था। यही कारण है, कि इन विविध स्थानीय कानूनों को राजकीय रजिस्टरों में रजिस्टर्ड (निबंध पुस्तकस्थ) करने की व्यवस्था की गई थी। भारत के प्राचीन आचार्यों ने 'स्वधर्म' के सिद्धांत पर बहुत ज़ोर दिया है। जैसे प्रत्येक मनुष्य को 'स्वधर्म' का पालन करना चाहिए, वैसे ही साम्राज्य के प्रत्येक अंग, ग्राम, कुल, गण और जनपद को भी 'स्वधर्म' में दृढ़ रहना चाहिये। जिसके जो अपने व्यवहार, रीतिरिवाज व कानून हैं, उनका उसे उल्लंघन नहीं करना चाहिये। यदि कोई उनका उल्लंघन करे, तो राजा का कर्तव्य है, कि उसे दण्ड दे और 'स्वधर्म' पर दृढ़ रहने के लिये बाधित करे।

प्राचीन सम्राटों की इस नीति का परिणाम यह हुआ, कि राजनीतिक स्वाधीनता के नष्ट हो जाने पर भी गणों की सामाजिक व आर्थिक स्वाधीनता कायम रही। उनके लोग अपने स्थानीय धर्म, व्यवहार व कानून का पहले के समान ही पालन करते रहे। इसी से वे धीरे-धीरे जाति व बिरादरी के रूप में परिवर्तित हो गये। प्राचीन योरप में भी भारत के ही समान गणराज्य थे। पर वहाँ जब गण साम्राज्यवाद का विकास हुआ, तो वहाँ के रोमन सम्राटों ने गण राज्यों की न केवल राजनीतिक सत्ता को ही नष्ट किया, पर साथ ही उनके धर्म, व्यवहार, कानून और रीतिरिवाज का भी अंत किया। रोमन सम्राट् अपने सारे साम्राज्य में एक रोमन कानून जारी रखने के लिये उत्सुक रहते थे। भारतीय सम्राटों के समान वे सहिष्णुता की नीति के पक्षपाती नहीं थे। यही कारण है, कि योरप के गण-राज्य भारत के सदृश जाति बिरादरियों में परिवर्तित नहीं हो सके। भारत में गणराज्यों के जाति बिरादरियों के रूप में

विकसित होने का परिणाम यह हुआ कि इतिहास के उस युग में जब संसार में कहीं भी लोकसत्तात्मक शासन की सत्ता नहीं रही, सब जगह एकच्छत्र सम्राटों का राज्य हुआ, वहाँ भारत में साधारण जनता अपना शासन स्वयं करती रही, अपने साथ संबंध रखने वाले मामलों का निर्णय अपनी बिरादरी की पंचायत में स्वयं करती रही। राजनीतिक दृष्टि से परतंत्र हो जाने के बाद भी सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में उनका गण बाद में भी जीवित रहा।

वर्तमान समय की बहुत सी जातियों की उत्पत्ति प्राचीन गणराज्यों में ढूंढी जा सकती है। पंजाब के आरट्ट और क्षत्रिय (क्सेथ्रोइ) गण इस समय के अरोड़े और खत्री जातियों में बदल गये। कौटलीय अर्थशास्त्र का श्रेणि गण इस समय के सैनियों के रूप में अब भी जीवित है। बौद्ध काल के पिप्पलिवन के मोरिय इस समय भी मोरई जाति के रूप में विद्यमान हैं। प्राचीन रोहितक गण इस समय के रस्तोगियों, रुतगियों व रोहतगियों के रूप में, आग्रेयगण अग्रवालों के रूप में, कंबोज गण कंबो जाति के रूप में, कोलिय गण कोरी जाति के रूप में और अर्जुनायन गण अरायन जाति के रूप में इस समय भी स्वतंत्र रूप से विद्यमान हैं। इसी प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण पेश किये जा सकते हैं, पर हमारे विषय को स्पष्ट करने के लिये ये ही पर्याप्त हैं।

भारत की बहुत सी वर्तमान जातियों में यह किंवदंती चली आती है, कि उनका उद्भव किसी प्राचीन राजा से हुआ है। वे किसी राजा की संतान हैं, और किसी समय उनका भी पृथिवी पर राज्य था। ये किंवदंतियाँ इसी सत्य पर आश्रित हैं, कि किसी समय ये जातियाँ स्वतंत्र गणराज्यों के रूप में विद्यमान थीं और ये इन गणराज्यों की ही उत्तराधिकारी हैं। जो

गण वार्ताशस्त्रोपजीवि थे, उनकी शस्त्रोपजीविता की इस युग में आवश्यकता नहीं रही थी, क्योंकि वे शक्तिशाली सम्राटों की अधीनता व संरक्षण में आ गये थे। अब वे केवल वार्तोपजीवि रह गये, और गुणकर्मानुसार वर्णविभाग करने पर उनकी गणना वैश्यों में की जाने लगी। अग्रवाल, रस्तोगी आदि सभी ऐसी ही वैश्य जातियां हैं। किसी समय रोहितक और आग्रेय गणों ने सिकंदर की सेनाओं का डट कर मुकाबला किया था पर अब उन के उत्तराधिकारी केवल वार्तोपजीवि ही रह गये हैं।

गणों की जातियों के रूप में परिवर्तित होने की प्रक्रिया का प्रारंभ होना इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। सात्वतों और कारूषों की तरह चाहे उस समय के स्मृतिकार इन्हें व्रात्य वैश्य कहें और चाहे लिच्छवि और मल्लों की तरह व्रात्य क्षत्रिय, पर महत्त्व की बात यह है, कि प्राचीन समय के स्वतंत्र गण इस समय जातियों के रूप में परिवर्तित होने प्रारंभ हो गये थे।

शुद्ध आर्य जनपदों में जो चारों वर्णों का भेद था, वह भी बहुत कुछ कर्म के ऊपर आश्रित था। वर्ण पूर्णतया जातिभेद को सूचित नहीं करते थे। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह इस युग में जारी थे। ऊँचे वर्ण के लोग अपने से नीचे वर्ण की स्त्री के साथ विवाह कर सकते थे। इसी तरह ऊँचे वर्ण की स्त्री का निचले वर्ण के पुरुष के साथ विवाह भी असाधारण बात नहीं थी। इस प्रकार के विवाहों से उत्पन्न संतान को पिता की संपत्ति में हिस्सा भी मिल सकता था। पुराने समय के ब्राह्मणों के बहुत से वंशज ऐसे कार्यों में भी लगे हुए थे, जो तुच्छ और नीच कर्म समझे जाते थे। मनुस्मृति में ऐसे ब्राह्मणों की सूची दी गई है, जिन्हें श्राद्ध में नहीं बुलाना चाहिये। इस सूची में से कुछ को यहां उद्धृत करना उपयोगी है। चिकित्सक, पुजारी, मांस बेचने वाले, बुरे प्रकार का व्यापार करने वाले, राजा के

हरकारे का काम करने वाले, सूदखोर, पशुपालक, नट नर्तक, तेली, शराबी, विष बेचने वाले, धनुष और बाण बनानेवाले, जुआरी, हाथी, बैल, घोड़े और ऊँटों को साधने वाले, मिस्त्री, माली, कुत्तों को पालने वाले, बाज पालनेवाले, भिखारी, कृषिजीवी, भेड़ों और भैंसों का रोजगार करनेवाले और मुर्दा ढोने वाले—ये तथा अन्य इसी प्रकार के कर्म करनेवाले बहुत से ब्राह्मण मनुस्मृति में ऐसे गिनाये गये हैं, जिन्हें श्राद्ध के अवसर पर नहीं बुलाना चाहिये। इससे प्रतीत होता है, कि इस मौर्योत्तर युग में ब्राह्मण वर्ण के लोग केवल विद्या पढ़ने पढ़ाने और यज्ञ करने कराने में ही व्यापृत नहीं रहते थे, अपितु अनेक प्रकार के तुच्छ तथा नीच कर्मों द्वारा भी आजीविका चलाते थे। आर्य जनपदों में धार्मिक अनुष्ठानों तथा विधि-विधानों के विशेष होने के कारण जिस पृथक् ब्राह्मण श्रेणि या वर्ण का विकास हुआ था, उसके वंशज अब सब प्रकार के ऊँच-नीच कर्मों द्वारा अपना पेट पालने लगे थे। पर वे असली ब्राह्मण नहीं हैं, यह भावना इस काल में विद्यमान थी। शायद इसीलिये आगे चलकर भारत में नाऊ, माली, महाब्राह्मण मिस्त्री, नट, वैद्य, योगी आदि जिन विविध जातियों का विकास हुआ, वे ब्राह्मणों का गौरवमय पद नहीं पा सकीं, यद्यपि वे अब तक भी अपने को ब्राह्मण ही समझती हैं, और अपने को ब्राह्मण वर्ण का होने का दावा हल्के तौर पर करती रहती हैं।

आर्यों के अधीन जो बहुत से आर्य-भिन्न शूद्र व दास लोग थे, वे सेवा द्वारा ही अपना पेट पालते थे। पर सेवा का मतलब घरेलू नौकरी से नहीं है। आर्य गृहपतियों के अधीन चर्मकार, तंतुवाय, शिल्पी, लुहार आदि विविध प्रकार का कार्य करनेवाले सब तरह के दास रहते थे। धीरे-धीरे इनकी भी पृथक् जातियाँ बनने लगीं। दासों व शूद्रों का अपना कोई

स्वाधीन जीवन तो था ही नहीं। उनका कार्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहपतियों की आवश्यकताओं को पूरा करना ही था। इनमें यदि कोई भेद था, तो केवल पेशे व कर्म का था। अन्यथा शूद्र रूप में इन सबकी स्थिति एक थी। चमार, जुलाहे, लुहार, शिल्पकार आदि जो बहुत सी छोटी समझी जाने वाली जातियां इस समय भारत में हैं, उनका विकास इसी प्रकार हुआ। ये जातियाँ पंजाब में बहुत कम संख्या में हैं, क्योंकि वहां के आर्य जनपदों में आर्यभिन्न लोगों की संख्या बहुत कम थी। शूद्र व दास इससे अधिक संख्या में हो ही कैसे सकते थे? पर पूर्व व दक्षिण के आर्यशासित जनपदों में ये जातियाँ बहुत अधिक थीं, इसीलिये उनमें नीच समझी जाने वाली जातियाँ अब भी बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। वर्तमान समय की अछूत व नीच जातियाँ प्राचीन भारत के दासों की ही उत्तराधिकारी हैं।

खान-पान के संबंध में विशेष विचार इस युग में नहीं था। पतञ्जलि के महाभाष्य के अनुसार कुछ जातियाँ ऐसी थीं, जो पात्र से निरवसित थीं, अर्थात् उनके बरतनों में आर्य लोग भोजन नहीं करते थे, और न उन्हें अपने बरतनों में खिलाते थे। पर शकों और यवनों की गिनती इन पात्र निरवसित लोगों में नहीं थी। केवल चांडाल, निषाद आदि बहुत नीचा समझी जाने वाली जातियों से ही यह व्यवहार किया जाता था।

(४) भिक्षु जीवन के विरुद्ध भावना

आश्रमव्यवस्था आर्य जीवन और संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रत्येक मनुष्य को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ अवश्य होना चाहिये। जो विद्वान हों, ब्राह्मण हों, उन्हें वानप्रस्थ के बाद संन्यासी होकर जनता की सेवा करनी चाहिये। संन्यासी को अपने भरण-पोषण के लिये गृहस्थों पर निर्भर रहना

होता है, इसीलिये केवल उन्हीं लोगों को इस आश्रम में प्रवेश का अधिकार है, जो वस्तुतः [illegible] जैसे पवित्र और उच्च व्रत का पालन करने के योग्य हों। पर बौद्ध और जैन संप्रदायों में भिक्खु बनने के लिये इस आदर्श का पालन नहीं किया जाता था। इसमें संदेह नहीं, कि बुद्ध ने भिक्खुसंघ का संगठन मनुष्य मात्र के कल्याण और सब प्राणियों के हितसाधन के लिये किया गया था। अपने धर्ममार्ग के प्रचार के लिये भी महात्मा बुद्ध ने लोगों को भिक्खु बनने की प्रेरणा की थी। पर इसका दुरुपयोग सुगमता से हो सकता था। धीरे-धीरे बहुत बड़ी संख्या में युवा और वृद्ध, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र सब प्रकार के लोग भिक्खु बनने लगे। उन्हें अपनी आजीविका के लिये स्वयं परिश्रम करने की कोई आवश्यकता न थी। धनी और राजा लोग इनके पालन के लिये धन को पानी की तरह बहाते थे। समाज के लिये इस प्रकार के लोगों की एक बहुत बड़ी फौज बड़े खतरे की बात थी। राजा अशोक से पहले भी आचार्य चाणक्य ने इस खतरे को अनुभव किया था। उसने व्यवस्था की थी, कि भिक्खु या परिव्राजक होने के लिये राज्य की अनुमति लेना आवश्यक होना चाहिये। जिन लोगों ने अपने परिवार के प्रति सब कर्तव्यों का पालन कर लिया हो, जो संतान को उत्पन्न करने के अयोग्य हों, उन्हीं को विशेष दशा में भिक्खु बनने की अनुमति सरकार द्वारा मिलनी चाहिये।

अब इस मौर्योत्तर काल के विचारकों ने भी इसी विचारधारा का अनुसरण किया। गृहस्थ आश्रम सब आश्रमों में ऊंचा है, उसीसे सब वर्णों व आश्रमों का पालन होता है, इस विचार पर इस समय बहुत जोर दिया जाने लगा। मनु ने कहा, जैसे वायु का आश्रय पाकर सब जंतु जीते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय पाकर सब आश्रमों का गुजारा चलता है। क्योंकि

अन्य तीन आश्रमियों का गृहस्थ ही प्रतिदिन ज्ञान और अन्न से पोषण करता है, इसलिये वही आश्रम सब में श्रेष्ठ है। इसी विचार को महाभारत के शांति पर्व में इस प्रकार प्रकट किया गया, कि जैसे नदी नाले सब अंत में समुद्र में ही जाकर मिल जाते हैं, इसी प्रकार सब आश्रमों का आश्रय गृहस्थ ही है। मनु के अनुसार, एक आश्रम से क्रमशः दूसरे में प्रवेश कर, यथासमय होम-हवन आदि अनुष्ठानों को संपादित कर पूर्ण जितेंद्रिय हो, बाद में परिव्राजक होना चाहिये। पितृऋण, ऋषिऋण और देवऋण, तीनों को चुका कर तब मोक्ष की ओर मन लगाना चाहिये। तीन ऋणों को चुकाये बिना मोक्ष के लिये प्रयत्न करने वाले का पतन होता है। ब्रह्मचर्य में वेद बिना पढ़े, गृहस्थ में संतान बिना उत्पन्न किये और वानप्रस्थ में यज्ञानुष्ठान किये बिना जो सीधा मोक्ष के लिये दौड़ता है, वह नीचे की तरफ को ही गिरता है। हरेक मनुष्य को भिक्षु या मुनि बन कर निर्वाण या कैवल्यपद के लिये प्रयत्न करने लग जाने के विरुद्ध इससे बढ़कर युक्ति और क्या हो सकती है? यह स्पष्टरूप से उस प्रतिक्रिया को सूचित करता है, जो इस युग में भिक्षु जीवन के विरुद्ध बल पकड़ रही थी।

महाभारत के शांतिपर्व में कथा आती है, कि महाभारत युद्ध के बाद अपने गुरुजनों तथा बंधु-बांधवों का नाश देखकर युधिष्ठिर के मन में बड़ी ग्लानि हुई। उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह राजपाट छोड़कर संन्यास के लिये तैयार हो गया। इस पर उसके भाई उसे समझाने लगे। इस प्रकरण में महाभारतकार ने भीम के मुख से भिक्षु जीवन के विरुद्ध अपने विचारों को व्यंग्य के रूप में प्रकट किया है। वह कहता है, जब कोई आफत आ पड़े, मनुष्य बूढ़ा हो जावे, या शत्रुओं से उसकी दुर्गति हो जाय, तभी सन्यास ले लेना चाहिये। [illegible]

करके, केवल अपना पेट भरते हुए, धर्म का ढोंग रचकर मनुष्य नीचे ही गिर सकता है। अकेला आदमी, जिसे पुत्र-पौत्रों का भरण-पोषण न करना हो, देवताओं, ऋषियों, अतिथियों व पितरों का पालन न करना हो, जंगल में सुख से रह सकता है। जंगलों में रहने वाले न तो वे मृग स्वर्ग को पाते हैं, न सूअर और न पक्षी। यदि संन्यास से कोई सिद्धि पा सके, तो पहाड़ और वृक्ष तुरंत ही सिद्धि पा लें। भीष्म की ये युक्तियाँ उस समय के भिक्षुओं के जीवन का कितनी सुंदरता से उपहास करती हैं।

फिर अर्जुन ने कुछ तापसों और पक्षी बने हुए इन्द्र का एक पुरातन इतिहास सुनाकर कहा—जंगलों में इस तरह सुख से जीवन बिताया जा सकता है, यह सोच कर कुछ अजात-श्मश्रु (बिना दाढ़ी मूँछ के) द्विज घर बार छोड़ कर संन्यासी हो गये थे।

स्त्रियों के भिक्षुणी बनने के तो ये विचारक और भी खिलाफ थे। अशोक से पहले ही इस संबंध में नीतिकारों की भावना बड़ी प्रबलता से इस बात के विरुद्ध थी। स्त्रियों का प्रधान कार्य संतानोत्पत्ति द्वारा समाज की जनसंख्या बढ़ाना है, नीतिकार इस बात पर बड़ा जोर देते थे। इसलिये उनका भिक्षुणी बन कर विहारों में बैठ जाना उन्हें सह्य नहीं था। भिक्षुणी व प्रव्रजिता स्त्रियों को इस युग में बहुत नीची दृष्टि से देखा जाने लगा था।

वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के इस युग में धर्म का नेतृत्व जिन ब्राह्मणों के हाथ में आया था, वे संन्यासी व भिक्षु बने बिना ही, गृहस्थ रहते हुए अपने कर्तव्यों का संपादन करते थे। भिक्षु जीवन सबसे उच्च है, गृहस्थ लोग सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए मोक्षसाधन नहीं कर सकते, यह विचार बौद्धों और जैनों में बहुत जोर पकड़े हुए था। इस समय इसके विरुद्ध

प्रतिष्ठित हुई। गृहस्थाश्रम सबसे उच्च और महत्त्वपूर्ण है, गृहस्थ रहते हुए ही मनुष्य धर्म और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को पूर्ण कर सकता है, इस भावना का इस युग में फिर उदय हुआ।

(५) विवाह संबंधी नियम

मौर्य युग में तलाक की प्रथा प्रचलित थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में तलाक के लिये 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है। स्त्री और पुरुष, दोनों खास-खास अवस्थाओं में तलाक कर सकते थे। पर इस युग में यह प्रथा कमजोर पड़ गई थी। मनुस्मृति के अनुसार पुरुष स्त्री का त्याग कर सकता है, पर त्याग हो जाने के बाद भी वह पति की भार्या बनी रहेगी। पति से त्यागी जाने पर स्त्री को यह अधिकार नहीं है, कि वह दूसरा विवाह कर सके। दूसरी तरफ स्त्री को यह अधिकार नहीं, कि वह पति का त्याग कर सके। स्त्री यदि रोगिणी हो, तो उससे अनुमति लेकर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता था।

नियोग की प्रथा इस समय में भी जारी थी। संतान न होने की दशा में देवर से या किसी अन्य सपिंड व्यक्ति के साथ नियोग किया जा सकता था। मनु को विधवा विवाह पसंद नहीं था। यद्यपि कुछ अवस्थाओं में स्त्रियों के पुनर्विवाह का विधान किया गया है, पर मनु का मंतव्य यही था, कि स्त्री का दूसरा विवाह नहीं होना चाहिये।

यह स्पष्ट है, कि स्त्रियों की स्थिति इस युग में मौर्यकाल की अपेक्षा अधिक हीन थी। आगे चलकर स्मृतिकार स्त्रियों की स्थिति को और भी हीन करते गये। परिणाम यह हुआ, कि वैदिक काल की स्त्रियों और बाद की स्त्रियों की स्थिति में भेद निरंतर बढ़ता ही चला गया। बौद्ध संघों में भिक्षुणियों ने

जो अपने पृथक् संघ बनाये थे, उनमें अत्याचार की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। स्वयं महात्मा बुद्ध को इस बात का भय था। भिक्खुनी संघ के अत्याचार को देखकर ही शायद इन स्मृतिकारों में यह प्रवृत्ति हुई थी, कि स्त्रियों की स्वाधीनता को कम करते जावें, और आगे स्त्रियों को उनके पतियों का अधिक से अधिक वशवर्ती बनाते जावें।

(६) अहिंसावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया

बौद्ध और जैन धर्मों ने अहिंसा पर बहुत बल दिया था। किसी भी प्राणी की हत्या नहीं करनी चाहिये, मांस भक्षण नहीं करना चाहिये और प्राणिमात्र की रक्षा के लिये सदा तत्पर रहना चाहिये, ये इन धर्मों के सिद्धान्त थे। यज्ञों में पशुबलि के विरुद्ध इन्होंने प्रबल आवाज उठाई थी। अशोक जैसे राजाओं ने अपने जीवन में अहिंसा के आदर्श का पालन कर अपनी प्रजा को भी इसी का उपदेश दिया था।

पर अशोक काल के पुनरुत्थान के इस युग में अहिंसा के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। महाभारत में एक संदर्भ आता है, जिसमें 'जीवो जीवस्य भोजनम्' के सिद्धान्त का बड़ी सुंदर रीति से प्रतिपादन किया गया है। हम प्रकृति में देखते हैं, कि एक जीव को दूसरा जीव खाता है। उसे अन्य जीव खाता है। सैकड़ों इस प्रकार के दृष्टान्त देकर महाभारतकार कहता है, कि जीव ही जीव का भोजन है। निर्जीव पदार्थ को खाकर कोई जीव प्राणधारण नहीं कर सकता, अतः यह प्रकृति का ही नियम है, कि जीव जीव को खाकर जीवित रहे। फिर हिंसा में क्या दोष है?

मनुस्मृति में भी मांस भक्षण का विधान है। मनु महाराज कहते हैं, ब्राह्मणों को यज्ञ के लिये प्रशस्त मृगों और पक्षियों को

मारना चाहिये। पुराने समय में भी यही प्रथा थी। यज्ञीय मांस को स्वयं खाना चाहिये। मांसाहार की पुष्टि को भी मनु ने व्यक्त किया है। प्रजापति ने जो कुछ स्थावर और जंगम रचा है, सब प्राणियों का अन्न भोजन है। चरों के अन्न अचर हैं, दाढ़ वालों के अन्न बिना दाढ़ के प्राणी हैं, हाथ वालों के अन्न हस्तहीन प्राणी हैं, और शूरों के अन्न भीरु हैं। खाने योग्य प्राणियों को खाने से खानेवाला दूषित नहीं होता। विधाता ने ही खाने वाले और खाने योग्य प्राणी बनाये हैं।

पर अहिंसा के संबंध में बौद्ध और जैन धर्मों का इस युग के स्मृतिकारों व विचारकों पर कोई प्रभाव न हो, यह बात नहीं है। मनुस्मृति व इस युग के अन्य ग्रंथों में वृथा हिंसा का विरोध किया गया है। यज्ञ में हिंसा करने से पाप नहीं लगता। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' यह विचार इस काल में फिर प्रबल हुआ। पर यज्ञ के बिना, अकारण हिंसा बुरी बात है। यह स्मृतियों को भी अभिमत था।

बौद्ध विचारों का ही यह प्रभाव था, कि मांस भक्षण संबंधी अपने विचारों को मनु ने इस प्रकार प्रकट किया कि मांस भक्षण में दोष तो कोई नहीं, क्योंकि यह जंतुओं की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, पर यदि इसको न खाया जाय तो बड़ा उत्तम फल होता है। मांस भक्षण इस युग में बहुत अच्छा समझा जाता हो, सो बात नहीं थी। एक अन्य स्थान पर मनु ने लिखा है—प्राणियों की हिंसा किये बिना मांस प्राप्त नहीं होता, और प्राणियों का वध करना कोई अच्छी बात नहीं। अतः मांस नहीं खाना चाहिये। इसका अभिप्राय यही है, कि प्राचीन सना-तन धर्म के पुनरुत्थान के इस युग में यज्ञों में पशुहिंसा करने, श्राद्ध आदि धार्मिक अनुष्ठानों में मांस का भक्षण करने और यज्ञीय पशु के मांस को खाने का जो स्मृतिकार प्रतिपादन कर

रहे थे, पर व्यर्थ हिंसा के विरुद्ध जो भावना बौद्ध काल में उत्पन्न हुई थी, उसका प्रभाव अभी शेष था। यह प्रभाव भारतीय आर्य धर्म पर सदा के लिये स्थिर सा हो गया। भागवत वैष्णव धर्म के अनुयायी बौद्धों और जैनों के समान ही अहिंसावादी थे। यज्ञों में प्राचीन परिपाटी के अनुसार एक विशेष अनुष्ठान के रूप में हिंसा कर लेना दूसरी बात है, वस्तुत: वह वैदिकी हिंसा हिंसा ही नहीं है। पर अन्यत्र पशुओं को मारना भारत में फिर अच्छा नहीं समझा गया।

बौद्धों के अहिंसावाद का ही यह प्रभाव था, कि मनु ने समाह्वय को रोकने का आदेश किया। समाह्वय वे उत्सव थे, जिनमें पशुओं को लड़ाया जाता था। भारतीय लोग बहुत बड़ी संख्या में एक खुले मैदान में इकट्ठे होते थे, और वहां पशुओं की लड़ाई कराई जाती थी। भैंसे, भेड़ और यहां तक कि मुर्गे और बटेरों को भी लड़ाया जाता था। लोग ये लड़ाइयाँ देख कर बड़े प्रसन्न होते थे। वात्स्यायन के कामसूत्र में इनका उल्लेख आता है। पहले जमाने में इन्हीं को 'समाज' कहा जाता था। राजा अशोक ने इस प्रकार के समाजों के विरुद्ध आवाज उठाई थी। मनु को भी ये पसन्द नहीं थे। क्योंकि उनमें भी व्यर्थ हिंसा होती थी।

(७) दास प्रथा का ह्रास

मौर्य काल में भारत में दास प्रथा प्रचलित थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में दास संबंधी कानूनों का विस्तार से वर्णन किया गया है। दासों का बाकायदा क्रय-विक्रय होता था। प्रतीत होता है, कि इस मौर्योत्तर युग में इस प्रथा का ह्रास होना शुरू हो गया था। स्मृति ग्रंथों में दासों के क्रय-विक्रय या उनके साथ संबंध रखने वाले कानूनों का कोई विशद विवरण उपलब्ध

नहीं होता। शूद्र इस समय में भी थे। पर शूद्र और दास में भेद है। शूद्र का क्रय-विक्रय नहीं होता था, और न वह कर्ज चुका कर मुक्ति प्राप्त कर सकता था।

ऐसा प्रतीत होता है, कि मौर्यों के पतन के बाद की उथल-पुथल के कारण जो राजनीतिक परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसने भारत में दास प्रथा का ह्रास कर दिया। इस उथल-पुथल के युग में कोई भी वीर साहसी पुरुष समाज के आगे बढ़ सकता था। ऊँच-नीच की पुरानी बाधायें शिथिल हो रही थीं। इस दशा में यदि दास प्रथा भी अपने पुराने रूप में क़ायम न रह सकी हो, तो आश्चर्य की क्या बात है।

(६) वास्तु और मूर्तिकला

इस मौर्योत्तर युग की बहुत सी मूर्तियाँ, गुहामंदिर और स्तूप इस समय उपलब्ध होते हैं, जिनसे उस समय की वास्तु और मूर्तिकला पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। भारहुत का प्रसिद्ध स्तूप, जिसके तोरण और जंगलों के अवशेष कलकत्ता म्यूज़ियम में सुरक्षित रखे हैं, शुंग काल में बना था। उसके एक तोरण पर यह उत्कीर्ण है, कि यह स्तूप शुंगों के राज्य में बना था। बोधगया के मंदिर के चारों ओर भी एक जंगला इसी युग में बना। उस पर अहिच्छत्र के राजा इन्द्रमित्र और मथुरा के राजा ब्रह्ममित्र की रानियों के नाम उत्कीर्ण हैं। ये दोनों राजा शुंगों के सामंत थे। इससे यह सूचित होता है कि बोधगया के प्रसिद्ध मंदिर के अनेक प्राचीन अंश भी शुंग काल की कृति थे। साँची के प्राचीन स्तूप के अनेक अंश भी इस काल में बने। वहाँ के बड़े स्तूप के दक्षिणी तोरण पर राजा सातकर्णि का नाम उत्कीर्ण है। भारहुत, साँची, बोधगया आदि के ये प्राचीन विशाल स्तूप बहुत लम्बे समय में

धीरे-धीरे बनते रहे। इनके निर्माण का प्रारम्भ मौर्य काल में ही हो गया था, पर शुंग और सातवाहन राजाओं के समय में इनमें निरन्तर वृद्धि होती चली गई, और जिन विविध दानियों के दान से जो जो अंश समय समय पर बनते गये, उनका नाम बहुधा उन पर उत्कीर्ण भी कर दिया गया।

इस युग के बहुत से गुहामंदिर उड़ीसा और महाराष्ट्र में विद्यमान हैं। पहाड़ को काट कर उसके अंदर से विशाल मंदिर, विहार या चैत्य खोदे गये हैं। ऊपर से देखने पर ये पहाड़ ही प्रतीत होते हैं। पर द्वार से अन्दर जाने पर विशाल भवन दिखाई पड़ते हैं, जिन्हें पहाड़ की गुहा को काट-काट कर बाकायदा सुंदर भवनों के रूप में बनाया गया है। उड़ीसा के ये गुहामंदिर सब जैनों के हैं। इनमें हाथीगुम्फा का गुहामन्दिर सबसे प्रसिद्ध है, जहाँ कलिंग चक्रवर्ती खारवेल का सुप्रसिद्ध शिलालेख पाया गया है। हाथीगुम्फा के अतिरिक्त मंचापुरी गुम्फा, रानीगुम्फा, गणेशगुम्फा, जयविजय गुम्फा, अलकापुरी गुम्फा आदि और भी कितने ही गुहामंदिर उड़ीसा में पाये गये हैं। मंचापुरी गुम्फा में खारवेल की रानी का तथा राजा कुदेपश्री का लेख पाया गया है। वह सम्भवतः खारवेल का कोई वंशज था। रामगढ़ में सीताबेंगा नाम से एक गुहामंदिर उपलब्ध हुआ है, जिसका किसी धर्म विशेष से संबंध नहीं था। वह एक प्रेक्षागार था, और यही कारण है, कि उसकी दीवार पर किसी रोचक काव्य का एक अंश खुदा हुआ है। सीताबेंगा के पड़ोस में ही जोगीमारा का गुहामंदिर है, जो प्राचीनकाल में वरुण देवता का मंदिर था।

महाराष्ट्र के गुहामंदिरों में अजंता की गुफाएँ सब से प्रसिद्ध और प्राचीन हैं। इनमें भी गुहा नं० १० सब से पुरानी समझी जाती है। अजंता के ये गुहामंदिर भारतीय वास्तुकला

और चित्रकला के अनुपम उदाहरण हैं। पहाड़ों को काट कर बनाये गये विशाल गुहामंदिरों की दीवारों पर इतने सुंदर रंगीन चित्र बनाये गये हैं, कि हजारों साल बीत जाने पर भी ये अपने आकर्षण में जरा भी कम नहीं हुए। अजंता की इन प्रसिद्ध गुफाओं का निर्माण इसी काल में प्रारंभ हुआ था। अजंता के अतिरिक्त, महाराष्ट्र में बेडसा, नासिक, कार्ले, जुन्नर कोंडाने आदि अनेक स्थानों पर इस काल के गुहामंदिर विद्यमान हैं। नासिक के एक गुहामंदिर में एक लेख है, जिसके अनुसार उसे सातवाहन कुल में राजा कण्ह के समय उनके महामात्र ने बनवाया था। राजा कण्ह सातवाहन वंश के संस्थापक सिमुक का भाई था, और उसके बाद प्रतिष्ठान का राजा बना था। इसका समय तीसरी सदी ई० पू० में था, और यह स्पष्ट है, कि नासिक का यह गुहामंदिर तीसरी सदी ई० पू० में ही बना था। बेडसा और कार्ले के प्रसिद्ध गुहामंदिर ईस्वी सन् के शुरू होने से पूर्व ही बन चुके थे। सातवाहन राजाओं को गुहानिर्माण का बड़ा शौक था। उन्हींके शासनकाल में महाराष्ट्र की ये विशाल गुहायें निर्मित हुईं। मौर्य युग में भी गुहमंदिर बनने प्रारंभ हो गये थे। पर वे अधिक विशाल नहीं होते थे। बिहार की बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों में, मौर्य सम्राट् अशोक और दशरथ के समय के जो गुहामंदिर हैं, वे बहुत छोटे छोटे हैं। पर सातवाहन राजाओं की प्रेरणा और संरक्षण में मौर्योत्तर युग में जो गुहामंदिर बने, वे बहुत ही विशाल हैं। वे तो पूरे बौद्ध विहार हैं, जिन्हें भूमि के ऊपर लकड़ी, पत्थर या ईंट से बनाने के बजाय पहाड़ काट कर गुहा को अंदर से खोद कर बना दिया गया है।

इस काल की मूर्तियाँ भी पर्याप्त संख्या में उपलब्ध होती हैं। भारहुत और सांची के स्तूपों के तोरणों और वेष्टनी में

पत्थर काट-काट कर बहुत सी मूर्तियाँ बनाई गई हैं। गुहा मंदिरों की दीवारों पर भी खोद कर बनाई गई मूर्तियाँ पाई जाती हैं। महात्मा बुद्ध के जीवन के साथ संबंध रखने वाली घटनाओं को मूर्ति बना कर अनेक स्थानों पर प्रदर्शित किया गया है।

मूर्तिकला की दृष्टि से इस युग की प्रधान घटना गांधारी शैली का प्रारंभ है। यवनों ने गांधार में जो अपने राज्य कायम किये थे, उनके कारण यूनानी लोगों और भारतीयों का परस्पर संबंध बहुत घनिष्ट हो गया था। यह स्वाभाविक था, कि यूनानी (ग्रीक) कला का भारतीय कला पर असर पड़े। गांधार के ये यवन, शक और कुशाण राजा बाद में बौद्ध व अन्य भारतीय धर्मों के अनुयायी हो गये थे। भारतीय भाषा और संस्कृति को उन्होंने बहुत अंशों में अपना लिया था। इसलिये यूनानी और भारतीय मूर्तिकलाओं के सम्मिश्रण से जिस अपूर्व सुंदर मूर्तिकला का प्रारंभ हुआ, उसे गांधारी शैली कहते हैं। इस शैली की मूर्तियाँ बहुत सुन्दर व परिमार्जित हैं। धीरे धीरे यह शैली गांधार से मथुरा आदि होती हुई सुदूर दक्षिण में अमरावती तक पहुँच गई। भारत में दूर-दूर तक इस शैली की मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं।

गांधार शैली का प्रारम्भ पेशावर में हुआ था। इस प्रदेश पर यवनों का प्रभाव बहुत अधिक था। मौर्यों के पतन के समय में अफगानिस्तान और गांधार के प्रदेश यवनों के शासन में आ गये थे, और यवनों की शक्ति के क्षीण होने पर भी यहाँ शक और कुशाण सदृश विदेशियों का राज्य रहा था। ये विदेशी लोग जिन पश्चिमीय देशों से भारत में प्रविष्ट हुए थे, वहाँ यवनों (ग्रीकों) की भाषा, सभ्यता और कला का बहुत प्राधान्य था। ग्रीक लोग मूर्ति निर्माण कला में बहुत प्रवीण थे।

इसकी अपनी पृथक् शैली थी। गांधार देश में होने वाले भूरे रंग के पत्थरों का गांधार शैली की मूर्तियों में प्रयोग होता था। कनिष्क के समय में बौद्ध धर्म का मुख्य लक्ष्य निवृत्ति थी। पर महायान के अनुयायी भक्ति और उपासना पर बल देते थे। इसके लिये बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्तियों का निर्माण प्रारंभ हुआ। पेशावर के कारीगरों ने हजारों की संख्या में मूर्तियां बनाईं, और धीरे-धीरे ये सारे भारत में फैल गईं। यवन प्रभाव के होते हुए भी इन मूर्तियों पर भारतीय आध्यात्मिकता की गहरी छाप है। बुद्ध के मुखमंडल पर एक अनुपम तेज प्रदर्शित किया जाता है, जिसकी अनुभूति निर्वाण की भावना से ही हो सकती है। गांधार शैली की बहुत सी मूर्तियां काले सलेटी पत्थर की भी हैं।

पेशावर से यह कला मथुरा में गई। इस युग में मथुरा मूर्तिकला का सब से बड़ा केन्द्र था। कनिष्क का साम्राज्य वंक्षु नदी से पाटलिपुत्र तक विस्तृत था। मथुरा इस विशाल साम्राज्य के मध्य में था, कुशाणों के क्षत्रप यहां शासन करते थे। यहां की मूर्तियां लाल पत्थर से बनाई गई हैं, जो आगरा के समीप प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता था। मथुरा की कला पर गांधार शैली का प्रभाव अवश्य है, पर उसे पूर्णतया गांधार शैली की नकल नहीं कहा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं, कि मथुरा के आर्य शिल्पियों ने पेशावर की रचनाओं को दृष्टि में रख कर एक मौलिक शैली का विकास किया था, जो बाह्य और आभ्यंतर दोनों दृष्टियों से शुद्ध आर्य प्रतिमा को भली-भांति प्रगट करती थी। भारतीय कल्पना में एक धर्मयोगी के मुख पर जो दैवी भावना होनी चाहिये, उसकी शान्ति किस प्रकार अनूठी होनी चाहिये और उपासक के हृदय में अपने उपास्य देव का कैसा लोकोत्तर रूप होना चाहिये—इन सबको

पत्थर की मूर्ति में उतार कर मथुरा के ये शिल्पी चिर यश के भागी हुए हैं।

इस काल में मथुरा में जो मूर्तियाँ बनीं, वे अनेक प्रकार की थीं। प्राचीन भारत में यह परिपाटी थी, कि प्रत्येक राजवंश अपना एक 'देव कुल' स्थापित करता था। इसमें मृत राजाओं की मूर्तियाँ रखी रहती थीं। शैशुनाग वंश के राजाओं की मूर्तियाँ ऐसे ही देवकुल के लिये मथुरा में बनी थीं, क्योंकि यह नगर बहुत पुराने समय से मूर्तिकला का प्रसिद्ध केन्द्र चला आ रहा था। इस युग में कुशाण राजाओं की मूर्तियाँ भी मथुरा में बनीं। ऐसी अनेक मूर्तियाँ अब भी उपलब्ध होती हैं। खेद की बात है, कि ये सभी प्रायः खंडित दशा में हैं। इनमें सम्राट् कनिष्क की मूर्ति विशेष महत्त्व की है, उसकी पोशाक में लम्बा कोट और पायजामा है, और इसका आकार बड़ा विशाल है।

मथुरा में बनी इस युग की एक मूर्ति इस समय काशी के कलाभवन में सुरक्षित है। यह मूर्ति एक स्त्री की है, जो प्रसाधिका का काम करती थी। इसका मुख गंभीर, प्रसन्न व सुंदर है। नेत्रों में विमल चंचलता है। सब अंग प्रत्यंग अत्यंत सुडौल हैं, और खड़े होने का ढंग बहुत सरल और अकृत्रिम है। उसके दायें हाथ में शृंगारदान है, जिसमें सुगंधित द्रव्य रखा जाता था। बायें हाथ में एक पिटारी है, जिसका ढकना कुछ खुला हुआ है, और एक पुष्पमाला थोड़ी सी बाहर निकली हुई है। यह स्त्री शृंगार की सामग्री लेकर किसी रानी व अन्य सम्पन्न महिला का शृंगार करने के लिये प्रस्थान करने को उद्यत है। मथुरा में इस प्रकार की मूर्तियाँ उपासना के लिये नहीं, अपितु सजावट के लिये बनती थीं।

बौद्ध धर्म के साथ संबंध रखने वाली मूर्तियाँ तो मथुरा में

हजारों की संख्या में बनती थीं। ये अब मथुरा में तथा अन्य स्थानों पर बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध होती हैं। मथुरा की यह कला कुशाणों के बाद भी निरंतर उन्नति करती रही। गुप्तों के समय में इसका पूर्ण विकास हुआ और इसने वे उत्कृष्ट रूप उत्पन्न किये, जिनके लिये कोई भी जाति व देश सदा के लिये अभिमान कर सकता है। गुप्तों के समय तक मथुरा की मूर्ति-कला से गांधार शैली का प्रभाव बिलकुल हट गया था और वह शुद्ध भारतीय रूप में आ गई थी।

मूर्तिकला के अतिरिक्त चित्रकला की भी इस युग में अच्छी उन्नति हुई। अजंता की गुफाओं में नवीं और दसवीं गुफा के चित्र इस युग की कृतियाँ हैं। इनमें भगवान बुद्ध की जीवनी की अनेक घटनायें व जातक ग्रंथों के अनेक कथानक चित्र रूप में चित्रित हैं। इस कला का भी सर्वोत्तम विकास गुप्त काल में हुआ। इस पर यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

अठारहवाँ अध्याय

पाटलिपुत्र के गुप्त सम्राट्

(१) गुप्तवंश का प्रारंभ

गुप्तकुल भारत के प्राचीन राजकुलों में से एक था। मौर्य चन्द्रगुप्त ने गिरनार के प्रदेश में शासक के रूप में जिस राष्ट्रीय (प्रांत का शासक) की नियुक्ति की थी, उसका नाम वैश्य पुष्य गुप्त था। शुंगकाल के प्रसिद्ध भारहुत स्तंभ लेख में एक राजन विसदेव का उल्लेख है, जो गाप्तिपुत्र (गुप्तकुल की स्त्री का पुत्र) था। अन्य बहुत से शिलालेखों में भी इसी प्रकार के 'गोप्तिपुत्र' व्यक्तियों का उल्लेख है, जो राज्यों में विविध उच्च पदों पर नियुक्त थे। इसी गुप्त कुल के एक वीर पुरुष श्री गुप्त ने उस वंश का प्रारंभ किया, जिसने आगे चल कर भारत के बहुत बड़े हिस्से में मागध साम्राज्य का फिर से विस्तार किया।

कुशाण साम्राज्य के पतन के समय उत्तरी भारत में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उससे लाभ उठा कर बहुत से प्रान्तीय शासक व सामंत राजा स्वतंत्र हो गये थे। संभवतः इसी प्रकार का एक व्यक्ति यह श्री गुप्त था। उसने मगध के कुछ पूर्व में, चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार नालंदा से प्रायः चालीस योजन पूर्व की तरफ, अपने राज्य का विस्तार किया था। अपनी शक्ति को स्थापित कर लेने के कारण उसने महाराज की पदवी धारण की। संभवतः, यह अच्छा शक्तिशाली और समृद्ध राजा था। चीनी बौद्ध यात्रियों के निवास के लिए इसने मृगशिखावन के समीप एक विहार का निर्माण कराया था और उसका खर्च चलाने के लिये चौबीस गांव प्रदान किये

थे। गुप्त लोग स्वयं बौद्ध नहीं थे, पर क्योंकि बौद्ध तीर्थस्थानों का दर्शन करने के लिये बहुत से चीनी यात्री इस समय भारत में आने लगे थे, अतः यदि महाराजा श्रीगुप्त ने उनके आराम के लिये यह महत्वपूर्ण दान किया हो तो यह सर्वथा संभव है। दो मुद्रायें ऐसी मिली हैं, जिनमें से एक पर 'गुप्तस्य' और दूसरी पर 'श्रीगुप्तस्य' लिखा है। संभवतः ये इसी महाराज श्रीगुप्त की थीं।

श्रीगुप्त का उत्तराधिकारी महाराज घटोत्कच था। कुछ मुद्रायें ऐसी मिली हैं, जिन पर 'श्री घटोत्कच गुप्तस्य' या केवल 'घट' लिखा है। अनेक ऐतिहासिक इन्हें इसी महाराज घटोत्कच की मानते हैं।

घटोत्कच के बाद महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त प्रथम हुए। गुप्त वंश के पहले दो राजा केवल महाराजा कहे गये हैं। पर चन्द्रगुप्त को महाराजाधिराज कहा गया है। इस से प्रतीत होता है, उसके समय में गुप्तवंश की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। प्राचीन समय में महाराजा विशेषण तो अधीनस्थ सामंत राजाओं के लिये भी प्रयुक्त होता था। पर महाराजाधिराज केवल ऐसे ही राजाओं के लिये प्रयोग किया जाता था, जो पूर्णतया स्वाधीन व शक्तिशाली शासक हों। प्रतीत होता है, कि अपने पूर्वजों के पूर्वी भारत में स्थित छोटे से राज्य को चन्द्रगुप्त ने बहुत बढ़ा लिया था, और अनेक प्रदेशों को जीत कर महाराजाधिराज की पदवी ग्रहण की थी।

पाटलीपुत्र निश्चय ही चंद्रगुप्त के अधिकार में आ गया था। कल्याणवर्मा के उत्तराधिकारियों को जीतकर मगध तथा पश्चिम में संयुक्त प्रांत के बहुत से प्रदेशों को जीतकर चन्द्रगुप्त के समय में गुप्त साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया था। इन्हीं विजयों और राज्यविस्तार की स्मृति में चंद्रगुप्त ने एक नया

संवत् चलाया था, जो गुप्त संवत् के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है।

मगध के उत्तर में लिच्छवियों का जो शक्तिशाली गणराज्य था, चंद्रगुप्त ने उसके साथ मैत्री और सहयोग का संबंध स्थापित किया था। कुशाण काल में इस प्रदेश की सब से प्रबल राजनीतिक शक्ति लिच्छवियों की ही थी। उन्होंने स्वयं भी कुछ समय तक पाटलीपुत्र को अपने अधिकार में रखा था, और उन्हीं की सहायता से चण्डसेन कारस्कर ने सुंदरवर्मा को परास्त किया था। लिच्छवियों का सहयोग प्राप्त किये बिना चंद्रगुप्त के लिये अपने राज्य का विस्तार कर सकना संभव नहीं नहीं था। इस सहयोग और मैत्री भाव को स्थिर करने के लिये चंद्रगुप्त ने लिच्छवि कुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह किया, और अन्य रानियों के अनेक पुत्र होते हुए भी लिच्छवि दौहित्र (कुमारदेवी के पुत्र) समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियत किया। ऐसा प्रतीत होता है, कि लिच्छवि गण में इस काल में राजा वंशक्रमानुगत हो गये थे। गण राज्यों के इतिहास में यह कोई अनहोनी बात नहीं है। कुमारदेवी लिच्छवि राजा की पुत्री और उत्तराधिकारिणी थी। इसीलिये चंद्रगुप्त के साथ विवाह हो जाने के बाद गुप्त राज्य और लिच्छविगण मिलकर एक हो गये थे। चंद्रगुप्त के कुछ सिक्कों पर उसका और कुमारदेवी का चित्र एक साथ दिया गया है। इन सिक्कों पर 'चंद्रगुप्त तथा श्री कुमारदेवी' दोनों का नाम भी एक साथ लिखा है। तथा सिक्के की दूसरी तरफ 'लिच्छवयः' शब्द भी उत्कीर्ण है। इससे यह भली-भांति सूचित होता है, कि लिच्छविगण और गुप्त वंश का पारस्परिक विवाह संबंध बड़े महत्व का था। इसके कारण इन दोनों का राज्य मिल कर एक हो गया था, और चंद्रगुप्त तथा श्री कुमारदेवी का सम्मिलित शासन इन प्रदेशों पर माना जाता था।

चंद्रगुप्त के वंशजों का शासन किस प्रदेश पर स्थापित हो गया था, इस संबंध में पुराणों में लिखा है, कि गंगा के साथ-साथ प्रयाग तक व मगध तथा अयोध्या में इन्होंने राज्य किया। चंद्रगुप्त के उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य को बहुत बड़ा किया था, अतः पुराणों का यह निर्देश उसके पूर्वजों के विषय में ही है। संभवतः, महाराजाधिराज चंद्रगुप्त प्रथम बंगाल से प्रारंभ कर पश्चिम में अयोध्या और प्रयाग तक के विशाल प्रदेश का स्वामी था, और लिच्छवियों के सहयोग से ही इस पर अबाधित रूप से शासन करता रहा था। इस प्रतापी गुप्त सम्राट् का शासनकाल ३१५ से ३२८ ईस्वी तक था।

(२) सम्राट् समुद्रगुप्त

चंद्रगुप्त के अनेक पुत्र थे। पर गुण और वीरता में समुद्रगुप्त सबसे बढ़ाचढ़ा था। लिच्छवि कुमारी श्री कुमारदेवी का पुत्र होने के कारण भी उसका विशेष महत्त्व था। चंद्रगुप्त ने उसे ही अपना उत्तराधिकारी चुना, और अपने इस निर्णय को राजसभा बुला कर सब सभ्यों के सम्मुख उद्घोषित किया। यह करते हुए प्रसन्नता के कारण उसके सारे शरीर में रोमांच हो आया था, और आँखों में आँसू आ गये थे। उसने सबके सामने समुद्रगुप्त को गले लगाया, और कहा—तुम सचमुच आर्य हो और अब राज्य का पालन करो। इस निर्णय से राजसभा में एकत्र हुए सब सभ्यों को परम प्रसन्नता हुई।

संभवतः चंद्रगुप्त ने अपने जीवनकाल में ही समुद्रगुप्त को राज्यभार संभलवा दिया था। प्राचीन आर्य राजाओं की यही परंपरा थी। कालिदास ने इसी काल के राजाओं को दृष्टि में रख कर लिखा था, बुढ़ापे में वे मुनिवृत्ति ग्रहण करते हैं। चंद्रगुप्त के इस निर्णय से और लोगों को चाहे

किसी को खुशी हुई हो, पर उसके अन्य पुत्र इससे प्रसन्न
नहीं हुए। उन्होंने समुद्रगुप्त के विरुद्ध विद्रोह किया। इनका
नेता काच था। प्रतीत होता है, कि इन्हें अपने विद्रोह में सफ-
लता भी हुई। काच के नाम के कुछ सोने के सिक्के भी उपलब्ध
हुए हैं। इनमें गुप्तकाल के अन्य सोने के सिक्कों की अपेक्षा
सोने की मात्रा बहुत कम है। इससे अनुमान होता है, कि
भाइयों की इस कलह से राजकोष के ऊपर बुरा असर पड़ा
था, सब जगह अव्यवस्था मच गई थी और इसी लिये काच ने
अपने सिक्कों में सोने की मात्रा को कम कर दिया था।

पर काच देर तक समुद्रगुप्त का मुकाबला नहीं कर सका।
समुद्रगुप्त अनुपम वीर था। उसने शीघ्र ही भाइयों के इस
विद्रोह को शांत कर दिया, और पाटलीपुत्र के सिंहासन पर
दृढ़ता के साथ अपना अधिकार जमा लिया। काच ने एक साल
के लगभग राज्य किया।

गृहकलह को शांत कर समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य के
विस्तार के लिये संघर्ष प्रारंभ किया। इस विजययात्रा का वर्णन
प्रयाग में अशोक मौर्य के प्राचीन स्तंभ पर बड़े सुन्दर ढंग
से उत्कीर्ण है। सबसे पहले आर्यावर्त के तीन राजाओं को
जीत कर अपने अधीन किया गया। इनके नाम ये हैं, अहिच्छत्र
का राजा अच्युत, भारशिव पद्मावती का राजा नागसेन और
राजा कोटकुलज। संभवतः अच्युत और नागसेन भारशिव
वंश के साथ संबंध रखने वाले राजा थे। यद्यपि भारशिव नागों
की शक्ति का पहले ही पतन हो चुका था, पर कुछ प्रदेशों में इनके
छोटे-छोटे राजा अब भी राज्य कर रहे थे। गुप्तों के उत्कर्ष
के समय इन्होंने चंद्रगुप्त प्रथम जैसे शक्तिशाली राजा की
अधीनता में सामंत की स्थिति स्वीकार कर ली थी। पर समुद्र-
गुप्त और उसके भाइयों की गृहकलह से लाभ उठा कर ये

अब फिर स्वतंत्र हो गये थे। यही दशा कोट कुल के राजा की थी, जिसका नाम प्रयाग के स्तंभ के शिलालेख में मिट गया है। सब से पूर्व, समुद्रगुप्त ने इन तीनों राजाओं को जीत कर अपने अधीन किया, और इन विजयों के बाद बड़ी शान के साथ पुष्पपुर (पाटलीपुत्र) में पुनः प्रवेश किया।

आर्यावर्त में अपनी शक्ति को भलीभाँति स्थापित कर समुद्रगुप्त ने दक्षिण दिशा की तरफ प्रस्थान किया। इस विजय यात्रा में उसने कुल बारह राजाओं को जीत कर अपने अधीन किया। जिस क्रम से इनको जीता गया था, उसी के अनुसार इनका उल्लेख भी शिलालेख में किया गया है। ये राजा निम्नलिखित थे:—

(१) कोशल का महेंद्र। यहाँ कोशल का अभिप्राय दक्षिण कोशल से है, जिसमें वर्तमान समय के मध्यप्रांत के बिलासपुर, रायपुर और संबलपुर जिले सम्मिलित थे। इसकी राजधानी श्रीपुर (वर्तमान सिरपुर) थी। दक्षिण कोशल से उत्तर की ओर का सब प्रदेश गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत था, और अच्युत तथा नागसेन की पराजय के बाद उसमें व्यवस्था स्थापित हो गई थी। आर्यावर्त में पराजित हुए नागसेन की राजधानी ग्वालियर रियासत में पद्मावती थी। अब दक्षिण की तरफ विजययात्रा करते हुए सबसे पहले दक्षिण कोशल का ही स्वतंत्र राज्य पड़ता था। इसके राजा महेंद्र को जीत कर समुद्रगुप्त ने अपने अधीन किया।

(२) महाकांतार का व्याघ्रराज। महाकोशल के दक्षिण पूर्व में महाकांतार जंगली प्रदेश था। इसी स्थान में आजकल गोंडवाना के सघन जंगल हैं। यहाँ का राजा व्याघ्रराज उच्चकल्प वंश का था, और शक्तिशाली वाकाटक सम्राट

प्रवरसेन का सामंत था। समुद्रगुप्त ने व्याघ्रराज को पराजित
कर अपने अधीन कर लिया।

(३) कौरल का मंटराज। महाकांतार के बाद कौरल राज्य
की बारी आई। यह राज्य दक्षिणी मध्यप्रांत के सोनपुर
प्रदेश के आसपास था।

(४) पिष्टपुर का महेंद्रगिरि. मद्रास प्रांत के गोदावरी
जिले में स्थित वर्तमान पीठापुरम् ही प्राचीन समय में पिष्टपुर
कहलाता था। वहां के राजा महेंद्रगिरि को भी पराजित कर के
अपने अधीन किया गया।

(५) कोट्टूर का राजा स्वामिदत्त। कोट्टूर का राज्य
गंजाम जिले में था, इसी को आजकल कोठूर कहते हैं।

(६) एरण्डपल्ल का दमन। एरण्डपल्ल का राज्य
कलिंग के दक्षिण में था। इसकी स्थिति पिष्टपुर और कोट्टूर
के पड़ोस में ही थी।

(७) काञ्ची का विष्णुगोप। काञ्ची का अभिप्राय
दक्षिणी भारत के काञ्जीवरम से है। मद्रास प्रांत के
उत्तरी जिलों और कलिंग को जीतकर समुद्रगुप्त ने सुदूर
दक्षिण में काञ्जीवरम पर आक्रमण किया और उसे जीत कर
अपने अधीन किया।

(८) अवमुक्त का नीलराज। यह राज्य काञ्ची के ही
समीप में था। एक ऐतिहासिक ने इसे अवा प्रदेश के साथ में
मिलाया है।

(९) वेङ्गी का हस्तिवर्मन। यह राज्य कृष्णा और गोदावरी
नदियों के बीच में एलोर के समीप में था।

(१०) पालक्क का उग्रसेन। यह राज्य भी कृष्णा नदी के
समीप नेल्लोर जिले में था।

(११) देवराष्ट्र का कुबेर। काञ्ची, वेङ्गी और अवमुक्त

राज्यों के शासक पल्लव वंश के थे। संभवतः इन सब की सम्मिलित शक्ति को समुद्रगुप्त ने एक साथ ही परास्त किया था। देवराज का राष्ट्र दक्षिण से उत्तर की ओर लौटते हुए मार्ग में आया था। अनेक ऐतिहासिकों के अनुसार यह वर्तमान महाराष्ट्र के ही किसी प्रदेश का नाम था। बहुतों के मत में इसकी स्थिति भारत के पूर्वी समुद्रतट पर थी।

(१२) कौस्थलपुर का धनञ्जय। यह राज्य उत्तरी आर्काट जिले में था। इसकी स्मृति कुट्टलूर के रूप में अब भी सुरक्षित है, जो पोलूर के समीप की एक बस्ती है।

दक्षिणी भारत के इन विविध राज्यों को जीत कर समुद्रगुप्त वापस लौट आया। दक्षिण में वह काञ्ची से नीचे नहीं गया था। इन राजाओं को केवल परास्त ही किया गया था। उनका जड़ से उच्छेद नहीं हुआ था। समुद्रगुप्त ने इस विजययात्रा में प्राचीन आर्य मर्यादा का पूर्णतया पालन किया था। प्रयाग की समुद्रगुप्त प्रशस्ति के अनुसार इन राजाओं को हराकर पहले कैद कर लिया गया था, और फिर बाद अनुग्रह करके उन्हें मुक्त कर दिया गया था। इससे समुद्रगुप्त का प्रताप और महानुभावता, दोनों में बहुत वृद्धि हो गई थी।

ऐसा प्रतीत होता है, कि जब समुद्रगुप्त विजययात्रा के लिये दक्षिण गया हुआ था, उत्तरी भारत (आर्यावर्त) के अधीनस्थ राजाओं ने फिर विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। उन्हें फिर दुबारा जीता गया। इस बार समुद्रगुप्त उनसे अधीनता स्वीकार कराके ही संतुष्ट नहीं हुआ, अपितु उनको जड़ से उखाड़ दिया। इस प्रकार जड़ से उखाड़े हुए राजाओं के नाम ये हैं। रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युतनंदी और बलवर्मा। इनमें से नागसेन और

अच्युत के साथ पहले भी समुद्रगुप्त के युद्ध हो चुके थे। उन्हीं को परास्त करने के बाद समुद्रगुप्त ने धूमधाम के साथ पाटलीपुत्र (पुष्पपुर) में प्रवेश किया था। अब ये राजा फिर स्वतंत्र हो गये थे, और इस बार समुद्रगुप्त ने इनका समूलोन्मूलन करके इनके राज्यों को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। मतिल रुद्रदेव वाकाटकवंशी प्रसिद्ध राजा रुद्रसेन प्रथम था। मतिल की एक मुद्रा बुलंदशहर के समीप मिली है। इसका राज्य संभवतः इसी प्रदेश में था। नागदत्त और गणपतिनाग के नामों से यह सूचित होता है, कि ये भारशिव नागों के वंश के थे, और इनके छोटे-छोटे राज्य आर्यावर्त में ही विद्यमान थे। गणपतिनाग के कुछ सिक्के बेसनगर में उपलब्ध भी हुए हैं। चंद्रवर्मा पुष्करण का राजा था। दक्षिणी राजपूताना में सिसुनिया की एक चट्टान पर इसका शिलालेख भी मिला है। संभवतः, बलवर्मा कोटकुलज नृपति था, जिसे पहली बार भी समुद्रगुप्त ने परास्त किया था। ये सब आर्यावर्ती राजा अब की बार पूर्णरूप से गुप्त सम्राट् द्वारा परास्त हुए, और इनके प्रदेश पूरी तरह गुप्त साम्राज्य में शामिल कर लिये गये।

आटविक राजाओं के साथ समुद्रगुप्त ने प्राचीन मौर्यनीति का प्रयोग किया। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार आटविक राजाओं को अपना सहयोगी और सहायक बनाने का उद्योग करना चाहिये। आटविक सेनायें युद्ध के लिये बहुत उपयोगी होती थीं। समुद्रगुप्त ने इन राजाओं को अपना 'परिचारक' बना लिया था।

इसके बाद समुद्रगुप्त को युद्धों की आवश्यकता नहीं हुई। इन विजयों से उसकी धाक ऐसी बैठ गई थी, कि अन्य प्रत्यंत (सीमा प्रांतों में वर्तमान) नृपतियों तथा यौधेय, मालव आदि गणराज्यों ने स्वयमेव उसकी अधीनता स्वीकृत कर ली थी।

से सब कर देकर, आज्ञाओं का पालन कर, प्रणाम कर तथा राजदरबार में उपस्थित होकर सम्राट् समुद्रगुप्त की अधीनता को स्वीकृत करते थे। इस प्रकार करद बनकर रहने वाले प्रत्यंत राज्यों के नाम ये हैं। (१) समतट या दक्षिणी पूर्वी बंगाल (२) कामरूप या आसाम (३) नेपाल (४) डवाक या आसाम का नौगांग प्रदेश (५) कर्तृपुर या कमायूं और गढ़वाल के पार्वत्य प्रदेश। निःसंदेह, गुप्त साम्राज्य के ये सब प्रत्यंत या सीमा प्रदेश में स्थित राज्य थे, और इन्होंने युद्ध के बिना ही सम्राट् समुद्रगुप्त की अधीनता को स्वीकार कर लिया था।

इसी प्रकार जिन गणराज्यों ने गुप्त सम्राट् की अधीनता को स्वीकार किया, वे निम्नलिखित हैं। मालव, आर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक और खरपरिक। इनमें से मालव, आर्जुनायन, यौधेय, माद्रक और आभीर प्रसिद्ध गण राज्य हैं। कुशाण साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर इन्होंने अपनी स्वतंत्रता को पुनः स्थापित किया था, और धीरे-धीरे अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली थी। अब समुद्रगुप्त ने इन्हें अपने अधीन कर लिया, पर उसने इनको जड़ से उखाड़ने का प्रयत्न नहीं किया। वह केवल कर, प्रणाम, राजदरबार में उपस्थिति तथा आज्ञावर्तिता से ही संतुष्ट हो गया। इन गण राज्यों ने भी इतने शक्तिशाली सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर अपनी पृथक् सत्ता को बनाये रखा। प्रार्जुन, काक, सनकानीक और खरपरिक छोटे-छोटे गण राज्य थे, विदिशा के समीपवर्ती प्रदेश में स्थित थे। इनका अधिक परिचय इस समय उपलब्ध नहीं होता है।

दक्षिण और पश्चिम के अन्य बहुत से राजा भी सम्राट् चंद्रगुप्त के प्रभाव में थे, वे उसे आदरसूचक उपहार आदि भेज कर संतुष्ट रखते थे। इस प्रकार के दो राजाओं का तो

समुद्रगुप्त प्रशस्ति में उल्लेख भी किया गया है। ये दो दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि शक मुरुण्ड और सैंहलक हैं। शाहानुशाहि शक से कुषाण सम्राट् का अभिप्राय है। भारत में इन कुशाणों को शक मुरुण्ड नाम से कहा जाता था। सिंहल के राजा को सैंहलक लिखा गया है। इन शक्तिशाली राजाओं के समुद्रगुप्त का आदर करने का प्रकार भी प्रयाग की प्रशस्ति में स्पष्ट लिखा है। ये राजा आत्मनिवेदन, कन्योपायन, दान, गरुत्मदङ्क से अंकित आज्ञापत्रों के ग्रहण आदि उपायों से सम्राट् समुद्रगुप्त को संतुष्ट करने का प्रयत्न करते थे। आत्मनिवेदन का अभिप्राय है, अपनी सेवाओं को सम्राट् के लिये अर्पित करना। कन्योपायन का अर्थ है, कन्या विवाह में देना। राजा लोग किसी शक्तिशाली सम्राट् से मैत्री संबंध बनाये रखने के लिये इस उपाय का प्रायः प्रयोग किया करते थे। संभवतः सिंहल और कुशाण राजाओं ने भी समुद्रगुप्त को अपनी कन्यायें विवाह में प्रदान की थीं। दान का मतलब भेंट उपहार से है। सम्राट् चंद्रगुप्त से ये राजा शासन (आज्ञापत्र) भी ग्रहण करते थे। इन सब उपायों से वे महाप्रतापी गुप्त सम्राट् को संतुष्ट रखते थे, और उसके कोप से बचे रहते थे। इस प्रकार पश्चिम में गांधार से लगा कर पूर्व में आसाम तक और दक्षिण में सिंहल (लंका) द्वीप से शुरू कर उत्तर में हिमालय के कार्तिपुर जनपद तक, सर्वत्र समुद्रगुप्त का डंका बज रहा था। आर्यावर्त के प्रदेश सीधे उसके शासन में थे, दक्षिण के राजा उसके अनुग्रह से अपनी सत्ता कायम किये हुए थे। सीमा प्रदेशों के जनपद और गण राज्य उसको बाकायदा कर देते थे और सुदूरस्थ राजा भेंट उपहार से तथा अपनी सेवायें समर्पण कर उसके साथ मैत्री संबंध स्थापित किये हुए थे। प्रयाग की प्रशस्ति में गुप्त सम्राट् की इस अनुपम शक्ति को

कितने सुंदर शब्दों में यह कह कर प्रकट किया है, कि पृथिवी भर में कोई उसका 'प्रतिरथ' (खिलाफ खड़ा हो सकने वाला) नहीं था, सारी धरती को उसने एक प्रकार से अपने बाहुबल से बाँध सा रखा था।

समुद्रगुप्त ने अनेक विनष्टप्राय जनपदों के नष्ट हो गये राजवंशों का पुनरुद्धार भी किया था। इस कार्य से सारे भुवन में उसका यश फैल गया था। वह साम्राज्यवाद के प्राचीन आर्य आदर्श का अनुयायी था। मगध के प्रारंभिक शूद्रप्राय राजाओं ने विविध राजकुलों को नष्ट कर एकराट् होने की जो प्रवृत्ति शुरू की थी, वह उसे अनुकरणीय नहीं प्रतीत होती थी। इसलिये उसने न केवल जीते हुए राजाओं को अपने-अपने जनपदों में कायम रखा था, पर अनेक विनष्ट राजवंशों को भी फिर से स्थापित किया था। केवल आर्यावर्त के उन्हीं राजाओं का उसने जड़ से उच्छेद किया था, जो बार बार उसकी शक्ति के विरुद्ध विद्रोह करने में तत्पर थे। संभवतः उनके भी राज-वंशों को उसने नष्ट नहीं किया था। यही कारण है, कि वाका-टक राजा रुद्रसेन या रुद्रदेव के विनष्ट हो जाने के बाद भी उसका वंश कायम रहा था, और उसके बाद भी अनेक वाका-टक राजाओं ने अपने प्रदेश में शासन किया था।

सारे भारत में एकच्छत्र, अबाधित शासन स्थापित कर अपनी दिग्विजय की समाप्ति के बाद, समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया। शिलालेखों में उसे 'चिरोत्सन्न अश्वमेधाहर्ता' (देर से न हुए अश्वमेध को फिर से प्रारंभ करने वाला) और 'अनेकाश्वमेधयाजी' (अनेक अश्वमेध यज्ञ करने वाला) कहा गया है। इन अश्वमेधों में केवल एक पुरानी परिपाटी का ही अनुसरण नहीं किया था, अपितु इस अवसर से लाभ उठाकर कृपण, दीन, अनाथ और आतुर लोगों को भरपूर सहायता

देकर उनके उद्धार का भी प्रयत्न किया था। प्रयाग की प्रशस्ति में इसका बहुत स्पष्ट संकेत है। समुद्रगुप्त के कुछ सिक्कों में यज्ञीय अश्व का भी चित्र दिया गया है। ये सिक्के अश्वमेध यज्ञ के उपलक्ष में ही जारी किये गये थे। इन सिक्कों में एक तरफ जहाँ यज्ञीय अश्व का चित्र है, वहाँ दूसरी तरफ अश्वमेध की भावना को बड़े ही सुंदर शब्दों में प्रकट किया गया है। 'राजाधिराजः पृथिवीमवजित्य दिवं जयति अप्रतिवार्यवीर्यः' राजाधिराज पृथिवी को जीत कर अब स्वर्ग को जय कर रहा है, उसकी शक्ति और तेज अप्रतिम हैं। समुद्रगुप्त पृथिवी को तो जीत चुका था, अब वह दीन, अनाथ, आतुर लोगों की अश्वमेध यज्ञ के निमित्त से सहायता कर स्वर्ग प्राप्ति के लिये मार्ग साफ कर रहा था। समुद्रगुप्त यज्ञ की भावना के तह तक पहुँच गया था।

सम्राट् समुद्रगुप्त के वैयक्तिक गुणों और चरित्र के संबंध में प्रयाग की प्रशस्ति में बड़े सुंदर संदर्भ पाये जाते हैं। इस प्रशस्ति को महादण्ड नायक ध्रुवभूति के पुत्र, सांधिविग्रहिक महादण्डनायक हरिषेण ने तैयार किया था। हरिषेण समुद्रगुप्त का एक उच्च राजकर्मचारी था। उसने अपने को 'भट्टारक पाद समुद्रगुप्त का दास और समीप रहने के अनुग्रह से जिसकी बुद्धि का विकास हो गया हो' ऐसा कहा है। यह स्पष्ट है, कि अपने स्वामी की प्रशंसा में कुमारामात्य हरिषेण ने बहुत उदारता से काम लिया है। पर सम्राट् समुद्रगुप्त की दृष्टि में जो गुण बहुत उत्कृष्ट थे जिन्हें वह आदर्श समझता था, और जिनसे अपने जीवन में लाना वह अभीष्ट समझता था, उन्हीं का तो हरिषेण प्रशस्ति लिखते हुए वर्णन किया होगा। हम यहाँ हरिषेण के शब्दों में ही समुद्रगुप्त के वैयक्तिक चरित्र को उल्लिखित करते हैं।

उसका मन विद्वानों के सत्संग सुख का व्यसनी था। उसके जीवन में सरस्वती (सत्काव्य) और लक्ष्मी (श्री) का अविरोध था। वह वैदिक मार्ग का अनुयायी था। उसका काव्य ऐसा था, कि कवियों की बुद्धि के विभव का भी उससे विकास होता था। कौन सा ऐसा गुण है, जो उसमें नहीं था ? सैकड़ों युद्धों में विजय प्राप्त करने की उसमें अपूर्व क्षमता थी। अपनी भुजाओं का पराक्रम ही उसका सब से उत्तम साथी था। परशु, बाण, शंकु, शक्ति आदि अस्त्रों के सैकड़ों घावों से उसका सारा शरीर सुशोभित था। उसकी नीति यह थी, कि साधु का उदय और असाधु का प्रलय हो। उसका हृदय इतना कोमल था, कि भक्ति और झुक जाने मात्र से वश में आ जाता था। उसने लाखों गौवें दान में दी थीं। अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और संगीत कला के ज्ञान और प्रयोग से उसने ऐसे काव्य की सृष्टि की थी, कि सब लोग कविराज कह कर उसकी प्रतिष्ठा करते थे।

कुमारामात्य हरिषेण के इस वर्णन से सम्राट् समुद्रगुप्त के वैयक्तिक गुणों का कितना उत्तम परिचय हमें प्राप्त हो जाता है! इसमें संदेह नहीं कि समुद्रगुप्त जहाँ अनुपम वीर था, वहाँ कविता, संगीत तथा अन्य ललित कलाओं में भी वह बड़ा प्रवीण था। यह बात उसके सिक्कों के अनुशीलन से भी भली-भाँति ज्ञात हो जाती है। समुद्रगुप्त के सात प्रकार के सिक्के इस समय में मिलते हैं। इनमें से पाँच प्रकार के सिक्के ऐसे हैं, जो उसके जीवन के विविध पहलुओं पर बड़ा अच्छा प्रकाश डालते हैं। पहले प्रकार के सिक्कों में उसका जो चित्र है, उसमें वह युद्ध की पोशाक पहने हुए है। उसके बाँये हाथ में धनुष है, और दाँये हाथ में बाण। सिक्के के दूसरी तरफ लिखा है—'समरशत वितत विजयो जितारि पराजितो दिवं जयति'

सैकड़ों युद्धों द्वारा विजय का प्रसार कर, सब राजाओं को परास्त कर, अब स्वर्ग को विजय करता है। दूसरे प्रकार के सिक्कों में उसका जो चित्र है, उसमें वह एक परशु लिये खड़ा है। इन सिक्कों पर लिखा है—कृतान्त (यम) का परशु लिये हुए अपराजित विजयी की जय हो। तीसरे प्रकार के सिक्कों पर उसका जो चित्र है, उसमें उसके सिर पर उष्णीष है, और वह एक सिंह के साथ युद्ध कर उसे बाण से मारता हुआ दिखाया गया है। ये तीन प्रकार के सिक्के समुद्रगुप्त के वीर रूप को चित्रित करते हैं। पर इनके अतिरिक्त उसके बहुत से सिक्के ऐसे भी हैं, जिनमें वह आसन पर आराम से बैठा हुआ वीणा बजाता हुआ प्रदर्शित किया गया है। इन सिक्कों पर समुद्रगुप्त का केवल नाम ही दिया है, उसके संबंध में कोई उक्ति नहीं लिखी गई है। अश्वमेध के उपलक्ष में जो सिक्के उसने प्रचारित किये थे, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं, कि जहां समुद्रगुप्त भारी वीर योद्धा था, वहां संगीत, कविता सदृश कोमल गुणों की भी उसमें कमी नहीं थी।

समुद्रगुप्त के इतिहास की कुछ अन्य बातें भी उल्लेख योग्य हैं। इस काल में सीलोन (सिंहल) का राजा मेघवर्ण था। उसके शासनकाल में दो बौद्ध भिक्षु बोधगया में तीर्थयात्रा के लिये आये थे। वहां इनके रहने के लिये समुचित प्रबन्ध नहीं था। जब वे अपने देश को वापस गये, तो इन्होंने इस विषय में राजा मेघवर्ण से शिकायत की। मेघवर्ण ने निश्चय किया कि बोधगया में एक बौद्ध विहार सीलोनी यात्रियों के लिये बनवा दिया जाय। इसकी अनुमति प्राप्त करने के लिये उसने एक दूतमण्डल समुद्रगुप्त की सेवा में भेजा। समुद्रगुप्त ने बड़ी प्रसन्नता से इस कार्य के लिये अपनी अनुमति दे दी, और राजा मेघवर्ण ने बोधिवृक्ष के उत्तर में एक विशाल विहार बन-

निर्माण करा दिया। जिस समय प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएन्त्सांग बोधगया की यात्रा के लिये आया था, वहां एक हजार के ऊपर भिक्षु निवास करते थे।

सम्राट् समुद्रगुप्त की अनेक रानियां थीं, पर पटरानी (अग्रमहिषी पट्ट महादेवी) का पद दत्तदेवी को प्राप्त था। इसी से प्रसिद्ध गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का जन्म हुआ था। पचास वर्ष के लगभग शासन करके ३७५ ई० में समुद्रगुप्त स्वर्ग को सिधारे।

(३) सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

प्राचीन काव्यग्रंथों से ऐसा प्रतीत होता है, कि समुद्रगुप्त के सबसे बड़े लड़के का नाम रामगुप्त था, और पिता की मृत्यु के बाद पहले-पहल वही राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। रामगुप्त बड़ा निर्बल, कामी तथा नपुंसक व्यक्ति था। उसका विवाह ध्रुवदेवी के साथ में हुआ। पर पति के नपुंसक तथा निर्बल होने के कारण वह उससे जरा भी संतुष्ट न थी। रामगुप्त की निर्बलता से लाभ उठा कर साम्राज्य के अनेक सामंतों ने विद्रोह का झंडा-खड़ा कर दिया। विशेष-कर, शाहानुशाहि शक मुरुंड राजा, जो समुद्रगुप्त की शक्ति के कारण आत्मनिवेदन, भेंट उपहार, कन्योपायन आदि उपायों से उसे संतुष्ट रखने का प्रयत्न करते थे, अब रामगुप्त की कमजोरी से लाभ उठाकर उद्दंड हो गये और उन्होंने गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। हिमालय की उपत्यका में युद्ध हुआ, जिसमें रामगुप्त हार गया। एक पहाड़ी दुर्ग में गुप्त सेनायें घिर गईं, और नपुंसक रामगुप्त ने शकराज की सेवा में संधि के लिये याचना की। जो संधि की शर्तें शकराज की तरफ से पेश की गईं, उनमें से एक यह थी, कि पट्ट महा-

देवी ध्रुवदेवी को शकराज के सुपुर्द कर दिया जाय। नपुंसक रामगुप्त इसके लिये भी तैयार हो गया। पर उसका छोटा भाई वीर चंद्रगुप्त इसको न सह सका। उसने स्वयं ध्रुवदेवी का स्त्री रूप धारण किया। अन्य बहुत से सैनिकों को भी परिचारिका रूप में स्त्री वेश पहिनाया गया। शक राज के अन्तःपुर में पहुँच कर स्त्री वेशधारी चंद्रगुप्त ने शक-राज का घात कर दिया। इसके बाद निर्बल रामगुप्त को भी मार कर चंद्रगुप्त ने राजगद्दी पर अधिकार कर लिया, और अपनी भाभी ध्रुवदेवी के साथ विवाह किया। ध्रुवदेवी चंद्रगुप्त द्वितीय की पट्ट महादेवी बनी।

इस कथा के निर्देश न केवल प्राचीन काव्य साहित्य में, अपितु शिलालेखों में भी उपलब्ध होते हैं। प्राचीन समय में यह कथा इतनी लोकप्रिय थी, कि प्रसिद्ध कवि विशाखदत्त ने भी इस कथा को लेकर 'देवी चंद्रगुप्तम्' नाम का एक नाटक लिखा। अरब लेखकों ने भी इस कथा को लेकर पुस्तकें लिखीं। बाद में अरबी के आधार पर फारसी में भी इस कथानक को लिखा गया। बारहवीं सदी में अब्दुल हसन अली नाम के एक लेखक ने इस कथा को 'मजमलुत्तवारीख' नामक पुस्तक में लिखा। यह पुस्तक इस समय भी उपलब्ध होती है। संस्कृत काव्य, शिलालेख और विदेशी साहित्य सर्वत्र इस कथानक की उपलब्धि के कारण यह मानना होगा, कि यह सच्ची ऐतिहासिक अनुश्रुति पर आश्रित है, और समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद एक दो वर्ष तक वस्तुतः उसके बलहीन पुत्र रामगुप्त ने राज्य किया था।

राजगद्दी पर आरूढ होने के बाद चंद्रगुप्त के सम्मुख दो कार्य मुख्य थे, रामगुप्त के समय में उत्पन्न हुई अव्यवस्था को दूर करना और उन म्लेच्छ शकों का उन्मूलन

करना, जिन्होंने न केवल गुप्त श्री के अपहरण का प्रयत्न किया था, पर जिन्होंने गुप्त कुलवधू की तरफ भी दृष्टि उठाई थी। चंद्रगुप्त के सम्राट् बनने पर शीघ्र ही साम्राज्य में व्यवस्था क़ायम हो गई। वह अपने पिता का योग्य और अनुरूप पुत्र था। अपनी राज्यशक्ति को दृढ़ कर उसने शकों के विनाश के लिये युद्धों का प्रारंभ किया।

शकों की शक्ति के इस समय दो बड़े केंद्र थे। काठियावाड़ गुजरात के शक महाक्षत्रप और गांधार कंबोज के कुशाण। शक महाक्षत्रप शाहानुशाहि कुशाण राजा के ही प्रांतीय शासक थे, यद्यपि उनकी स्थिति स्वतंत्र राजाओं के समान थी। भारतीय साहित्य में कुशाण राजाओं को भी शक मुरुण्ड (शक स्वामी या शकों के स्वामी) शब्द से कहा गया है। पहले चंद्रगुप्त द्वितीय ने काठियावाड़ गुजरात के शक महाक्षत्रपों के साथ युद्ध किया। उस समय महाक्षत्रप स्वामी सिंहसेन इन शकों का स्वामी था। चंद्रगुप्त द्वारा वह परास्त हुआ, और गुजरात काठियावाड़ के प्रदेश भी गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित हो गये।

शकों की पराजय में वाकाटकों से बड़ी सहायता मिली। वाकाटकों का दक्षिण में शक्तिशाली राज्य था, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं। समुद्रगुप्त ने वहाँ के राजा रुद्रदेव या रुद्रसेन को परास्त किया था, पर अधीनस्थ रूप में वाकाटक राज्य अब भी विद्यमान था। वाकाटक राजा बड़े प्रतापी थे, और उनकी अधीनता में अन्य बहुत से सामंत राजा थे। वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की कन्या प्रभावती गुप्ता का विवाह हुआ था। प्रभावती गुप्ता की माता का नाम कुबेरनागा था, जो स्वयं नागवंश की

कन्या थी। संभवतः, कुबेरनागा चंद्रगुप्त द्वितीय की बड़ी रानी थी। ध्रुवदेवी के साथ उसका विवाह बाद में हुआ था।

वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ गुप्त राजकुमारी का विवाह हो जाने से गुप्तों और वाकाटकों में बड़ी मैत्री और घनिष्ठता हो गई थी। कुछ समय बाद, तीस वर्ष की आयु में ही रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु हो गई। उसके बच्चे अभी बहुत छोटे-छोटे थे। अतः राज्यशासन प्रभावती गुप्ता ने अपने हाथों में लिया और वह वाकाटक राज्य की स्वामिनी बन गई। इस प्रकार उसने ३९० ईस्वी से ४१० ई० के लगभग तक राज्य किया। अपने प्रतापी पिता चंद्रगुप्त द्वितीय का पूरा साहाय्य और सहयोग प्रभावती गुप्ता को प्राप्त था। चंद्रगुप्त के निरीक्षण में ही एक प्रकार से इस समय वाकाटक राज्य का संचालन हो रहा था। अतः जब, चंद्रगुप्त ने महाक्षत्रप शकस्वामी सिंहसेन पर आक्रमण किया, तो वाकाटक राज्य की संपूर्ण शक्ति उसकी अनुवर्तिनी थी। वाकाटक राज्य की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी, कि शकों को परास्त करने के लिये इसका सहयोग आवश्यक था।

गुजरात काठियावाड़ के शकों का उच्छेद कर उनके राज्य को गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत कर लेना चंद्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल की सब से महत्त्वपूर्ण घटना है। इसी कारण वह भी 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' कहलाया। कई सदी पहले इसी प्रकार शकों का उच्छेद कर सातवाहन सम्राट् गौतमीपुत्र श्री सातकर्णि ने 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' की उपाधि ग्रहण की थी। अब चंद्रगुप्त द्वितीय ने भी एक बार फिर उसी गौरव को प्राप्त किया। अरब सागर तक विस्तृत गुप्त साम्राज्य के लिये, विशेषतया नये जीते हुए प्रदेशों पर भलीभाँति शासन करने के लिये, पाटलीपुत्र बहुत दूर पड़ता था। इसलिये

चंद्रगुप्त द्वितीय ने उज्जैनी को दूसरी राजधानी बनाया, और एक बार फिर इस नगरी का उत्कर्ष हुआ।

गुजरात काठियावाड़ के शक महाक्षत्रपों के अतिरिक्त गांधार कंबोज के शक मुरुण्डों (कुशाणों) का भी चंद्रगुप्त ने संहार किया था। दिल्ली के समीप महरौली में लोहे का एक विष्णुध्वज (स्तंभ) है, जिस पर चंद्र नाम के एक प्रतापी एकराट् का लेख उत्कीर्ण है। प्रायः ऐतिहासिकों का मत है, कि यह लेख गुप्तवंशी चंद्रगुप्त द्वितीय का ही है। इस लेख में चंद्र की विजयों का वर्णन करते हुए कहा है, कि उसने सिंधु के सप्तमुखों (प्राचीन सप्तसैंधव देश की सात नदियों) को पार कर के वाह्लिक (बल्ख) देश तक युद्ध में विजय प्राप्त की थी। पंजाब की सात नदियों (यमुना, सतलुज, ब्यास, रावी, चनाब, जेहलम और सिन्ध, इन सात नदियों का प्रदेश प्राचीन समय में सप्तसैंधव कहलाता था, अब यही पंजाब का प्रांत है।) के पार के प्रदेश में उस समय शक मुरुण्डों का राज्य था। संभवतः इन्हीं शक मुरुण्डों ने ध्रुवदेवी पर हाथ उठाने का दुःसाहस किया था। अब ध्रुवदेवी और उसके पति चंद्रगुप्त द्वितीय के प्रताप ने बल्ख तक इन शक मुरुण्डों का उच्छेद किया, और गुप्त साम्राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा को सुदूर वंक्षु नदी तक पहुँचा दिया।

महरौली के इसी स्तंभ लेख में यह भी लिखा है, कि बंगाल में मुकाबला करने के लिये इकट्ठे हुए अनेक राजाओं को भी चंद्र ने परास्त किया था। संभव है, कि जब चंद्रगुप्त द्वितीय काठियावाड़ गुजरात के शकों को परास्त करने में व्यापृत था, बंगाल के कुछ पुराने राजकुलों ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया हो, और उसे बंगाल जाकर भी अपनी तलवार का प्रताप दिखाने की आवश्यकता हुई हो।

चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में गुप्त साम्राज्य अपनी शक्ति की चरम सीमा को पहुँच गया था। दक्षिणी भारत के जिन राजाओं को समुद्रगुप्त ने अपने अधीन किया था, वे अब भी कट्टर रूप से चंद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार करते थे। शक महाक्षत्रपों और गांधार कंबोज के शक मुरुण्डों के परास्त हो जाने से गुप्त साम्राज्य का विस्तार पश्चिम में अरब सागर तक और हिंदुकुश के पार वंक्षु नदी तक हो गया था।

चंद्रगुप्त की उपाधि केवल विक्रमादित्य ही नहीं थी। शिलालेखों में उसे सिंहविक्रम, सिंहचंद्र, साहसांक, विक्रमांक, देवराज आदि अनेक उपाधियों से विभूषित किया है। उसके भी अनेक प्रकार के सिक्के मिलते हैं। शक महाक्षत्रपों को जीतने के बाद उसने उनके प्रदेश में जो सिक्के चलाये थे, वे पुराने शक सिक्कों के नमूने के थे। इसी प्रकार उत्तर पश्चिमी भारत में उसके जो बहुत से सिक्के मिले हैं वे कुशाण नमूने के हैं। चंद्रगुप्त की वीरता उसके सिक्कों द्वारा भी प्रकट होती है। उसे भी सिक्कों पर सिंह के साथ लड़ता हुआ प्रदर्शित किया गया है, और यह वाक्य दिया गया है—'क्षितिमवजित्य सुचरितैः दिव जयति विक्रमादित्यः' पृथिवी का विजय कर के अब विक्रमादित्य अपने सुकार्यों से स्वर्ग को जीत रहा है।

अपने पिता के समान चंद्रगुप्त ने भी अश्वमेध यज्ञ किया। शकों की विजय के बाद सारे भारत में अपना अक्षुण्ण साम्राज्य स्थापित कर वह वस्तुतः इसका अधिकारी हो गया था। उसका शासनकाल ३७८ से ४१४ ईस्वी के लगभग तक था।

(४) सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम महेंद्रादित्य

चंद्रगुप्त प्रथम की मृत्यु के बाद उसका लड़का कुमारगुप्त राजगद्दी पर बैठा। यह पट्टमहादेवी ध्रुवदेवी का पुत्र था।

इसके शासनकाल में विशाल गुप्त साम्राज्य अक्षुण्ण रूप में कायम रहा। बल्ख से बंगाल की खाड़ी तक इसका अबाधित शासन था। सब राजा, सामंत, गण और प्रत्यंतवर्ती जनपद कुमारगुप्त के वशवर्ती थे। गुप्त वंश की शक्ति इस समय अपनी चरम सीमा को पहुँची हुई थी। कुमारगुप्त को विद्रोही राजाओं को वश में लाने के लिये कोई युद्ध नहीं करने पड़े। उसके शासनकाल में विस्तृत गुप्त साम्राज्य में सर्वत्र शांति विराजती थी। इसी लिये विद्या, धन, कला आदि की समृद्धि की दृष्टि से यह काल वस्तुतः भारतीय इतिहास का सुवर्ण युग था।

अपने पिता और पितामह का अनुसरण करते हुए कुमारगुप्त ने भी अश्वमेध यज्ञ किया। इसके उपलक्ष में उसने जो सिक्के जारी किये थे, उनमें एक तरफ 'अश्वमेध महेंद्र' लिखा है, और दूसरी तरफ यज्ञीय अश्व का चित्र है। कुमारगुप्त ने यह अश्वमेध किसी नई विजययात्रा के उपलक्ष में नहीं किया। गुप्त साम्राज्य इस युग में अपने गौरव के शिखर पर था। कोई सामंत या राजा उसके विरुद्ध साहस दिखाने की हिम्मत तो नहीं करता, यही देखने के लिये पुरानी परिपाटी के अनुसार यज्ञीय अश्व छोड़ा गया था, जिसे रोकने या पकड़ने का साहस किसी राजशक्ति ने नहीं किया था। सारे साम्राज्य में अपनी शक्ति के इस प्रत्यक्ष प्रमाण को प्राप्त करने के बाद अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया गया था।

कुमारगुप्त ने कुल ४० वर्ष राज्य किया। उसके राज्यकाल के अंतिम भाग में मध्य भारत में नर्मदा नदी के समीप पुष्यमित्र नाम की एक जाति ने गुप्त साम्राज्य की शक्ति के विरुद्ध एक भयंकर विद्रोह खड़ा किया। ये पुष्यमित्र लोग कौन थे, इस विषय में बहुत विवाद है, पर यह एक प्राचीन

जाति थी, जिसका उल्लेख पुराणों में भी आता है। पुष्यमित्रों को कुमार स्कंदगुप्त ने परास्त किया और इस प्रयत्न में उसे कुछ रातें जमीन पर सोकर भी बितानी पड़ी थीं।

सम्राट् कुमारगुप्त के भी बहुत से सिक्के प्राप्त होते हैं। उसका शासनकाल ४१४ से ४५५ ईस्वी के लगभग था।

(५) सम्राट् स्कंदगुप्त

कुमारगुप्त की पटरानी का नाम महादेवी अनंतदेवी था। उसका पुत्र पुरुगुप्त था। स्कंदगुप्त की माता संभवतः पटरानी या महादेवी नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद राजगद्दी के संबंध में कुछ झगड़ा हुआ, और अपनी वीरता तथा अन्य गुणों के कारण स्कंदगुप्त ही गुप्त साम्राज्य का स्वामी बना। अपने पिता के शासनकाल में ही पुष्यमित्रों को परास्त कर इसने अपनी अपूर्व प्रतिभा और वीरता का परिचय दिया था। पुष्यमित्रों का विद्रोह इतना भयंकर रूप धारण कर चुका था कि गुप्तकुल की लक्ष्मी विचलित हो गई थी और उसे पुनः स्थापित करने के लिये स्कंदगुप्त ने अपने बाहुबल से शत्रुओं का नाश कर उसे फिर प्रतिष्ठापित किया। जिस प्रकार शत्रुओं को परास्त कर कृष्ण अपनी माता देवकी के पास गया था, वैसे ही स्कंदगुप्त भी शत्रुओं को नष्ट कर अपनी माता के पास गया। इस अवसर पर उसकी माता की आँखों में आँसू झलक रहे थे। राजलक्ष्मी ने स्वयं ही स्कंदगुप्त को स्वामी के रूप में वरण किया था। संभवतः बड़ा लड़का होने से राजगद्दी पर अधिकार तो पुरुगुप्त का था, पर शक्ति और वीरता के कारण राज्यश्री स्वयं ही स्कंदगुप्त के पास आ गई थी।

स्कंदगुप्त के शासनकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना हूणों

की पराजय है। हूण लोग बड़े भयंकर योद्धा थे। इन्हीं के आक्रमणों के कारण युइशि लोग अपने प्राचीन निवासस्थान को छोड़ कर शकस्थान की ओर बढ़ने को बाध्य हुए थे, और युइशियों से खदेड़े जाकर शक लोग ईरान और भारत की तरफ आ गये थे। हूणों के हमलों का ही परिणाम था कि शक और युइशि लोग भारत में प्रविष्ट हुए थे। उधर सुदूर पश्चिम में इन्हीं हूणों के आक्रमण के कारण विशाल रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गये थे। हूण राजा एट्टिला के अत्याचारों और बर्बरता के कारण पाश्चात्य संसार में त्राहि-त्राहि मच गई थी। अब इन हूणों की एक शाखा ने हिंदुकुश के पार के भारतीय प्रदेश पर हमला किया, और कंबोज जनपद को जीतकर गांधार में प्रविष्ट होना प्रारंभ किया। ये सब प्रदेश उस समय गुप्त साम्राज्य की अधीनता में थे। चंद्रगुप्त द्वितीय ने इनके शक मुरुण्ड राजाओं को परास्त कर अपने अधीन किया था। हूणों की इस बाढ़ का मुकाबिला करके गुप्त साम्राज्य की रक्षा करना स्कंदगुप्त के राज्यकाल की सबसे बड़ी घटना है। उसके शिलालेखों में हूणों की पराजय का बड़े सुंदर शब्दों में उल्लेख है। एक स्तंभ लेख के अनुसार स्कंदगुप्त की हूणों से इतनी जबर्दस्त मुठभेड़ हुई, कि सारी पृथिवी काँप उठी। अंत में स्कंदगुप्त की विजय हुई, और उसके कारण उसकी अमल शुभ्र कीर्ति कुमारी अंतरीप तक सारे भारत में मनुष्यों द्वारा गाई जाने लगी। और इसी लिये वह संपूर्ण गुप्त वंश में 'एक वीर' गिना जाने लगा। बौद्ध ग्रंथ चंद्रगर्भपरिपृच्छा के अनुसार हूणों के साथ इस युद्ध में गुप्त सेना की संख्या दो लाख थी। हूणों की सेना तीन लाख थी। तब भी विकट और बर्बर हूण योद्धाओं के मुकाबिले में गुप्त सेना की विजय हुई। स्कंदगुप्त के समयमें हूण

लोग गांधार से आगे नहीं बढ़ सके। गुप्त साम्राज्य का वैभव उसके काल में भी अक्षुण्ण रूप से बना रहा। स्कंदगुप्त के समय के सोने के सिक्के कम पाये गये हैं। इनमें सोने की मात्रा भी पहले गुप्तकालीन सिक्कों के मुकाबिले में कम है। इससे अनुमान किया जाता है, कि हूणों के साथ युद्धों के कारण गुप्त साम्राज्य का राज्यकोष बहुत कुछ क्षीण हो गया था, और इसी लिये सिक्कों में सोने की मात्रा कम कर दी गई थी।

स्कंदगुप्त के समय में सुराष्ट्र (काठियावाड़) का प्रांतीय शासक पर्णदत्त था। इसने गिरिनार की प्राचीन सुदर्शन झील की फिर से मरम्मत कराई थी। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, इस झील का निर्माण सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में हुआ था। तब सुराष्ट्र का शासक वैश्य पुष्यगुप्त था। पुष्यगुप्त ही इस झील का निर्माता था। बाद में अशोक के समय में प्रांतीय शासक यवन तुषास्फ ने और फिर महाक्षत्रप रुद्रदामा ने इस झील का पुनरुद्धार कराया था। गुप्त काल में यह झील फिर खराब हो गई थी। गरमी में इसमें जल कम हो जाता था, और इससे निकाली गई नहरें सूख जाती थीं। अब स्कंदगुप्त के आदेश से पर्णदत्त ने इस झील का फिर जीर्णोद्धार किया। उसके राज्य के पहले ही साल में इस झील का बांध टूट गया था, और प्रजा को बड़ा कष्ट हो गया था। स्कंदगुप्त ने उदारता के साथ इस बाँध पर खर्च किया। पर्णदत्त का पुत्र चक्रपालित भी इस प्रदेश में राज्य सेवा में नियुक्त था। उसने झील के तट पर विष्णु भगवान के मंदिर का निर्माण कराया।

स्कंदगुप्त ने किसी नये प्रदेश को जीत कर गुप्त साम्राज्य का अधिक विस्तार नहीं किया। सम्भवतः, इसकी आवश्यकता भी नहीं थी। गुप्त सम्राट् 'आसमुद्रक्षितीश' थे। उनका सब से बड़ा कर्तव्य यही है, कि गुप्त साम्राज्य में शांति बनी रही। पुष्य

मित्रों के सदृश प्रबल आभ्यंतर शत्रु परास्त किये गये और हूणों जैसे प्रबल बाह्य आक्रांतकों के आक्रमण से साम्राज्य की रक्षा की गई।

स्कंदगुप्त की मृत्यु ४६७ ईस्वी में हुई।

(६) गुप्त साम्राज्य का ह्रास

स्कंदगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य का ह्रास प्रारंभ हो गया। उसके कोई संतान नहीं थी, अतः उसकी मृत्यु के बाद पुरुगुप्त सम्राट् बना। यह स्कंदगुप्त का भाई था, और कुमारगुप्त की पट्ट महारानी का पुत्र था। इस समय तक यह बूढ़ा हो चुका था, वैसे भी इसका व्यक्तित्व निर्बल था। यही कारण है, कि कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद राजलक्ष्मी ने इसकी जगह पर स्कंदगुप्त को अपने स्वामी के रूप में वरण किया था। अब पुरुगुप्त के राजगद्दी पर बैठते ही गुप्त साम्राज्य में अव्यवस्था प्रारंभ हो गई। हूणों के आक्रमणों से पहले ही गुप्त साम्राज्य को जबर्दस्त चोटें लगी थीं, अब वाकाटक वंश ने सिर उठाया। यह वंश किसी समय में बड़ा शक्तिशाली रह चुका था। समुद्रगुप्त ने इसे परास्त कर गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत किया था। पर अपने प्रदेश में वाकाटक राजा शक्तिशाली सामंतों के रूप में विद्यमान थे। चंद्रगुप्त द्वितीय ने अपनी कन्या प्रभावती गुप्ता का वाकाटक राजा से विवाह कर इनके साथ मैत्री तथा घनिष्ठ संबंध कायम किया था। हूणों के आक्रमणों के समय इन्होंने फिर अपनी शक्ति को बढ़ाना शुरू किया और प्रतापी स्कंदगुप्त के मरते ही वाकाटक राजा नरेंद्रसेन ने अपने को स्वतंत्र उद्घोषित कर दिया। एक शिलालेख से सूचित होता है, कि नरेंद्रसेन ने अपने वंश की डूबी हुई शक्ति का पुनरुद्धार किया था। समुद्रगुप्त के समय से वाकाटक लोगों की राज्य

थी वस्तुतः क्षीण हो गई थी, अब नरेंद्रसेन ने उसे फिर शक्ति प्रदान की, और धीरे-धीरे न केवल संपूर्ण मालवा पर अपितु दक्षिण कोशल पर भी अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार स्कंदगुप्त के निर्बल भाई पुरुगुप्त के शासन में वाकाटक राज्य फिर से स्वतंत्र हो गया। पुरुगुप्त बौद्ध धर्म का अनुयायी था। यही कारण है, कि प्राचीन लेखों में उसके नाम के साथ 'परम भागवत' विशेषण नहीं दिया जाता।

पुरुगुप्त के बाद उसका लड़का नरसिंहगुप्त राजा बना। उसकी माता का नाम वत्सदेवी था। उसके बौद्ध पिता ने एक बौद्ध आचार्य को उसकी शिक्षा के लिये नियत किया था। नरसिंहगुप्त ने अपने नाम के साथ बालादित्य उपाधि प्रयुक्त की थी। उसके सिक्कों पर एक तरफ उसका चित्र है, और 'नर' लिखा है। सिक्के की दूसरी तरफ 'बालादित्य' लिखा गया है। आचार्य वसुबंधु की शिक्षाओं के कारण नरसिंहगुप्त भी बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। उसके शासनकाल में भी गुप्त साम्राज्य का ह्रास जारी रहा। पुरुगुप्त और नरसिंहगुप्त दोनों का राज्यकाल ४६७ से ४७३ ईस्वी तक है।

इसके बाद कुमारगुप्त द्वितीय पाटलीपुत्र के राजसिंहासन पर बैठा। इसने विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की। यह अन्य गुप्त सम्राटों के समान 'वैष्णवधर्म' का अनुयायी था, और इसे भी 'परम भागवत' करके लिखा गया है। इसने कुल चार वर्ष राज्य किया। ४७७ ईस्वी में इसकी मृत्यु हो गई। सम्राट् स्कंदगुप्त के बाद दस वर्षों में गुप्तवंश के तीन राजा हुए। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यह काल अव्यवस्था और अशांति का था पर अपने चार वर्ष के शासनकाल में ही कुमारगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने कुछ महत्त्वपूर्ण सफलतायें प्राप्त कर ली थीं। उसने मुख्यतया वाकाटक राजा से युद्ध

किये, और मालवा के प्रदेश को जीतकर फिर अपने साम्राज्य में मिला लिया। आक्रान्ताओं की शक्ति अब फिर क्षीण होने लगी।

कुमारगुप्त द्वितीय के बाद बुधगुप्त गुप्त सम्राट् बना। इसके समय के अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। इनसे प्रतीत होता है, कि यह एक शक्तिशाली राजा था, और इसके द्वारा नियुक्त प्रांतीय शासक बंगाल से लगाकर मालवा तक शासन करते थे। धर्म से यह बौद्ध था, और नालंदा के बौद्ध विहार की वृद्धि के लिये इसने बहुत प्रयत्न किया था। बुधगुप्त कुमारगुप्त द्वितीय का पुत्र नहीं था। अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि वह स्कंदगुप्त और पुरुगुप्त का छोटा भाई था। ४९५ ईस्वी में इसके शासनकाल का अंत हुआ।

बुधगुप्त के बाद वैन्यगुप्त पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर बैठा। इसने ४९५ से ५०७ ईस्वी तक राज्य किया। इसके सिक्के तोल आदि में चंद्रगुप्त द्वितीय और समुद्रगुप्त के सिक्कों के सदृश हैं। सिक्कों पर एक ओर वैन्यगुप्त का चित्र है, जिसमें बायें हाथ में धनुष और दायें हाथ में बाण लिया हुआ है। राजा के चित्र के एक ओर गरुडस्तंभ है, और दूसरी ओर वैन्य लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर कमलासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है। साथ ही वैन्य की उपाधि द्वादशादित्य उत्कीर्ण है। वैन्य के सिक्कों में सोने की मात्रा का फिर बढ़ जाना यह सूचित करता है, कि इसका काल-समृद्धि का था, और संभवतः, इसे युद्धों में अधिक रुपया खर्च करने की आवश्यकता नहीं हुई थी।

(७) हूणों के आक्रमण

बुधगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य की बागडोर भानुगुप्त

बालादित्य के हाथ में आई। इसके समय में हूणों के आक्रमण भारत में फिर प्रारंभ हो गये। स्कंदगुप्त से परास्त होकर हूण लोग गांधार तक रुक गये थे। इससे आगे बढ़ने का प्रयत्न लगभग तीस वर्ष तक उन्होंने नहीं किया। पर इस बीच में उन्होंने गांधार में अपनी शक्ति को भलीभांति दृढ़ कर लिया था। इस समय उनका राजा तोरमाण था। यह बड़ा शक्तिशाली योद्धा था। इसकी राजधानी सिंध नदी के समीप में थी। इसने फिर हूण सेनाओं को साथ ले भारत पर आक्रमण शुरू किये। कुछ ही समय में यह पूर्व की तरफ बढ़ता हुआ मालवा तक पहुंच गया। पर इस समय गुप्त साम्राज्य का अधिपति भानुगुप्त बालादित्य था। अपने पूर्वज स्कंदगुप्त के समान उसने फिर एक बार हूणों को परास्त किया। तोरमाण बहुत थोड़े समय तक भारत के इस प्रदेश पर अधिकार रख सका। इस बीच में उसने जो सिक्के जारी किये थे, उनमें से कुछ मध्यभारत में अनेक स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं।

तोरमाण के बाद हूणों का नेता मिहिरगुल बना। इसने फिर पूर्व की तरफ आगे बढ़कर मध्यभारत पर आक्रमण किया। पर इस समय उसका मुकाबला करने के लिये एक और प्रबल शक्ति उठ खड़ी हुई, जिसका नाम यशोधर्मा था। मालवा में बहुत पहले समय से एक वंश का राज्य था, जो पहले वाकाटकों के सामंत थे, और बाद में गुप्तों के सामंत होकर राज्य करते थे। इस वंश में इस समय यशोधर्मा राजा था। हूण लोगों के आक्रमण मालवा पर हो रहे थे। अतः वहां के पुराने राजाओं को उनका सामना करने की आवश्यकता हुई थी। यशोधर्मा ने बड़ी वीरता के साथ अपने कर्तव्य का पालन किया, और हूणों के विरुद्ध जो लड़ाई शुरू हुई, उसका नेतृत्व कर अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा दिया। मध्यभारत के राज-

नैतिक आकाश में उसका अभ्युदय धूमकेतु के समान अकस्मात ही हुआ। इस समय हूणों के आक्रमणों के कारण मध्य-भारत में जो उथल-पुथल मची हुई थी, उसका लाभ उठाकर कोई भी महत्त्वाकांक्षी वीर-व्यक्ति अपनी शक्ति को बढ़ा सकता था। यशोधर्मा ने इस अवसर का पूरी तरह उपयोग किया, और मध्यभारत की सारी सैनिक शक्ति का संगठन कर मिहिर-गुल को युद्ध में परास्त किया। उसने बड़े अभिमान के साथ अपने एक शिलालेख में लिखा है, कि मिहिरगुल ने उसके पैरों में सिर रख कर और विविध उपहार देकर उसकी पूजा की थी। इसमें सन्देह नहीं, कि मिहिरगुल को परास्त करने में यशोधर्मा को पूरी सफलता प्राप्त हुई थी। हूणों को परास्त करने के लिये जो भारी सैनिक शक्ति यशोधर्मा ने संगठित की थी, उसका उपयोग उसने अन्य प्रदेशों को जीतने के लिये भी किया। कुछ समय के लिये वह भारत का सबसे बड़ा प्रतापी राजा हो गया। सब जगह उसका प्रभाव स्थापित हो गया, गुप्त राजा उसके सम्मुख फीके पड़ गये। संभवतः, इसीलिये उसकी प्रशस्ति में लिखा गया है, कि ब्रह्मपुत्र से महेन्द्र पर्वत तक और हिमालय से पश्चिमी पयोधि तक, सब जगह के राजा सामंत के रूप में उसके आगे सिर झुकाते थे। इसमें संदेह नहीं, कि हूणों को परास्त करने के कारण भारत के बहुत बड़े हिस्से में उसका ऐसा ही प्रभाव कुछ समय के लिये कायम हो गया था।

यशोधर्मा ने मिहिरगुल को ५३० ईस्वी के लगभग परास्त किया था। जिस प्रकार अकस्मात् उसका अभ्युदय हुआ था, वैसे ही अकस्मात् उसका अंत भी हो गया। संभवतः, अपनी वैयक्तिक वीरता के कारण जो गौरवपूर्ण स्थान उसने प्राप्त किया था, उसकी मृत्यु के साथ उसका भी अंत हो गया। यशोधर्मा

कोई स्थिर साम्राज्य नहीं बना सका। थोड़े समय के लिये चमक कर यह सितारा अपना कोई स्थिर प्रभाव उत्पन्न किये बिना ही अस्त हो गया। गुप्त सम्राट् फिर पहले के समान अपने विस्तृत पर शिथिल साम्राज्य का शासन करने लगे।

यशोवर्मा की मृत्यु के बाद मिहिरगुल ने फिर सिर उठाया। साकल (सियालकोट) को अपनी राजधानी से आगे बढ़ उसने फिर आर्यावर्त पर आक्रमण प्रारंभ कर दिये। गुप्त साम्राज्य का स्वामी अब भी सम्राट् बालादित्य था, जिसने राजगद्दी पर बैठते ही ५१० ईस्वी के लगभग हूण राजा तोरमाण को परास्त किया था। वह बौद्ध धर्म का कट्टर अनुयायी था। इधर मिहिरगुल बौद्धों का शत्रु उन पर भयंकर अत्याचार करता था। जब उसने देखा कि मिहिरगुल साकल से आगे बढ़ रहा है, तो एक भारी सेना लेकर बालादित्य ने उसका मुकाबला किया। पंजाब की किसी नदी (संभवतः चनाब) के किसी टापू में घनघोर युद्ध हुआ, और एक बार फिर मिहिरगुल की पराजय हुई।

गुप्त साम्राज्य की सेनाओं से परास्त होकर मिहिरगुल ने आर्यावर्त में आगे बढ़ सकने की आशा छोड़ दी, और उत्तर में काश्मीर पर आक्रमण किया। वहाँ के राजा को मार कर वह स्वयं काश्मीर का राजा बन गया, वहाँ उसने बहुत से स्तूपों व संघारामों को नष्ट किया, और जनता पर घोर अत्याचार किये। इस प्रकार काश्मीर और गांधार के प्रदेशों पर हूणों का अधिकार स्थापित हो गया। पर वे भारत में आगे नहीं बढ़ सके। हूणों को अंतिम रूप से भारत से खदेड़ने का श्रेय सम्राट् बालादित्य को ही है।

पर हूणों के निरंतर आक्रमणों और यशोधर्मा की विजयों के कारण गुप्त साम्राज्य में शिथिलता आने लगी थी। यशोधर्मा ने हूणों को परास्त करने के लिये तो बड़ा गौरवपूर्ण कार्य किया, पर

जिस संगठन ने सारे उत्तरी भारत को एक शासनसूत्र में बाँधा हुआ था, उसको बिलकुल निर्बल बना दिया। यदि वह गुप्तों के ध्वंसावशेष पर एक नये शक्तिशाली राजवंश और साम्राज्य को स्थापित कर सकता, तो कोई हानि नहीं थी। विशाल मागध साम्राज्य का आधिपत्य गुप्तवंश के हाथ से निकल कर यशोधर्मा के वंश के पास आ जाता। पर यशोधर्मा यह तो नहीं कर सका, उसकी विजयों का स्थिर परिणाम केवल यह हुआ, कि गुप्त साम्राज्य की शक्ति ढीली हो गई, और विविध सामंत, अधीनस्थ राजा तथा प्रांतीय शासकों में अपने-अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लेने की भावना प्रबल हो गई। यही कारण है कि सम्राट् बालादित्य के बाद गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और भारत में बहुत से राजवंश स्वतंत्र रूप से राज्य करने लगे। मुगल सम्राट् औरंगजेब के बाद जिस प्रकार निजाम, विविध नवाब, राजपूत राजा, मराठे सरदार आदि अपने-अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने के लिये तत्पर हो गये थे, वैसा ही अब बालादित्य के बाद में हुआ। हाँ, मगध के आस-पास के प्रदेश में गुप्त वंश का शासन जारी रहा। पर पाटलीपुत्र के इन गुप्त राजाओं की शक्ति बहुत हीन थी। तीन सदियों के लगभग गुप्त सम्राटों के शासन में पाटलीपुत्र और ने जो मगध विशाल साम्राज्य बनाया था, उसका अब अंत हो गया था।

बालादित्य के निर्बल उत्तराधिकारियों के विषय में विशेष रूप से हमें यहाँ लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

उन्नीसवाँ अध्याय

विज्ञान, धर्म और साहित्य

(१) साहित्य और विज्ञान

मौर्योत्तर काल में संस्कृत साहित्य के विकास की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई थी, गुप्त काल में वह उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गई। भास, शूद्रक सदृश कवियों ने संस्कृत में नाटक और काव्य की जिस परंपरा को प्रारंभ किया था, अब कालिदास और विशाखदत्त जैसे कवियों ने उसे पूर्णता तक पहुँचा दिया। संस्कृत का सबसे बड़ा कवि कालिदास गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक था। एक शिलालेख से सूचित होता है, कि विक्रमादित्य ने उसे कुंतल नरेश ककुत्स्थवर्मन के पास राजदूत के रूप में भेजा था। एक साहित्यिक अनुश्रुति के अनुसार कालिदास ने वाकाटक राजा प्रवरसेन द्वारा लिखित सेतुबंध काव्य का परिष्कार किया था। यह राजा चंद्रगुप्त द्वितीय के काल में ही हुआ था।

महाकवि कालिदास के लिखे हुए ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्र, कुमारसंभव, मेघदूत, शकुंतला और रघुवंश काव्य इस समय उपलब्ध होते हैं। निःसंदेह, ये ग्रंथ संस्कृत साहित्य के सबसे उज्ज्वल रत्न हैं। ओज, प्रसाद आदि गुणों और उपमा आदि अलंकारों की दृष्टि से संस्कृत का अन्य कोई भी काव्य इनका मुकाबला नहीं कर सकता। जब तक संस्कृत भाषा का अध्ययन जारी रहेगा, कालिदास का नाम भी संसार में अमर रहेगा। यह कहना ज़रा भी अतिशयोक्ति करना नहीं है, कि कालिदास सर्वश्रेष्ठ कवि है। उसकी कृतियाँ इतिहास और

साहित्य में सदा अमर रहेंगी। रघुवंश में रघु की दिग्विजय का जो वर्णन किया गया है, उसमें समुद्रगुप्त की विजययात्रा कालिदास के सम्मुख थी। उसके ग्रंथों पर गुप्त काल की समृद्धि और गौरव का स्पष्ट आभास है।

मुद्राराक्षस का लेखक विशाखदत्त भी गुप्त काल में चौथी सदी में हुआ था। नंद को परास्त कर चंद्रगुप्त मौर्य ने किस प्रकार पाटलीपुत्र की राजगद्दी पर अपना अधिकार जमाया, इस कथानक को विशाखदत्त ने बड़े सुंदर रूप में इस नाटक में वर्णित किया है। मुद्राराक्षस की संस्कृत नाटकों में अद्वितीय स्थिति है। मागध परंपरा के अनुसार राजनीति के दाव-पेचों का जो वर्णन इस नाटक में है, वह संस्कृत साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। मुद्राराक्षस के भरत वाक्य में विशाखदत्त ने म्लेच्छों से आक्रांत हुई पृथिवी की रक्षा करने के लिये 'बंधुभृत्य' चंद्रगुप्त का आवाहन किया है। इस भरत-वाक्य में शक और कुशाणों के उस प्रचंड आक्रमण की ओर इशारा है, जो समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद रामगुप्त के समय में हुआ था। इन म्लेच्छ आक्रांताओं ने मागध सेनाओं को परास्त कर पट्टमहादेवी ध्रुवदेवी तक पर आंख उठाई थी। पर अपने बड़े भाई के सेवक के रूप में चंद्रगुप्त ने शक कुशाणों को परास्त कर भारत भूमि की रक्षा की थी। इस प्रकार म्लेच्छों का भारत को सताना बंद हुआ। इसी विशाखदत्त ने 'देवी चंद्रगुप्तम्' की रचना की थी, जिसमें चंद्रगुप्त द्वितीय और ध्रुवदेवी के कथानक का बड़े विशद रूप से वर्णन किया गया है।

किरातार्जुनीय का लेखक महाकवि भारवि और भट्टि-काव्य का रचयिता भट्टि भी गुप्त वंश के अंतिम काल में छठी सदी में हुए। इन दोनों महाकवियों के काव्य

संस्कृत साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। दानों द्रौपदी के मुख से राजनीति का जो ओजस्वी वर्णन किरातार्जुनीय में मिलता है, उसका उदाहरण संस्कृत साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। भट्टिकाव्य में व्याकरण के कठिन नियमों को श्लोकों के उदाहरणों से जिस प्रकार सरल रीति से समझाया गया है, वह भी वस्तुतः अनुपम है।

अन्य अनेक कवि भी इस युग में हुए, जिनमें से मातृगुप्त, सौमिल्ल और कुलपुत्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके उत्कृष्ट काव्यों के निर्देश तो हमें मिलते हैं पर दुर्भाग्य-वश इनका रचा हुआ कोई काव्य अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

गुप्त काल के शिलालेख भी काव्य के उत्तम उदाहरण हैं। प्रयाग के अशोककालीन स्तंभ पर जो. समुद्रगुप्त प्रशस्ति कुमारामात्य महादंडनायक हरिषेण ने उत्कीर्ण कराई थी, वह कविता की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि की है। यदि हरि-षेणरचित कोई काव्य भी हमें उपलब्ध हो सकता, तो वह संस्कृत के बहुत उत्तम काव्यों में गिना जाता। यशोवर्मा की प्रशस्ति भी कविता की दृष्टि से बहुत उत्तम है। उसे वसुल नाम के कवि ने लिखा था। इसी तरह रविशांति, वत्सभट्टि और कुब्ज आदि कवियों द्वारा लिखी गई अन्य अनेक प्रश-स्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं, जो सब गुप्त काल की हैं। इनके अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि काव्य की शैली गुप्त काल में बहुत उन्नत और परिष्कृत हो गई थी।

ऐतिहासिकों के अनुसार संस्कृत के प्रसिद्ध नीतिकथा ग्रंथ पंचतंत्र का निर्माण भी गुप्त काल में हुआ था। पंचतंत्र की कथायें बहुत पुरानी हैं, उनमें से बहुतों का संबंध तो महाजन-पद काल की राजनीतिक घटनाओं से है। कोशल, मगध और

वज्जि आदि जनपदों के राजाओं का स्थान पशुओं ने ले लिया है, और मनोरंजक रीति से पुरानी ऐतिहासिक कथाओं को लिख दिया गया है। ये कथायें चिरकाल से परंपरागत रूप में भारत में प्रचलित थीं। गुप्त काल में उन्होंने बाकायदा एक ग्रंथ का रूप धारण कर लिया है। ५५० ईस्वी से पहले ही इसका पहलवी भाषा में अनुवाद हो चुका था। ग्रीक, लैटिन, स्पेनिश, इटालियन, जर्मन, इंगलिश और संसार की सभी पुरानी भाषाओं में इसके अनुवाद सोलहवीं सदी से पहले ही हो चुके थे। इस समय पचास से भी अधिक संसार की विभिन्न भाषाओं में इसके अनुवाद पाये जाते हैं। थोड़े बहुत रूपांतर से २०० से अधिक ग्रंथ इसके आधार पर लिखे जा चुके हैं।

व्याकरण और कोष संबंधी भी अनेक ग्रंथ इस काल में बने। चन्द्रगोमिन नाम के एक बौद्ध पंडित ने चांद्र व्याकरण लिखा। पाणिनि के व्याकरण में वैदिक प्रयोगों की भी सिद्धियाँ थी। इसमें उन्हें निकाल दिया गया। इस व्याकरण की पद्धति पाणिनि से भिन्न है। बौद्धों में इसका बहुत प्रचार हुआ। महायान संप्रदाय के सभी ग्रंथ संस्कृत में लिखे गये थे। गांधार और उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में बौद्धों की भाषा संस्कृत ही थी। वे इस चांद्र व्याकरण का अध्ययन करते थे। संस्कृत का मूल चांद्र व्याकरण अब नहीं मिलता। पर तिब्बती भाषा में उसका जो अनुवाद हुआ था, वह पिछले दिनों में विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हुआ है। प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह भी इसी काल में हुआ। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसका लिखा हुआ अमरकोष संस्कृत के विद्यार्थियों में बहुत लोकप्रिय है। अमरसिंह की गणना भी चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में की जाती है।

स्मृति-ग्रंथों में मनुस्मृति, विष्णुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति का निर्माण गुप्त काल से पहले हो चुका था। अब नारदस्मृति, कात्यायनस्मृति और बृहस्पतिस्मृति का निर्माण हुआ। नीति-ग्रंथों में कामंदक नीतिसार इसी काल की रचना है।

गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों की भी इस काल में बहुत उन्नति हुई। आर्यभट्ट और वराहमिहिर जैसे प्रसिद्ध गणितज्ञ और ज्योतिषी इसी युग में हुए थे। वराहमिहिर की गणना भी चंद्रगुप्त द्वितीय के नवरत्नों में की गई है। गणित शास्त्र में दशमलव का सिद्धांत बड़े महत्त्व का है। गुप्त काल तक यह सिद्धांत भारत में विकसित हो चुका था। रोमन लोग इससे सर्वथा अपरिचित थे। यूरोप के लोगों को ग्यारहवीं सदी तक इसका ज्ञान नहीं था। यही कारण है, कि गणित की वहाँ अधिक उन्नति नहीं हो सकी। अरब लोग पहले-पहल इस सिद्धांत को यूरोप में ले गये। पर अरबों ने इसे भारत से सीखा था। इब्न वाशिया (नवीं सदी), अलमसूदी (दसवीं सदी) और अलबरूनी (ग्यारहवीं सदी) जैसे अरब लेखकों ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है, कि दशमलव का सिद्धांत हिंदुओं ने आविष्कार किया था, और अरबों ने इसे उन्हीं से सीखा था। आर्यभट्ट के ग्रंथ आर्यभट्टीयम् में इसका स्पष्टतया उल्लेख है। यह ग्रंथ गुप्त काल में पाँचवीं सदी में लिखा गया था। पर भारतीय लोग पाँचवीं सदी से पहले इस सिद्धांत से परिचित थे। पेशावर के समीप बख्शाली नाम के गाँव में एक बहुत पुराना हस्तलिखित ग्रंथ मिला है। यह ग्रंथ गणित विषय पर है। इसकी भाषा के आधार पर यह निश्चित किया गया है, कि यह ग्रंथ चौथी सदी का है। इसमें न केवल दशमलव के सिद्धांत का स्पष्टरूप से प्रतिपादन है, अपितु गणित के कठिन ऊँचे सूत्रों का उल्लेख है। इसके अनुशीलन से प्रतीत होता है, कि गुप्तकालीन भारत

में गणित विज्ञान अच्छी उन्नति कर चुका था। आर्यभट्ट का ग्रंथ आर्यभट्टीयम् भी गणित के संबंध में उस युग के ज्ञान को भलीभाँति प्रकट करता है। यह ग्रंथ खास पाटलीपुत्र में लिखा गया था, और इसमें अंकगणित, अलजबरा और ज्योमेट्री, सब के अनेक सिद्धांतों व सूत्रों का प्रतिपादन किया गया है।

ज्योतिष विषय पर पहला ग्रंथ इस युग में वैशिष्ठ सिद्धांत लिखा गया। इसका काल ३०० ईस्वी माना जाता है। इससे पहले भारत में एक साल में ३६६ दिन माने जाते थे। पर वैशिष्ठ सिद्धांत में यह प्रतिपादन किया गया है, कि एक साल में ३६६ दिन न होकर ३६५-२५.१ दिन होते हैं। गुप्त काल में दिनगणना के विषय में भारतीय लोग सत्य के बहुत समीप तक पहुँच गये थे। ३८० ईस्वी में पौलिश सिद्धांत लिखा गया। इसमें सूर्यग्रहण और चंद्रग्रहण के नियमों का भलीभाँति प्रतिपादन किया गया है। पौलिश सिद्धांत के कुछ वर्षों बाद ४०० ई० में रोमक सिद्धांत लिखा गया। संभवतः, यह रोमन लोगों के ज्योतिष ज्ञान के आधार पर लिखा गया था। भारत और रोम का उस समय घनिष्ट संबंध था। इस ग्रंथ में २८५० वर्ष का एक युग माना गया है। यह ग्रीक और रोमन ज्योतिष के अनुसार ही है। आचार्य वराहमिहिर ने ज्योतिष के संबंध में जो ग्रंथ लिखे, उनके नाम ये हैं:— पंच सिद्धांतिका, बृहज्जातक, बृहत्संहिता और लघुजातक। इनमें से पिछले दो का अनुवाद अलबरूनी ने अरबी भाषा में किया था। वराहमिहिर की पुस्तकों में फलित ज्योतिष का बड़े विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

पर गुप्त काल के वैज्ञानिकों में सबसे बड़ा आर्यभट्ट था। इस विख्यात ज्योतिषी का जन्म पाँचवीं सदी में पाटलीपुत्र में हुआ था। जब उसकी आयु केवल २३ वर्ष की थी, तभी उसने अपने

प्रसिद्ध ग्रंथ आर्यभट्टीयम् की रचना की थी। उस युग में अलेग्जेंड्रिया ज्योतिष के अध्ययन का बड़ा केंद्र था। मिश्र के राजाओं की संरक्षता में वहाँ ग्रीक ज्योतिषी नई खोज में निरंतर लगे रहते थे। पाश्चात्य संसार ने ज्योतिष के क्षेत्र में जो उन्नति की थी, आर्य भट्ट को उससे पूरा-पूरा परिचय था। उसने भारतीय और पाश्चात्य, सब विज्ञानों का भलीभाँति अनुशीलन किया था, और उन सबका भलीभाँति मंथन करके, सत्य को असत्य से अलग करने और सत्य सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के लिये अपना ग्रंथ लिखा था। सूर्य और चंद्र का ग्रहण राहु और केतु नाम के राक्षसों से ग्रसने की वजह से नहीं होता, अपितु जब चंद्रमा सूर्य और पृथिवी में बीच में या पृथिवी की छाया में आ जाता है, तब चंद्रग्रहण होता है, इस सिद्धांत का आर्यभट्ट ने स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। पृथिवी अपने व्यास के चारों तरफ घूमती है, दिन और रात क्यों छोटे बड़े होते रहते हैं, भिन्न-भिन्न नक्षत्रों और ग्रहों की गति किस प्रकार से रहती है—इस प्रकार के बहुत से विषयों पर ठीक-ठीक सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं। वर्ष में कितने दिन होते हैं, इस विषय में आधुनिक ज्योतिषियों का मत यह है, कि ३६५·२५६३६०४ दिन का वर्ष होता है। आर्यभट्ट की गणना के अनुसार साल में ३६५·२५८६८०५ दिन होते थे। आर्यभट्ट की गणना वर्तमान ज्योतिषियों की गणना के बहुत समीप है। प्राचीन ग्रीक ज्योतिषी भी इस संबंध में सत्य के इतने समीप नहीं पहुँचे थे।

ज्योतिष में आर्यभट्ट के अनेक शिष्य थे। इनमें निःशंकु, पांडुरंग स्वामी और लाटदेव के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें भी लाटदेव आगे चल कर बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसे

'सर्वसिद्धांत गुरु' समझा जाता था। उसने पौलिश और रोमक सिद्धांतों की व्याख्या बड़े सुन्दर रूप से की थी।

इसी काल का ज्योतिष संबंधी एक और ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है, इसका नाम है सूर्यसिद्धांत। इसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। भारतीय ज्योतिषी इसे बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं, और इसमें संदेह नहीं, कि इसकी रचना भी गुप्त काल में ही हुई थी।

भारत के प्राचीन विद्वान् विदेशियों से विद्याग्रहण में कोई संकोच नहीं करते थे। अलेग्जेंड्रिया में ग्रीक पंडितों द्वारा ज्योतिष की जो उन्नति हो रही थी, गुप्त काल के भारतीय ज्योतिषी उससे भली-भांति परिचित थे। वे उनकी विद्या का आदर भी भली-भांति करते थे। यही कारण है कि वराहमिहिर ने लिखा है, कि यद्यपि यवन (ग्रीक) लोग म्लेच्छ हैं, पर वे ज्योतिष विद्या में बड़े प्रवीण हैं, अतः उन्हें ऋषियों के समान ही आदर देना चाहिये। भारतीय पंडितों की इसी वृत्ति का परिणाम था, कि जहाँ उन्होंने स्वयं खोज और चिंतन द्वारा ज्योतिष के अनेक सिद्धांतों का आविष्कार किया, वहाँ उन्होंने ग्रीक लोगों से भी बहुत कुछ सीखा। अनेक आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में भारतीय ज्योतिष के केंद्र, हारिज, लिप्त आदि अनेक शब्द ग्रीक भाषा से लिये गये हैं। रोमक सिद्धांत ग्रंथ से भारतीय ज्योतिष पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अतः यदि कुछ पारिभाषिक शब्द प्राचीन भारतीय ज्योतिषियों ने ग्रीक से लिये हों, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। पर यह ध्यान रखना चाहिये, कि गुप्त काल की भारतीय ज्योतिष अलेग्जेंड्रिया की ग्रीक ज्योतिष की अपेक्षा बहुत काफी उन्नत थी।

आयुर्वेद के क्षेत्र में भी गुप्त काल में अच्छी उन्नति हुई।

चरक और सुश्रुत की रचना गुप्त काल से पहले ही हो चुकी थी। पर छठी सदी के शुरू में प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य वाग्भट्ट ने अष्टांग संग्रह की रचना की। यह आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रंथ है, और इससे सूचित होता है, कि चरक और सुश्रुत ने जिस चिकित्सा प्रणाली का प्रारंभ किया था, वह इस काल में निरंतर उन्नति करती रही। प्राचीन साहित्यिक अनुश्रुति के अनुसार चंद्रगुप्त द्वितीय की राजसभा में विद्यमान नवरत्नों में धन्वन्तरि भी एक था। धन्वन्तरि आयुर्वेद का मुख्य आचार्य माना जाता है, और वैद्य लोग उसे अपने विज्ञान का देवता सा मानते हैं। यह कहना बहुत कठिन है, कि आयुर्वेद का यह प्रथम प्रधान आचार्य गुप्त काल में हुआ। संभवतः, इस नाम का कोई अन्य वैद्य चंद्रगुप्त द्वितीय के नवरत्नों में होगा, पर उसका लिखा कोई ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं होता है। गुप्त काल की एक अन्य चिकित्सासंबंधी पुस्तिका पूर्वी तुर्किस्तान में मिली है। इसका नाम 'नावनीतकम्' है। इसे श्रीयुत बावर ने सन् १८९० में तुर्किस्तान के पुराने खंडहरों में से प्राप्त किया था। यह छोटा सा ग्रंथ चरक, सुश्रुत, हारीत, जातुकर्ण, क्षारपाणि और पाराशर संहिता आदि के आधार पर लिखा गया है। इनमें से अनेक ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं होते, पर नावनीतकम् में उनके आधार पर जो नुसखे (प्रयोग) लिखे हैं, वे भारत से बाहर तुर्किस्तान में मिल गये हैं।

हस्त्यायुर्वेद नाम से भी एक ग्रंथ गुप्त काल में लिखा गया था। इसका रचयिता पालकाप्य नाम का एक पशुचिकित्सक था। यह एक विशाल ग्रंथ है, जिसमें १६० अध्याय हैं। हाथियों के रोग, उनके निदान और चिकित्सा का इसमें विस्तृत वर्णन है। प्राचीन भारत की सैन्यशक्ति में हाथियों का बड़ा महत्त्व

था। अतः उनकी चिकित्सा के संबंध में इतने ज्ञान का विकास हो जाना बिलकुल स्वाभाविक बात थी।

रसायन विज्ञान में भी गुप्त काल में बहुत उन्नति हुई। दुर्भाग्यवश, रसायन विद्या के इस काल के कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं होते। पर इस विद्या ने गुप्त काल में किस हद तक उन्नति कर ली थी, इसका जीता जागता ज्वलंत उदाहरण दिल्ली के समीप महरौली में प्राप्त लोह स्तंभ है। यह स्तंभ २४ फीट ऊंचा और १८० मन के लगभग भारी है। इतना भारी और बड़ा लोह स्तंभ किस प्रकार तैयार किया गया, यह एक भारी समस्या है। लोहे को गरम करके चोट देकर इतना विशाल स्तंभ कभी भी तैयार नहीं किया जा सकता, क्योंकि गरम करने से जो आँच पैदा होगी, उसके कारण इतनी दूर तक कोई आदमी खड़ा नहीं हो सकेगा, कि चोट देकर उसे एक निश्चित आकृति का बनाया जा सके। दूसरा तरीका यह हो सकता है, कि इस लाट को ढाल कर बनाया जावे। यदि गुप्त काल के भारतीय शिल्पी इतनी बड़ी लोहे की लाट को ढाल सकते थे, तो निस्सन्देह वे धातु विज्ञान और शिल्प व्यवसाय में बहुत ही अधिक उन्नति कर चुके थे। इस लोह स्तंभ में एक आश्चर्य की बात यह है, कि १५०० वर्ष के लगभग बीत जाने पर भी इस पर जंग का नाम निशान नहीं है। यह स्तंभ इतने दीर्घ काल से वर्षा, आँधी, गरमी, सरदी सब सहता रहा है, पर पानी या ऋतु का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। लोहे को किस प्रकार ऐसा बनाया गया, कि इस पर जंग भी न लगे, यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे वर्तमान वैज्ञानिक भी नहीं समझ सके हैं। विज्ञान ने गुप्त काल में कैसी उन्नति की थी, इसका यह ज्वलंत उदाहरण है।

वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता में गणित और ज्योतिष के

अतिरिक्त अन्य बहुत से विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है। तलवारों को किस प्रकार तीक्ष्ण बनाया जावे, सोने व रत्नों के आभूषण कैसे तैयार किये जावें, मुक्ता वैदूर्य रत्न आदि की क्या पहचान है, वृक्ष किस प्रकार मौसम से भिन्न दूसरे समय में भी फल दे सकते हैं, घोड़े हाथी कुत्ते आदि में अच्छे या बुरे की पहचान कैसे की जाय, मंदिर राजप्रासाद आदि कैसे बनाये जावें, भूमि में नीचे कहाँ जल की धारा है इसे कैसे जाना जाय, बादलों के कितने प्रकार होते हैं, और वर्षा या मौसम के भविष्य का पता कैसे लगाया जाय आदि सब विषयों पर वराह मिहिर ने अपने ग्रंथ में विचार किया है। इससे प्रकट होता है, कि गुप्त काल के विचारक इन सब बातों के बारे में जानकारी प्राप्त करने में व्यापृत थे।

(२) दार्शनिक साहित्य

षड्दर्शनों का निर्माण मौर्योत्तर काल में हो चुका था, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं। पर दार्शनिक विचारों का विकास गुप्त काल में जारी रहा। मीमांसा पर शबरभाष्य ३०० ई० के लगभग लिखा गया था। इसकी स्थिति वही है जो कि पतंजलि के महाभाष्य की पाणिनीय व्याकरण के साथ है। शबरभाष्य में केवल याज्ञिक अनुष्ठानों का ही प्रतिपादन नहीं किया गया, अपितु आत्मा, परमात्मा, मुक्ति आदि दार्शनिक विषयों की भी विस्तार से मीमांसा की गई है। मीमांसा सूत्रों में जिन विचारों को सूक्ष्म रूप से प्रकट किया गया था, शबर भाष्य में उन्हीं का बहुत विकास किया गया है। उपवर्ष नाम के एक और दार्शनिक तीसरी सदी के प्रारंभ में हुआ जिसके उद्धरण शबर ने दिये हैं। सांख्य दर्शन का प्रसिद्ध ग्रंथ सांख्यकारिका चौथी सदी के शुरू में लिखा गया था, जिसका

लेखक ईश्वरकृष्ण है। सांख्य दर्शन तो मौर्योत्तर युग में बन चुका था, पर इस गुप्त काल में वह और विकसित हुआ, और ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में उसे एक अत्यंत सुन्दर रूप दे दिया। योगसूत्रों पर भी इस युग में व्यासभाष्य लिखा गया यह माना जाता है, कि योग सूत्रों का रचयिता महर्षि पतंजलि था, पर उनकी विशद रूप से व्याख्या आचार्य व्यास ने की। योग के इस व्यासभाष्य का रचनाकाल तीसरी सदी के अंत में माना गया है।

न्यायसूत्रों पर भी इस युग में वात्स्यायन भाष्य लिखा गया। इस भाष्य में बौद्धों के माध्यमिक संप्रदाय योगाचार संप्रदाय के विविध मंतव्यों का खंडन किया गया है। बौद्धों के इन संप्रदायों का विकास गुप्तकाल से पहले हो चुका था, अतः यह स्पष्ट है, कि उनके मंतव्यों का खंडन करने वाला यह वात्स्यायनभाष्य गुप्त काल की ही कृति है। वैशेषिक दर्शन के पुराने सूत्रों की विशद व्याख्या करने के लिये आचार्य प्रशस्तपाद ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ इसी युग में लिखा। यह पदार्थ धर्म संग्रह ग्रंथ वैशेषिक दर्शन का एक अत्यंत उपयोगी ग्रंथ है।

बौद्धों के भी दार्शनिक साहित्य का इस युग में बहुत विकास हुआ। कनिष्क के समय में बौद्ध धर्म दो प्रमुख संप्रदायों में विभक्त हो गया था, महायान और हीनयान। महायान का प्रचार मुख्यतया गांधार, कंबोज और उत्तर के अन्य प्रदेशों में हुआ। हीनयान का केन्द्र लंका था। बरमा, सियाम, कंबोडिया और पूर्वी एशिया के अन्य प्रदेशों में भी इसी का प्रचार हुआ। महायान और हीनयान, दोनों में इस समय में बहुत से दार्शनिक विचारों का विकास हो रहा था। प्राचीन वैदिक और पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान के कारण विविध धार्मिक विचारों में जो संघर्ष प्रारंभ हुआ था, उसने दार्शनिक विचारों के

विकास में बहुत सहायता दी। इस युग में बौद्धों और अन्य धर्मावलंबियों में प्रायः शास्त्रार्थ हुआ करते थे। दोनों तरफ के विद्वान पंडित अपने-अपने मंतव्यों को तर्क और युक्ति से प्रतिपादन करने में तत्पर थे। इसी लिये इस काल में दार्शनिक साहित्य खूब उन्नत हुआ।

पाँचवीं सदी के प्रारंभ में बुद्धघोष नाम का एक बड़ा विद्वान हुआ। यह मगध का रहने वाला था। वैदिक धर्म का परित्याग कर इस पंडित ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया और लंका में अनुराधपुर के विहार को अपना कार्यक्षेत्र निश्चित किया। इसकी कृतियों में सबसे प्रसिद्ध विसुद्धिमग्ग (विशुद्धिमार्ग) है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है, कि शील, समाधि और प्रज्ञा से मनुष्य किस प्रकार निर्वाणपद को प्राप्त कर सकता है। त्रिपिटकों पर भी बुद्धघोष ने भाष्य लिखे। हीनयान संप्रदाय की उन्नति में बुद्धघोष का बड़ा हाथ है। उसके कुछ समय बाद बुद्धदत्त नाम के मागध पंडित ने लंका जाकर अभिधम्मावतार, रूपारूप विभाग और विनय विनिच्छय नाम के ग्रंथ लिखे। हीनयान के धार्मिक व दार्शनिक साहित्य में इन दो मागध पंडितों के ग्रंथों का बहुत ऊँचा स्थान है।

गुप्त काल में काश्मीर, गांधार और कांबोज में भी हीनयान धर्म का प्रचार हुआ। लंका के अनेक बौद्ध भिक्खु इस युग में भारत आये, और उन्होंने अपने सिद्धांतों का यहाँ प्रचार किया। उत्तर-पश्चिमी भारत में वसुबंधु नाम का प्रकांड बौद्ध पंडित इसी युग में हुआ, जिसके लिखे ग्रंथ अभिधर्मकोश में बौद्ध धर्म के मौलिक सिद्धांतों को इतने सुन्दर रूप में प्रतिपादित किया गया है, कि बौद्धों के सभी संप्रदाय उसे प्रामाणिक रूप में स्वीकार करते हैं। पर उत्तर-पश्चिमी भारत में मुख्यतया महायान का ही प्रचार रहा। इसके भी दो मुख्य

संप्रदाय थे, माध्यमिक और योगाचार। माध्यमिक संप्रदाय का प्रवर्तक नागार्जुन था। उसका प्रमुख शिष्य आर्यदेव था, जिसने तीसरी सदी में चतुःशतक नामक प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथ लिखा। महायान संप्रदाय के दो अन्य प्रसिद्ध ग्रं० वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता और प्रज्ञापारमिता हृदयसूत्र भी इसी सदी में लिखे गये। योगाचार संप्रदाय का प्रवर्तक मैत्रेयनाथ दूसरी सदी के अंत में हुआ था। पर इस संप्रदाय के दार्शनिक विचारों का विकास गुप्त काल में ही हुआ। योगाचार संप्रदाय के विकास में आचार्य असंग का बड़ा हाथ है। बुद्धघोष के समान यह भी पहले वैदिक धर्म का अनुयायी था, पर बाद में बौद्ध हो गया था। इसने तीसरी सदी के अंत में महायान संपरिग्रह, योगाचार भूमिशास्त्र और महायान सूत्रालंकार नाम के प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे। असंग प्रकांड पंडित था। भारतीय दर्शनशास्त्र का इसे बहुत उत्तम ज्ञान था। बौद्धों में दार्शनिक विचारों के विकास का बहुत कुछ श्रेय असंग और उसके भाई वसुबंधु को है। वसुबंधु ने जहां अभिधर्मकोश लिखा, जो सब बौद्धों को समानरूप से मान्य था, वहां अनेक दार्शनिक ग्रंथों की भी रचना की। विज्ञानवाद का वही बड़ा प्रवक्ता हुआ। इस बौद्ध दर्शन के अनुसार संसार मिथ्या है। सत्य सत्ता केवल 'विज्ञान' है। अन्य सब पदार्थ शशशृंग व वन्ध्यापुत्र के समान मिथ्या हैं। जलती हुई लकड़ी को घुमाने से जैसे आग का चक्कर सा नजर आता है, पर वस्तुतः उसकी कोई सत्ता नहीं होती, ऐसे ही संसार में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, उसकी वस्तुतः कोई सत्ता नहीं है। यह विचारधारा वेदांत के अद्वैतवाद से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। वसुबंधु ने विंशतिका और त्रिंशतिका ग्रंथों में इसी विज्ञानवाद का सुचारु रूप से प्रतिपादन किया है। उसने अपने अन्य ग्रंथों में सांख्य, योग, वैशे-

षिक और मीमांसा दर्शनों के सिद्धांतों का भी खंडन किया है। असंग और वसुबंधु बड़े भारी पंडित थे, और बौद्ध दर्शन के विकास में इनका बहुत बड़ा भाग है। बौद्धों के पृथक् तर्कशास्त्र का प्रारंभ भी वसुबंधु द्वारा ही हुआ, पर बौद्ध तर्कशास्त्र के विकास का प्रधान श्रेय आचार्य दिङ्नाग को है। दिङ्नाग गुप्त काल में चौथी सदी के अंत में हुआ था। उसने न्याय और तर्कशास्त्र पर बहुत सी पुस्तकें लिखीं। दुर्भाग्यवश वे इस समय उपलब्ध नहीं होतीं, यद्यपि उनके अनेक उद्धरण उद्योतकर और कुमारिलभट्ट सदृश सनातनधर्मी पंडितों ने अपने ग्रंथों में दिये हैं। दिङ्नाग की एक पुस्तक न्यायमुख चीनी और तिब्बती भाषाओं में मिली है। पर संस्कृत में अभी तक उसका कोई ग्रंथ नहीं मिला। दिङ्नाग का शिष्य शंकराचार्य था, जिसने न्यायप्रवेश नामक पुस्तक पाँचवीं सदी के शुरू में लिखी। यह इस समय संस्कृत में उपलब्ध है।

जैन धर्म के भी अनेक उत्कृष्ट दार्शनिक ग्रंथ इस युग में लिखे गये। पुराने जैन धर्मग्रंथों पर अनेक भाष्य इस समय लिखे गये, जिन्हें निर्युक्ति और चूर्णि कहते हैं। इस समय के जैन भाष्यकारों में भद्रबाहु द्वितीय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने बहुत से प्राचीन ग्रंथों पर निर्युक्ति लिख कर न केवल उनके आशय को अधिक स्पष्ट किया, अपितु नवीन शैली में दार्शनिक विचारों को भी प्रगट किया। जैनों के सब प्राचीन ग्रंथ प्राकृत भाषा में थे। पर गुप्तकाल में संस्कृत का पुनरुत्थान हुआ था। पौराणिक धर्म के लेखकों ने तो इस युग में संस्कृत में अपने सब ग्रंथ लिखे ही थे, पर बौद्ध धर्म में भी महायान संप्रदाय के ग्रंथ संस्कृत में ही लिखे गये। इस युग में जैनों में भी संस्कृत में अपनी पुस्तकों का लिखना शुरू हुआ।

आचार्य उमास्वाति ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और सिद्धसेन ने अपना न्यायावतार संस्कृत में ही लिखा।

(३) धार्मिक दशा

मौर्योत्तर युग में प्राचीन वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई थी, गुप्तकाल में उसने और भी जोर पकड़ा। प्रायः सभी गुप्त सम्राट् भागवत वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। पर अहिंसावादप्रधान वैष्णव धर्म को मानते हुए भी उन्होंने प्राचीन वैदिक परंपरा के अनुसार अश्वमेध यज्ञ किये। महाभारत, मनुस्मृति और मीमांसासूत्रों में यज्ञों की उपयोगिता पर बहुत बल दिया गया है। इस काल के आर्य पंडित वैदिक धर्म का पुनः प्रचार करने में व्यापृत थे। यही कारण है, कि यज्ञों की परिपाटी इस युग में फिर से शुरू हो गई थी। न केवल गुप्त सम्राटों ने, अपितु इस युग के अन्य अनेक राजाओं ने भी अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। दक्षिणी भारत में शालंकायन वंश के राजा विजयदेव वर्मन और त्रैकूटक वंश के राजा दहसेन ने इसी काल में अश्वमेध यज्ञ किये। केवल अश्वमेध ही नहीं, अग्निष्टोम, वाजपेय, वाजसनेय, बृहस्पतिसव आदि प्राचीन वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का भी इस युग में उल्लेख आता है। इन यज्ञों के अवसर पर जो यूप बनाये गये थे, उनमें से भी अनेकों के अवशेष वर्तमान समय में उपलब्ध हुए हैं। न केवल बड़े-बड़े सम्राट्, अपितु विविध सामंत राजा भी इस युग में विविध यज्ञों के अनुष्ठान में तत्पर थे। बौद्ध धर्म के प्रबल होने के समय में इन यज्ञों की परिपाटी बहुत कुछ नष्ट हो गई थी। यही कारण है, कि शैशुनाक, नंद और मौर्य राजाओं ने इन प्राचीन यज्ञों का अनुष्ठान नहीं किया था। यज्ञों से कोई लाभ नहीं है, यह विचार उस समय प्रबल

हो गया था। पर वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के इस युग में अब यह परिपाटी फिर प्रारंभ हुई। यज्ञों को निमित्त बनाकर मनुष्य दीन, अनाथ, आतुर और दुखी लोगों की बहुत सहायता कर सकता है, यह विचार इस समय बहुत ज़ोर पकड़ गया था। संभवतः इसीलिये समुद्रगुप्त ने लिखा था, कि पृथिवी का जय करने के बाद अब वह अपने सुकर्मों से स्वर्ग की विजय करने में लगा है।

पुराने वैदिक धर्म में परिवर्तन होकर जिन नये पौराणिक संप्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ था, उन पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। भागवत और शैव धर्म इस युग में बहुत ज़ोर पकड़ रहे थे। गुप्त सम्राट् वैष्णव (भागवत) धर्म के अनुयायी थे। उनके संरक्षण के कारण इस धर्म की बहुत उन्नति हुई। इस युग में बहुत से वैष्णव मंदिरों का निर्माण हुआ। अनेक शिलालेखों में भक्त धर्मप्राण लोगों द्वारा बनवाये गये विष्णु मंदिरों और विष्णुध्वजों का उल्लेख है। विष्णु के दस अवतारों में से वराह और कृष्ण की पूजा इस समय अधिक प्रचलित थी। अनुश्रुति के अनुसार वराह ने प्रलय के समय मग्न होती पृथिवी का उद्धार किया था। दस्युओं और म्लेच्छों के आक्रमणों से भारतभूमि में जो एक प्रकार का प्रलय सा उपस्थित हो गया था, उसका निराकरण करने वाले सम्राटों के इस शासनकाल में यदि भगवान् के वराहावतार की विशेष रूप से पूजा हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। राम को भगवान् विष्णु का अवतार मानकर पूजा करने की प्रवृत्ति इस समय तक प्रचलित नहीं हुई थी। कृष्ण की पूजा का उल्लेख इस युग के बहुत से शिलालेखों में पाया जाता है। पर राम की पूजा के संबंध में ऐसा कोई निर्देश इस युग के अवशेषों में उपलब्ध नहीं होता। पर राम के परम पावन चरित्र के कारण

उनमें भगवान् के अंश का विचार इस समय में विकसित होना प्रारंभ हो गया था। कालिदास ने इस का निर्देश किया है। पर राम की पूजा भारत में छठी सदी के बाद शुरू हुई।

गुप्त काल में बहुत से शिव मंदिरों का भी निर्माण हुआ। गुप्त सम्राटों के शिलालेखों में दो अमात्यों का उल्लेख आता है, जो शैव धर्म के अनुयायी थे। इनके नाम शाब और पृथ्वीषेण हैं। इन्होंने अपने नाम को अमर करने के लिये शिव के मंदिरों का निर्माण कराया। गुप्तों के पहले के भारशिव और वाकाटक राजा शैव धर्म के अनुयायी थे। गुप्त काल में भी वाकाटक, मैत्रक, कदम्ब और परिव्राजक वंशों के राजा मुख्यतया शैव धर्म का अनुसरण करते थे। हूणराजा मिहिरगुल ने भी शैव धर्म ग्रहण किया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि वैष्णव धर्म के साथ-साथ शैव धर्म भी गुप्त काल में काफी प्रचलित था। शैव मंदिरों में जहाँ शिवलिंग की स्थापना की जाती थी, वहाँ जटाजूटधारी, सर्प, गंगा और चंद्रमा से युक्त शिव की मानवी मूर्ति को भी प्रतिष्ठापित किया जाता था। शैव राजाओं के सिक्कों पर प्रायः त्रिशूल और नंदी के चित्र अंकित रहते हैं।

मौर्योत्तर काल में सूर्य के भी मंदिरों की स्थापना शुरू हुई थी। ऐसा पहला मंदिर संभवतः मुलतान में बना था। पर गुप्त काल में मालवा, ग्वालियर, इन्दौर और बघेलखंड में सूर्य मंदिरों का निर्माण हुआ था। इससे सूचित होता है, कि विष्णु पूजा भी इस युग में अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही थी।

सनातन वैदिक धर्म के पुनरुद्धार से बौद्ध और जैन धर्मों का जोर कुछ कम अवश्य हो गया था, पर अभी भारत में उनका काफी प्रचार था। काश्मीर, पंजाब और अफ़गानिस्तान

के प्रदेशों में प्रायः सभी लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। जब
चीनी यात्री फाइयान भारत में यात्रा के लिये आया, तो उसने
देखा कि इन प्रदेशों में हजारों बौद्ध विहार विद्यमान थे,
जिनमें लाखों की संख्या में भिक्खु लोग निवास करते थे।
वर्तमान संयुक्त प्रांत, बिहार, बंगाल और मध्यभारत में भी
बौद्ध धर्म बहुत समृद्ध दशा में था। फाइयान के अनुसार
कपिलवस्तु, श्रावस्ती, वैशाली, सदृश पुरानी नगरियाँ अब
बहुत कुछ क्षीण दशा में थीं। पर इसका कारण बौद्ध धर्म का
ह्रास नहीं था। भारत के राजनीतिक जीवन में पुराने गण-
राज्यों और जनपदों का स्थान अब शक्तिशाली मागध साम्राज्य
ने ले लिया था। अब भारत की वैभवशाली नगरियाँ पाटली-
पुत्र, पुष्पपुर और उज्जैनी थीं। पर मथुरा, कौशाम्बी, कसिया
(कुशी नगर) और सारनाथ में अब भी बौद्ध विहार बड़ी
समृद्ध दशा में विद्यमान थे। अजन्ता, एलोरा, कन्हेरी, जुन्नार
आदि के गुहामंदिरों में अब भी बौद्ध भिक्खु हजारों की
संख्या में रहते थे। खास मगध में ही, नालन्दा के प्रसिद्ध
बौद्ध विहार के अनुपम गौरव का प्रारंभ गुप्त काल में ही हुआ
था। इस युग में आंध्रदेश बौद्ध धर्म का बहुत महत्वपूर्ण केन्द्र
था। उसे आचार्य नागार्जुन ने अपना प्रधान कार्यक्षेत्र चुना
था, और शिष्य परंपरा के प्रयत्नों के कारण वह प्रदेश बौद्ध
धर्म का गढ़ सा बन गया था। नागार्जुनी कोण्ड नाम का बड़ा
समृद्ध विहार वहाँ विद्यमान था, जिसमें हजारों की संख्या
में भिक्खु लोग निवास करते थे। इस वैभवपूर्ण विहार के
भग्नावशेष अब तक भी विद्यमान हैं। काञ्ची और वल्लभी
में भी बड़े-बड़े विहार इस काल में विद्यमान थे, जो बौद्ध दर्शन
धर्म और शिक्षा के बड़े केन्द्र माने जाते थे। इनमें भिक्खुओं
का भोजन, वस्त्र आदि सब जनता की तरफ से दिये जाते थे।

राजा और प्रजा, सब इनकी सहायता के लिये उदारता के साथ दान देते थे। वैष्णव और शैव धर्मों के प्रचार के बावजूद भी गुप्तकाल में बौद्ध धर्म पर्याप्त उन्नत और विस्तीर्ण था।

जैन धर्म के इतिहास में भी गुप्त काल का बहुत महत्व है। इस समय तक जैनों में दो मुख्य संप्रदाय हो चुके थे, दिगंबर और श्वेतांबर। श्वेतांबर संप्रदाय की दो प्रसिद्ध महासभायें गुप्त काल में ही हुईं। पहली महासभा वल्लभी में ३१३ ईस्वी में हुई थी। इसके अध्यक्ष आचार्य नागार्जुन (जैन नागार्जुन, बौद्ध नागार्जुन नहीं) थे। दूसरी महासभा भी वल्लभी में ही ४५३ ईस्वी में आचार्य क्षमाश्रमण के सभापतित्व में की गई। इन महासभाओं में यह निश्चय किया गया, कि जैन धर्म के मान्य ग्रंथों के शुद्ध पाठ कौन से हैं, और जैनों के कौन से सिद्धांत प्रामाणिक हैं। श्वेतांबर संप्रदाय मुख्यतया पश्चिमी भारत में प्रचलित था। वल्लभी और मथुरा इसके सर्वप्रधान केन्द्र थे। दिगंबर संप्रदाय का प्रचार प्रधानतया पूर्वी भारत में था, और बंगाल की पुण्ड्रवर्धन नगरी इस काल में उनका केन्द्र थी। दक्षिणी भारत में भी दिगंबर सम्प्रदाय का ही प्रचार था। मैसूर और कर्नाटक के निवासी प्रायः जैन धर्म के ही अनुयायी थे। सुदूर दक्षिण में तामिल लोगों में भी इस समय तक जैन धर्म काफी फैल चुका था। पल्लव और पांड्य वंशों के अनेक राजाओं ने भी जैनधर्म को स्वीकार किया था। तामिल भाषा में जैन धर्म की बहुत सी पुस्तकें इस काल में लिखी गईं। तामिल संस्कृति का सर्वप्रधान केन्द्र मदुरा था। वहां के 'संगमों' में तामिल काव्य और साहित्य का बहुत उत्तम विकास हुआ था। ४७० ईस्वी में जैन लोगों ने मदुरा में एक विशेष 'संगम' का आयोजन किया। इसका अध्यक्ष आचार्य वज्रनंदी था। जैनधर्म के तामिल ग्रंथों के निर्माण में

इस संगम ने महत्त्व का कार्य किया। [illegible] मारकोट किले की पाटलिकापुरी में जैनों का एक प्रसिद्ध मंदिर था, जहाँ मुनि सर्वनन्दी ने ४५८ ईस्वी में लोकविभाग नाम के प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की थी। जैनदर्शन का भी विकास गुप्त काल में हुआ। आचार्य सिद्धसेन ने न्यायवार्ता की रचना कर उस तर्कप्रणाली का प्रारंभ किया, जिसके कारण आगे चलकर जैन पंडित दर्शन और न्याय में अन्य संप्रदायों के समकक्ष हो गये।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि गुप्त काल में पौराणिक आर्य धर्म, बौद्ध धर्म, और जैन धर्म साथ-साथ भारत में फल-फूल रहे थे। तीन मुख्य धर्मों और उनके बहुत से संप्रदायों व मतमतांतरों के एक साथ रहते हुए भी इस काल में सांप्रदायिक विद्वेष का अभाव था। सब मतों के आचार्य व पंडित आपस में शास्त्रार्थों में व्यापृत थे। अपने ग्रंथों में वे जहाँ एक दूसरे का युक्ति व तर्क से खंडन* करते थे, वहाँ पंडित मंडलियों और जनसाधारण के समक्ष भी उनमें शास्त्रार्थ व वादविवाद होते रहते थे। पर इनके कारण जनता में धार्मिक विद्वेष उत्पन्न नहीं होता था। इस काल के राजा धर्म के मामले में सहिष्णु थे। सम्राट् समुद्रगुप्त परम भागवत थे, वे वैष्णवधर्म के अनुयायी थे। पर इन्होंने अपने राजकुमारों की शिक्षा के लिये आचार्य वसुबन्धु को नियत किया था, जो अपने समय का प्रख्यात बौद्ध विद्वान् था। एक ही परिवार में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न भिन्न धर्म के अनुयायी हो सकते थे। राजा शान्तमूल स्वयं वैदिक धर्म का माननेवाला था, पर उसकी बहनें, लड़कियाँ और पुत्रवधुएँ बौद्ध धर्म को मानती थीं। गुप्त वंश में ही कई सम्राट् बौद्ध हुए। पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त और बुधगुप्त धर्म की दृष्टि से बौद्ध थे। सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम का बड़ा लड़का पुरुगुप्त बौद्ध था, और छोटा लड़का स्कंदगुप्त परम भागवत

था। यह इस युग की धार्मिक सहिष्णुता का ज्वलन्त उदाहरण है। दान के अवसर पर राजा लोग सब संप्रदायों को दृष्टि में रखते थे। सम्राट् वैन्यगुप्त स्वयं शैव था, पर उसने महायान संप्रदाय के वैवर्तिक संघ को उदारतापूर्वक दान दिया था। नालंदा के प्रसिद्ध बौद्ध विहार के वैभव का सूत्रपात वैष्णवधर्मावलंबी गुप्त सम्राटों के दान से ही हुआ था। उच्च राजकीय कर्मचारियों को नियुक्त करते समय भी धर्मभेद को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था। वैष्णव गुप्त सम्राटों के कितने ही उच्च राजकर्मचारी बौद्ध थे। ये बौद्ध कर्मचारी अपने धर्म का स्वतंत्रता के साथ अनुसरण करते थे, और अपनी श्रद्धानुसार बौद्ध विहारों और चैत्यों को सहायता देते थे।

सनातन पौराणिक धर्म के विविध संप्रदायों में भी इसी प्रकार सौमनस्य की भावना विद्यमान थी। प्राचीन आर्य धर्म के इतिहास में यह युग समन्वय का था। शिव, विष्णु, सूर्य, दुर्गा आदि देवी देवता एक ही भगवान् के विविध रूप हैं, यह स्मार्त भावना इस काल में प्रारंभ हो गई थी। साधारण आर्य गृहस्थ सब मंदिरों को, सब देवी-देवताओं को और सब धर्माचार्यों को सम्मान की दृष्टि से देखता था।

पर बौद्ध और जैन धर्म, सनातन पौराणिक धर्म से इस युग में पृथक् होते जा रहे थे। मौर्योत्तर काल में बौद्ध भिक्खुओं और जैन मुनियों के प्रति श्रद्धा की जो भावना सर्वसाधारण भारतीय जनता में थी, वह अब क्षीण हो रही थी। इसका कारण यह है, कि पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान के युग में जो प्रबल धार्मिक आंदोलन शुरू हुए थे, उन्होंने जनता में बौद्धों और जैनों के प्रति विरोध की भावना को बहुत कुछ प्रज्वलित कर दिया था। पुष्यमित्र शुंग ने बौद्धों पर जो अत्याचार किये, वे इसी भावना के परिणाम थे। अब समय के साथ-

साथ विधर्मियों का वह विरोध मंद पड़ गया था, पर वे लोग पौराणिक हिंदुओं से पृथक् हैं, यह अनुभूति जनता में भली-भाँति उद्बुद्ध हो गई थी।

बीसवाँ अध्याय

गुप्त साम्राज्य की शासन-व्यवस्था

(१) साम्राज्य का स्वरूप

मौर्यवंश के शासनकाल के संबंध में जैसा परिचय कौटलीय अर्थशास्त्र से मिलता है, वैसा परिचय गुप्तों के शासन के संबंध में किसी ग्रंथ से नहीं मिलता। मैगस्थनीज जैसा विदेशी यात्री भी इस काल में कोई नहीं आया। चीनी यात्री फाइयान पाँचवीं सदी के शुरू में भारतयात्रा के लिये आया था। वह पाटलीपुत्र में भी रहा। उसके भ्रमणकाल में चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का शासन था। भारत के बहुत बड़े प्रदेश में उसका साम्राज्य विस्तृत था। फाइयान पेशावर से बंगाल की खाड़ी तक सर्वत्र गया, पर उसे राज्य, शासन, आर्थिक दशा आदि बातों से कोई दिलचस्पी नहीं थी। वह बौद्ध भिक्षु था, बौद्ध धर्म के तीर्थस्थानों के दर्शन तथा धार्मिक ग्रंथों के अनुशीलन के लिये ही वह इस देश में आया था। उसने भारत के प्रतापी सम्राट् तक का नाम अपने यात्रा-विवरण में नहीं लिखा। इसीलिये उसके विवरण से हमें गुप्त साम्राज्य के शासन का कुछ भी परिचय नहीं मिलता। पर फाइयान के निम्नलिखित वाक्य गुप्तकाल के शासन की उत्कृष्टता को प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त हैं—

"प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखा पढ़ी और पंचायत कुछ नहीं है। वे राजा की भूमि जोतते हैं, और उसका अंश देते हैं। जहाँ चाहें रहें। राजा न प्राणदण्ड देता

है, न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधी को अवस्था के अनुसार उत्तम साहस या मध्यम साहस का अर्थदंड (जुर्माना) दिया जाता है। बार-बार दस्युकर्म करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतीहार और सहचर वेतनभोगी होते हैं। सारे देश में सिवाय चाण्डाल के कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है, और न लहसुन खाता है। दस्यु को चाण्डाल कहते हैं, ये नगर के बाहर रहते हैं और नगर में जब आते हैं, तो सूचना के लिये लकड़ी बजाते चलते हैं, कि लोग जान जायँ और बच कर चलें, कहीं उनसे छू न जायें। जनपद में सूअर और मुर्गी नहीं पालते, न जीवित पशु बेचते हैं, न कहीं सूनागार (बूचड़खाने) और मद्य की दूकानें हैं। क्रय-विक्रय में कौड़ियों का व्यवहार है। केवल चाण्डाल मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते हैं।"

फाइयान जिन लोगों के साथ रहा था, उनका जीवन सचमुच ऐसा ही था। पर मांस, मद्य, आदि का सेवन सर्वसाधारण जनता में था या नहीं, इस विषय में बारीकी से परिचय प्राप्त करने का अवसर फाइयान को नहीं मिला। बौद्ध, जैन और वैष्णव धर्मों के प्रचार के कारण भारत का सामाजिक और वैयक्तिक जीवन उस युग में निःसन्देह बहुत ऊंचा था। राज्य-शासन की उत्कृष्टता के विषय में फाइयान के निर्देश वस्तुतः बड़े महत्व के हैं। फाइयान भारत में हजारों मीलों तक भ्रमण करता रहा। पर उसे कहीं भी चोर, डाकू व दस्युओं से सामना नहीं करना पड़ा। लगभग दो सदी बाद जब ह्युएनत्सांग भारत-यात्रा को आया तो कई जगह उस पर डाकुओं ने हमले किये। उस समय भारत में किसी एक प्रतापी राजवंश का शासन नहीं था। राजनीतिक अव्यवस्था के कारण देश में शान्ति नहीं रह गई थी। पर फाइयान के समय में प्रतापी गुप्त सम्राटों का

शासन था, सब जगह शान्ति विराज रही थी। यही कारण है, कि फाइयान ने देश को सुखी और समृद्ध पाया।

कौटलीय अर्थशास्त्र जैसे ग्रंथ और मैगस्थनीज जैसे विदेशी यात्री के अभाव में भी हमारे पास अनेक ऐसे साधन हैं, जिनसे हम गुप्त साम्राज्य के शासन के संबंध में बहुत ही उपयोगी बातें जान सकते हैं। गुप्त सम्राटों के जो बहुत से शिलालेख व सिक्के मिले हैं, वे इस युग के शासन के विषय में बहुत उत्तम प्रकाश डालते हैं। गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत सब प्रदेशों पर गुप्त सम्राटों का सीधा शासन नहीं था उनके अधीन अनेक महाराजा, राजा व गणराज्य थे, जो अपने आंतरिक शासन में स्वतंत्र थे। सामंतों को उनके राज्य व शक्ति के अनुसार महाराजा व राजा कहते थे। सब सामंतों की स्थिति भी एक समान नहीं थी। आर्यावर्त या मध्यदेश के सामंत गुप्त-सम्राटों के अधिक प्रभाव में थे। सुदूरवर्ती सामंत प्रायः स्वतंत्र स्थिति रखते थे, यद्यपि वे गुप्त सम्राटों की अधीनता को स्वीकार करते थे। यही दशा गणराज्यों की थी। शासन की दृष्टि से हम गुप्त साम्राज्य को निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं—

१—गुप्तवंश के सम्राटों के शासन में विद्यमान प्रदेश—ये शासन की सुगमता के लिये भुक्तियों (प्रांतों व सूबों) में विभक्त थे। प्रत्येक भुक्ति में अनेक विषय व उसके भी विविध विभाग होते थे।

२—आर्यावर्त व मध्यदेश के सामंत—इनकी यद्यपि पृथक् सत्ता थी, पर वे सम्राट् की अधीनता में ही सब कार्य करते थे। इनकी स्थिति वर्तमान समय के रियासती राजाओं से किसी भी प्रकार अच्छी नहीं थी।

३—गणराज्य—प्राचीन यौधेय, मद्र आदि अनेक गण-

राज्य गुप्तों के शासनकाल में विद्यमान थे। वे गुप्त सम्राट् के शासन को स्वीकार करते थे।

४—अधीनस्थ राजा—दक्षिण कोशल, महाकांतार, पिष्टपुर कोट्टूर, ऐरंडपल्ल, देवराष्ट्र, अवमुक्त आदि बहुत से राज्य इस काल में पृथक्‌रूप से विद्यमान थे। पर उनके राजाओं ने गुप्तसम्राटों की शक्ति के सम्मुख सिर झुका दिया था।

५—सीमावर्ती राज्य—आसाम, नेपाल, समतट, कर्तृपुर आदि के सीमांतवर्ती राज्य प्रायः स्वतंत्र सत्ता रखते थे। पर ये सब गुप्त सम्राटों को भेंट-उपहार भेजकर व उनकी आज्ञाओं का पालन कर उन्हें संतुष्ट रखते थे। ये सब गुप्त सम्राटों के दरबार में भी उपस्थित होते थे।

६—अनुकूल मित्र राज्य—सिंहलद्वीप और भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा के कुशाण राजा गुप्त सम्राटों को भेंट, उपहार व कन्यादान आदि उपायों से मित्र बनाये रखने के लिये उत्सुक रहते थे। यद्यपि उनके राज्य गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत नहीं थे, तथापि वे गुप्त सम्राटों को एक प्रकार से अपना अधिपति मानते थे। इन्हें हम अनुकूल मित्र राज्य कह सकते हैं।

(२) केंद्रीय शासन

गुप्त साम्राज्य का शासन सम्राट् में केन्द्रित था। मौर्यों के समान गुप्तों ने भी अपनी वैयक्तिक शक्ति, साहस और प्रताप से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। उसका शासन भी वे स्वयं ही 'एकराट्' रूप में करते थे। ये गुप्त राजा अपने को 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'परमभागवत', 'परमदैवत', 'सम्राट्', 'चक्रवर्ती' आदि विरुदों से विभूषित करते थे। विविध देवताओं और लोकपालों के अंशों से राजा शक्ति प्राप्त करता है, यह भाव उस समय बल पकड़ गया था। समुद्रगुप्त को एक शिलालेख में 'लोकधाम्नो देवस्य' भी कहा गया है।

इस लेख के अनुसार समुद्रगुप्त 'लोक नियमों के अनुष्ठान और पालन करने भर के लिये ही मनुष्य रूप था, वह संसार में रहने वाला देवता' ही था। राजाओं में यह दैवी भावना इस युग की स्मृतियों से भी प्रगट होती है। राजा देवताओं के अंश से बना होने के कारण दैवी होता है, यह भाव याज्ञवल्क्य और नारद-स्मृतियों में विद्यमान है। कौटलीय अर्थ-शास्त्र के समय में यह विचार था अवश्य, पर उसका प्रयोग गुप्तचर लोग सर्व-साधारण लोगों में राजा का प्रभाव उत्पन्न करने के लिये ही करते थे। पर गुप्त काल तक यह एक सर्वसम्मत प्रचलित सिद्धांत हो गया था, और शिलालेखों तक में उसका उपयोग होने लगा था।

सम्राट् को शासनकार्य में सहायता देने के लिये मंत्री या सचिव होते थे, जिनकी कोई संख्या निश्चित नहीं थी। नारदस्मृति ने राज्य की एक सभा का उल्लेख किया है जिसके सभासद धर्म-शास्त्र में कुशल, अर्थ ज्ञान में प्रवीण, कुलीन, सत्यवादी और शत्रु व मित्र के एक दृष्टि से देखने वाले होने चाहिये। राजा अपनी राजसभा के इन सभासदों के साथ राज्यकार्य की चिन्ता करता था, और उनके परामर्श के अनुसार कार्य करता था। देश का कानून इस काल में भी परंपरागत धर्म, चरित्र और व्यवहार पर आश्रित था। जनता के कल्याण और लोकरंजन को ही राजा लोग अपना उद्देश्य मानते थे, इसका परिणाम यह था, कि परमप्रतापी गुप्त सम्राट् भी स्वेच्छाचारी व निरंकुश नहीं हो सकते थे।

साम्राज्य के मुख्य-मुख्य जिम्मेवारी के पदों पर काम करने वाले कर्मचारियों को 'कुमारामात्य' कहते थे। कुमारामात्य राजघराने के भी होते थे और दूसरे लोग भी। साम्राज्य के विविध अंगों भुक्ति, विषय आदि का शासन करने के लिये जहां

इनकी नियुक्ति होती थी, वहाँ सेना, न्याय आदि के उच्च पदों पर भी वे कार्य करते थे। कुमारामात्य साम्राज्य की स्थिर सेवा में होते थे, और शासनसूत्र का संचालन इन्हीं के हाथों में रहता था।

केन्द्रीय शासन के विविध विभागों को 'अधिकरण' कहते थे। प्रत्येक अधिकरण की अपनी-अपनी मोहर (सील) होती थी। गुप्त काल के विविध शिलालेखों व मुद्रा आदि से निम्नलिखित अधिकरणों और प्रधान राजकर्मचारियों के विषय में परिचय मिलता है—

१—महासेनापति—गुप्त सम्राट् स्वयं कुशल सेनानायक और योद्धा थे। वे दिग्विजयों व विजययात्राओं के अवसर पर स्वयं सेना का संचालन करते थे। पर उनके अधीन महासेनापति होते थे, जो साम्राज्य के विविध भागों में, विशेषतया सीमांत प्रदेशों में, सैन्यसंचालन के लिये नियत रहते थे। सेना के ये सब से बड़े पदाधिकारी 'महासेनापति' कहलाते थे।

२—महादंड नायक—महासेनापति के अधीन अनेक महादंडनायक होते थे, जो युद्ध के अवसर पर सेना का नेतृत्व करते थे। गुप्त काल की सेना के तीन प्रधान विभाग होते थे। पदाति, घुड़सवार और हाथी। युद्धों में रथों का महत्त्व इस समय तक कम होता गया था। महादंडनायकों के अधीन महाश्वपति, अश्वपति, महापीलुपति, पीलुपति आदि अनेक सेनानायक रहते थे। साधारण सैनिक को 'चाट' और सेना की छोटी टुकड़ी को 'चमू' कहते थे। चमू का नायक 'चमूप' कहलाता था। युद्ध के लिये परशु, शर, अंकुश, शक्ति, तोमर, भिंदिपाल, नाराच आदि अनेकविध अस्त्रों को प्रयुक्त किया जाता था।

३—रणभांडागारिक—सेना के लिये सब प्रकार की सामग्री

(अस्त्र-शस्त्र, भोजन आदि) को जुटाने का विभाग रणभांडागारिक के अधीन होता था।

४—महाबलाधिकृत—सेना, छावनी और व्यूहरचना का विभाग महाबलाकृत या महाबलाधिकृत के हाथ में होता था। उसके अधीन अनेक बलाधिकृत रहते थे।

५—दंडपाशिक—पुलिस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी दंडपाशिक कहलाता था। इसके नीचे खुफिया विभाग का अधिकारी 'चौरोद्धरणिक', 'दूत' आदि अनेक कर्मचारी रहते थे। पुलिस के साधारण सिपाही को भट कहते थे।

६—महासांधिविग्रहिक—इस उच्च अधिकारी का कार्य पड़ोसी राज्यों, सामंतों और गणराज्यों के साथ संधि या विग्रह की नीति का अनुसरण करना होता था। यह सम्राट् का अत्यंत विश्वस्त कर्मचारी होता था, जो साम्राज्य की नीति का निश्चय करता था। किन देशों पर आक्रमण किया जाय, अधीनस्थ राजाओं व सामंतों से क्या व्यवहार किया जाय, ये सब बातें इसी के द्वारा तय होती थीं।

७—विनय-स्थिति-स्थापक—मौर्यकाल में जो कार्य धर्म-महामात्र करते थे, वही गुप्तकाल में विनय-स्थिति-स्थापक करते थे। देश में धर्मनीति की स्थापना, जनता के चरित्र को उन्नत रखना, और विविध संप्रदायों में मेल-जोल रखना इन्हीं अमात्यों का कार्य था।

८—भांडागाराधिकृत—यह कोषविभाग का अध्यक्ष होता था।

९—महाक्षपटलिक—राज्य के सब आदेशों का रिकार्ड रखना इसके 'अधिकरण' (विभाग) का कार्य था। राजकीय आय-व्यय आदि में सब लेखे भी इसी अमात्य द्वारा रखे जाते थे।

१०—सर्वाध्यक्ष—यह सम्भवतः साम्राज्य के केन्द्रीय कार्यालय का प्रधान अधिकारी होता था।

इन मुख्य पदाधिकारियों के अतिरिक्त, राज्य कर को वसूल करने का विभाग 'ध्रुवाधिकरण' कहलाता था। इस अधिकरण के अधीन शाल्किक (भूमिकर वसूल करने वाला), गौल्मिक (जंगलों से विविध आमदनी प्राप्त करने वाला), तलवाटक व गोप (ग्रामों के विविध कर्मचारी) आदि अनेक राजपुरुष होते थे।

राजप्रसाद का विभाग बहुत विशाल होता था। अनेक महाप्रतीहार और प्रतीहार नाम के कर्मचारी उसके विविध कार्यों को संभालते थे। सम्राट् के प्राइवेट सेक्रेटरी को 'रहसि नियुक्त' कहते थे। अन्य अमात्यों व अध्यक्षों के भी अलग 'रहसि नियुक्त' रहते थे।

युवराज भट्टारक और युवराज के पदों पर राजकुल के व्यक्ति ही नियत किये जाते थे। सम्राट् का बड़ा लड़का युवराज भट्टारक और अन्य लड़के युवराज कहलाते थे। शासन में इन्हें अनेक महत्त्वपूर्ण पद दिये जाते थे। यदि कोई युवराज (राजपुत्र) कुमारामात्य के रूप में कार्य करे, तो वह 'युवराज कुमारामात्य' कहलाता था। सम्राट् के निजी स्टाफ में नियुक्त कुमारामात्य 'परमभट्टारक पादीय कुमारामात्य' कहलाते थे। इसी प्रकार युवराज भट्टारक के स्टाफ के बड़े पदाधिकारी 'युवराजभट्टारक पादीय कुमारामात्य' कहे जाते थे। राजा के विविध पुत्र प्रान्तीय शासन व इसी प्रकार के अन्य ऊंचे राजपदों पर नियुक्त होकर शासन कार्य में सम्राट् की सहायता करते थे।

विविध राजकर्मचारियों के नाम गुप्तकाल में बिलकुल नये हो गये थे। मौर्यकाल में सम्राट् को केवल 'राजा' कहते थे।

बौद्ध धर्म के अनुयायी अशोक सदृश राजा अपने साथ 'देवानां प्रिय प्रियदर्शी' विशेषण लगाते थे। पर गुप्त सम्राट् 'महाराजाधिराज' कहलाते थे, और अपने धर्म के अनुसार 'परम भागवत' या 'परम माहेश्वर' या 'परम सौगत' विशेषण लगाते थे।

पुराने मौर्यकालीन 'तीर्थों' का स्थान अब 'अधिकरणों' ने ले लिया था। उनके प्रधान कर्मचारी अब 'अधिकृत' कहाते थे, महामात्र नहीं।

प्रांतीय शासन

विशाल गुप्त साम्राज्य अनेक राष्ट्रों व देशों में विभक्त था। साम्राज्य में कुल कितने देश व राष्ट्र थे, इसकी ठीक संख्या ज्ञात नहीं है। पर सुराष्ट्र, मालव आदि अनेक राष्ट्रों में साम्राज्य विभक्त था। प्रत्येक राष्ट्र में अनेक 'भुक्तियाँ' और प्रत्येक 'भुक्ति' में अनेक 'विषय' होते थे। भुक्ति को हम वर्तमान समय की कमिश्नरी के समान समझ सकते हैं। गुप्तकालीन शिलालेखों में तीरभुक्ति (तिरहुत), पुण्ड्रवर्धन भुक्ति (दीनाजपुर, राजशाही आदि), मगध भुक्ति आदि विविध भुक्तियों का उल्लेख आता है। 'विषय' वर्तमान समय के जिलों के समान थे। प्राचीन काल के महाजनपद और जनपद अब नष्ट हो गये थे। सैकड़ों वर्षों तक मागध साम्राज्य के अधीन रहने से अपनी पृथक् सत्ता की स्मृति अब इनमें बहुत कुछ क्षीण हो गई थी। अब इनका स्थान भुक्तियों ने ले लिया था जिनका निर्माण शासन की सहूलियत को दृष्टि में रख कर किया जाता था।

देश या राष्ट्र के शासक के रूप में प्रायः राजकुल के मनुष्य नियत होते थे। इन्हें युवराज कुमारामात्य कहते थे। इनके अपने-अपने महासेनापति, महादंडनायक आदि प्रधान

कर्मचारी होते थे। युवराज कुमारामात्यों के अधीन भुक्तियों का शासन करने के लिये 'उपरिक' नियत किये जाते थे। उपरिकों की नियुक्ति सीधी सम्राट् द्वारा होती थी। इस पद पर राजकुल के कुमार भी नियत होते थे। प्रत्येक भुक्ति अनेक विषयों में विभक्त होती थी। विषय के शासक विषयपति कहलाते थे। इनकी नियुक्ति भी सम्राट् द्वारा की जाती थी।

गुप्त काल के जो लेख मिले हैं, उनमें सुराष्ट्र, मालवा, मन्दसौर और कौशांबी चार राष्ट्रों का परिचय मिलता है। सुराष्ट्र का राष्ट्रिक (राष्ट्र का शासक) समुद्रगुप्त के समय में पर्णदत्त था। मन्दसौर का शासन बंधुवर्मा के हाथ में था। इसमें संदेह नहीं कि विशाल गुप्त साम्राज्य में अन्य बहुत से राष्ट्र भी रहे होंगे, पर उनका उल्लेख भी इस काल के शिलालेखों में नहीं हुआ है।

भुक्ति के शासक को उपरिक के अतिरिक्त भोगिक, भोगपति और गोप्ता भी कहते थे। दामोदर गुप्त के समय में पुण्ड्रवर्धन भुक्ति का शासक 'उपरिकर महाराज राजपुत्र देवभट्टारक' रहा था। वह राजकुल का था। उससे पूर्व इस पद पर चिरतिदत्त रह चुका था, जो कि राजकुल का नहीं था। इसी तरह चंद्रगुप्त द्वितीय-विक्रमादित्य के शासनकाल में तीरभुक्ति का शासक सम्राट् का पुत्र गोविन्दगुप्त था। इन उपरिक महाराजाओं की बहुत सी मोहरें इस समय उपलब्ध होती हैं।

विषय (जिले) के शासक विषयपति को अपने कार्य में परामर्श देने के लिये एक सभा होती थी, जिसके सभासद विषय महत्तर (जिले के बड़े लोग) कहलाते थे। इनकी संख्या २० के लगभग होती थी। नगर श्रेष्ठी, सार्थवाह (व्यापारियों का मुखिया), प्रथम कुलिक (शिल्पियों का मुखिया) और प्रथम कायस्थ (लेखक श्रेणी का मुखिया) इस विषयसभा में

अवश्य रहते थे। इन चार के अतिरिक्त जिले में रहने वाली जनता के अन्य मुख्य लोग इस सभा में 'महत्तर' रूप में रहते थे। संभवतः, इन महत्तरों की नियुक्ति चुनाव द्वारा नहीं होती थी। विषयपति अपने प्रदेश के मुख्य-मुख्य व्यक्तियों को इस कार्य के लिये नियुक्त कर लेता था। इन महत्तरों के कारण जिले के शासन में सर्वसाधारण जनता का काफी हाथ रहता था। विषयपति को यह भलीभांति मालूम होता रहता था, कि उसके इलाके की जनता क्या सोचती और क्या चाहती है।

विषय के शासक कुमारामात्यों (विषयपतियों) का गुप्त साम्राज्य के शासन में बड़ा महत्त्व था। अपने प्रदेश की सुरक्षा, शान्ति और व्यवस्था के लिए वे ही उत्तरदायी थे। उनके अधीन राजकीय करों को एकत्र करने के लिए अनेक कर्मचारी रहते थे, जिन्हें युक्त, आयुक्त, नियुक्त आदि अनेक नामों से कहा जाता था। मौर्यकाल में भी जिले के इन कर्मचारियों को 'युक्त' ही कहते थे। गुप्तकाल में बड़े पदाधिकारियों के नाम बदल गये थे, पर छोटे राजपुरुषों का अब भी वही नाम था, जो कम से कम सात सदियों से भारत में प्रयुक्त होता आ रहा था। विषयपति के अधीन दंडपाशिक (पुलीस के कर्मचारी), चोरोद्धरणिक (खुफिया पुलीस), आरक्षाधिकृत (जनता के रक्षार्थ नियुक्त कर्मचारी) और दंडनायक (जिले की सेना के अधिकारी) रहते थे। न्याय का कार्य भी विषयपति की अधीनता (न्याय विभाग) के हाथ में रहता था। इस विभाग की भी बहुत सी मोहरें उपलब्ध हुई हैं। न्यायाधिकरण को ही 'धर्माधिकरण' और 'धर्मशासनाधिकरण' भी कहते थे।

विषय में अनेक शहर और ग्राम होते थे। शहरों के शासन के लिये 'पुरपाल' नाम का कर्मचारी होता था, जिसकी स्थिति कुमारामात्य की मानी जाती थी। पुरपाल केवल बड़े-बड़े नगरों में

ही नियुक्त होते थे। विषय के महत्तर इसे भी शासनकार्य में परामर्श देते थे। पुरों की निगम सभायें अभी तक भी विद्यमान थीं, और उनके कारण जनता अपने बहुत से मामलों की व्यवस्था स्वयं ही करती थी। व्यापारियों और शिल्पियों के संघ इस काल में भी विद्यमान थे।

ग्रामों के शासन में पंचायत का बड़ा हाथ रहता था। इस युग में पंचायत को 'पंच मंडली' कहते थे। चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के अन्यतम सेनापति आम्रकार्दव ने एक ग्राम की पंच मंडली को २५ दीनारें एक विशेष प्रयोजन के लिये दी थीं। इसका उल्लेख सांची के एक शिलालेख में किया गया है। गुप्तों से पूर्व ग्राम की सभा को पंच मंडली नहीं कहा जाता था। पर इस युग में भारत की उस पंचायत प्रणाली का पूरी तरह प्रारंभ हो चुका था, जो हजारों साल बीत जाने पर भी आंशिक रूप में अब तक सुरक्षित है।

(४) राजकीय कर

गुप्तकाल के लेखों के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि इस युग में राजकीय आय के निम्नलिखित साधन थे।

१—भागकर—खेती में प्रयुक्त होने वाली जमीन से पैदावार का निश्चित भाग राजकर के रूप में लिया जाता था। इस भाग की मात्रा १८ फीसदी से २५ फीसदी तक होती थी। यह भाग कर (मालगुजारी) प्रायः पैदावार की शकल में ही लिया जाता था। यदि वर्षा न होने या किसी अन्य कारण से फसल अच्छी न हो, तो भागकर की मात्रा स्वयं कम हो जाती थी, क्योंकि किसानों को वस्तुतः पैदा हुए अन्न का निश्चित हिस्सा ही मालगुजारी की शकल में देना होता था। भागकर का दूसरा नाम उद्रङ्ग भी था।

२—भोगकर—मौर्यकाल में जिस चुंगी को शुल्क शब्द से कहा जाता था, उसी को गुप्तकाल में भोगकर कहते थे।

३—भूतोवात प्रत्याय—बाहर से अपने देश में आने वाले और अपने देश में उत्पन्न होने वाले विविध पदार्थों पर जो कर लगता था उसे भूतोवात प्रत्याय कहते थे। गुप्तकालीन लेखों में स्थूल रूप से १८ प्रकार के करों का निर्देश किया गया है। पर इनका विवरण नहीं दिया गया। पृथक् रूप से तीन करों का ही उल्लेख किया गया है। इस काल की स्मृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि परंपरागत रूप से जो विविध कर मौर्य युग से चले आते थे, वे गुप्तकाल में भी वसूल किये जाते थे, यद्यपि उनके नाम और दर आदि में कुछ न कुछ अंतर इस समय में अवश्य आ गया था।

(५) अधीनस्थ राज्यों का शासन

गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत जो अनेक अधीनस्थ राज्य थे, उन पर सम्राट् के शासन का ढंग यह था, कि छोटे सामंत विषयपति कुमारामात्यों के और बड़े सामंत भुक्ति के शासक उपरिक महाराज कुमारामात्यों के अधीन थे। अपने इन कुमारामात्यों द्वारा गुप्त सम्राट् विविध सामंतों व अधीन राजाओं पर अपना नियंत्रण व निरीक्षण रखते थे।

इस काल में भारत में एक प्रकार की जागीरदारी प्रथा व सामंतपद्धति (फ्यूडलिज़म) का विकास हो गया था। बड़े सामंतों के अधीन छोटे सामंत और उनके भी और छोटे सामंत होते थे। सम्राट् बुधगुप्त के अधीन महाराजा सुरश्मि-चंद्र एक बड़ा सामंत था, जिसके अधीनस्थ अन्य सामंत मातृ-विष्णु था। गुप्त सम्राटों के अधीन परिव्राजक, उच्छकल्प और वर्मन आदि विविध वंशों के शक्तिशाली सामंत महाराज अपने-अपने राज्यों में शासन करते थे। इनकी अपनी सेनायें होती थीं। ये स्वयं अपना राजकीय कर वसूल करते थे और अपने आंतरिक मामलों में प्रायः स्वतंत्र थे। साम्राज्य के सांधि-

नियंत्रिक के निरीक्षण में ये महाराज अपने शासन का स्वयं संचालन करते थे। अनेक सामंत महाराज ऐसे भी थे, जिन पर सम्राट् का नियंत्रण अधिक कठोर था, और जिन्हें राजकीय कर को वसूल करने का भी पूरा अधिकार नहीं था।

यूरोप के मध्यकालीन इतिहास में जिस प्रकार फ्यूडल सिस्टम का विकास हो गया था, वैसा ही इस युग में भारत में हमें दृष्टिगोचर होता है। मौर्यकाल में यह सामंत पद्धति विकसित नहीं हुई थी। उस काल में पुराने जनपदों की पृथक् सत्ता की स्मृति और सत्ता विद्यमान थी, पर इन जनपदों में अपने धर्म, चरित्र और व्यवहार के अनुरूप रहते हुए भी उनके पृथक् राजा और पृथक् सेनायें नहीं थीं। गुप्त काल में बड़े और छोटे सब प्रकार के सामंत थे, जो अपनी पृथक् सेनायें रखते थे। प्रतापी गुप्त सम्राटों ने इन्हें जीतकर अपने अधीन कर लिया था, पर इनकी स्वतंत्र सत्ता को नष्ट नहीं किया था।

शक, यवन, कुशाण आदि म्लेच्छों के आक्रमणों से भारत में जो अव्यवस्था और अशांति उत्पन्न हो गई थी, उसी ने इस पद्धति को जन्म दिया था। पुराने मागध साम्राज्य के उच्च महामात्यों ने इस परिस्थिति से लाभ उठा कर अपनी शक्ति को बढ़ा लिया और वे वंशक्रमानुगत रूप से अपने-अपने प्रदेश में स्वतंत्र तौर पर राज्य करने लगे थे। अव्यवस्था के युग में अनेक महत्त्वाकांक्षी शक्तिशाली व्यक्तियों ने भी अपने पृथक् राज्य बना लिये थे। गुप्त सम्राटों ने इन सब राजा महाराजाओं का अंत नहीं किया। यही कारण है, कि उनकी शक्ति के शिथिल होते ही ये न केवल पुनः स्वतन्त्र हो गये, पर परस्पर युद्धों और विजययात्राओं द्वारा अपनी शक्ति के विस्तार में लग गये। इसी का परिणाम हुआ, कि सारे उत्तरी भारत में

अव्यवस्था आ गई, और एक प्रकार का 'मात्स्य न्याय' क़ायम हो गया।

मौर्यों की शक्ति शिथिल होने पर पुराने जनपद पुनः स्वतंत्र हो गये थे। पर जनपदों में धर्म, व्यवहार और चरित्र की एकता रहने के कारण व्यवस्था विद्यमान थी। पर गुप्तों के निर्बल पड़ने पर जनपद स्वतंत्र नहीं हुए, अपितु सामंत महाराजा स्वतंत्र हुए, जो अपनी-अपनी सेनाओं के साथ विजययात्राओं के लिये प्रयत्नशील थे। इसीलिये तिब्बती लामा तारानाथ को यह लिखने का अवकाश मिला, कि इस काल में "हर एक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपनी-अपनी जगह राजा बन बैठा।" सामंत महाराजाओं के आपस के युद्धों ने सचमुच यही मात्स्य न्याय की अवस्था उत्पन्न कर दी थी। गुप्तकाल की सामंत पद्धति का ही यह परिणाम था, कि भारत में यशोधर्मा, हर्षवर्धन जैसे 'आसमुद्र क्षितीश' तो बाद में भी हुए, पर वे स्थिर रूप से कोई एकराट् साम्राज्य की स्थापना नहीं कर सके। गुप्तों के साथ ही भारत भर में एक शक्तिशाली विशाल साम्राज्य की कल्पना भी समाप्त हो गई। सामंत पद्धति का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ।

गुप्त साम्राज्य के अधीन जो यौधेय, कुणिन्द, मालव, आर्जुनायन आदि अनेक गणराज्य थे, उनमें भी इस युग में स्वतंत्र शासन की परंपरा का ह्रास हो रहा था। कुछ विशेष शक्तिशाली कुलों में इन गणराज्यों की राजशक्ति केन्द्रित होती जा रही थी। ये कुलीन लोग अपने को 'महाराज' और 'महासेनापति' कहते थे। अपने युग की प्रवृत्ति के प्रभाव से गणराज्य भी नहीं बच सके, और धीरे-धीरे वे भी उस प्रकार के ऐसे महाराजाओं के अधीन हो गये, जो सामंतों की सी स्थिति रखते थे।

गुप्त काल के सिक्के

गुप्त सम्राटों के बहुत से सिक्के इस समय में उपलब्ध हुए हैं। इस वंश का इतिहास ही मुख्यतया इन सिक्कों के आधार पर तैयार किया गया है। अतः उनका संक्षेप से उल्लेख करना आवश्यक है। गुप्त वंश के सिक्के पहले-पहल चंद्रगुप्त प्रथम द्वारा प्रचारित किये गये थे। चंद्रगुप्त प्रथम का केवल एक ही प्रकार का सिक्का मिला है। इसके एक ओर चंद्रगुप्त मुकुट, कोट, पायजामा और आभूषण पहने खड़ा है, उसके बांये हाथ में ध्वजा और दाहिने हाथ में अंगूठी है। सामने वस्त्र और आभूषणों से सज्जित रानी कुमारदेवी है। राजा अपनी पत्नी को अंगूठी दे रहा है। इस सिक्के के बाईं ओर 'चंद्रगुप्त' और दाईं ओर 'श्री कुमारदेवी' लिखा है। सिक्के की दूसरी तरफ लक्ष्मी का चित्र है, जो सिंह पर सवार है। लक्ष्मी के पैर के नीचे कमल है। साथ ही, नीचे 'लिच्छवयः' लिखा गया है। लिच्छविगण की सहायता से चंद्रगुप्त ने पाटलीपुत्र पर अधिकार किया था और अपने साम्राज्य की नींव डाली थी। लिच्छवि कुमारी श्री कुमारदेवी से विवाह के कारण ही उसके उत्कर्ष का प्रारंभ हुआ था। इसीलिये चंद्रगुप्त प्रथम के इन सिक्कों पर लिच्छवियों और कुमारदेवी को इतनी प्रधानता दी गई है। चंद्रगुप्त के ये सिक्के सोने के और तोल में १११ ग्रेन हैं।

समुद्रगुप्त के सिक्के अनेक प्रकार के मिले हैं। वे सोने और तांबे दोनों के बने हुए हैं। समुद्रगुप्त ने छः प्रकार के सोने के सिक्के प्रचारित किये थे। (१) गरुडध्वजांकित—इनमें एक तरफ मुकुट, कोट और पायजामा पहने सम्राट् की खड़ी मूर्ति है। उसके बांयें हाथ में ध्वजा और दांयें हाथ में अग्नि-

कुंड में डालने के लिये आहुति दिखाई पड़ती है। कुंड के पीछे गरुड़ध्वज है। सम्राट् के बाँयें हाथ के नीचे उसका नाम 'समुद्र' या 'समुद्रगुप्तः' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर 'समर-शत विततविजयो जितारिपुरजितो दिवं जयति' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी की मूर्ति है। यह वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित है, तथा साथ ही 'पराक्रमः' लिखा है। (२) इन सिक्कों में धनुष बाण लिये हुए सम्राट् की मूर्ति गरुड़ध्वज के साथ है। बाँयें हाथ के नीचे सम्राट् का नाम 'समुद्र' लिखा है और चारों ओर 'अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैः दिवं जयति' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है, और 'अप्रतिरथः' लिखा है। (३) इन सिक्कों में एक ओर परशु लिये सम्राट् की मूर्ति है। साथ ही दाहनी तरफ एक छोटे बालक का चित्र है। बाँई तरफ 'समुद्र' या 'समुद्रगुप्तः' लिखा है, और चारों ओर 'कृतांतपरशुर्जयत्यजितराज जेता जितः' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है, और नीचे 'कृतांत परशुः' लिखा (४) इन सिक्कों में एक ओर धनुष बाण से सज्जित सम्राट् का चित्र है, इसे एक व्याघ्र का संहार करते हुए दिखाया गया है। सम्राट् के बाँयें हाथ के नीचे 'व्याघ्र पराक्रम' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर मकर पर खड़ी, हाथ में कमल लिये गंगा देवी का चित्र है और नीचे 'राजा समुद्रगुप्त' लिखा है। (५) इन सिक्कों में एक ओर संगीत प्रेमी सम्राट् का चित्र है, जो एक पृष्ठयुक्त पर्यङ्क पर बैठा हुआ जाँघ मोड़े हुए वीणा बजा रहा है। चारों ओर 'महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर आसन पर बैठी हुई एक देवी की मूर्ति है, और साथ में 'समुद्रगुप्तः' लिखा है। (६) ये सिक्के

अश्वमेध यज्ञ के उपलक्ष में प्रचारित किये गये थे। इनमें एक ओर यूप से बंधे हुए यज्ञीय अश्व की मूर्ति है, और चारों ओर 'राजाधिराजः पृथिवीं विजित्वा दिवं जयत्याहृत वाजिमेधः' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर चँवर लिए हुए राजमहिषी का चित्र है, और 'अश्वमेधपराक्रमः' लिखा है।

समुद्रगुप्त के सोने के सिक्के भार में ११८-१२२ ग्रेन हैं। उसके दो तांबे के भी सिक्के मिले हैं, जिन पर गरुड़ का चित्र और 'समुद्र' लिखा है।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के सोने के सिक्के भार की दृष्टि से तीन प्रकार के हैं, १२१ ग्रेन, १२४ ग्रेन और १३२ ग्रेन। चित्रों की दृष्टि से ये पाँच प्रकार के हैं। (१) इनके एक तरफ धनुष बाण लिये हुये चंद्रगुप्त द्वितीय की खड़ी हुई मूर्ति है, और साथ में गरुड़ध्वज है। दूसरी ओर कमलासन पर बैठी हुई लक्ष्मी की मूर्ति है। (२) इन सिक्कों के एक ओर खड़े हुए रूप में राजा की मूर्ति है, जिसका एक हाथ तलवार की मूंठ पर है और पीछे एक वामन छत्र पकड़े हुये खड़ा है। दूसरी तरफ कमल पर खड़ी लक्ष्मी की मूर्ति है। (३) इन सिक्कों में एक तरफ सम्राट् पर्यङ्क पर बैठा है, उसके दाँये हाथ में कमल है, और बाँया हाथ पर्यङ्क पर टेका हुआ है। सिक्के के दूसरी तरफ सिंहासन पर आसीन लक्ष्मी का चित्र है। (४) इनमें एक तरफ सम्राट् को धनुष बाण द्वारा सिंह को मारते हुये दिखाया गया है, और दूसरी तरफ सिंह पर विराजमान लक्ष्मी का चित्र है। (५) इन सिक्कों में एक तरफ घोड़े पर चढ़े हुये सम्राट् का चित्र है और दूसरी ओर आसन पर विराजमान देवी की मूर्ति है, जिसके हाथ में कमल है। इन सब सिक्कों पर 'महाराजाधिराज चंद्रगुप्त' 'क्षितिमवजित्य सुचरितैः दिवं जयति'

विक्रमादित्य:' 'नरेन्द्रचंद्र: प्रथितदिवं जयत्यजेयो भुवि सिंह विक्रमः' 'नरेन्द्रसिंह चंद्रगुप्तः पृथिवीं जित्वा दिवं जयति' आदि अनेक प्रकार की उक्तियाँ उल्लिखित हैं।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के अनेक सिक्के चांदी के भी मिले हैं। इनमें सम्राट् के अर्धशरीर (बस्ट) की मूर्ति है, और दूसरी तरफ गरुड़ का चित्र है। इन पर 'परम भागवत महाराजाधिराज श्री चंद्र गुप्तस्य विक्रमादित्य' अथवा 'श्रीगुप्तकुलस्य महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्त विक्रमांकस्य' लिखा है। इस सम्राट् के तांबे के बने हुये भी कुछ सिक्के मिले हैं, जिन पर गरुड़ का चित्र है।

गुप्त सम्राटों में सब से अधिक सिक्के कुमारगुप्त प्रथम के मिले हैं, ये सिक्के भार में १२५ और १२६ ग्रेन हैं। चित्रों की दृष्टि से ये ६ प्रकार के हैं। (१) इनके एक तरफ धनुष बाण लिये सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर कमलासन पर बैठी देवी की मूर्ति है। (२) इनके एक तरफ तलवार की मूँठ पर हाथ टेके हुए सम्राट् की मूर्ति है, साथ में गरुड़ध्वज भी है। दूसरी ओर कमल पर विराजमान लक्ष्मी का चित्र है। (३) इनमें एक तरफ यज्ञीय अश्व है, दूसरी ओर वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित राजमहिषी की मूर्ति है। (४) इनमें एक तरफ घोड़े पर सवार सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर हाथ में कमल का फूल लिये एक देवी बैठी है। (५) इनमें एक तरफ सिंह को मारते हुए सम्राट् का चित्र है और दूसरी ओर सिंह पर विराजमान अंबिका की मूर्ति है। (६) इनमें एक तरफ धनुषबाण से व्याघ्र को मारते हुए सम्राट् का चित्र है, दूसरी तरफ मोर को फल खिलाती हुई देवी की खड़ी मूर्ति है। (७) इनमें एक ओर मोर को फल खिलाते हुए सम्राट् खड़ा है, और दूसरी ओर मयूर पर विराजमान कार्तिकेय की मूर्ति है।

(८) इनमें एक ओर बीच में एक पुरुष खड़ा है, जिसके दोनों तरफ दो स्त्रियाँ हैं। सिक्के के दूसरी तरफ एक देवी बैठी हुई है। (९) इनमें एक ओर हाथी पर सवार सम्राट् का चित्र है, और दूसरी तरफ हाथ में कमल लिए हुए लक्ष्मी की खड़ी मूर्ति है।

इन सिक्कों पर 'क्षितिपतिरजित महेंद्रः कुमारगुप्तो दिवं जयति' 'गुप्तकुलव्योमशशि जयत्यजेयो जितमहेंद्रः', 'कुमारगुप्तो विजयी सिंह महेंद्रो दिवं जयति' आदि अनेक लेख उत्कीर्ण हैं। कुमारगुप्त के चाँदी और ताँबे के भी बहुत से सिक्के उपलब्ध हुए हैं।

स्कंदगुप्त के सोने के सिक्के भार में १३२ और १४४ ग्रेन के मिले हैं। ये दो प्रकार के हैं। (१) इनमें धनुष बाण धारण किये सम्राट् का चित्र है, दूसरी ओर पद्मासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है। (२) इनमें एक ओर सम्राट् और राजमहिषी के चित्र हैं, बीच में गरुड़ध्वज है, दूसरी ओर कमल हाथ में लिये हुए देवी की मूर्ति है। इन सिक्कों पर भी अनेक लेख उत्कीर्ण हैं। स्कंदगुप्त के भी चाँदी और ताँबे के अनेक सिक्के उपलब्ध हुए हैं।

स्कंदगुप्त के उत्तराधिकारियों में पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय, बुधगुप्त, वैन्यगुप्त आदि प्रायः सभी गुप्त-सम्राटों के सिक्के मिलते हैं। इन सबमें प्रायः 'विजितावनिरवनिपतिः कुमारगुप्तो दिवं जयति' के वजन पर लेख उत्कीर्ण मिलते हैं। सम्राट् का नाम बदलता जाता है, पर लेख प्रायः इसीके सदृश रहता है।

इक्कीसवाँ अध्याय

गुप्तकाल की समृद्धि और आर्थिक जीवन

(१) गुप्त साम्राज्य के प्रधान नगर

गुप्त साम्राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र थी। इसके विषय में चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा है—'मध्यदेश में यह नगर सबसे बड़ा है। इसके निवासी सम्पन्न और समृद्धिशाली हैं। दान और सत्य में स्पर्धालु हैं। प्रतिवर्ष रथयात्रा होती है। दूसरे मास की आठवीं तिथि को यात्रा निकलती है। चार पहिये के रथ बनते हैं। यह बूप पर ठाटी जाती है, जिसमें धुरी और हर्सें लगे रहते हैं। यह २० हाथ ऊंचा और स्तूप के आकार का बनता है। ऊपर से सफेद चमकीला ऊनी कपड़ा मढ़ा जाता है। भाँति-भाँति की रंगाई होती है। देवताओं की मूर्तियां सोने चांदी और स्फटिक की भव्य बनती हैं। रेशम की ध्वजा और चांदनी लगती है। चारों कोने कलगियाँ लगती हैं। बीच में बुद्धदेव की मूर्ति होती है और पास में बोधिसत्व खड़ा किया जाता है। बीस रथ होते हैं, एक से एक सुन्दर और भड़कीले, सब के रंग न्यारे। नियत दिन आसपास के यती और गृही इकट्ठे होते हैं। गाने-बजाने वाले साथ लेते हैं। फूल और गंध से पूजा करते हैं फिर ब्राह्मण आते हैं, और बुद्धदेव को नगर में पधारने के लिये निमंत्रण करते हैं। पारी-पारी नगर में प्रवेश करते हैं। इसमें दो रात बीत जाती हैं। सारी रात दिया जलता है। गाना-बजाना होता है। पूजा होती है। जनपद-जनपद में ऐसा ही होता है।

जनपद के वैश्यों के मुखिया लोग नगर में सदावर्त और औषधालय स्थापित करते हैं। देश के निर्धन, अपंग, अनाथ, विधवा, निःसंतान, लूले, लंगड़े और रोगी लोग इस स्थान पर आते हैं, उन्हें सब प्रकार की सहायता मिलती है। वैद्य रोगों की चिकित्सा करते हैं। वे अनुकूल औषध और पथ्य पाते हैं। अच्छे होते हैं, तब जाते हैं।"

फाइयान को बौद्ध धर्म के अनुष्ठानों व तीर्थस्थानों को देखने के अतिरिक्त अन्य किसी काम के लिये अवकाश नहीं था। पाटलीपुत्र आकर उसने अशोक के पुराने राजप्रासाद, स्तूपों और विहारों को ही देखा। पर उसके विवरण से इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता, कि गुप्त सम्राटों के शासनकाल में पाटलीपुत्र बहुत समृद्ध नगर था और उसके निवासी भी सम्पन्न और समृद्धिशाली थे, रथयात्राओं में बड़े शौक से शामिल होते थे और खूब दिल खोलकर दान-पुण्य करते थे।

पाटलीपुत्र के समीप ही वैशाली गुप्तकाल का एक अत्यंत समृद्धिशाली नगर था। गुप्त वंश के उत्कर्ष का प्रधान हेतु लिच्छवि लोगों की सहायता थी। लिच्छवियों का प्रधान केंद्र वैशाली में ही था। इस नगर में बहुत सी मोहरों के साँचे मिले हैं, जिन्हें वैशाली के 'श्रेष्ठीसार्थवाहकुलिकनिगम' की ओर से काम में लाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस विशाल नगरी के श्रेष्ठी (साहूकार), सार्थवाह (व्यापारी) और कुलिक (शिल्पी) लोगों का एक बड़ा संघ (निगम) था, जो अपनी मोहर से मुद्रित कर विविध व्यापारी आदेश जारी करता था। इसी तरह की मोहरें इस काल के अन्य बहुत से नगरों में भी मिली हैं, जिनसे सूचित होता है, कि वैशाली के इस 'श्रेष्ठीसार्थवाहकुलिकनिगम' की शाखायें भारत के अन्य विविध नगरों में भी व्याप्त थीं। गुप्त काल में वैशाली

बहुत वैभवपूर्ण नगरी थी और वहाँ शासन करने के लिये प्रायः राजकुल के कुमारामात्य नियत होते थे।

गुप्त काल में उज्जैनी भी बहुत समृद्ध दशा में थी। गुप्त सम्राट् प्रायः वहाँ ही निवास करते थे। विशेषतया, शकों को परास्त करने के बाद जब साम्राज्य पश्चिम में गुजरात काठियावाड़ तक विस्तृत हो गया था, तब उज्जैनी ने साम्राज्य की द्वितीय राजधानी का पद प्राप्त कर लिया था। ज्योतिष के अनुशीलन का यह बड़ा महत्त्वपूर्ण केंद्र था। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर ने यहाँ अपनी वेधशाला बनाई थी, और देश तथा काल की भावना इसी को आधार बना कर की थी। गुप्तों के बाद भी भारतीय ज्योतिषी उज्जैनी को ही आधार बनाकर देश और काल की भावना करते रहे, और वहां की वेधशाला भारत भर में प्रसिद्ध रही।

गुप्त काल में मालवा का दशपुर भी एक अत्यंत समृद्ध नगर था। सम्राट् कुमारगुप्त के समय के मंदसौर में प्राप्त एक शिलालेख में इस नगर के सौंदर्य और वैभव का बड़ा उत्तम वर्णन किया गया है। इसके गगनचुम्बी सुंदर प्रासादों की माला, रमणीक वाटिकाओं की छटा, मदमत्त हाथियों की क्रीड़ा, पिञ्जरबद्ध हंसों के विलास और रमणियों के संगीत के वर्णन को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है, कि दशपुर एक बहुत ही समृद्ध नगर था। कुमारगुप्त के इस शिलालेख के रचयिता कवि वत्सभट्टि ने दशपुर का वर्णन करते हुए लिखा है, 'इस नगरी में कैलाश के शिखर के समान ऊंचे मकानों की पंक्तियाँ ऐसे शोभित होती थी, मानो गगन को छूते हुए विमानों की मालायें हों। नगर में बहुत से उद्यान, पार्क और तालाब थे, जिनमें विविध प्रकार के पक्षी हर समय कलरव करते रहते थे।

इनके अतिरिक्त, कौशाम्बी, मथुरा, वाराणसी, चंपा, ताम्रलिप्ति, कान्यकुब्ज आदि अन्य बहुत सी नगरियाँ भी इस काल में संपन्न अवस्था में विद्यमान थीं। फाइयान ने इन सब की यात्रा की थी। इनके विहारों, स्तूपों, भिक्षुओं आदि के संबंध में तो फाइयान ने बहुत कुछ लिखा है, पर खेद यही है, कि इनके वैभव, समृद्धि, आर्थिक दशा व सामाजिक जीवन के विषय में इस चीनी यात्री ने कुछ भी विवरण नहीं दिया।

(२) चीनी यात्री फ़ाइयान

फाइयान का उल्लेख पहले भी हो चुका है। वह चीन के अन्यतम प्रदेश शेन से की राजधानी चांग गान का रहने वाला था। उसके समय तक चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार हो चुका था, बहुत से लोग भिक्खु जीवन को भी स्वीकार कर चुके थे। फाइयान बचपन से ही प्रव्रज्या ग्रहण करके बौद्ध धर्म के अध्ययन में अपना संपूर्ण समय व्यतीत कर रहा था। उसने अनुमान किया, कि चीन में जो विनय पिटक हैं, वे अपूर्ण हैं। प्रामाणिक धर्म-ग्रंथों की खोज में उसने भारतयात्रा का संकल्प किया। चीन से चलकर भारत पहुँचने और वहाँ से अपने देश को वापस लौटने तक उसे कुल १५ वर्ष लगे। चौथी सदी के अंत में वह चीन से चला था, और सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल में पाँचवीं सदी के शुरू में उसने भारत के विविध प्रदेशों का भ्रमण किया था। उसके यात्राविवरण में से हम यहाँ कुछ ऐसे प्रसंग उद्धृत करते हैं, जो इस समय के भारत के जीवन पर प्रकाश डालते हैं।

"इस देश (शेन शेन, पूर्वी तुर्किस्तान में) के राजा का धर्म हमारा ही है। यहाँ लगभग चार हज़ार से अधिक श्रमण रहते हैं। सब के सब हीनयान संप्रदाय के अनुयायी हैं। इधर के

देश के सब लोग क्या गृहस्थ और क्या भिक्षु सब भारतीय आचार और नियम का पालन करते हैं। यहाँ से पश्चिम में जिन-जिन देशों में गये, सभी में ऐसा ही पाया। सब गृहत्यागी विरक्त भारतीय ग्रन्थों और भारतीय भाषों का अध्ययन करते हैं।

"खोतान जनपद सुखप्रद और संपन्न है। अधिवासी धार्मिक हैं।

"कुकेन (काबुल) में एक सहस्र से अधिक भिक्षु हैं। सब महायान के अनुयायी हैं।

"किचा के श्रमणों का आचार आश्चर्यजनक है, इतना विधिनिषेधात्मक कि वर्णनातीत है।

"गांधार देश के निवासी सब हीनयान के अनुयायी हैं। तक्षशिला में राजा, मंत्री और जनसाधारण सब उनकी (स्तूपों की) पूजा करते हैं। इन दोनों स्तूपों पर पुष्प और दीप चढ़ाने वालों का तांता कभी नहीं टूटता।

"यहाँ (पुरुषपुर—पेशावर में) सात सौ से अधिक श्रमण होंगे। जब मध्याह्न होता है, श्रमण भिक्षापात्र लेकर निकलते हैं।

"(पेशावर से) दक्षिण दिशा में १६ योजन चलकर नगर जनपद की सीमा पर हेलो (हिड्डा) नगर में पहुँचे, वहाँ विहार पर सोने के पत्र चढ़े हैं और सप्तरत्न जड़े हैं।

"(मथुरा को जाते हुए) मार्ग में लगातार बहुत विहार मिले, जिनमें लाखों श्रमण मिले। सब स्थानों में होते हुए एक जनपद में पहुँचे, जिसका नाम मथुरा था। नदी के दायें बायें किनारे बीस विहार थे, जिनमें तीस हजार से अधिक भिक्षु थे। यव तक बौद्ध धर्म का अच्छा प्रचार है। मरुभूमि से पश्चिम भारत के सभी जनपदों के अधिपति बौद्ध धर्म के अनुयायी मिले।

भिक्षुसंघ को भिक्षा कराते समय वे अपने मुकुट उतार डालते हैं। अपने बंधुओं और अमात्यों सहित अपने हाथों से भोजन परोसते हैं। परोस कर प्रधान महासंघ (स्थविर) के आगे आसन बिछवा कर बैठ जाते हैं। संघ के सामने खाट पर बैठने का साहस नहीं करते। तथागत के समय में जो प्रथा राजाओं में भिक्षा कराने की थी, वही अब तक चली आती है।

'यहां से दक्षिण मध्यदेश कहलाता है। यहाँ शीत और उष्ण सम है। प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखा-पढ़ी और पंचायत कुछ नहीं है। लोग राजा की भूमि जोतते हैं और उपज का अंश देते हैं। जहाँ चाहें जायें, जहाँ चाहें रहें। राजा न प्राणदंड देता है, और न शारीरिक दंड देता है। अपराधी को अवस्थानुसार उत्तम साहस व मध्यम साहस का अर्थदण्ड दिया जाता है। बार-बार दस्युकर्म करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतीहार और सह-चर वेतनभोगी हैं। सारे देश में कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है और न लहसुन-प्याज खाता है, सिवाय चाण्डाल के। दस्यु को चाण्डाल कहते हैं। वे नगर के बाहर रहते हैं, और नगर में जब पैठते हैं, तो सूचना के लिये लकड़ी बजाते चलते हैं कि लोग जान जायें और बचाकर चलें, कहीं उनसे छू न जायें। जनपद में सूअर और मुर्गी नहीं पालते, न जीवित पशु बेचते हैं, न कहीं सूनागार और मद्य की दूकानें हैं। क्रय-विक्रय में कौड़ियों का व्यवहार है। केवल चाण्डाल मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते हैं।

"श्रमणों का कृत्य शुभ कर्मों से धर्मोपार्जन करना, सूत्र का पाठ करना और ध्यान लगाना है। आगंतुक (अतिथि) भिक्षु आते हैं, तो रहने वाले (स्थायी) भिक्षु उन्हें आगे बढ़कर

लेते हैं। उनके भिक्षापात्र और वस्त्र स्वयं ले आते हैं। उन्हें पैर धोने को जल और सिर में लगाने को तेल देते हैं। विश्राम ले लेने पर उनसे पूछते हैं कि कितने दिनों से प्रव्रज्या ग्रहण की है। फिर उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार आवास देते हैं और यथानियम उनसे व्यवहार करते हैं।

"जब भिक्षु वार्षिकी अग्रहार पा जाते हैं, तब सेठ और ब्राह्मण लोग वस्त्र और अन्य उपस्कार बाँटते हैं। भिक्षु उन्हें लेकर यथाभाग विभक्त करते हैं। बुद्धदेव के बोधिप्राप्ति काल से ही यह रीति, आचार-व्यवहार और नियम अविच्छिन्न लगातार चले आते हैं। सिंधु (सिंधु नदी) उतरने के स्थान से दक्षिण भारत तक और दक्षिण समुद्र तक चालीस पचास हज़ार ली तक चौरस (भूमि) है। इसमें कहीं पर्वत झरने नहीं हैं, नदी का ही जल है।

"(कान्यकुब्ज=कन्नौज) नगर गंगा के किनारे है। दो संघाराम हैं, सब हीनयान के अनुयायियों के हैं। नगर से पश्चिम सात ली पर गंगा के किनारे बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया था।

"दक्षिण दिशा में चले। आठ योजन चलकर कोशल जनपद के नगर श्रावस्ती में पहुँचे। नगर में बहुत कम अधिवासी हैं, और जो हैं, तितर-बितर हैं। सब मिलाकर दो सौ से कुछ ही अधिक घर होंगे।

"मध्यदेश में ६६ पाषंडों (संप्रदायों) का प्रचार है। सब लोक-परलोक को मानते हैं। उनके साधु संघ हैं। वे भिक्षा करते हैं, केवल भिक्षापात्र नहीं रखते। सब नाना रूप से धर्मानुष्ठान करते हैं। मार्गों पर धर्मशालायें स्थापित की हैं। वहाँ आने गये को आवास, खाट, बिस्तर, खाना-पीना मिलता है। यती भी वहाँ आते-जाते और निवास करते हैं।

"कपिलवस्तु नगर में न राजा है, न प्रजा। केवल खंडहर और उजाड़ है। कुछ श्रमण रहते हैं, और दस घर अधिवासी हैं। कपिलवस्तु जनपद जनशून्य है। अधिवासी बहुत कम हैं। मार्ग में श्वेत हस्ती और सिंह से बचने की आवश्यकता है, बिना सावधानी के जाने योग्य नहीं है।

"राजगृह नगर के भीतर सुनसान है, कोई मनुष्य नहीं।"

"दक्षिण जनपद बड़े निराले हैं। मार्ग भयावह और दुस्तर हैं। कठिनाइयों को झेल कर जाने के इच्छुक सदा धन और उपहार वस्तु साथ ले जाते हैं, और जनपद के राजा को देते हैं। राजा प्रसन्न होकर रक्षक मनुष्य साथ भेजता है, जो एक बस्ती से दूसरी बस्ती तक पहुँचाते और सुगम मार्ग बताते हैं।

"ताम्रलिप्ति नगर एक बंदरगाह है, इस जनपद में २४ संघाराम हैं। श्रमण संघ में रहते हैं। बौद्ध धर्म का भी अच्छा प्रचार है।"

फाइयान के इन उद्धरणों में भी यद्यपि बौद्ध धर्म की दशा का ही चित्रण अधिक है, पर उस समय के भारत का कुछ न कुछ निदर्शन इनसे अवश्य मिल जाता है। पाटलीपुत्र उस समय भारत का सब से बड़ा नगर था, यहाँ के निवासी संपन्न और समृद्ध थे। फाइयान यहाँ तीन साल तक रहा। बौद्ध धर्म के जिन ग्रंथों का वह अध्ययन करना चाहता था, वे सब उसे यहीं मिले। पर श्रावस्ती, कपिलवस्तु, राजगृह आदि अनेक पुराने नगर इस समय खंडहर हो चुके थे।

(३) रहन-सहन और आमोद-प्रमोद

गुप्तकालीन भारत में ऋतु के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे। गुप्तकाल के सिक्कों पर सम्राटों के जो चित्र हैं, उनमें दो प्रकार की पोशाकें हैं। कुछ सिक्कों पर

सम्राट् लम्बा कोट, पायजामा और सिर पर मुकुट के ढंग की टोपी पहने हुए हैं। संभवतः, यह पोशाक शीत ऋतु की थी। दूसरे सिक्कों में धोती और उत्तरीय धारण किये हुए सम्राटों के चित्र हैं। संभवतः, गरमी के मौसम में कोट और पायजामे की जगह धोती और उत्तरीय धारण किया जाता था। कुछ विद्वानों का ख्याल है, कि कोट और पायजामे की पोशाक पश्चिम से भारत में आई थी। शक, यवन और कुशाण लोग जो पश्चिम की ओर से भारत में आये थे, वे यह पोशाक पहनते थे। उन्हीं के अनुकरण में भारत के बड़े लोग ये वस्त्र पहनने लगे, और गुप्तों के सिक्कों पर इस पोशाक की सत्ता पश्चिमी प्रभाव की सूचक है। पर यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती। गुप्तों के सिक्कों पर सम्राटों की जो दो प्रकार की पोशाक है, उसका कारण शीत और ग्रीष्म ऋतु ही है। भारत के बड़े और सर्वसाधारण लोग बहुत पुराने समय से ऋतुभेद से विविध प्रकार के वस्त्र पहनते आये हैं।

राजा लोग सिर पर मुकुट धारण करते थे, और सर्वसाधारण लोग उष्णीष (पगड़ी) पहनते थे। स्त्रियों की पोशाक साड़ी थी। पर लहँगे का भी रिवाज बहुत था। नृत्य के अवसरों पर तो मुख्यतया लहँगा ही पहना जाता था। गुप्तकाल की स्त्रियों के अनेक चित्र गुफाओं में उत्कीर्ण व चित्रित किये हुए मिले हैं। इनमें उनकी पोशाक साड़ी और चोली ही है। गुप्तकाल के स्त्री-पुरुष अपने शृंगार पर बड़ा ध्यान देते थे। केशों को तरह तरह से सजाते, मुख पर पराग और लाली लगाते तथा विविध प्रकार के आभूषण पहन कर अपनी सुन्दरता को बढ़ाने की तरफ उस समय के लोगों का बहुत ध्यान रहता था। गुप्तकाल के जो भी चित्र व मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, सब में स्त्री और पुरुष दोनों के विविध अंगों में आभू-

वर्णों की प्रचुरता है। इस युग के साहित्य में भी आभूषणों से शरीर को अलंकृत करने का बहुत वर्णन आता है। सूती कपड़े तो उस समय पहने ही जाते थे, पर रेशमी और ऊनी वस्त्रों का भी रिवाज बहुत अधिक था। फाइयान ने कई जगह रेशमी और ऊनी कपड़ों का उल्लेख किया है। इस युग के साहित्य में भी तरह-तरह के रेशम का वर्णन आता है। भारत में यह युग बहुत समृद्धि और वैभव का था। अतः यदि इस काल के भारतीय भाँति-भाँति के सुन्दर वस्त्र पहनते, अपने शरीर का शृंगार करते और अपने को विविध आभूषणों से अलंकृत करने पर विशेष ध्यान देते थे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। महाकवि कालिदास ने अपने काव्य इसी युग में लिखे थे। उनमें शृंगारप्रिय स्त्रियों के विलास का जो वर्णन स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता है, उससे इस काल के रहन-सहन पर बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ता है। कालिदास ने लिखा है कि स्त्रियाँ सुगंधित द्रव्य जलाकर उनकी उष्णता से अपने गीले केशों को सुखातीं तथा सुगंधित करती थीं। बाल सूख जाने पर उनकी विविध प्रकार से वेणी बनाई जाती थी और फिर उन्हें मंदार आदि के फूलों से गूँथा जाता था। अजंता की गुफाओं में स्त्रियों के जो विविध चित्र चित्रित हैं, उनमें केशों के शृंगार को देखकर आश्चर्य होता है। यह कला गुप्तकाल में उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गई थी।

गुप्तकाल के भारतीय आमोद-प्रमोद को भी बड़ा महत्त्व देते थे। वात्स्यायन का कामसूत्र गुप्तवंश के प्रारंभ से कुछ ही समय पूर्व बना था। उसके अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि प्राचीन भारत में पाँच प्रकार से आमोद-प्रमोद मनाया जाता था। लोग धार्मिक उत्सवों में बड़ा आनन्द लेते थे। समय-समय पर रथयात्रायें हुआ करती थीं। फाइयान ने बहुत से

नगरों में इस प्रकार की रथयात्रायें अपनी आँखों से देखी थीं, जिनमें हज़ारों नर-नारी सम्मिलित होते थे। इन अवसरों पर दीपक जलाये जाते थे, घंटियाँ बजती थीं और लोग खुशी मनाते थे। गोष्ठियों का भी उस समय बहुत रिवाज था। एक हैसियत के लोग अपनी-अपनी गोष्ठियों में एकत्र होकर नाचने गाने आदि का आनंद उठाते थे, और तरह-तरह से आमोद-प्रमोद करते थे। इकट्ठे होकर पान (शराब सेवन) का भी इस समय रिवाज था। फाइयान जिन लोगों में रहा, वे चाहे शराब न पीते हों, पर सर्वसाधारण लोगों में पान का काफ़ी प्रचार था। बगीचों में सैर करना और तरह-तरह के खेल खेलना आमोद-प्रमोद के अन्य साधन थे। शिकार का भी उस समय काफ़ी प्रचार था। गुप्त सम्राटों के सिक्कों में उन्हें शेर और बाघ का शिकार करते हुए दिखाया गया है। मौर्यकाल के समान गुप्तयुग में भी गणिकाओं को समाज में स्थान प्राप्त था। वे वादन, गायन तथा नृत्य में निपुणता प्राप्त कर जनता का मनोरंजन करती थीं।

(४) निर्वाह व्यय

गुप्तकाल में वस्तुओं का मूल्य बहुत कम था। चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय के एक शिलालेख में यह उल्लेख है कि "चातुर्दिश आर्य (भिक्षु) संघ को बारह दीनारें (सुवर्ण-मुद्रा) अक्षय-नीवि (स्थिर धरोहर) के रूप में इस लिये दी जाती हैं, कि उसके सूद से संघ में प्रविष्ट होने वाले एक भिक्षु को सदा के लिये प्रतिदिन भोजन मिलता रहे।" उस काल में सूद की दर १२ से २४ फ़ीसदी वार्षिक तक होती थी। शुक्रनीति की दृष्टि में सूद की दर १२ फ़ी सदी वार्षिक समझी

जा सकती है। इस हिसाब से १२ दीनारों का वार्षिक सूद १½ दीनार के लगभग होगा। अभिप्राय यह हुआ कि गुप्तकाल में १½ दीनार एक भिक्षु के साल भर के भोजन व्यय के लिये पर्याप्त थी। १½ दीनार में १ तोले के लगभग सोना होता था। सोने का मूल्य आजकल ११०) रुपया प्रति तोला है। पर साधारण दशा में ३० रुपया प्रति तोला रहता है। इस प्रकार एक व्यक्ति के भोजन का निर्वाह ढाई रुपये मासिक में उस समय बहुत अच्छी तरह हो जाता था।

गुप्तकाल के एक अन्य लेख के अनुसार आम्रकार्दव नाम के अमात्य ने एक ग्राम पंचायत के पास २५ दीनार इस उद्देश्य से जमा कराये थे, कि उनके सूद से 'यावच्चन्द्र-दिवाकरौ" सदा के लिये पाँच भिक्षुओं का भोजन व्यय दिया जाय। संभवतः ग्राम-पंचायत (पंचमंडली) अधिक ऊँची दर से सूद देती थी। यदि २५ की सदी की दर से अमात्य आम्रकार्दव का यह धन ग्राम पंचायत ने लिया हो, तो २५ दीनारों का सूद ६ दीनार के लगभग प्रतिवर्ष होगा। इस रकम से पाँच भिक्षुओं के भोजन का खर्च भलीभाँति चल सकता था। अकबर के समय में भी भारत में अन्न के मूल्य बहुत कम थे। उसके शासनकाल में भी दो या तीन रुपये मासिक में एक व्यक्ति अपना भोजन व्यय भलीभाँति चला सकता था। गुप्तकाल में भी भोज्य पदार्थों के भाव इतने सस्ते थे कि सवा या डेढ़ दीनार वार्षिक में निर्वाह अच्छी तरह चल जाता था। भावों के इतने सस्ते होने के कारण ही इस काल के विनिमय में कौड़ियों का भी व्यवहार होता था। सोने के सिक्के तो बहुत ही मूल्यवान थे। पर चाँदी और ताँबे के छोटे सिक्कों का भी बहुत चलन था, और छोटी-छोटी चीजों के विनिमय के लिये कौड़ियाँ प्रयुक्त की जाती थीं।

(५) आर्थिक जीवन

व्यवसायी और व्यापारी गुप्तकाल में भी श्रेणि और निगमों में संगठित थे। गुप्तकाल के शिलालेखों और मोहरों से सूचित होता है, कि उस समय में न केवल श्रेष्ठियों और सार्थवाहों के निगम थे, अपितु जुलाहे, तेली आदि विविध व्यवसायी भी अपनी-अपनी श्रेणियों में संगठित थे। जनता का इन पर पूर्ण विश्वास था। यही कारण है कि इनके पास रुपया विविध प्रयोजनों से धरोहर (अक्षयनीवि रूप में या सामयिक रूप में) रखा दिया जाता था, और ये उस पर सूद दिया करते थे। इन निगमों व श्रेणियों का एक मुखिया व उसको परामर्श देने के लिये चार या पाँच व्यक्तियों की एक समिति रहती थी। व्यवसायियों और व्यापारियों के इन संगठनों पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त है, कि ये श्रेणियाँ और निगम गुप्तकाल में भी विद्यमान थे, और देश का आर्थिक जीवन इन्हीं में केन्द्रित था। कुमारगुप्त प्रथम के समय के एक शिलालेख में पटकारों (जुलाहों) की एक श्रेणि का उल्लेख है, जो लाट (गुजरात) देश से आकर दशपुर में बस गई थी। इसी तरह स्कंदगुप्त के एक शिलालेख में 'इंद्रपुर निवासिनी तैलिक श्रेणि' का उल्लेख है। इसी प्रकार मृत्तिकार (कुम्हार), शिल्पकार, वणिक् आदि की भी श्रेणियों का उल्लेख इस युग के लेखों में है। अकेले वैशाली से २७४ मट्टी की मोहरें मिली हैं, जो विविध लेखों को मुद्रित करने के काम में आती थीं। ये मोहरें 'श्रेष्ठी सार्थवाह कुलिक निगम' की हैं। उस काल में वैशाली में साहूकार, व्यापारी और शिल्पियों की श्रेणियों का यह सम्मिलित शक्तिशाली निगम था। इसका कार्य भारत के बहुत से नगरों में

फैला हुआ था। जो पत्र इस निगम के पास आते थे, उन्हें बंद करके ऊपर से ये मोहरें लगाई जाती थीं, ताकि पत्र सुरक्षित रहें। इसका अभिप्राय यह है, कि अन्य नगरों में विद्यमान इस वैभवशाली निगम की शाखाओं के पास भी ऐसी मोहरों के सांचे थे, जिन्हें वे वैशाली के प्रधान निगम को पत्र भेजते हुए मुद्रित करने के काम लाते थे। निगम की मोहर (कामन सील) के अतिरिक्त इन पत्रों पर एक और मोहर भी लगाई जाती थी, जो संभवतः विविध नगरों में विद्यमान निगम शाखाओं के अध्यक्ष की निजू मोहर होती थी। वैशाली में प्राप्त 'श्रेष्ठी-सार्थवाह-कुलिक-निगम' की २७४ मोहरों में से ७४ के साथ ईशानदास की, ३८ के साथ मातृदास की और ३० के साथ गोमिस्वामी की मोहरें हैं। संभवतः ये व्यक्ति पाटलीपुत्र, कौशांबी आदि समृद्ध नगरों की निगमशाखा के अध्यक्ष थे, और उन्हें वैशाली के निगम के पास बहुधा पत्र भेजने की आवश्यकता रहती थी। इनके अतिरिक्त घोष, हरिगुप्त, भवसेन आदि की भी पाँच-पाँच या छः-छः मोहरें निगम की मोहरों के साथ में मुद्रित हैं। ये अन्य निगम शाखाओं के अध्यक्ष थे। कुछ पत्रों पर निगम की मोहर के साथ 'जयत्यनंतो भगवान्', 'जितं भगवता', 'नमः पशुपतये' सदृश मोहरें भी हैं। संभवतः, ये उन पत्रों पर लगाई गई थीं, जो किसी मंदिर व धर्मस्थान से वैशाली के 'श्रेष्ठी-सार्थवाह-कुलिक-निगम' को भेजे गये थे। इन वैभवपूर्ण निगमों के पास धर्म-मंदिरों का रुपया अक्षयनीवि के रूप में जमा रहता था, और इसी लिये उन्हें इनके साथ पत्र-व्यवहार की आवश्यकता रहती थी।

वैशाली के इस निगम के अतिरिक्त अन्यत्र भी इसी प्रकार के विविध निगम गुप्तकाल में विद्यमान थे। वर्तमान समय के बैंकों का कार्य इस काल में ये श्रेणियाँ और निगम ही करते

थे। अपने झगड़ों का निर्णय भी वे स्वयं करते थे। उनका अपना न्यायालय होता था, जिसमें अपने धर्म, चरित्र और व्यवहार के अनुसार निर्णय किया जाता था। इनके मुखिया या प्रतिनिधि विषयपति की राजसभा के भी सभासद रहते थे। इस प्रकार स्पष्ट है, कि गुप्तकाल के आर्थिक जीवन में इन श्रेणियों व निगमों का बड़ा महत्त्व था।

श्रेणियाँ छोटी या बड़ी सब प्रकार की होती थीं। छोटी श्रेणियों में एक उस्ताद (आचार्य) अपने अंतेवासियों (शागिर्दों) के साथ व्यवसाय का संचालन करता था। कुम्हारों की श्रेणि को लीजिये। बहुत से ग्रामों व नगरों में यह श्रेणि होती थी। श्रेणि का मुखिया आचार्य कहलाता था। उसके साथ बहुत से शागिर्द (अंतेवासी) रहते थे, जो आचार्य के घर में पुत्रों की तरह निवास करते थे। नारदस्मृति ने इस विषय को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है। वहाँ लिखा है—जिस किसी को कोई शिल्प सीखना हो, वह अपने बांधवों की अनुमति ले कर आचार्य के पास जाय और उससे समय आदि का निश्चय कर उसी के पास रहे। यदि शिल्प को जल्दी भी सीख जाय, तो भी जितने काल का फैसला कर लिया हो, उतने काल तक अवश्य ही गुरु के घर में निवास करे। आचार्य अपने अंते-वासी के साथ पुत्र की तरह आचरण करे, कोई दूसरा काम उससे न ले, उसे अपने पास से भोजन देवे और उसे भलीभांति शिल्प की शिक्षा दे। जब अंतेवासी शिल्प को सीख ले, और निश्चित किया हुआ समय समाप्त हो जाय, तब आचार्य को दक्षिणा देकर और अपनी शक्ति भर उसको दक्षिणा द्वारा मान देकर फिर अपने घर लौट आवे।

नारदस्मृति के इस संदर्भ से एक छोटी श्रेणि (यथा कुम्भ-कार श्रेणि) का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। आचार्य के घर

में जो अंतेवासी रहते थे, वे एक निश्चित समय तक शागिर्दी करने केलिए प्रतिज्ञा करते थे। इस बीच में आचार्य उनसे शिल्प संबंधी सब काम लेता था, बदले में केवल भोजन या निर्वाह खर्च देता था। एक-एक आचार्य के अधीन बहुत-बहुत से अंतेवासी रहते थे। आचार्य को मजदूर रखने की आवश्यकता नहीं होती थी। बाद में समय समाप्त हो जाने पर ये अंतेवासी अपना स्वतंत्र व्यवसाय कर सकते थे। भारत में ऐसी श्रेणियां मौर्यकाल से व उससे भी पहले से चली आ रही थीं। पर गुप्तयुग में अनेक व्यवसायों में छोटी-छोटी श्रेणियों का स्थान बड़े पैमाने की सुसंगठित श्रेणियों ने ले लिया था। मंदसोर की प्रशस्ति में जिस पटकार श्रेणि के लाट देश से दशपुर आकर बस जाने का उल्लेख है, उसके संबंध में यह लिखा है कि उसके बहुत से सदस्य थे, जो भिन्न-भिन्न विद्याओं में निपुण थे। वस्त्र बुनने में तो सभी दक्ष थे, पर साथ ही उनमें से अनेक व्यक्ति गान, कथा, धर्मप्रसंग, ज्योतिष, शील, विनय और युद्ध विद्या में भी प्रवीण थे। मंदसोर के लेख में दशपुर की श्रेणि के सदस्यों के गुणों का जितने विस्तार से वर्णन किया गया है, उससे सूचित होता है कि वह श्रेणि बहुत शक्तिशाली, वैभवपूर्ण और संपन्न थी। उसमें अनेक कुलों और वंशों के व्यक्ति सम्मिलित थे। वे अपनी रक्षा के लिये स्वयं शस्त्रधारण भी करते थे। इस प्रकार की बड़ी-बड़ी श्रेणियों और निगमों का विकास गुप्तकाल की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। विविध श्रेणियों व निगमों के संघ भी इस समय तक बन गये थे, जो केवल एक नगर में ही नहीं, अपितु बहुत विस्तृत क्षेत्र में अपना कार्य करते थे। ये बड़ी-बड़ी श्रेणियां इतनी समृद्ध थीं, कि दशपुर की तंतुवाय श्रेणि ने स्वयं अपने कमाये हुए धन से एक विशाल सूर्य मंदिर का निर्माण कराया

था, और उसी की प्रतिष्ठा के उपलक्ष में मंदसोर की प्रशस्ति उत्कीर्ण कराई थी।

गुप्तकाल में व्यापार भी बहुत विकसित था। न केवल भारत के विविध प्रदेशों में अपितु पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के समुद्र पार के देशों के साथ इस युग में भारत का व्यापारिक संबंध विद्यमान था। पाटलीपुत्र से कौशांबी और उज्जैनी होते हुए एक सड़क भड़ौंच को गई थी, जो इस युग में पश्चिमी भारत का बहुत समृद्ध नगर और बंदरगाह था। यहाँ से मिस्र, रोम, ग्रीस, फारस और अरब के साथ व्यापार होता था। पूर्व में बंगाल की खाड़ी के तट पर ताम्रलिप्ति बहुत बड़ा बंदरगाह था। यहाँ से भारतीय व्यापारी बरमा, जावा, सुमात्रा, चीन आदि सुदूर पूर्व के देशों में व्यापार के लिये आया-जाया करते थे। फाइयान ने यहीं से अपने देश के लिये प्रस्थान किया था। इस युग में हिन्दमहासागर के विविध द्वीपों और सुदूर पूर्व के अनेक प्रदेशों में बृहत्तर भारत का विकास हो चुका था। भारतीयों का अपने इन उपनिवेशों के साथ घनिष्ट संबंध था। इन उपनिवेशों में आने-जाने के लिये ताम्रलिप्ति (वर्तमान तामलूक) का बंदरगाह बहुत काम में आता था। इसके अतिरिक्त भारत के पूर्वी समुद्र तट पर कदूर, घंटशाली, कावेरी पट्टनम, थोंदई, कोरकई आदि अन्य भी अनेक बंदरगाह थे।

ईजिप्ट और रोमन साम्राज्य के साथ जो व्यापार गुप्तवंश के शासन से पहले प्रारंभ हो चुका था, वह अब तक भी जारी था। रोम की शक्ति के क्षीण हो जाने के बाद पूर्व में कौस्टैंटिनोपल (पुराना बाइजेंटियम) पूर्वी रोमन साम्राज्य का प्रधान केन्द्र हो गया था। कौस्टैंटिनोपल के सम्राटों के शासनकाल में भी भारत के साथ पश्चिमी दुनिया का व्यापार

संबंध क़ायम रहा, और यवन जहाज भड़ौंच तथा पश्चिमी तट के अन्य बंदरगाहों पर आते रहे। रोम की शक्ति के क्षीण होने के बाद भारत के पश्चिमी विदेशी व्यापार में अरब लोगों ने अधिक दिलचस्पी लेनी शुरू की और भारत का माल अरब व्यापारियों द्वारा ही पश्चिमी दुनिया में जाने लगा। भारत से बाहर जाने वाले माल में मोती, मणि, सुगंधि, सूती वस्त्र मसाले, नील, औषधि, हाथी दांत आदि प्रमुख थे। इनके बदले में चाँदी, तांबा, टिन, रेशम, काफ़ूर, घोड़े और खजूर आदि भारत में आते थे।

गुप्तकाल के आर्थिक जीवन पर प्रकाश डालते हुए यह भी लिखना आवश्यक है, कि दास प्रथा इस समय भी भारत में विद्यमान थी। याज्ञवल्क्य और नारद स्मृतियों में दासों का उल्लेख है, और उनके संबंध में अनेक प्रकार के नियम दिये गये हैं। दास कई प्रकार के होते थे, युद्ध में जीते हुए, जिन्होंने अपने को स्वयं बेच दिया हो, दासों की संतान, खरीदे हुए और सज़ा के रूप में जिसे दास बनने का दंड मिला हो। दास लोग पृथक् कमाई करके रुपया बचा सकते थे, और उससे स्वयं अपने को खरीद कर स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते थे। नारद स्मृति के अनुसार जब कोई दास स्वतंत्रता प्राप्त करता था, तो वह अपने कंधे पर घड़ा लेकर खड़ा होता था। उसका स्वामी इस घड़े को दास के कंधे से लेकर फोड़ देता था और फिर जल उसके सिर पर छिड़कता था। इस जल में फूल और चने पड़े रहते थे। इस प्रकार स्वतंत्र हुए दास का अभिषेचन करके उसका भूतपूर्व स्वामी तीन बार घोषणा करता था, कि अब वह स्वतंत्र व्यक्ति है।

गुप्तकालीन भारत की आर्थिक समृद्धि के सब से उत्तम

प्रमाण उस युग की मूर्तियाँ, लौहस्तंभ और इसी प्रकार के अन्य अवशेष हैं। इन पर हम एक पृथक् अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

बाईसवाँ अध्याय

गुप्तकाल की कृतियाँ और अवशेष

(१) मूर्तियाँ

शिलालेखों और सिक्कों के अतिरिक्त गुप्तकाल की बहुत सी मूर्तियाँ, मंदिर, स्तंभ व अन्य अवशेष इस समय उपलब्ध होते हैं। जहाँ इनसे गुप्त साम्राज्य के वैभव का परिचय मिलता है, वहाँ उस युग की कला और शिल्प का भी अच्छा ज्ञान होता है। इन पर हम संक्षेप से प्रकाश डालेंगे। इस काल की मूर्तियाँ बौद्ध, शैव, वैष्णव व जैन, सब संप्रदायों की मिलती हैं। बौद्धधर्म की मुख्य मूर्तियाँ निम्नलिखित हैं—

१. सारनाथ की बुद्ध मूर्ति—इस मूर्ति में पद्मासन बाँध कर बैठे हुए भगवान् बुद्ध सारनाथ में धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हुए दिखाये गये हैं। बुद्ध के मुखमंडल पर अपूर्व शांति, प्रभा, कोमलता और गंभीरता है। अंग-प्रत्यंग में सौकुमार्य और सौंदर्य होते हुए भी ऐहलौकिकता का सर्वथा अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है, कि बुद्ध लोकोत्तर भावना को लिये हुए अपने ज्ञान (बोध) को संसार को प्रदान करने के लिए ही ऐहलौकिक व्यवहार में तत्पर हैं। मूर्ति में दोनों कंधे महीन वस्त्र से ढके हुए प्रदर्शित किये गये हैं, ये वस्त्र पैरों तक हैं, और आसन के समीप पैरों से इनका भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सिर के चारों ओर सुंदर, अलंकृत प्रभामंडल है, जिसके दोनों ओर दो देवों की मूर्तियाँ बनी हैं। देवने हाथ में पत्र-पुष्प लिये हुए हैं। आसन के मध्यभाग में एक चक्र

बनाया गया है, जिसके दोनों ओर दो मृग हैं। गुप्तकालीन मूर्तिकला का यह मूर्ति अत्यंत सुंदर उदाहरण है।

ऐसी ही अनेक मूर्तियाँ कलकत्ता म्यूजियम में सुरक्षित हैं। इनमें सारनाथ की मूर्ति से बहुत समता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि विविध भक्तों ने बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रदर्शित करने के लिये इन विविध मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराई थी।

२. मथुरा की खड़ी हुई बुद्ध मूर्ति—इसके मुखमंडल पर भी शांति, करुणा और आध्यात्मिक भावना का अपूर्व सम्मिश्रण है। बुद्ध निष्कंप प्रदीप के समान खड़े हैं, और उनके मुख पर एक दैवीय स्मित भी है। इस मूर्ति में बुद्ध ने जो वस्त्र पहने हैं, वह बहुत ही महीन है। उसमें से उनके शरीर का प्रत्येक अंग स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। सिर के चारों ओर अलंकृत प्रभामंडल है। यह मूर्ति इस समय मथुरा के म्यूज़ियम में सुरक्षित है। इसी के नमूने की खड़ी हुई अन्य बहुत सी बुद्ध मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं, जो विविध संग्रहालयों में रखी गई हैं। ये सब मथुरा की मूर्तिकला के अनुपम उदाहरण हैं।

३. ताम्र की बुद्ध मूर्ति—यह बिहार प्रांत के भागलपुर जिले में सुलतानगंज में प्राप्त हुई थी, और अब इंगलैंड में बरमिंघम के म्यूज़ियम में रखी है। तांबे की बनी हुई खड़े प्रकार की यह मूर्ति साढ़े सात फीट ऊंची है। इसमें बुद्ध का स्वरूप समुद्र की तरह गंभीर, महान, पूर्ण और लोकोत्तर है। बुद्ध का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में कुछ आगे बढ़ा हुआ है। मुखमंडल पर अपूर्व शांति, करुणा और दिव्य तेज है। गुप्तकाल की मूर्तियों में ताम्र की यह प्रतिमा वस्तुतः बड़ी अद्भुत और अनुपम है। धातु को ढाल कर इतनी सुंदर मूर्ति जो शिल्पी बना सकते थे, उनकी दक्षता, कला और प्रतिभा की सचमुच प्रशंसा करनी पड़ती है।

गुप्तकाल में मूर्तिनिर्माण कला के तीन बड़े केन्द्र थे, मथुरा, सारनाथ और पाटलीपुत्र। तीनों केन्द्रों की कुछ अपनी-अपनी विशेषतायें थीं। ऊपर लिखी तीनों मूर्तियाँ इन केन्द्रों की कला की प्रतिनिधि समझी जा सकती हैं। इन्हीं के नमूने की बहुत सी मूर्तियाँ भारत के विविध स्थानों पर पाई जाती हैं। खेद यह है, कि इनमें से अधिकांश भग्न दशा में हैं। किसी का दाँयाँ हाथ टूटा है, तो किसी का बाँयाँ। किसी का सिर टूट गया है, और किसी के कान, नाक आदि तोड़ दिये गये हैं। समय की गति और कुछ मूर्तिपूजा विरोधी संप्रदायों के कोप का ही यह परिणाम हुआ है। फिर भी, गुप्तकाल की उपलब्ध मूर्तियाँ उस युग के शिल्पकारों की योग्यता और प्रतिभा को भलीभाँति प्रदर्शित करती हैं।

भगवान बुद्ध की संपूर्ण मूर्तियों के अतिरिक्त इस काल के बहुत से ऐसे प्रस्तर फलक भी मिलते हैं, जिन पर बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओं को उत्कीर्ण करके प्रदर्शित किया गया है। ऐसे बहुत से प्रस्तरखंड सारनाथ में उपलब्ध हुए हैं, जिन पर लुम्बिनीवन में महात्मा बुद्ध का जन्म, बोधिवृक्ष के नीचे बुद्ध की ज्ञानप्राप्ति, सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्तन और कुशीनगर में बुद्ध का महापरिनिर्वाण आदि प्रस्तरखंड को तराश कर सुंदर रीति से चित्रित किये गये हैं। इसी तरह बुद्ध की माता का स्वप्न, कुमार सिद्धार्थ का अभिनिष्क्रमण, बुद्ध का विश्वरूप प्रदर्शन आदि बहुत सी अन्य घटनायें भी मूर्तियों द्वारा प्रदर्शित की गई हैं। पत्थर तराश कर उसे जीवित-जागृत रूप दे देने की कला में गुप्तकाल के शिल्पी बहुत ही प्रवीण थे।

बुद्ध की मूर्तियों के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्त्वों और बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी इस युग में बनाई गईं। बौद्ध धर्म में इस समय तक अनेक देवताओं व बोधिसत्त्वों की पूजा

का प्रारंभ हो चुका था। उनके संबंध में बहुत सी गाथायें बन गई थीं, और प्राचीन पौराणिक गाथाओं के समान लोग उन पर विश्वास करने लगे थे। यही कारण है, कि इन गाथाओं की अनेक घटनाओं को भी मूर्तियों द्वारा अंकित किया गया और बोधिसत्त्वों की बहुत सी छोटी-बड़ी मूर्तियाँ बनाई गई। अवलोकितेश्वर, मैत्रेय, मञ्जुश्री आदि की अनेक और विविध प्रकार की मूर्तियाँ इस समय में बनीं। उनमें से अनेक इस समय में उपलब्ध भी हैं।

सनातन पौराणिक धर्म के साथ संबंध रखने वाली जो बहुत सी मूर्तियाँ गुप्तकाल में की बनी हुई अब उपलब्ध होती हैं, उनमें से विशेष उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं—

१. मध्यभारत में भेलसा के पास उदयगिरि में चंद्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा बनवाये हुए मंदिरों के बाहर पृथिवी का उद्धार करते हुए वाराह अवतार की एक विशाल मूर्ति मिली है। पौराणिक कथा के अनुसार प्रलय के जल में मग्न होती हुई पृथ्वी का उद्धार करने के लिये भगवान विष्णु ने वराह का रूप धारण किया था, और पृथ्वी को ऐसे उठा लिया था, मानो वह हलका सा फूल हो। इस मूर्ति में भगवान के इसी वराह रूप को अंकित किया गया है। इस मूर्ति में वाराह के बायें पैर के नीचे शेष की आकृति बनी हुई है, और पृथ्वी को वराह अपने दंष्ट्राओं पर उठाये हुए हैं। मूर्ति का शरीर मनुष्य का है, पर मुख वराह का है।

२—गोवर्धनधारी कृष्ण—यह मूर्ति काशी के समीप एक टीले में मिली थी, और अब सारनाथ के संग्रहालय में रखी है। कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को गेंद की तरह उठाया हुआ है।

३—शेषशायी विष्णु—झाँसी जिले में देवगढ़ नामक स्थान पर गुप्तकाल के एक विष्णु मंदिर में विष्णु भगवान की एक

मूर्ति है, जो शेषनाग पर शयन करती हुई दिखाई गई है। इसमें एक ओर शेषशायी विष्णु हैं, जिनके नाभिकमल पर ब्रह्मा स्थित हैं। चरणों के पास लक्ष्मी बैठी हैं। ऊपर आकाश में कार्तिकेय, इन्द्र, शिव, पार्वती आदि दर्शन कर रहे हैं। विष्णु के सिर पर मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में हार तथा हाथों में कंकण हैं। साथ ही, अन्य अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी हैं, जिनका निर्माण पौराणिक गाथाओं के अनुसार किया गया है।

४—कौशाम्बी की सूर्य मूर्ति—प्राचीन भारत में सूर्य की भी मूर्ति बनाई जाती थी और उसके अनेक मंदिर विविध स्थानों पर विद्यमान थे। इन्द्रपुर में सूर्य का एक मंदिर तंतुवायों की श्रेणि ने गुप्तकाल में ही बनवाया था। कौशाम्बी में प्राप्त सूर्य की यह मूर्ति भी बड़ी भव्य और सुन्दर है।

५—कार्तिकेय—यह मूर्ति काशी के कलाभवन में सुरक्षित है। यह मोर पर बैठी हुई बनाई गई है, और कार्तिकेय के दोनों पैर मोर के गले में पड़े हुए हैं। इसके भी सिर पर मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में हार तथा अन्य बहुत से आभूषण हैं। कार्तिकेय देवताओं की सेना का सेनापति था। अतः उनके हाव-भाव में गांभीर्य और पौरुष होना ही चाहिये। ये सब गुण इस मूर्ति में सुन्दरता के साथ प्रगट किये गये हैं। मोर की पूँछ पीछे की ओर उठी हुई है। कुमारगुप्त प्रथम के अनेक सिक्कों पर कार्तिकेय का जो चित्र है, यह मूर्ति उससे बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

६—भरतपुर राज्य में रूपबास नामक स्थान में चार विशालकाय मूर्तियाँ विद्यमान हैं, जिनमें से एक बलदेव की है। इसकी ऊँचाई सत्ताईस फीट से भी अधिक है। दूसरी मूर्ति लक्ष्मीनारायण की है। इसकी ऊँचाई नौ फीट से कुछ ऊपर है।

७—गुप्तकाल की अनेक मूर्तियाँ शिव की भी मिली हैं। सारनाथ के संग्रहालय में लोकेश्वर शिव का एक सिर है, जिसका जटाजूट चीन की भारतीय प्रभाव से प्रभावित मूर्तियों के सदृश है। इनके अतिरिक्त गुप्तकाल के अनेक शिवलिंग व एकमुख लिंग भी इस समय प्राप्त हुए हैं। एकमुख लिंग वे हैं जिनमें लिंग के एक तरफ मनुष्य के सिर की आकृति बनी होती है। ऐसा एक एकमुख लिंगप्रतिमा नागोद राज्य में मिली है, जिसके सिर पर रत्नजटित मुकुट है, और जटाजूट के ऊपर अर्धचंद्र विद्यमान है। ललाट पर शिव का तृतीय नेत्र भी प्रदर्शित किया गया है।

८—बंगाल के राजशाही जिले से कृष्णलीला संबंधी भी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं, जो गुप्तकाल की मानी जाती हैं।

बौद्ध तथा पौराणिक मूर्तियों के अतिरिक्त गुप्तकाल की जैन मूर्तियाँ भी पाई गई हैं। मथुरा से वर्धमान महावीर की एक मूर्ति मिली है, जो कुमारगुप्त के समय की है। इसमें महावीर पद्मासन लगाये ध्यानमग्न बैठे हैं। इसी तरह की मूर्तियाँ गोरखपुर जिले तथा अन्य स्थानों से भी प्राप्त हुई हैं।

भारत में मूर्तिनिर्माण की कला बहुत प्राचीन है। शैशुनाग और मौर्यवंशों के शासन समय में इस कला ने विशेष रूप से उन्नति प्रारंभ की थी। यवन और शक लोगों के संपर्क से इस कला ने और अधिक उन्नति की। भारतीय अध्यात्म और पाश्चात्य भौतिकवाद ने मिल कर एक नई शैली को जन्म दिया जिसने इस देश की मूर्तियों में एक अपूर्व सौंदर्य ला दिया। गुप्तकाल की मूर्तियों में विदेशी प्रभाव का सर्वथा अभाव है। वे विशुद्ध भारतीय हैं। उनकी आकृति, मुद्रा और भावभंगी पूर्णतया भारतीय होते हुए भी उनमें अनुपम सौंदर्य है। भौतिक सौंदर्य की अपेक्षा भी उनमें आंतरिक शांति, ओज और आध्या-

त्मिक आनंद की जो झलक है, वह वर्णनातीत है। मूर्तिनिर्माण-कला की दृष्टि से गुप्तकाल वस्तुतः अद्वितीय है। इस युग की बनी हुई मूर्तियों का भारतीय इतिहास में जो स्थान है, वह अन्य युग की मूर्तियों को प्राप्त नहीं है।

प्रस्तर मूर्तियों के अतिरिक्त गुप्तकाल में मट्टी व मसाले की मूर्तियों का भी रिवाज था। इस युग की अनेक नकाशीदार ईंटें पहले साँचे से ढाली जाती थीं, फिर उन पर औज़ार से तरह-तरह की चित्रकारी की जाती थी। फिर सुखा कर इन्हें पका लिया जाता था। गुप्तकाल की ये नकाशीदार ईंटें बहुत ही सुन्दर हैं और उन पर अनेक प्रकार के चित्र अंकित हैं। ईंटों की तरह ही नकाशीदार खम्भे तथा अन्य इमारती सामान भी तैयार किये जाते थे।

गुप्तकाल की मट्टी की जो मूर्तियाँ मिली हैं, वे भी बौद्ध और पौराणिक देवी-देवताओं की हैं। इनका सौंदर्य पत्थर की मूर्तियों से किसी भी प्रकार कम नहीं है। पकी हुई ईंटों का चूरा तथा चूना भी मूर्तियों को बनाने के लिये प्रयुक्त होता था। इस प्रकार की बहुत सी मूर्तियाँ सारनाथ, कौशाम्बी, मथुरा, राजघाट, अहिच्छत्र, श्रावस्ती आदि प्राचीन स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। मूर्तियों के अतिरिक्त इन स्थानों से मट्टी पका कर बनाये हुये खिलौने व मट्टी के बैल, हाथी, घोड़े व अन्य छोटे-छोटे प्राणी भी बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। गुप्तकाल में यह कला बहुत उन्नत दशा में थी। यही कारण है, कि उस काल के खंडहरों में इस प्रकार की प्रतिमायें बहुतायत से मिलती हैं। मिट्टी की बनी इन छोटी-बड़ी मूर्तियों द्वारा सर्वसाधारण जनसमाज कला और सौन्दर्य का रसास्वादन कर सकता था। देवी-देवताओं के अतिरिक्त सब प्रकार के स्त्री-पुरुषों की छोटी-छोटी मूर्तियाँ इस काल में बहुत बनती थीं। शक, यवन,

हूण आदि जो विदेशी इस काल के भारतीय समाज में प्रचुर संख्या में दिखाई देते थे, कलाकारों का ध्यान उनकी तरफ आकृष्ट होता था। यही कारण है, कि इस युग की मिट्टी की छोटी-छोटी मूर्तियों में इन विदेशियों की संख्या बहुत है।

(२) प्रस्तर-स्तंभ

अशोक के समान गुप्त सम्राटों ने भी बहुत से प्रस्तर-स्तंभ बनवाये थे। ये किसी महत्वपूर्ण विजय की स्मृति में या किसी सम्राट् की कीर्ति को स्थिर करने के लिये या विविध प्रदेशों की सीमा निश्चित करने के लिये और धार्मिक प्रयोजन से बनाये गये थे। गुप्तकाल के अनेक स्तंभ इस समय उपलब्ध हुवे हैं। प्रयाग में स्थित अशोक के पुराने स्तंभ पर सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशस्ति उत्कीर्ण की गई है। गोरखपुर जिले में कहौम नामक स्थान पर स्कंदगुप्त का एक प्रस्तरस्तंभ है, जिस पर इस प्रतापी सम्राट् की कीर्ति अमर रूप से उत्कीर्ण की गई है।

गुप्तकाल में भगवान विष्णु की प्रतिष्ठा में ध्वजस्तंभ बनाने का बहुत रिवाज था। सम्राट् बुधगुप्त के समय का, सामंत राजा मातृविष्णु व धन्य विष्णु द्वारा बनवाया हुआ ऐसा एक स्तंभ एरण में विद्यमान है। कुमारगुप्त के समय का ऐसा ही एक स्तंभ बिलसड़ में स्थित है, जो स्वामी महासेन के मंदिर के स्मारक रूप में बनवाया गया था। गाजीपुर जिले में भितरी गाँव में भगवान विष्णु की एक प्रतिमा स्थापित की गई थी। उसके उपलक्ष में स्थापित किया हुआ एक स्तंभ उस गाँव में अब तक विद्यमान है। इसी तरह का एक कीर्तिस्तंभ पटना जिले के बिहार नगर में है, जो सेनापति गोपराज की यादगार में खड़ा किया गया था।

मौर्यकाल के स्तंभ गोल होते थे और उन पर चिकना चमकदार वज्रलेप होता था। पर गुप्तकाल के स्तंभ गोल व चिकने नहीं हैं। गुप्तों के स्तंभ अनेक कोणों से युक्त हैं। एक ही स्तंभ के विविध भागों में विविध कोण हैं। कोई स्तंभ नीचे आधार में यदि चार कोणों का है, तो बीच में आठ कोणों का है। कई स्तंभ ऐसे भी हैं, जो नीचे चार कोणों के और बीच में गोल हैं। किसी-किसी स्तंभ में ऊपर सिंह व गरुड़ की मूर्ति भी हैं। प्रस्तर के अतिरिक्त लोहे का २४ फीट ऊँचा लोहे का जो विशाल स्तंभ दिल्ली के समीप महरौली में खड़ा है, वह भी गुप्तकाल का ही है। यह लौहस्तंभ संसार के आश्चर्यों में गिना जाना चाहिये। इसका निर्माण भी विष्णु-ध्वज के रूप में ही हुआ था।

(२) भवन और मंदिर

गुप्तकाल के कोई राजप्रासाद या भवन अब तक उपलब्ध नहीं हुए। पाटलीपुत्र, उज्जैनी आदि किसी भी प्राचीन नगरी में गुप्त सम्राटों व अन्य सामंत राजाओं या धनी पुरुषों के महलों के कोई खंडहर अभी तक नहीं पाये गये। पर अमरावती, नागार्जुनी, कोंड और अजंता की गुफाओं में विद्यमान विविध चित्रों व प्रतिमाओं में प्राचीन राजप्रासादों को भी चित्रित किया गया है। इस काल के साहित्य में भी सुंदर प्रासादों के वर्णन हैं, जिनसे सूचित होता है, कि गुप्तकाल के भवन बहुत विशाल और मनोरम होते थे।

सौभाग्यवश, गुप्तकाल के अनेक स्तूप, विहार, मंदिर और गुफायें अब तक भी विद्यमान हैं। यद्यपि ये भग्नदशा में हैं, पर इनके अवलोकन से उस युग की वास्तुकला का भलीभाँति परिचय मिल जाता है। गुप्तकाल का प्रधान धर्म पौराणिक

था। यही कारण है, कि इस युग में बहुत से वैष्णव, शैव और सूर्य देवता के मंदिर बनाये गये। अब तक जो पौराणिक मंदिर गुप्तकाल के मिले हैं, उनमें सर्वप्रधान निम्नलिखित हैं—

१. मध्य भारत की नागोद रियासत में भूमरा नामक स्थान पर प्राचीन समय का एक शिवमंदिर है। अब यह बहुत भग्न-दशा में है। इसका केवल चबूतरा और गर्भगृह ही अब सुरक्षित है। चबूतरा प्रदक्षिणापथ के काम में आता था। मंदिर के गर्भ-गृह में एकमुख शिवलिंग की मूर्ति स्थापित है, जो मूर्तिकला का एक अत्यंत सुंदर उदाहरण है। मंदिर के द्वार स्तंभ के दाईं ओर गंगा और बाईं ओर यमुना की मूर्तियाँ हैं। अन्य अनेक सुंदर मूर्तियाँ भी यहाँ प्रस्तर पर उत्कीर्ण हैं।

२. मध्यप्रांत के जबलपुर जिले में तिगवा नामक स्थान पर गुप्तकाल का एक मंदिर पाया गया है, जो एक ऊँचे टीले पर स्थित है। यहाँ दो मंदिर हैं, एक की छत चपटी है और दूसरे की छत पर शिखर है। चपटी छत वाला मंदिर अधिक पुराना है और पाँचवीं सदी के शुरू में बना था। इसकी चौखट आदि की कारीगरी बहुत सुंदर है।

३. अजयगढ़ राज्य में भूमरा के समीप नचना कुठारा नामक स्थान पर एक पुराना पार्वती का मंदिर है। इसकी बनावट भूमरा के मंदिर के ही समान है।

४. झाँसी जिले के देवगढ़ नामक स्थान पर गुप्तकाल का एक दशावतार का मंदिर है। गुप्त युग के मंदिरों में यह सब से प्रसिद्ध और उत्कृष्ट है। एक ऊँचे चबूतरे पर बीच में मंदिर है। इसके गर्भगृह में चार द्वार हैं, जिनके प्रस्तर-स्तंभों पर बहुत सुंदर मूर्तियाँ अंकित की गई हैं। अनंत-शायी विष्णु की प्रसिद्ध मूर्ति यहीं पर विद्यमान है, और इस मंदिर के ऊपर एक शिखर भी है। भारत के आधुनिक

मंदिरों के ऊपर शिखर अवश्य होता है। पर गुप्तकाल में शुरू-शुरू में जो मंदिर बने थे, उनकी छत चपटी होती थी, और ऊपर शिखर नहीं रहता था। गुप्तकाल के समाप्त होने से पूर्व ही मंदिरों पर शिखरों का निर्माण प्रारंभ हो गया था। देवगढ़ के इस दशावतार के मंदिर का शिखर संभवतः भारत में सब से पुराना है, और इसी कारण इस मंदिर का बहुत महत्त्व है।

५. कानपुर के समीप भिटरगाँव में गुप्तकाल का एक विशाल मंदिर अब तक विद्यमान है, जो ईंटों का बना है। ऊपर जिन मंदिरों का उल्लेख किया गया है, वे प्रस्तर-शिलाओं द्वारा निर्मित हैं। पर भिटरगाँव का यह मंदिर ईंटों का बना है, और उसकी दीवार का बाहरी अंश मट्टी के पकाये हुए फलकों से बनाया गया है। इन फलकों पर तरह-तरह की चित्रकारी व मूर्तियाँ अंकित की हुई हैं।

६. बंबई प्रांत में बीजापुर जिले में अयहोल नामक स्थान पर एक पुराना मंदिर है, जो गुप्तकाल का है। इसके भी प्रमुख द्वार पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ हैं, और इसकी खिड़कियाँ नकाशीदार पत्थर की बनी हैं।

७. आसाम में ब्रह्मपुत्रा नदी के तट पर दहपरबतिया नामक स्थान पर एक मंदिर भग्न दशा में मिला है, यह भी गुप्तकाल का है।

पौराणिक धर्म के साथ संबंध रखने वाले इन मंदिरों के अतिरिक्त गुप्तकाल के बौद्ध धर्म के अनेक स्तूप व विहार आजकल विद्यमान हैं। सारनाथ का धमेख स्तूप गुप्तकाल में बना था। इस के बाहरी भाग में जो प्रस्तर हैं, वे अनेक प्रकार के चित्रों व प्रतिमाओं से अंकित हैं। चित्रों के बेल व बूटे बड़े सुंदर बनाये गए हैं। सारनाथ में ही एक प्राचीन विहार के खंडहर मिलते हैं, जो गुप्तकाल का माना जाता है। इसी तरह विहार

(पटना ज़िला) और नालंदा में पुराने विहारों के जो बहुत से खंडहर अब दिखाई देते हैं, वे गुप्तकाल के ही हैं।

गुप्तकाल के गुहाभवनों में भिलसा के समीप की उदयगिरि की गुहा सब से महत्त्व की है। यहीं पर विष्णु के वाराह अवतार की विशाल प्रतिमा खड़ी है, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। उदयगिरि की इस गुहा के द्वारस्तंभों तथा अन्य दीवारों पर भी बहुत सी प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं। अजंता की विश्वविख्यात गुहाओं में से भी कम से कम तीन गुप्तकाल में बनी थीं। अजंता में छोटी-बड़ी कुल उनतीस गुहायें हैं। इनके दो भेद हैं, स्तूपगुहा और विहारगुहा। स्तूपगुहाओं में केवल उपासना की जाती थी। ये लंबाई में अधिक हैं, और इनके आख़िरी सिरे पर एक स्तूप है, जिसके चारों ओर प्रद-क्षिणा करने की जगह होती है। विहारगुहाओं में भिक्षुओं के रहने और पढ़ने-लिखने के लिये भी जगह बनाई गई है। ये सब गुहायें हैदराबाद (निज़ाम) राज्य में फरदापुर गाँव के समीप हैं। इन सबको पहाड़ काट कर बनाया गया है। बाहर से देखने पर पहाड़ ही दृष्टिगोचर होता है, पर अंदर विशाल भवन बने हैं, जिनकी रचना पत्थर काट कर की गई है। गुप्तकाल में बनी १६ नं० की गुहा ६५ फ़ीट लंबी और इतनी ही चौड़ी है। इसमें रहने के ६ कमरे हैं, और कुल मिला कर १६ स्तंभ हैं। १७ नं० की गुहा भी आकार में इतनी ही बड़ी है।

ऊपर जिन स्तंभों, मंदिरों, स्तूपों व गुहाभवनों का उल्लेख किया गया है उनके अतिरिक्त गुप्तकाल के नगरों के भी कुछ अवशेष इस समय उपलब्ध हुए हैं। भारत के पुरातत्त्व विभाग ने प्राचीन नगरों के खंडहरों की अभी पूरी तरह खुदाई नहीं की है। बहुत से बड़े-बड़े खेड़े अभी उन स्थानों पर बिना खुदे

हो पड़े हैं, जहाँ किसी जमाने में फलते-फूलते समृद्ध नगर विद्यमान थे। ऐसे कुछ स्थानों पर खुदाई का जो कार्य पिछले सालों में हुआ है, उससे गुप्तकाल के नगरों के भी कुछ अवशेष प्राप्त हुए हैं। पर अभी यह कार्य नहीं के बराबर हुआ है। आशा है, कि पुरातत्त्व विभाग के प्रयत्न से अभी अन्य बहुत से अवशेष प्राप्त हो सकेंगे।

गुप्तकाल में पाटलीपुत्र, वैशाली, पुंड्रवर्धन, कौशांबी, अहिच्छत्र, वाराणसी (सारनाथ और राजघाट), उज्जैनी, मथुरा आदि बहुत से समृद्ध नगर थे। इनके गगनचुंबी राजप्रासादों, विहारों और भवनों की जगह अब ऊँचे-ऊँचे खेड़े खड़े हैं। जहाँ कहीं भी पुरातत्त्व विभाग की ओर से खुदाई हुई है, वहाँ मट्टी के बरतनों, प्रतिमाओं, ईंटों (सादी और नक्काशीदार), मूर्तियों और पुरानी दीवारों के खंडहर प्रचुर मात्रा में मिले हैं। कहीं-कहीं भवनों और मंदिरों की नींव की दीवारें भी अक्षुण्ण रूप में प्राप्त हुई हैं। ये सब सूचित करती हैं, कि गुप्तों के समय में भारत के निवासी बड़े समृद्ध और वैभवपूर्ण थे, और वे एक सभ्य और सुसंस्कृत जीवन व्यतीत करते थे।

(४) चित्रकला

गुप्तकाल की चित्रकला के सब से उत्तम अवशेष अजंता की गुहाओं में विद्यमान हैं। ऊपर अजंता की नं० १६ और नं० १७ की जिन गुहाओं का उल्लेख हुआ है, उनकी दीवारों पर बड़े सुंदर चित्र बने हुए हैं, जो कला की दृष्टि से अनुपम हैं। नं० १६ की गुहा में चित्रित एक चित्र में रात्रि के समय कुमार सिद्धार्थ गृहत्याग कर रहे हैं। यशोधरा और उनके साथ शिशु राहुल सोया हुआ है। समीप में परिचारिकाएँ भी

गहरी नींद में सो रही हैं। सिद्धार्थ इन सब पर अंतिम दृष्टि डाल रहे हैं। उस दृष्टि में मोह-ममता नहीं है, इन सब के प्रति निर्मोहबुद्धि उस दृष्टि की विशेषता है, जिसे चित्रित करने में चित्रकार को अपूर्व सफलता हुई है। १६ वीं गुहा के एक अन्य चित्र में एक मरणासन्न कुमारी का चित्र अंकित है, जिसकी रक्षा के सब प्रयत्न व्यर्थ हो चुके हैं। मरणासन्न राजकुमारी की दशा और समीप के लोगों की विकलता को इस चित्र में बड़ी सुंदरता के साथ प्रगट किया गया है। १७ वीं गुहा में एक चित्र में माता-पुत्र का एक प्रसिद्ध चित्र है। संभवतः, यह चित्र यशोधरा का है, जो अपने पुत्र राहुल को बुद्ध के अर्पण कर रही है। बुद्ध हो जाने के बाद सिद्धार्थ एक बार फिर कपिलवस्तु गये थे। जब वे भिक्षा माँगते हुए यशोधरा के घर गये, तो उसने राहुल को उनकी भेंट किया। उसी दृश्य को इस चित्र में प्रदर्शित किया गया है। माता यशोधरा के मुख पर जो आग्रह और विवशता का भाव है, वह सचमुच अनुपम है। बालक राहुल के मुख पर भी आत्मसमर्पण का भाव बड़े सुंदर रूप में अंकित है।

इसी गुहा में एक अन्य चित्र एक राजकीय जलूस का है, जिसमें बहुत से आदमी अनुपम रूप से सज-धज कर जा रहे हैं। किसी के हाथ ऊँचा छत्र है, किसी के हाथ में बजाने की शृंगी। स्त्रियों के शरीर परसुंदर आभूषण हैं, और उनके वस्त्र इतने महीन हैं, कि सारा शरीर दिखाई पड़ता है। इस गुहा के अनेक चित्र जातक ग्रंथों के कथानकों को दृष्टि में रख कर बनाये गये हैं। वेस्संतर जातक के अनुसार बनाये एक चित्र में एक वानप्रस्थ राजकुमार से एक याचक ब्राह्मण उसके एकमात्र अल्पवयस्क पुत्र को माँग लेता है। वचनबद्ध राजकुमार अपने पुत्र को सहर्ष दे देता है। चित्र का ब्राह्मण बहुत वीभत्काय है, उसके दाँत बाहर

निकले हुए हैं। तपस्वी राजकुमार बिना किसी क्षोभ व दुःख के अपने बालक को देने के लिये उद्यत हैं, और बालक का शरीर अतीव हृष्टपुष्ट और सुंदर है। एक अन्य चित्र में चार दिव्य गायक प्रदर्शित किये गये हैं, जिनकी गान में तल्लीनता देखते ही बनती है। अजन्ता की नं० १७ की गुहा में इसी तरह के बहुत से चित्र हैं, जिन्हें देखते हुए मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता। वे दर्शक को एक कल्पनामयी मधुर दुनिया में ले जाते हैं, जहाँ पहुँच कर मनुष्य अपने को पूर्णतया भूल जाता है।

अजन्ता के समान ही, ग्वालियर राज्य के अमझेरा जिले में बाघ नामक स्थान पर अनेक गुहामंदिर मिले हैं, जो विन्ध्याचल की पहाड़ियों को काट कर बनाये गये हैं। इन्हें गुप्तकाल के अंतिम भाग का माना जाता है। इनमें भी अजन्ता के समान ही, बड़ी सुंदर चित्रकारी की गई है। इन गुहाओं की संख्या नौ है। इनमें से चौथी गुहा रंगमहल कहाती है। इस समय इसके बहुत से चित्र नष्ट हो चुके हैं, विशेषतया छत के चित्र तो बिलकुल ही मिट गये हैं। इस रंगमहल तथा पांचवीं गुहा में कुल मिला कर छः चित्र इस समय सुरक्षित हैं, जो सौंदर्य और कला की दृष्टि से अजन्ता के चित्रों से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं।

गुप्तकाल के साहित्यिक ग्रंथों में भी चित्रलेखन का अनेक स्थानों पर उल्लेख आता है। कवि विशाखदत्त रचित मुद्राराक्षस में आचार्य चाणक्य द्वारा नियुक्त जिस गुप्तचर को अमात्य राक्षस की मुद्रा उपलब्ध हुई थी, वह यमराज का पट फैलाकर भिक्षा माँग रहा था। इस पट पर यमराज का चित्र अंकित था। अजंता के गुहाचित्रों में एक ऐसा भी है, जिसमें क्षपणकों का एक दल चित्रपट हाथ में लिये भीख मांगता फिर रहा है। ये क्षपणक नंगे हैं, और हाथ में चित्रपट लिये हुए हैं। गुप्तकाल

में उपासकों का एक ऐसा संप्रदाय था, जो इस तरह भिक्षा माँगा करता था। पर चित्र उस युग में केवल दीवारों पर ही नहीं बनाये जाते थे, अपितु कपड़े पर भी अनेक प्रकार के चित्र चित्रित किये जाते थे, यह इससे अवश्य सूचित होता है। कालिदास के काव्यों को पढ़ने से ज्ञात होता है, कि उस युग में प्रेमी और प्रेयसी एक दूसरे के चित्रों को बनाते थे, और विवाह संबंध स्थिर करने से पूर्व चित्रों को भी देखा जाता था। कालिदास ने चित्र की कल्पना, तथा उन्मीलन (रंग भरना) का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है।

गुप्तकाल में चित्रकला इतनी अधिक उन्नति कर चुकी थी, कि बृहत्तर भारत के विविध उपनिवेशों में भी अनेक गुहाचित्र व रेशमी कपड़े आदि पर बनाये हुए चित्र मिले हैं। ये सब गुप्तकाल के हैं, और उसी शैली के हैं, जो भारत में प्रचलित थी। भारत से ही चित्रकार इस काल में सुदूर देशों में गये थे और वहाँ उन्होंने अपनी कला के चमत्कार दिखाये थे।

(५) संगीत

समृद्धि और वैभव के इस काल में संगीत, अभिनय आदि का भी लोगों को बड़ा शौक था। गुप्त सम्राट् स्वयं संगीत के बड़े प्रेमी थे। इसीलिये समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राटों ने अपने कुछ सिक्के ऐसे भी जारी किये, जिनमें वे वीणा या अन्य वाद्य का रसास्वादन कर रहे हैं। बाघ के गुहामंदिरों के एक चित्र में नृत्य करने वाली दो मंडलियाँ दिखाई गई हैं। प्रथम मंडली में एक नर्तक नाच रहा है, और सात स्त्रियों ने उसे घेर रखा है। इनमें से एक तो मृदङ्ग, तीन मजल और बाकी तीन कोई अन्य बाजा बजा रही हैं। दूसरी मंडली में भी मध्य में एक नर्तक नाचता है, और छः स्त्रियाँ

विविध बाजा बजा रही हैं। सारनाथ में प्राप्त एक प्रस्तरखंड पर भी ऐसा ही दृश्य उत्कीर्ण है। इसमें नृत्य करने वाली भी स्त्री है और बाजा बजाने वाली भी अनेक स्त्रियाँ हैं। इन चित्रों को देखकर इसमें कोई संदेह नहीं रहता, कि गुप्तकाल में संगीत और नृत्य का बड़ा प्रचार था। सर्वसाधारण लोग इन कलाओं में बड़ा आनंद अनुभव करते थे।

इसी काल में कालिदास, विशाखदत्त आदि अनेक कवियों ने अपने नाटक लिखे। ये जहाँ काव्य की दृष्टि से अनुपम हैं, वहाँ अभिनयकला की दृष्टि से भी अत्यंत सुंदर और निर्दोष हैं। ये नाटक जहाँ स्वयं इस काल के संगीत और अभिनय के उत्कृष्ट प्रमाण हैं, वहाँ इनके अंदर भी नृत्य, गायन और अभिनय का जगह-जगह उल्लेख किया गया है।

तेईसवाँ अध्याय

भारतीय सभ्यता और धर्म का विदेशों में विस्तार

(१) बृहत्तर भारत

मौर्योत्तर युग में किस प्रकार विदेशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना का प्रारंभ हुआ था, इसका निदर्शन हम पहले कर चुके हैं। गुप्तकाल में यह प्रक्रिया पूर्ण बल से जारी रही, और परिणाम यह हुआ कि भारत से बाहर एक विशाल बृहत्तर भारत का निर्माण हो गया।

इस बृहत्तर भारत का सब से महत्त्वपूर्ण प्रदेश फूनान था। वहाँ के असली निवासी बिलकुल असभ्य और जंगली थे। वहाँ के स्त्री और पुरुष, सब नंगे रहते थे। जब पहले-पहल भारतीय लोग वहाँ गये, तब वहाँ सभ्यता का प्रारंभ हुआ। लोगों ने कपड़े पहनने सीखे, और बाकायदा बस्तियों में रहना शुरू किया। चौथी सदी के अंतिम भाग में कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण भारत से वहाँ गया। विद्या और बुद्धि के कारण फूनान के निवासियों ने, जिनमें पहले गये हुवे भारतीय भी शामिल थे, उसे अपना राजा चुना। अब वहाँ बाकायदा भारतीय सभ्यता का प्रसार हो गया और फूनान एक भारतीय उपनिवेश बन गया। ब्राह्मण कौण्डिन्य वहाँ अकेला नहीं गया था, उसके साथ में अन्य बहुत से भारतीय भी थे, जो अपना देश छोड़कर सदा के लिये वहाँ बसने के लिये चले गये थे। पाँचवीं सदी के अंतिम भाग में फूनान का राजा जयवर्मन था, जो कौण्डिन्य के वंशजों में से एक था। उसने ४८४ ईस्वी में

जयवर्मन को अपना राजदूत बनाकर चीनी सम्राट् के राज-दरबार में भेजा था। प्राचीन चीनी अनुश्रुति के अनुसार फूनान के निवासी शैवधर्म को मानने वाले थे, यद्यपि वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार भी धीरे-धीरे जारी था। जयवर्मन के शासनकाल में दो बौद्ध भिक्खु चीन में जाकर बस गये। वहाँ उन्होंने न केवल बौद्ध धर्म का प्रचार किया, अपितु अनेक बौद्ध धर्मग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद भी किया। जय-वर्मन की पटरानी का नाम कुलप्रभावती था। इसके पुत्र का नाम रुद्रवर्मन था। कुलप्रभावती और रुद्रवर्मन द्वारा उत्कीर्ण कराये हुये अनेक संस्कृत शिलालेख इस समय भी फूनान में उपलब्ध होते हैं। भारत से बाहर सुदूर पूर्व में पाये गये इन संस्कृत लेखों से यह भलीभाँति ज्ञात होता है, कि गुप्तकाल में फूनान में संस्कृत का कितना प्रचार था, और यह राज्य एक प्रकार से भारत का भी एक अंग था। इन शिलालेखों से यह भी ज्ञात होता है, कि उस समय फूनान में शैव और बौद्ध धर्मों के अतिरिक्त वैष्णव धर्म का भी प्रचार था। जयवर्मा के बाद उसका लड़का रुद्रवर्मन फूनान का राजा बना। अपने शासन-काल में, ५१७ और ५३९ ईस्वी के बीच में इसने कई बार अपने दूतमंडल चीन के सम्राट् के पास भेजे। यही कारण है, कि चीन के प्राचीन ऐतिहासिक इतिवृत्त में इस राजा का वृत्तांत काफी विस्तार से दिया गया है। इसके राज्य में सारा सियाम और मलाया तथा लाओ प्रायद्वीप के अनेक प्रदेश सम्मिलित थे। कौण्डिन्य द्वारा स्थापित यह राजवंश छठवीं सदी के मध्य तक फूनान में राज्य करता रहा। बाद में कंबुज देश के शक्तिशाली राजा ने आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया। कंबुज राज्य वर्तमान कंबोडिया के उत्तरी प्रदेश में विद्यमान था। यह भी भारतीयों का ही एक उपनिवेश था,

और वहाँ के राजा धीरे-धीरे अपनी शक्ति का विस्तार करने में लगे थे।

सुदूर पूर्व में भारतीयों का दूसरा शक्तिशाली उपनिवेश चंपा था। इसकी स्थिति कंबोडिया के पूर्व में थी। वर्तमान समय में यह अनाम कहलाता है। पर उन्नीसवीं सदी के शुरू तक इसका नाम चंपा ही था। अनामीज लोगों ने इस प्रदेश पर आक्रमण करके चंपा के राजा को जीत लिया था। तब से अनाम कहलाता है। चंपा का पहला भारतीय राजा श्रीमार था। इसका समय दूसरी सदी में है। उस समय में चीनी साम्राज्य टोन्किन तक विस्तृत था। टोन्किन चंपा के ठीक उत्तर में है। चंपा के भारतीय राजा अपने सामुद्रिक बेड़े के साथ टोन्किन पर आक्रमण करते रहते थे, और अपने राज्य की सीमा को उत्तर में निरंतर बढ़ा रहे थे। श्रीमार का उल्लेख चंपा में प्राप्त एक शिलालेख में किया गया है, यह शिलालेख संस्कृत में है। चंपा भारतीयों का ही उपनिवेश था, और वहाँ की भाषा संस्कृत थी।

चीनी ऐतिहासिक इतिवृत्त से ज्ञात होता है, कि फन वेन नाम के चंपा के एक भारतीय राजा ने ३४० ईस्वी में चीन के सम्राट् के पास एक राजदूत भेजा। उसने अपने दूत से यह कहलवाया कि चीन और चंपा के बीच की सीमा होन सोन की पर्वतमाला को निश्चित कर लिया जाय। इस नई सीमा के अनुसार न्हुत नाम का उपजाऊ प्रदेश चंपा के राज्य में सम्मिलित हो जाता था। चीनी सम्राट् इसके लिये तैयार नहीं हुआ। परिणाम यह हुआ कि ३४७ ईस्वी में फन वेन ने चीन पर आक्रमण कर दिया और न्हुत नाम को जीतकर चंपा का राज्य होन सोन पर्वतमाला तक विस्तृत हो गया। यद्यपि इस युद्ध में राजा फन वेन की मृत्यु हो गई, पर उसकी महत्त्वाकांक्षा और वीरता ने चंपा के राज्य को बहुत समृद्ध तथा शक्तिशाली

बना दिया। चीन और चंपा का संघर्ष राजा फन वेन के बाद भी जारी रहा। चंपा के राजा फन फो (३४६ से ३८० ई० तक) और फन हुवा (३८० से ४१३ ई० तक) के शासनकाल में चीन अपने खोये हुवे प्रदेश को पुनः जीत लेने के लिये निरंतर यत्न करता रहा। यह ध्यान रखना चाहिये, कि फन वेन आदि जो नाम हमने ऊपर दिये हैं, वे चीनी इतिवृत्त के अनुसार हैं। चंपा के ये राजा भारतीय थे, संस्कृत इनकी भाषा थी, और इनके नाम भी भारतीयों के ही सदृश होते थे। फन हुवा का असली नाम धर्ममहाराज श्री भद्रवर्मन था। इसके अनेक शिलालेख संस्कृत में लिखे हुए चंपा में उपलब्ध हुए हैं। श्री भद्रवर्मन वेदों का परम विद्वान महान् पंडित था। उसने शिव के एक विशाल मंदिर का निर्माण कराया और उसमें भद्रेश्वर स्वामी शिव की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। यह मंदिर चंपा के धर्म और संस्कृति का केंद्र बन गया, और इसकी कीर्ति बहुत देर तक कायम रही।

४२० ईस्वी के लगभग चंपा के इस प्राचीन राजवंश का अंत हो गया। नये राजवंश ने भी चीन के साथ युद्धों को जारी रखा। अंत में परेशान होकर चीन के सम्राट् ने एक बहुत बड़ी सेना चंपा पर आक्रमण करने के लिये भेजी। चीन की इस जबर्दस्त सेना का मुकाबला कर सकना चंपा जैसे छोटे राज्य के लिये संभव नहीं था। चंपापुरी पर चीनी सेनाओं का कब्जा हो गया और वहाँ के राजा को संधि करने के लिये विवश होना पड़ा। भेंट-उपहार लेकर चीन का सम्राट् संतुष्ट हो गया और चंपा और चीन की यह मैत्री बहुत समय तक क़ायम रही। चंपा के राजदूत चीनी दरबार में निरंतर रहने लगे।

मलाया प्रायद्वीप में भारतीयों के कई छोटे-छोटे राज्य इस

काल में स्थापित हुए। मलाया का कुछ प्रदेश फूनान के शक्तिशाली राज्य के अंतर्गत था, यह हम पहले लिख चुके हैं। मलाया के अन्य राज्यों में से एक को चीनी लेखकों ने लंग किया सु लिखा है। इसकी स्थापना दूसरी सदी में हुई थी। छठवीं सदी के प्रारंभ में इस राज्य का राजा भगदत्त था, और उसने आदित्य नाम का एक राजदूत चीनी सम्राट् के पास भेजा था।

हिन्द महासागर के विविध द्वीपों में भी भारतीयों ने अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। ये सब द्वीप आज कल स्थूल रूप में ईस्ट इन्डोनीसिया कहलाते हैं। जावा का प्राचीन नाम यवद्वीप था। दूसरी सदी तक वहाँ भारतीय उपनिवेश की स्थापना हो चुकी थी। १३२ ईस्वी में जावा के राजा देववर्मन ने अपना एक दूत चीन के सम्राट् के पास भेजा था। पश्चिमी जावा में संस्कृत के चार शिलालेख मिले हैं, जो छठवीं सदी के पहले के हैं। इनमें राजा पूर्णवर्मन तथा उसके पूर्वजों का वृत्तांत उल्लिखित है। इससे स्पष्ट है, कि गुप्त काल में जावा में भारतीय राजा राज्य करते थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान भारत से लौटता हुआ ४१४ ईस्वी के लगभग जावा पहुँचा था। जिस जहाज में वह जावा उतरा था, उसमें २०० भारतीय व्यापारी भी उसके साथ थे। फाइयान ने लिखा है, कि जावा में शैव और वैष्णव धर्म का बहुत प्रचार है।

जावा के पड़ोस में बाली नाम का द्वीप है। यहाँ भी गुप्त काल में भारतीयों का उपनिवेश स्थापित हो चुका था। ४१८ ईस्वी में यहाँ के भारतीय राजा ने अपना एक दूत चीनी सम्राट् के सेवा में भेजा था।

चौथी सदी में सुमात्रा में भारतीय उपनिवेश की स्थापना हो गई थी। इसका नाम श्रीविजय था। गुप्त काल की समाप्ति

पर इस राज्य ने बड़ी उन्नति की। संस्कृत के बहुत से शिला-लेख यहाँ उपलब्ध हुए हैं, जिनसे श्रीविजय के भारतीय राजाओं के वैभव का बड़ा उत्तम परिचय मिलता है। बोर्नियो में भी चौथी सदी में भारतीय उपनिवेश स्थापित हो गया था। ४०० ईस्वी के लगभग के चार शिलालेख यहाँ मिले हैं, जिनमें राजा अश्ववर्मन के पुत्र राजा मूलवर्मन के दान-पुण्य और यज्ञों का वर्णन है। संस्कृत के ये लेख जिन स्तंभों पर उत्कीर्ण हैं, वे राजा मूलवर्मन के यज्ञों में यूप के तौर पर प्रयुक्त होने के लिये बनाये गये थे। इन यज्ञों के अवसर पर वप्रकेश्वर तीर्थ में बीस हजार गौवें और बहुत सा धन दान दिया गया था।

सुदूर पूर्व के ये उपनिवेश शुद्ध रूप में भारतीय थे। यदि बीच में समुद्र का व्यवधान न होता, तो इन्हें भारत का ही एक हिस्सा समझा जा सकता था। इनमें प्राप्त शिलालेखों की भाषा शुद्ध संस्कृत है। इनके राजा भारतीय आदर्शों के अनु-सार शासन करते थे। उनके आचार-विचार, चरित्र और व्यवहार, सब भारतीय थे। भारत के धर्मों का इनमें पूर्णरूप से प्रचार था। शैव, वैष्णव और बौद्ध, तीनों धर्म इन उपनिवेशों में प्रचलित थे। इनमें प्राप्त शिलालेखों से ज्ञात होता है, कि भारत की पौराणिक गाथायें, देवी-देवता, सामाजिक आचार-विचार, सब इनमें उसी प्रकार प्रचलित थे, जैसे कि भारत में विष्णु, ब्रह्मा, शिव, गणेश, नंदी, स्कंद, महाकाल आदि की मूर्तियाँ बोर्नियो में प्राप्त हुई हैं। मलाया प्रायद्वीप में दुर्गा, काली, गणेश, नंदी और योनि की मूर्तियाँ मिली हैं। हमारे देश के चक्र, शंख, गदा, पद्म, त्रिशूल आदि सब चिह्न जावा में मिले हैं। इन उपनिवेशों में भारत का पौराणिक धर्म पूरे जोर के साथ फैला हुआ था। गंगा की पवित्रता की भावना तक इनमें प्रचलित थी।

पर पौराणिक आर्य धर्म के साथ-साथ बौद्ध आर्यमार्ग का भी इन उपनिवेशों में विस्तार जारी था। इस संबंध में गुण-वर्मन की कथा का उल्लेख करना उपयोगी है। वह काश्मीर का राजकुमार था, पर बौद्ध धर्म से उसे बहुत अनुराग था। जब उसकी आयु तीस वर्ष की थी, तो कश्मीर के राजा की मृत्यु हो गई, और उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार काश्मीर की राजगद्दी उसके हाथ में आई। पर गुणवर्मा ने राज्य का परित्याग कर बौद्ध धर्म का प्रचार करने में अपने जीवन को लगा देने का निश्चय किया, और काश्मीर के राज्य को छोड़ कर भिक्खु बन सीलोन चला गया। कुछ समय वहाँ रह कर उसने जावा को प्रस्थान किया, और वहाँ धर्म-प्रचार का कार्य प्रारंभ किया। जावा की राजमाता शीघ्र ही उसके प्रभाव में आ गई और उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। माता की प्रेरणा से कुछ समय बाद जावा के राजा ने भी बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। इसी समय कुछ विदेशी सेनाओं ने जावा पर आक्रमण किया। अहिंसा प्रधान बौद्ध-धर्म के अनु-यायी राजा के सम्मुख यह समस्या उपस्थित हुई, कि इस आक्र-मण का मुकाबला करने के लिये युद्ध करना चाहिये या नहीं। इस समस्या का समाधान गुणवर्मन ने किया। उसने कहा कि दस्युओं को नष्ट करना हिंसा नहीं है, और उनसे युद्ध करना सब का धर्म है। आक्रमण करने वाली सेनाओं की पराजय हो गई, और जावा की स्वतंत्रता अक्षुण्ण बनी रही।

अब गुणवर्मन की कीर्ति इन सब भारतीय उपनिवेशों में फैल गई थी। चीन में भी उसके ज्ञान और गुणों का यश पहुँच गया था। चीनी भिक्खुओं ने अपने राजा से प्रार्थना की कि गुणवर्मन को चीन निमंत्रित किया जावे। भिक्खुओं का आवेदन स्वीकार कर चीन के सम्राट् ने अपना राजदूत जावा

के राजा व गुणवर्मन के पास भेजा और यह प्रार्थना की कि आचार्य चीन पधारें। गुणवर्मन ने यह स्वीकार कर लिया, और ४२१ ईस्वी में नानकिंग के बंदरगाह पर पहुँच गया। वह जिस जहाज पर चीन गया था, वह नंदी नाम के भारतीय व्यापारी का था, जो भारत का माल विक्रय के लिये चीन ले जा रहा था। गुणवर्मन के सदृश और भी बहुत से योग्य बौद्ध आचार्य इस काल में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये इस प्रदेश में कार्य कर रहे थे।

जावा, सुमात्रा, चंपा, बाली और बोर्नियो के समान मलाया में भी बहुत से शिलालेख, मूर्तियाँ व मंदिरों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। मलाया में गुनांग जरई पर्वत की उपत्यका में एक विशाल हिंदू मंदिर के खंडहर विद्यमान हैं। इसके समीप ही एक बौद्ध विहार के अवशेष पाये गये हैं। दोनों जगह संस्कृत के शिलालेख हैं, जो पाँचवीं सदी के लिखे हुए हैं। श्री विष्णुवर्मन नाम के एक प्राचीन राजा की मुद्रा भी इस प्रदेश से मिली है। प्राचीन स्तूप, स्तंभ और अन्य प्रकार की इमारतों के भी बहुत से खंडहर मलाया में मिलते हैं। चौथी पाँचवीं व छठवीं सदियों के जो भी शिलालेख इस देश में मिले हैं, वे सब संस्कृत में हैं। इनसे यह भलीभाँति सूचित होता है, कि गुप्त-काल में मलाया में भी भारतीयों ने अपने बहुत से उपनिवेश बसाये थे, और वहाँ भारतीय भाषा, धर्म, संस्कृति और आचार-विचार का अनुसरण किया जाता था। बरमा में भी इस युग में यही दशा थी। वर्तमान प्रोम के समीप श्रीक्षेत्र नाम का समृद्ध भारतीय राज्य था। अन्य अनेक छोटे-बड़े भारतीय उपनिवेशों से भी इस युग का बरमा आबाद था।

यह ध्यान में रखना चाहिये, कि सुदूर पूर्व के इन भारतीय उपनिवेशों की स्थापना किसी राजा व महात्मा की कृति नहीं

थी। जिस प्रवृत्ति से आर्य लोग भारत में दूर-दूर तक बसे थे, उसी से वे बंगाल की खाड़ी को पार कर इन प्रदेशों में आबाद हुये थे। उस समय आर्यों में उत्कट जीवनी शक्ति थी, और बल से वे विघ्न-बाधाओं की परवाह न करते हुए दूर-दूर तक जा कर बसने में तत्पर रहते थे। राजकुमारों और योद्धाओं की महत्त्वाकांक्षायें, व्यापारियों की धनलिप्सा और मुनियों व भिक्खुओं की धर्मसाधना इन सब प्रवृत्तियों ने मिल कर भारत के इन उपनिवेशों को जन्म दिया था। भारत के साथ इनका बहुत निकट संबंध था। धर्म प्रचारक और व्यापारी इनमें निरंतर आते-जाते रहते थे। समुद्रगुप्त जैसे प्रतापी दिग्विजेता सम्राट् इन उपनिवेशों को भी अपने चातुरंत साम्राज्य में सम्मिलित करते थे। वस्तुतः, ये उपनिवेश भारत के ही हिस्से थे। जब समुद्रगुप्त ने दक्षिण में लंका तक पर अपना प्रभाव कायम किया, तो ये उपनिवेश भी उसकी राज्यशक्ति के प्रभाव में आने से न बच सके। पर भारतीय साम्राज्य में कुछ समय के लिये इनका अंतर्गत हो जाना कोई महत्त्व की बात नहीं है। महत्व तो इस बात का है, कि सुदूर पूर्व का वह सारा एशिया इस युग में भारतीय धर्म और सभ्यता का अनुयायी था। वहाँ अपना पैर जमा कर भारतीय लोग चीन के विशाल भूखंड में अपने धर्म और व्यापार का प्रसार करने में लगे थे, और इस प्रकार एशिया का बहुत बड़ा भाग इस युग में भारतीय जीवन और संस्कृति से अनुप्राणित हो रहा था।

(२) उत्तर पश्चिम का बृहत्तर भारत

उत्तर-पश्चिमी भारत के गांधार और कंबोज बौद्ध काल के सोलह महाजनपदों में सम्मिलित थे। कंबोज का अभिप्राय हिन्दूकुश पर्वत से परे पामीर के पार्वत्य प्रदेश और बदख्शां

में है। यह सब प्राचीन समय में भारत के ही प्रदेश थे। पर इनसे भी परे बाल्हीक (बल्ख) से आगे बढ़ कर उत्तर और पश्चिम में एक नये बृहत्तर भारत का विकास हुआ। इसका प्रारंभ मौर्य काल में हुआ था। सम्राट् अशोक की धर्मविजय की नीति के कारण खोतान तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में किस प्रकार भारतीय उपनिवेशों का प्रारंभ हुआ, और कैसे बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। अशोक के समय में जिस प्रक्रिया का प्रारंभ हुआ था, वह गुप्त काल में पूर्ण विकास को प्राप्त हुई। इस सारे प्रदेश में अनेक भारतीय उपनिवेशों का विस्तार हुआ, जिनमें भारतीय लोग बड़ी संख्या में जाकर आबाद हुए। मूल निवासियों के साथ विवाह करके उन्होंने एक नई संकर जाति का विकास किया, जो धर्म, सभ्यता, भाषा और संस्कृति में भारतीय ही थी।

इस उत्तर-पश्चिमी बृहत्तर भारत में निम्नलिखित राज्य सम्मिलित थे—(१) शैलदेश (काशगर) (२) चौक्कुक (यारकंद) (३) खोतन्न (खोतान) (४) चल्मद (शान शान) (५) भरुक (पोलुकिया) (६) कुची (कुचर) (७) अग्निदेश (करसहर) और (८) कोचांग (तूरफान)। इन आठ राज्यों में खोतान और कुची सबसे मुख्य थे, और इनके भी परे के चीन व अन्य राज्यों में भारतीय धर्म व संस्कृति के प्रसार में इन्होंने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

चौक्कुक खोतन्न, शैलदेश और चल्मद में भारतीयों की आबादी बहुत थी। इनमें बहुत बड़ी संख्या में भारतीय लोग जाकर आबाद हुए थे। इनका कंबोज और गांधार से व्यापार का संबंध बहुत घनिष्ठ था। व्यापार के कारण ये निरंतर भारत से संबंध रखते थे। यहाँ की भाषा भी प्राकृत थी, जो उत्तर-पश्चिमी भारत की प्राकृत भाषा से बहुत मिलती-जुलती थी।

पहले यह भारतीय प्राकृत खरोष्ठी लिपि में लिखी जाती थी। मौर्य काल में यह लिपि सारे उत्तर-पश्चिमी भारत में प्रचलित थी। अब गुप्त काल में इन उपनिवेशों में भी ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होने लगा था। ब्राह्मी लिपि के साथ-साथ संस्कृत भाषा का भी इन उपनिवेशों में प्रसार हुआ। यद्यपि सर्वसाधारण लोग पुरानी प्राकृत का ही प्रयोग करते थे, पर सुशिक्षित लोग संस्कृत का अध्ययन अवश्य करते थे। चौथी सदी के अंत में जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान इस प्रदेश में आया, तो यहाँ का वर्णन करते हुये उसने लिखा, कि इन प्रदेशों के निवासी धर्म और संस्कृति की दृष्टि से भारतीयों के बहुत समीप हैं। भिक्षु लोग सब संस्कृत पढ़ते हैं, और बौद्ध धर्म की भारतीय पुस्तकों का अध्ययन करते हैं। यही कारण है, कि इस समय बहुत से प्राचीन संस्कृत ग्रंथ इस प्रदेश से प्राप्त हुए हैं। अनेक ग्रंथ संस्कृत के साथ-साथ वहाँ की पुरानी स्थानीय भाषाओं में भी हैं। इन प्रदेशों की अपनी भाषाओं का परिचय पहले-पहल इन्हीं ग्रंथों से मिलता है।

गुप्त काल में खोतान किस प्रकार भारतीय धर्म और संस्कृति का बड़ा महत्त्व पूर्ण केन्द्र था, यह बात हमें प्राचीन अनुश्रुति व पुरातत्त्व संबंधी अवशेषों से ज्ञात होती है। खोतान में बौद्ध धर्म की दशा का वर्णन फाइयान ने इस प्रकार किया है— यहाँ के निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। भिक्षुओं की संख्या हजारों में है। अधिकांश भिक्षु महायान संप्रदाय के अनुयायी हैं। साधारण लोग अपने-अपने घरों में निवास करते हैं। प्रत्येक घर के सामने बौद्ध स्तूप बनाये गये हैं। इनमें से कोई भी ऊंचाई में बीस फीट से कम नहीं है।

फाइयान खोतान के गोमती विहार में ठहरा था। इस विहार में तीन हजार के लगभग बौद्ध भिक्खु निवास करते

थे। जब घंटी बजती थी, तब तीन हजार भिक्खु भोजन के लिये एक स्थान पर एकत्र हो जाते थे, सब के मुख पर गंभीर मुद्रा दिखाई पड़ती थी। फाह्यान के अनुसार सब भिक्खु बाक़ायदा बैठकर चुप रहते हुए भोजन करते हैं। भोजनपात्रों तक की खट-खट नहीं सुनाई पड़ती, सब ओर शांति विराजती है। अगर भोजन परोसने वालों को कुछ करने की जरूरत होती है, तब भी उन्हें आवाज नहीं दी जाती। केवल इशारा कर दिया जाता है। फाह्यान के समय में खोतान में चौदह तो बड़े बौद्ध विहार थे। उनके अतिरिक्त छोटे-छोटे विहार और भी बहुत से थे। जैसे भारत में रथयात्रा का जलूस निकलता है, वैसे ही खोतान में बौद्धों की एक बहुत बड़ी रथयात्रा निकलती थी। इस अवसर पर सारे शहर की सफाई की जाती थी। मकान सजाये जाते थे। जलूस में सब से आगे गोमती विहार के तीन हजार भिक्खु रहते थे। शहर से तीन या चार ली की दूरी पर चार पहियों वाली एक बड़ी रथ तैयार की जाती थी। इसकी ऊंचाई तीस फीट से अधिक रक्खी जाती थी। यह एक चलता-फिरता चैत्य सा होता था, जिसे तोरण आदि से खूब सजाया जाता था। रथ के ठीक बीच में भगवान बुद्ध की मूर्ति स्थापित की जाती थी। केंद्र की बुद्ध मूर्ति के पीछे और अगल-बगल में बोधिसत्त्वों और देवों की मूर्तियां रखी जाती थीं। ये सब मूर्तियां सोने और चांदी की होती थीं। जब रथयात्रा का जलूस शहर के मुख्य द्वार से सौ गज की दूरी पर होता था, तो राजा उसका स्वागत करता था। इस अवसर पर वह राजकीय वेश उतार कर उपासकों के वस्त्र धारण करता था और नंगे पैर चलकर अपने पार्श्वचरों के साथ रथयात्रा के स्वागत के लिये प्रस्थान करता था। मूर्ति के सम्मुख आने पर राजा फूलों और सुगंधि से उसकी अर्चना करता था। इसके बाद

फाइयान ने नये राजकीय विहार का वर्णन किया है, जिसे बन कर तैयार होने में अस्सी साल लगे थे। यह २५० फीट ऊँची थी, और सोने चाँदी से इसे भली-भाँति विभूषित किया गया था। भिक्षुओं के निवास के लिये इसमें सुन्दर भवन बनाये गये थे, और दूर-दूर के राजा इसके सम्मान में बहुमूल्य भेंट और उपहार भेजा करते थे। फाइयान के इस विवरण से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है, कि चौथी सदी में सारा खोतान बौद्ध धर्म का अनुयायी था। राजा और प्रजा, सब बुद्ध के भक्त थे। इस देश के विहार और चैत्य सब इस काल में खूब फूल-फल रहे थे। इनमें हजारों भिक्खु निवास करते थे, जो न केवल बौद्ध धर्म के प्रसार के लिये तत्पर रहते थे, पर विद्या के अध्ययन और शिक्षा में भी समय को व्यतीत करते थे। खोतान के ये विहार शिक्षा के बड़े महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। संस्कृत के बहुत से बौद्ध-ग्रंथ इनमें संगृहीत रहते थे। अनेक महत्त्व के ग्रंथ जो अन्यत्र नहीं मिल सकते थे, खोतान में प्राप्त हो जाते थे। यही कारण है, कि धर्मक्षेत्र नाम का बौद्ध विद्वान जो इस समय चीन में प्रचार का कार्य कर रहा था, ४३३ ईस्वी में महापरिनिर्वाण सूत्र की खोज में खोतान आया था।

खोतान में कई स्थानों पर प्राचीन बौद्ध काल के अवशेष मिले हैं। इसमें योतकन, रावक, दण्डन उलिक और निया मुख्य हैं। इन सब स्थानों पर जो खुदाई पिछले दिनों में हुई है, इससे बौद्ध विहारों और चैत्यों के बहुत से खण्डहर, मूर्तियों और प्रतिमाओं के अवशेष तथा बहुत से हस्तलिखित ग्रंथ व चित्र उपलब्ध हुए हैं। खोतान में आठवीं सदी के अंत तक भारतीय संस्कृति और धर्म का खूब प्रचार रहा। बाद में इस्लाम के प्रवेश ने इस भारतीय उपनिवेश के स्वरूप को ही बिलकुल बदल दिया। चीन में जो बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ,

इसका प्रधान श्रेय खोतान के ही बौद्ध भिक्खुओं को है। इन्हीं के आधार से भिक्खु लोग चीन में दूर-दूर तक गये, और धीरे-धीरे सारे चीन को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाने में सफल हुए। गुप्त काल में खोतान का यह भारतीय उपनिवेश बहुत ही समृद्ध दशा में था। गांधार कंबोज के कुशाण राजा भी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। पर जब गुप्त सम्राटों ने इन कुशाणों को अपना अधीनस्थ राजा बना लिया, तब तो भारत और खोतान का संबंध और भी घनिष्ठ हो गया।

खोतान की तरह कुची का राज्य भी भारतीय संस्कृति का बड़ा केंद्र था। वहाँ के निवासियों में भी भारतीयों की संख्या बहुत थी। चौथी सदी के शुरू तक यह सारा प्रदेश बौद्ध धर्म का अनुयायी हो चुका था, और प्राचीन चीनी अनुश्रुति के अनुसार इसमें बौद्ध विहारों और चैत्यों की संख्या दस हजार तक पहुँच चुकी थी। चीन के प्राचीन इतिवृत्त के अनुसार कुची के राज्य में बहुत से विहार थे। ये बहुत ही सुंदर और विशाल बने हुए थे। राजप्रासाद में भी बुद्ध की मूर्तियों की उसी तरह प्रचुरता थी, जैसे किसी विहार में होती है। हामू के विहार में १७० भिक्खु रहते थे। पर्वत के ऊपर बने हुए चेली के विहार में ५० भिक्खुओं का निवास था। राजा ने जो नया विहार बनवाया है, उसे किएन मू कहते हैं. उसमें ६० भिक्खु रहते हैं। वेनसू के राजकीय विहार में भिक्खुओं की संख्या ६० है। ये चारों विहार बुद्ध स्वामी नाम के आचार्य द्वारा संचालित हो रहे थे। कोई भिक्खु एक स्थान पर तीन महीने से अधिक समय तक नहीं रह पाता था। बुद्ध स्वामी के निरीक्षण में तीन अन्य विहार थे, जिनमें क्रमश: १८०, ५० और ३० भिक्खु रहते थे। इनमें से एक विहार में केवल भिक्खुनियाँ ही रहती थीं। ये भिक्खुनियाँ प्राय: राजघरानों की थीं। पामीर के प्रदेश में जो विविध

भारतीय उपनिवेश थे, उन्हीं के राजकुलों की कुमारियाँ भिक्षुव्रत लेकर इन विहारों में रहती थीं, और बौद्ध धर्म का बड़ी तत्परता के साथ पालन करती थीं।

कुची के राजाओं के नाम भी भारतीय थे। वहाँ के कुछ राजाओं के नाम स्वर्णदेव, हरदेव, सुवर्णपुष्प और हरिपुष्प हैं, जो इस राज्य का भारतीय संस्कृति के गढ़ होने के स्पष्ट प्रमाण हैं। कुची में जो खुदाई पिछले दिनों में हुई है, उसमें विहारों और चैत्य के बहुत से अवशेष मिले हैं। इसमें संदेह नहीं कि खोतान के समान कुची भी भारत का एक समृद्ध तथा वैभवशाली उपनिवेश था।

इस प्रसंग में आचार्य कुमारजीव का उल्लेख करना बहुत आवश्यक है। उसके पिता का नाम कुमारायन था। वह भारत के एक राजकुल में उत्पन्न हुआ था, पर अन्य अनेक राजकुमारों की तरह वह भी युवावस्था में ही बौद्ध भिक्षु बन गया था। भिक्षु होकर वह कुची पहुँचा। वहाँ के राजा ने उसका बड़े समारोह से स्वागत किया और उसकी विद्या तथा ज्ञान से प्रभावित होकर उसे राजगुरु के पद पर नियुक्त किया। पर कुमारायन देर तक भिक्षु नहीं रह सका। कुची के राजा की बहन जीवा उस पर मोहित हो गई, और अंत में दोनों का विवाह हो गया। इनके दो संतान हुईं, कुमारजीव और पुष्यदेव। जब कुमारजीव की आयु केवल सात वर्ष की थी, तो उसकी माता जीवा भिक्षुणी हो गई, और अपने योग्य तथा होनहार पुत्र को लेकर भारत आई। भारत आने में उसका उद्देश्य यह था, कि कुमारजीव को बौद्ध धर्म की ऊँची से ऊँची शिक्षा दी जावे। अनेक प्रदेशों का भ्रमण करने के बाद जीवा काश्मीर आई। वहाँ उन दिनों बन्धुदत्त नाम का बौद्ध आचार्य बड़ा प्रसिद्ध था। वह काश्मीर के राजा का भाई था, और

अपने पांडित्य के लिये उसका नाम दूर-दूर तक फैला हुआ था। बंधुदत्त के चरणों में बैठ कर कुमारजीव ने सब बौद्ध आगम को पढ़ा, और धीरे-धीरे एक प्रकांड पंडित हो गया। काश्मीर में विद्याग्रहण करने के बाद कुमारजीव शैल देश (काशगर) आया, और वहां उसने चारों वेदों, वेदांगों, दर्शन और ज्योतिष आदि का अध्ययन किया। उस समय शैल देश प्राचीन वैदिक धर्म का बहुत बड़ा केंद्र था। इसीलिये कुमारजीव ने वैदिक साहित्य का वहां जाकर अध्ययन किया था। शैल देश से वह चोक्कुक (यारकंद) गया और वहां नागार्जुन, आर्यदेव आदि प्रसिद्ध आचार्यों के ग्रंथों का अनुशीलन किया। इसके बाद उसने चोक्कुक में महायान संप्रदाय में बाकायदा प्रवेश किया। इस प्रकार बौद्ध और वैदिक साहित्य का पूर्ण पंडित होकर वह कुची वापस लौटा। अपनी मातृभूमि में उसने अध्यापन का कार्य शुरू किया। उसकी विद्वत्ता की कीर्ति सुन कर दूर-दूर से विद्यार्थी उसके पास शिक्षा ग्रहण करने के लिये आने लगे और थोड़े ही समय में कुची विद्या का एक महत्वपूर्ण केंद्र बन गया।

पर कुमारजीव देर तक कुची में नहीं रह सका। ३८३ ईस्वी के लगभग कुची पर चीन ने आक्रमण किया। चीन की विशाल शक्ति का मुकाबला कर सकना कुची जैसे छोटे से राज्य के लिये संभव नहीं था। फिर भी वहां के राजा ने वीरता के साथ युद्ध किया, पर अंत में कुची पर चीन का अधिकार हो गया। जो बहुत से कैदी कुची से चीन में लाये गये, उनमें कुमारजीव भी एक था। पर सूर्य देर तक बादलों में नहीं छिपा रह सकता। कुमारजीव की विद्या की ख्याति चीन में सर्वत्र फैल गई, और वहां के सम्राट् ने उसे अपने राजदरबार में आमंत्रित किया। ४०१ ई० में कुमारजीव चीन की राजधानी में पहुंचा। वहां

उसका बड़ा सत्कार हुआ। वह संस्कृत और चीनी का अनुपम विद्वान था। शास्त्रों में उसकी अप्रतिहत गति थी। अतः उसे यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि संस्कृत के प्रामाणिक बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद् करे। इस कार्य में उसकी सहायता के लिये अन्य बहुत से विद्वान नियत कर दिये गये। दस वर्ष के लगभग समय में उसने १०६ संस्कृत ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया। महायान संप्रदाय का चीन में प्रचार कुमारजीव द्वारा ही हुआ। उसके पांडित्य की कीर्ति सारे चीन में फैली हुई थी। उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिये दूर-दूर से चीनी विद्यार्थी और भिक्षु उसकी सेवा में पहुँचते थे।

अपने कार्य में सहायता करने के लिये कुमारजीव ने बहुत से विद्वानों को भारत से चीन बुलाया। वह भारत में शिक्षा ग्रहण कर चुका था। काश्मीर के बौद्ध पंडितों से उसका घनिष्ठ परिचय था। उसके अनुरोध से जो भारतीय विद्वान चीन गये, उनमें पुण्यत्रात, बुद्धयश, गौतम संघदेव, धर्मयश, गुणवर्मन, गुणभद्र और बुद्धवर्मन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। चीन में जो बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ, उसमें ये सब कुमारजीव के सहयोगी थे। चीन में इन विद्वानों का बड़ा ऊँचा स्थान है। ये सब वहाँ धर्मगुरु और धर्माचार्य के रूप में माने जाते हैं। इन्हीं के साहस, पांडित्य और लगन का यह परिणाम हुआ, कि धीरे-धीरे सारा चीन बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। आज चीन में जो सैकड़ों बौद्ध ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, वह इन्हीं विद्वानों की कृति का परिणाम है। इनमें से बहुत से अब अपने संस्कृत के मूलरूप में नहीं मिलते, पर चीनी अनुवाद के रूप में वे चीन में मिलते हैं। अब उनका फिर से संस्कृत रूपांतर किया जा रहा है।

कुमारजीव के निमंत्रण पर जो विद्वान् चीन गये थे, उनके

अतिरिक्त भी अनेक बौद्ध पंडित् इस काल में भारत से चीन गये। ये सब चीन में ही बस गये, वहाँ इनकी मृत्यु भी हुई। पर इन्होंने भारत के धर्म और संस्कृति को सुदूर दूर-दूर तक फैला दिया। इनके द्वारा स्थापित धर्म विजय आज तक भी कायम है। शकों द्वारा जो विजययात्रा गुप्तसम्राटों ने की थी, उसका प्रभाव नष्ट हुए तो सदियाँ बीत चुकी हैं। पर इन पंडितों की विजययात्रा का प्रभाव हजारों साल बीत जाने पर भी अब तक अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है।

आचार्य कुमारजीव की मृत्यु ४१२ ईस्वी में चीन में ही हुई।

भारत के इन उपनिवेशों में केवल भारतीय धर्म का ही प्रसार नहीं हुआ, पर यहाँ की वास्तुकला, संगीत, मूर्तिनिर्माण-कला आदि का भी इनमें खूब प्रचार हुआ था। खोतान और कुची में जो भग्नावशेष अब मिले हैं, उनमें की मूर्तियों में गांधारी शैली का स्पष्ट प्रभाव है। वहाँ के विहार, चैत्य आदि भी भारतीय वास्तुकला के अनुसार बनाये गये थे। गुप्तकाल में प्राकृत की जगह संस्कृत का उत्कर्ष हुआ था। इन उपनिवेशों में भी संस्कृत और ब्राह्मी लिपि ही इस युग में जोर पकड़ गई थी।

(३) हूणों का भारतीय बनना

गुप्तकाल में भारतीय धर्मों में अद्वितीय जीवनी शक्ति थी। न केवल बौद्ध, अपितु जैन, वैष्णव, शैव व अन्य धर्मों में भी उस समय तक यह शक्ति विद्यमान थी, कि विदेशियों व म्लेच्छों को अपने धर्म में दीक्षित कर उन्हें भारतीय समाज का ही एक अंग बना लें। यवन, शक और कुशाण लोग किस प्रकार भारत में आकर भारतीय बन गये, यहाँ के धर्म, भाषा, सभ्यता और चरित्र को ग्रहण कर कैसे वह यहाँ के जनसमाज में घुल-मिल गये, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं।

गुप्त काल में जो हूण भारत में आक्रांता के रूप में प्रविष्ट हुए, जिन्होंने शुरू में बड़ी बर्बरता प्रदर्शित की, वे भी बाद में पूर्णतया भारतीय समाज के अंग बन गये। हूण राजा मिहिर-गुल ने शैव धर्म को स्वीकार कर लिया था। एक शिलालेख में लिखा है, कि स्थाणु शिव के अतिरिक्त किसी के सम्मुख वह सिर नहीं झुकाता था। उसके जो सिक्के मिले हैं, उन पर त्रिशूल और नंदी के चिह्न अंकित किये गये हैं, और 'जयतु वृषः' यह उत्कीर्ण किया गया है।

उस समय के भारत की इस प्रवृत्ति को पुराणों में बड़े सुंदर रूप में वर्णित किया गया है। शक, यवन, हूण आदि जातियों को गिना कर पुराणकार ने भक्ति के आवेश में आकर कहा है, ये और अन्य जो भी पापयोनि जातियां हैं, वे सब जिस विष्णु के संपर्क में आकर शुद्ध हो जाती हैं, उस प्रभविष्णु विष्णु को नमस्कार हो। भगवान् विष्णु की यह पतितपावनी शक्ति भारत में गुप्त काल तक कायम थी। मुसलिम धर्म के बाद यह शक्ति नष्ट हो गई, और उस समय के भारतीय अरब और तुर्क आक्रांताओं को अपने में नहीं मिला सके।

शैव और बौद्ध धर्म को स्वीकार करके हूण लोग भारतीय समाज के ही अंग बन गये। इस समय यह बता सकना बहुत कठिन है, कि शक, यवन, युइशि और हूण आक्रांताओं के वर्तमान प्रतिनिधि कौन लोग हैं। ये सब जातियां बहुत बड़ी संख्या में भारत में प्रविष्ट हुई थीं। पर इनके उत्तराधिकारियों की हिन्दू समाज में कोई पृथक् सत्ता नहीं है। वस्तुतः ये हिंदू समाज ही में बिलकुल ही घुलमिल गईं, और हिंदुओं की विविध जातियों में गिनी जाने लगीं। जहां भारत की वर्तमान अनेक जातियां पुराने गणराज्यों की प्रतिनिधि हैं, वहां अनेक इन म्लेच्छ आक्रांताओं का भी प्रतिनिधित्व करती हैं। पर इस

समय वे चरित्रों के अंतर्गत हैं, उनमें पाप या पापयोनिपन कुछ भी शेष नहीं है।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व एक बात और लिखना आवश्यक है। जहाँ भारतीयों ने सुदूर पूर्व में व पामीर के उत्तर-पश्चिम में अपनी बस्तियाँ बसाई थीं, वहाँ प्राचीन सीरिया और मैसोपोटेमिया में भी उनके छोटे-छोटे उपनिवेश विद्यमान थे। यूफ्रेटस नदी के तट पर उनके दो बड़े मंदिर थे, जिन्हें सेन्ट ग्रेगरी के नेतृत्व में ईसाइयों ने नष्ट किया था। यह घटना ३०४ ईस्वी की है। जब ईसाइयों ने अपने धर्म-प्रसार के जोश में इन मंदिरों पर आक्रमण किया, तो भारतीय लोग बड़ी वीरता के साथ उनसे लड़े। पर ईसाई उनकी अपेक्षा बहुत अधिक संख्या में थे। भारतीयों को उनसे परास्त होना पड़ा। मैसोपोटामिया के दो प्राचीन भारतीय मंदिर नष्ट कर दिए गये, और इस प्रदेश की भारतीय बस्ती भी बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो गई। पर गुप्त काल में भारतीयों ने इतनी दूर पश्चिम में भी अपनी बस्तियाँ कायम की थीं, यह ऐतिहासिक तथ्य है।

चौबीसवाँ अध्याय

पाटलीपुत्र के वैभव का अंत

(१) मौखरि वंश का अभ्युदय

यशोधर्मा की विजयों के बाद गुप्त साम्राज्य बहुत कुछ शिथिल हो गया था। इस समय जिन राजवंशों ने भारत के विविध प्रदेशों में अपनी शक्ति को बढ़ाना प्रारंभ किया उनमें मौखरि वंश मुख्य है। यह वंश बहुत प्राचीन था। शुंगकाल में भी इसकी सत्ता के प्रमाण मिलते हैं। इस वंश का मूल स्थान मगध में था। कदंब वंश के संस्थापक मयूर शर्मा के एक शिलालेख के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौखरि लोगों का मगध में राज्य भी रह चुका था। कदंब वंश का प्रारंभ तीसरी सदी में हुआ था, इस वंश के पहले राजा तीसरी सदी के अंत में और चौथी सदी के शुरू में राज्य करते थे। यदि उनके समय में मगध में मौखरि वंश का शासन था, तो यह अनुमान युक्तिसंगत होगा, कि गुप्त वंश के शक्तिशाली राजा चंद्रगुप्त प्रथम ने लिच्छविगण की सहायता से जिस मगध कुल का उच्छेद कर पाटलीपुत्र पर अधिकार जमाया था, वह मौखरि वंश ही था। कौमुदी महोत्सव नाटक में सुंदरवर्मा और कल्याणवर्मा के नाम के मगध राजाओं का वर्णन है जिनके विरुद्ध चंडसेन कारस्कर ने षड्यंत्र किया था। संभवतः ये राजा मौखरि वंश के ही थे, जिन्होंने कुशाण साम्राज्य के पतनकाल की अव्यवस्था से लाभ उठा कर मगध में अपना स्वतंत्र राज्य क़ायम कर लिया था। गुप्तों के उत्कर्ष के कारण ये

साधारण सामंतों की स्थिति में रह गये। गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत गया के समीपवर्ती प्रदेश में मौखरियों का राज्य था, जो गुप्त सम्राटों की अधीनता स्वीकार करते थे, और उनके करद सामंत थे। इस वंश के तीन राजाओं के नाम बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों के गुहामंदिरों में उत्कीर्ण लेखों से प्राप्त होते हैं। ये राजा यज्ञवर्मा, शार्दूलवर्मा और अनंतवर्मा थे। कोई आश्चर्य नहीं, कि ये कौमुदी महोत्सव में वर्णित सुंदरवर्मा और कल्याणवर्मा के ही वंशज हों।

मौखरि वंश की एक अन्य शाखा कन्नौज में राज्य करती थी। ये भी गुप्त सम्राटों के सामंत थे। और संभवतः, गुप्तों के वैभवकाल में प्रांतीय शासक के रूप में नियुक्त होकर मगध से कन्नौज आये थे। पर जब हूणों के आक्रमणों और यशोधर्मा की विजयों के कारण गुप्त साम्राज्य निर्बल होने लगा तो कन्नौज के ये मौखरि राजा स्वतंत्र हो गये। इस मौखरि वंश के प्रथम तीन राजा हरिवर्मा, आदित्यवर्मा, और ईश्वरवर्मा थे। पहले दो राजा हरिवर्मा और आदित्यवर्मा गुप्त सम्राटों के सामंत थे, और उन्हीं की तरफ से कन्नौज का शासन करते थे। इनका गुप्त सम्राटों के साथ वैवाहिक संबंध भी था। आदित्यवर्मा की पत्नी गुप्त वंश की राजकुमारी थी। इस विवाह के कारण उसकी स्थिति और अधिक बढ़ गई थी। उसके पुत्र ईश्वरवर्मा का शासनकाल ५२४ से ५५० ईस्वी तक है। इसी के समय में यशोधर्मा ने हूणों का पराभव किया था। हूण राजा के विरुद्ध यशोधर्मा ने जिस विशाल सैनिक शक्ति का संगठन किया था, उसमें मौखरि ईश्वरवर्मा भी सम्मिलित था। एक शिलालेख में मौखरि राजा द्वारा हूणों के पराजय का उल्लेख है। हूणों पर यह विजय ईश्वरवर्मा ने किसी स्वतंत्र युद्ध में नहीं प्राप्त की थी। उसने हूणों का मुका-

बला करने के कार्य में यशोधर्मा का साथ दिया था, और निःसंदेह इस गौरवपूर्ण विजय में इसका भी बड़ा हाथ था। इस सैनिक विजय के कारण ईश्वरवर्मा का महत्त्व बहुत बढ़ गया था और उसने अपने कन्नौज के राज्य में बहुत कुछ स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी। यशोधर्मा के बाद गुप्त साम्राज्य में जो उथल-पुथल मच गई थी, उसका लाभ उठा कर ईश्वर-वर्मा सामंत की जगह स्वतंत्र महाराज बन गया था।

ईश्वरवर्मा के बाद ईशानवर्मा कन्नौज की राजगद्दी पर बैठा। इसका शासनकाल ५५० से ५७६ ईस्वी तक है। इसने अपनी शक्ति को बढ़ाना प्रारंभ किया, और महाराजाधिराज की पदवी धारण की। परिणाम यह हुआ, कि गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त तृतीय के साथ इसके अनेक युद्ध हुए। गुप्त साम्राज्य में अभी काफी शक्ति थी। मौखरियों को परास्त कर उनकी महत्त्वाकांक्षाओं को दबाने में कुमारगुप्त तृतीय सफल हुआ, और कुछ समय के लिये मौखरि वंश का उत्कर्ष रुक गया।

ईशानवर्मा के बाद सर्ववर्मा कन्नौज का मौखरि राजा बना। यह अपने पिता के समान ही वीर और महत्त्वाकांक्षी था। गुप्तों के साथ इसने निरंतर युद्ध किये। इस समय गुप्त साम्राज्य का स्वामी दामोदरगुप्त था। उसे सर्ववर्मा ने परास्त किया। सर्ववर्मा ने अपने साम्राज्य की सीमा को पूर्व में सोन नदी तक विस्तृत कर लिया। मगध और उसकी राजधानी पाटलीपुत्र अब भी गुप्तों के हाथ में रही। पर उनका साम्राज्य अब बहुत क्षीण हो गया था। उत्तरी भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति अब गुप्तों के हाथ से निकल कर मौखरि वंश के पास आ गई थी। सर्ववर्मा के समय में ही मौखरि वंश सच्चे अर्थों में अपनी स्वतंत्र शक्ति को क़ायम करने में समर्थ हुआ था।

सर्ववर्मा के बाद अवंतिवर्मा और फिर ग्रहवर्मा कन्नौज के राजा हुए। ग्रहवर्मा का विवाह स्थानेश्वर (थानेसर) के वैस राजा प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ हुआ। विवाह के कुछ ही वर्षों के पीछे ग्रहवर्मा की मृत्यु हो गई, और राज्यश्री कन्नौज के शक्तिशाली साम्राज्य की स्वामिनी हो गई। उसके नाम पर शासन की वास्तविक शक्ति उसके भाई हर्षवर्धन के हाथ में रही। हर्षवर्धन स्थानेश्वर का राजा था, और अपनी बहिन की तरफ से कन्नौज के शासनसूत्र का भी संचालन करता था। इस समय में ये दोनों राज्य मिल कर एक हो गये थे, और इनकी सम्मिलित शक्ति उत्तरी भारत में सर्वप्रधान हो गई थी।

(२) गुप्तवंश के पिछले राजा

सम्राट् बालादित्य द्वितीय ने हूणों को परास्त कर अपनी शक्ति को किस प्रकार क़ायम रखा, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। बालादित्य ने ५३५ ईस्वी के लगभग तक राज्य किया। उसके समय तक गुप्त साम्राज्य की शक्ति प्रायः अक्षुण्ण थी। उत्तरी भारत में, बंगाल से मथुरा तक उसका शासन था। मौखरि राजा उसके सामंत थे, और यशोधर्मा की विजयों का कोई स्थिर प्रभाव न होने के कारण वह अपने राज्य को पुराने गुप्त सम्राटों के समान ही शान के साथ संचालित करने में समर्थ रहा था। उसके बाद कुमारगुप्त तृतीय और दामोदरगुप्त पाटलीपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। इन्होंने ५३५ ईस्वी के बाद लगभग पच्चीस वर्ष तक शासन किया। कुमारगुप्त तृतीय के शासनकाल में कन्नौज का मौखरि महाराजा ईशान-वर्मा स्वतंत्र हो गया, और उसने सारे मध्यदेश से गुप्तों के शासन का अंत कर सोन नदी तक अपना शक्तिशाली साम्राज्य

कायम किया । इस प्रकार, गुप्तों का शासन मगध और बंगाल तक ही सीमित रह गया । उत्तरी बंगाल में दामोदरपुर नामक स्थान से पाँच ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं, जो इस काल के इतिहास पर बहुत प्रकाश डालते हैं । इनमें से पाँचवाँ ताम्रपत्र ५४३ ई० में उत्कीर्ण कराया गया था । इसमें गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त का उल्लेख है, जिसका शासन उस समय बंगाल में विद्यमान था । यह कुमारगुप्त तृतीय ही है, जो बालादित्य के बाद गुप्त सम्राट् बना था । इस ताम्रपत्र से सूचित होता है, कि बंगाल में गुप्तों का शासन ५४३ ईस्वी तक विद्यमान था, और वहाँ का प्रांतीय शासक इस समय राजपुत्र देव भट्टारक था । इससे पूर्व बंगाल के शासक चित्रदत्त, ब्रह्मदत्त और जयदत्त रहे थे । इनका गुप्तवंश से कोई संबंध नहीं था । संभवत:, ये तीनों प्रांतीय शासक एक ही कुल के थे, पर अब बंगाल का शासन करने के लिये गुप्तवंश के ही एक कुमार राजपुत्र देव को नियत किया गया था । पहले सुराष्ट्र, अवंति आदि दूरवर्ती विशाल प्रदेशों के शासन का कार्य राजपुत्रों को दिया जाता था । पर अब गुप्त साम्राज्य केवल मगध और बंगाल तक ही सीमित रह गया था । अत: वहाँ के शासन के लिये एक राजपुत्र की नियुक्ति बिलकुल स्वाभाविक थी । पर चित्रदत्त के कुल से बंगाल के शासन को लेकर एक राजपुत्र के हाथ में देने से यह भी भली-भाँति प्रगट होता है, कि इस प्रदेश पर गुप्तों का अधिकार काफी मजबूत था ।

कुमारगुप्त तृतीय के समय में उत्तरी भारत में भी गुप्त साम्राज्य का ह्रास प्रारंभ हो गया । मौखरि राजा कन्नौज में स्वतंत्र हो गये, और आसाम आदि अनेक प्रदेशों में भी स्वतंत्र राज्य कायम हुए । छठवीं सदी के मध्य तक प्रतापी गुप्त सम्राटों का शासन मध्य भारत से उठ गया ।

हूणों के आक्रमणों और यशोधर्मा जैसे साहसी योद्धाओं ने गुप्त साम्राज्य की नींव को जड़ से हिला दिया था। यद्यपि बालादित्य द्वितीय जैसे शक्तिशाली राजाओं ने कुछ समय तक अपने साम्राज्य को क़ायम रखा, पर अब सामंतों व प्रांतीय शासकों की अपने स्वतंत्र शासन स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षाओं पर काबू पा सकना असंभव होता जा रहा था। इसी का परिणाम हुआ, कि भारत में फिर विविध राज्य क़ायम हो गये, और कोई एक ऐसी शक्ति नहीं रह गई, जो 'आसमुद्र' भारत को एक शासन में रख सके।

उत्तरी भारत के विविध राज्य

कन्नौज के मौखरि वंश ने किस प्रकार अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया, इसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। उसके अतिरिक्त जिन अन्य राजवंशों ने गुप्त साम्राज्य के भग्नावशेष पर अपने-अपने स्वतंत्र राज्य क़ायम किये, उनका संक्षेप से दिग्दर्शन करना इस काल के इतिहास को भलीभाँति समझने के लिये बहुत आवश्यक है।

गुप्त साम्राज्य का सब से पश्चिमी प्रांत सुराष्ट्र था। सम्राट् स्कंदगुप्त के समय में वहाँ का शासक पर्णदत्त था। इसी ने गिरनार की सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराया था। इसी समय में सुराष्ट्र में स्थित गुप्त सेनाओं का सेनानी भटार्क था, जो मैत्रक कुल का था। हूणों के आक्रमण के कारण सेना की महत्ता बहुत बढ़ गई थी, और दूरवर्ती प्रांत में सेनापति भटार्क के अधिकारों में भी बहुत कुछ वृद्धि हो गई थी। संभवतः, पर्णदत्त के बाद सुराष्ट्र का शासन भी उसके हाथ में आ गया था। गुप्तकाल में बहुत से ऊँचे पद वंशक्रमानुगत होते थे। भटार्क के बाद सुराष्ट्र का शासक धरसेन हुआ। भटार्क और

धरसेन दोनों शक्तिशाली सेनाओं के सेनापति थे। एक शिलालेख में भटार्क को 'मौलभृतमित्रश्रेणीबलावाप्तराज्यश्रीः' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है, कि उसने मौल, भृत, मित्रबल और श्रेणीबल के द्वारा राज्यश्री प्राप्त की थी। प्राचीन काल की मागध सेनाओं के ये चार विभाग होते थे, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं। भटार्क की अधीनता में सुराष्ट्र में जो सेनायें थीं, उनमें चारों प्रकार के ही सैनिक थे। गुप्त साम्राज्य पर हूणों के जो आक्रमण हो रहे थे, उनसे भटार्क ने लाभ उठाया, और अपनी शक्ति को बढ़ा लिया। शिला-लेखों में भटार्क और धरसेन को केवल सेनापति कहा गया है, पर धरसेन का उत्तराधिकारी द्रोणसिंह जहाँ सेनापति था, वहाँ महाराजा भी था। मतलब यह, कि वह सुराष्ट्र में एक पृथक् राज्य स्थापित करने में सफल हुआ था, जो नाम को ही गुप्तों के अधीन था। पर अभी तक वह गुप्तों के स्वामित्व को स्वीकार करता था, और इसीलिये उसने अपने शिलालेख में स्पष्ट रूप से लिखा है, कि वह 'परम भट्टारकपाद' के परम स्वामित्व को मानता था और उसी परम भट्टारकपाद ने स्वयं अपने हाथ से उसका अभिषेक किया था। पर इधर सुराष्ट्र के मैत्रक राजा तो निरंतर शक्ति प्राप्त करते जाते थे, और उधर गुप्त सम्राटों का बल क्षीण हो रहा था। परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे सुराष्ट्र के ये मैत्रक राज्य बिलकुल स्वतंत्र हो गये। पहले सुराष्ट्र की राजधानी गिरिनगर (गिर-नार) थी, बाद में मैत्रक राजाओं ने वल्लभी को अपनी राजधानी बनाया। संभवतः, छठवीं सदी के प्रारंभ तक सुराष्ट्र के मैत्रक राजा गुप्त सम्राटों के सामंत रूप में राज्य करते थे। यशोधर्मा की विजयों के समय गुप्तों की शक्ति को जो आघात लगा, उस समय वे स्वतंत्र हो गये। द्रोणसिंह के बाद तीसरी पीढ़ी में

धरसेन द्वितीय हुआ। वह स्थानेश्वर और कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का समकालीन था। हर्ष के उसके साथ अनेक युद्ध हुए थे। बाद में मैत्रक महाराज धरसेन ने हर्ष की अधीनता स्वीकृत कर ली थी, और इनके मैत्री संबंध को स्थिर रखने के लिये हर्ष ने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया था।

सुराष्ट्र की तरह मालवा में भी गुप्त साम्राज्य के ह्रास के समय एक पृथक् राज्य की स्थापना हुई। मालवा की राजधानी मंदसोर थी। वहाँ गुप्त सम्राट् की ओर से प्रांतीय शासक शासन करते थे। सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के समय में वहाँ बंधुवर्मा इस पद पर नियत था। बाद में यहाँ पर यशोधर्मा ने अपनी शक्ति का विस्तार शुरू किया, और अपने अतुल पराक्रम से उसने सारे गुप्त साम्राज्य को जड़ से हिला दिया। संभवतः, यशोधर्मा मालवा के किसी पुराने राजकुल में उत्पन्न हुआ था, और उसके पूर्वपुरुषों की स्थिति सामंतों के सदृश थी। यशोधर्मा के बाद मालवा फिर गुप्तों के अधीन नहीं रहा।

कन्नौज के मौखरि राज्य के पश्चिम में स्थानेश्वर में भी इस युग में एक स्वतंत्र राजवंश का प्रादुर्भाव हुआ। इसका संस्थापक पुष्यभूति था। उसी के कुल में आगे चल कर नरवर्धन हुआ। वह गुप्त साम्राज्य का एक सामंत था, और इसी स्थिति में स्थानेश्वर तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों का शासन करता था। नरवर्धन के बाद दूसरी पीढ़ी में आदित्यवर्धन हुआ। इसे महाराजा लिखा गया है। इसका अभिप्राय यह है, कि सामंत के रूप में इसकी स्थिति अब अच्छी ऊँची हो गई थी। आदित्यवर्धन का विवाह गुप्त वंश की राजकुमारी महासेनगुप्ता के साथ में हुआ था। इसके कारण उसका प्रभाव तथा वैभव और भी अधिक बढ़ गया था। आदित्यवर्धन

का काल छठवीं सदी के शुरू में था। हूणों के आक्रमणों और यशोधर्मा की विजययात्रा के कारण जो अव्यवस्था इस समय उत्पन्न हो गई थी, उसमें गुप्त सम्राटों के लिये यह संभव नहीं रहा था, कि वे सुदूरवर्ती स्थानेश्वर के सामंत महाराजाओं को अपने अधीन रख सकें। परिणाम यह हुआ, कि आदित्य-वर्धन स्वतंत्र राजा के रूप में राज्य करने लगा, और उसके बाद प्रभाकरवर्धन, राज्यवर्धन और हर्षवर्धन बिलकुल ही स्वतंत्र हो गये। हर्ष के समय में कन्नौज और स्थानेश्वर के राज्य किस प्रकार एक हो गये, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

सम्राट् कुमारगुप्त तृतीय के समय (छठवीं सदी के मध्य) तक बंगाल गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत रहा। पर बाद में वहां गुप्त वंश के ही एक पराक्रमी कुमार नरेन्द्रगुप्त शशांक ने अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। शिलालेखों में पहले शशांक को श्री महासामंत शशांकदेव और बाद में महाराजा-धिराज लिखा है। सातवीं सदी के शुरू तक शशांक बंगाल में अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर चुका था। इसकी राजधानी कर्णसुवर्ण थी। यह बड़ा शक्तिशाली राजा था। कन्नौज के मौखरि राजा ग्रहवर्मा को परास्त कर इसने युद्ध में मार दिया था। स्थानेश्वर के राजा राज्यवर्धन की मृत्यु भी इसी के हाथों हुई थी।

(४) मागध गुप्तवंश

दामोदरगुप्त के समय में सोन नदी से पश्चिम का सब प्रदेश मौखरियों के हाथ में चला गया था। उसके बाद महासेन राजा हुआ। गुप्तों की निर्बलता से लाभ उठा कर प्राग्ज्योतिष (आसाम) के राजा सुस्थितवर्मा ने भी स्वतंत्रता

उद्घोषित कर दी। समुद्रगुप्त के समय से आसाम के राजा गुप्त सम्राटों की अधीनता स्वीकृत करते चले आ रहे थे, और उनकी स्थिति सामंतों के सदृश थी। सुस्थितवर्मा ने अपने को महाराजाधिराज उद्घोषित किया, और गुप्तों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। पर महासेनगुप्त ने चढ़ाई कर लौहित्य नदी के तट पर उसे परास्त किया, और इस प्रकार पूर्वीय भारत में गुप्तों की शक्ति को स्थिर रखा। मौखरियों की शक्ति का मुकाबला करने के लिये उसने स्थानेश्वर के राजा आदित्यवर्धन से मैत्री स्थापित की और अपनी बहिन महासेनगुप्ता का विवाह उसके साथ कर दिया।

इस प्रकार स्थानेश्वर के राजा से संधि कर महासेनगुप्त ने मौखरि राजा अवंतिवर्मा पर चढ़ाई की। पूर्वी मालवा के अनेक प्रदेश इस समय मौखरियों के हाथ से निकल कर गुप्तों के हाथ में चले गये। इन नये जीते हुए प्रदेशों पर शासन करने के लिये महासेनगुप्त ने अपने पुत्र देवगुप्त को कुमारामात्य के रूप में नियत किया। महासेनगुप्त के समय में गुप्तवंश की शक्ति फिर बढ़ गई। आसाम से मालवा तक अपने राज्य को स्थिर रख कर वह उत्तरी भारत की एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति बन गया।

महासेनगुप्त के दो पुत्र थे, देवगुप्त और माधवगुप्त। पिता के जीवनकाल में देवगुप्त मालवा का शासक था। माधवगुप्त अपने पिता की बहिन महासेनगुप्ता के पास स्थानेश्वर में रहता था। महासेनगुप्ता के पोते राज्यवर्धन और हर्षवर्धन माधवगुप्त की आयु के थे। उनके साथ उसकी बहुत घनिष्ठ मैत्री थी। माधवगुप्त का बचपन उन्हीं के साथ में व्यतीत हुआ था।

राज्यवर्धन और हर्षवर्धन की एक बहिन भी थी, जिसका

नाम राज्यश्री था। इसका विवाह मौखरिवंश के राजा ग्रह-वर्मन के साथ में हुआ था। इस विवाह के कारण कन्नौज और स्थानेश्वर के राज्यों में घनिष्ट मैत्री स्थापित हो गई थी। पश्चिमी-भारत के इन दो शक्तिशाली राज्यों की संधि गुप्त राजाओं को बिलकुल पसंद नहीं आई। गुप्तों और मौखरियों में देर से शत्रुता चली आती थी। मौखरियों की शक्ति को कम-ज़ोर करने के लिये ही गुप्त राजा महासेनगुप्त ने स्थानेश्वर के राजा से मैत्री की थी। अब स्थानेश्वर के राजा का सहयोग पाकर कन्नौज के मौखरियों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। गुप्त राजा इसे सहन नहीं कर सके। मालवा के शासक देवगुप्त और गौड़ देश के शासक नरेंद्रगुप्त शशांक (जो स्वयं गुप्तवंश का था और अभी तक पाटलीपुत्र के गुप्त सम्राटों के महासामंत रूप में राज्य करता था) ने मिल कर कन्नौज पर आक्रमण किया। युद्ध में मौखरि राजा ग्रहवर्मा मारा गया और राज्यश्री को कारागार में डाल दिया गया। यह समाचार जब स्थाने-श्वर पहुँचा, तो वहाँ का राजा राज्यवर्धन क्रोध से आगबबूला हो गया। वह अभी हूणों के विरुद्ध काश्मीर पर चढ़ाई करके वापस लौटा था। उसने तुरंत युद्ध की तैयारी की और एक बड़ी सेना साथ में लेकर मालवराज देवगुप्त पर हमला बोल दिया। देवगुप्त स्थानेश्वर की सेना का सामना नहीं कर सका। वह परास्त हो गया और राज्यश्री कारागार से मुक्त हुई। मालवा के गुप्त शासक को परास्त कर राज्यवर्धन शशांक की ओर मुड़ा। शशांक बड़ा महत्त्वाकांक्षी और कूटनीतिज्ञ था। उसने सम्मुख युद्ध में राज्यवर्धन का मुकाबला करना उचित न जान चाल से काम लिया। उसने राज्यवर्धन के पास संदेश भेजा कि मैं संधि करना चाहता हूँ, और मैत्री को स्थिर रखने के लिये अपनी कन्या का विवाह राज्यवर्धन के साथ करने

लिये तैयार हूँ। संधि की सब बातें तय करने के लिये राज्य-वर्धन अपने साथियों के साथ शशांक के डेरे पर गया। वहाँ सब षड्यंत्र तैयार था। शशांक के सैनिकों ने अकस्मात् राज्य-वर्धन और उसके साथियों पर हमला करके उनका घात कर दिया। ये घटनायें इतनी शीघ्र और अचानक हुईं, कि सारे कन्नौज में उथल-पुथल मच गई। घबराहट और निराशा के कारण राज्यश्री को आत्मघात के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय समझ नहीं आता था। वह भाग कर विन्ध्याचल के जंगलों की तरफ चली गई।

कन्नौज के मौखरियों की सहायता के लिये जब राज्य-वर्धन ने अपनी सेना के साथ स्थानेश्वर से प्रस्थान किया था, तो वहाँ का शासनकार्य उसके छोटे भाई हर्षवर्धन के हाथ में था। अपने बड़े भाई की हत्या के समाचार को सुनकर उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। एक बड़ी सेना को साथ लेकर उसने शशांक से बदला लेने के लिये प्रस्थान किया। अपने ममेरे भाई भंडी को शशांक पर आक्रमण करने का आदेश देकर हर्षवर्धन स्वयं अपनी बहिन की खोज में निकल पड़ा। जंगल के निवासियों की सहायता से राज्यश्री को ढूँढता हुआ वह ठीक उस समय उसके पास पहुँचा, जब वह सब तरफ से निराश हो चिताप्रवेश की तैयारी में थी। हर्ष ने अपनी बहिन को बहुत समझाया। उसने कहा, शत्रु के भय से अपने राज्य की जिम्मेदारी को छोड़कर इस प्रकार आत्महत्या करना घोर कायरता है। शत्रुओं से बदला चुकाना पहला और मुख्य कर्तव्य है, जिस की उपेक्षा करना किसी भी दशा में उचित नहीं है। हर्ष के समझाने से राज्यश्री ने आत्महत्या का विचार छोड़ दिया और कन्नौज की राजगद्दी को संभालने के लिये वापस लौट आई।

अपनी बहिन के प्रतिनिधि रूप में हर्ष ने अब कन्नौज के राज्यभार को संभाल लिया। स्थानेश्वर का राजा वह अपने अधिकार से था, और कन्नौज के मौखरि राज्य का शासन वह अपनी बहिन की तरफ से करता था। दोनों राज्यों की सम्मिलित शक्ति अब बहुत बढ़ गई थी। अब हर्षवर्धन ने शशांक से बदला लेने का कार्य प्रारम्भ किया। सेनापति भंडी पहले ही शशांक से युद्ध में व्यापृत था। अब हर्ष भी पूरी शक्ति से इसमें लग गया। प्राचीन शिलालेखों से सूचित होता है, कि पूरे छः वर्ष तक हर्ष शशांक के साथ युद्ध में लगा रहा। आसाम के राजा के साथ उसने मैत्री स्थापित की। वहाँ के राजा गुप्तों के शासन से स्वतंत्र होने के प्रयत्न में थे ही। सुस्थितवर्मा के बाद भास्करवर्मा वहाँ का राजा बना था। यह भी बड़ा प्रतापी और महत्वाकांक्षी था। गुप्तवंशी शशांक के प्रभाव से मुक्त होने के लिये इसने उसके परमशत्रु हर्षवर्धन के साथ मैत्री स्थापित की। शशांक को परास्त करना सुगम बात न थी। गुप्तों की सब शक्ति उसके साथ में थी। अंत में हर्षवर्धन ने उसके साथ संधि कर ली, और उसे बंगाल के स्वतंत्र राजा के रूप में स्वीकार कर लिया।

इन सब युद्धों में माधवगुप्त हर्ष के साथ रहा। वह हर्ष का परम मित्र था, और जब अपने पिता महासेनगुप्त की मृत्यु के बाद वह पाटलीपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, तो भी हर्ष के साथ उसकी यह मित्रता कायम रही। मालवा का कुमारमात्य देवगुप्त और बंगाल का महासामंत शशांक दोनों गुप्त वंश के थे, और दोनों से हर्ष की घोर शत्रुता थी। पर पाटलीपुत्र के गुप्त सम्राट् का इन युद्धों में कोई भाग नहीं था। इसलिये जब माधवगुप्त स्वयं उस पद पर अधिष्ठित हुआ, तो भी हर्ष के साथ उसका पुराना मित्रभाव यथापूर्व बना

रहा। पर यह ध्यान रखना चाहिये, कि पाटलीपुत्र के गुप्त सम्राटों की अपेक्षा इस समय कन्नौज और स्थानेश्वर के अधिपति हर्ष का साम्राज्य बहुत विस्तृत था। माधवगुप्त ने ६०६ से ६५० ईस्वी तक राज्य किया।

उसके बाद उसका पुत्र आदित्यसेन पाटलीपुत्र का सम्राट् बना। उसके सिंहासनारूढ़ होने से एक साल पहले ६४६ ईस्वी में हर्षवर्धन की भी मृत्यु हो चुकी थी। हर्ष के बाद उसका शक्तिशाली विशाल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। काश्मीर और सिंध से बंगाल की सीमा तक अपने बाहुबल के जोर पर जो शक्ति हर्षवर्धन ने स्थापित की थी, वह उसकी मृत्यु के बाद स्थिर नहीं रह सकी। परिणाम यह हुआ, कि फिर पुराने राजवंशों और सामंतों ने सिर उठाया और अन्य महत्त्वाकांक्षी राजा अपनी शक्ति के विस्तार के लिये कटिबद्ध हो गये। मागध राजा आदित्यसेन ने भी इस परिस्थिति का लाभ उठाया। एक शिलालेख में आदित्यसेन को परम भट्टारक महाराजाधिराज की उपाधि से विभूषित किया गया है। यह उपाधि पुराने प्रतापी गुप्त सम्राटों की थी, जिसे आदित्यसेन ने फिर धारण किया था। एक अन्य शिलालेख में उसे 'पृथिवीपति' और 'आसमुद्रांत वसुन्धरा' का शासक भी कहा गया है। प्रतीत होता है, कि आदित्यसेन ने गुप्त साम्राज्य का अच्छा विस्तार किया और इसी उपलक्ष में उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया। स्कंदगुप्त के बाद गुप्त सम्राटों में आदित्यसेन ने ही पहले-पहल अश्वमेध का अनुष्ठान किया। लगभग दो सदी के बाद गुप्त सम्राटों के इस अश्वमेध से यह भली-भाँति सूचित हो जाता है, कि आदित्यसेन एक शक्तिशाली राजा था, और उसने गुप्त साम्राज्य की शक्ति का बहुत कुछ पुनरुद्धार किया था।

आदित्यसेन के बाद उसका लड़का देवगुप्त पाटलीपुत्र की राजगद्दी पर बैठा। उसे शिलालेखों में जहाँ 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' कहा गया है, वहाँ 'सकलोत्तरापथनाथ' भी कहा है। इससे प्रतीत होता है, कि आदित्यसेन द्वारा स्थापित साम्राज्य उसके समय में अक्षुण्ण रहा, और वह उत्तरी भारत के अच्छे बड़े प्रदेश में शासन करता रहा। देवगुप्त शैव धर्म का अनुयायी था।

अपने शासनकाल के अंतिम सालों में देवगुप्त के चालुक्य राजा विनयादित्य से अनेक युद्ध हुए। इस समय में दक्षिणापथ में चालुक्य वंश बहुत जोर पकड़ रहा था। उसके महत्त्वाकांक्षी राजा अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए भगीरथ प्रयत्न में लगे थे। क्योंकि उत्तरापथ इस समय गुप्तों के हाथ में था, अतः स्वाभाविक रूप से उनमें परस्पर संघर्ष हुआ, और देवगुप्त को एक बार विनयादित्य से बुरी तरह हार भी खानी पड़ी। इस समय के एक शिलालेख से आभास मिलता है, कि देवगुप्त की मृत्यु भी इन्हीं युद्धों में हुई।

देवगुप्त के बाद उसका लड़का विष्णुगुप्त गुप्त साम्राज्य का स्वामी हुआ। उसका समकालीन चालुक्य राजा विजयादित्य था; यह अपने पिता के समान प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। उसने एक बार फिर उत्तरापथ पर आक्रमण किया, और मार्ग के सब प्रदेशों को जीतता हुआ मगध तक आ पहुँचा। उसने मागध राजा को हरा कर उसके परमेश्वरत्व के निशान, गंगा यमुना के चिह्नों से अंकित ध्वज को युद्ध में छीन लिया था। चालुक्य राजा से पराजित होने वाला यह गुप्त सम्राट् संभवतः विष्णुगुप्त ही था। चालुक्यों के आक्रमण से गुप्तों की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी, और इसी कारण अनेक सामंत राजा फिर स्वतंत्र होने लग गये थे। गुप्तों की शक्ति के इस ह्रासकाल

में कन्नौज के सामंत राजाओं ने फिर सिर उठाया। वहाँ का राजा इस समय यशोवर्मा था, जो गुप्त सम्राट् अवंति के शासन-काल में अपने को गुप्तों का 'भृत्य' समझता था। पर अब वह स्वतंत्र हो गया, और उसने मगध पर चढ़ाई भी की। सोन नदी के तट पर उसने गुप्त राजा को परास्त किया और अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया।

गुप्तवंश का अंतिम राजा जीवितगुप्त था। इसका एक शिलालेख बिहार में आरा के समीप देवबरनार्क नामक स्थान पर प्राप्त हुआ है। यह एक प्राचीन विष्णुमंदिर के द्वार पर उत्कीर्ण है। इसके अध्ययन से ज्ञात होता है, कि जीवितगुप्त की छावनी (विजय स्कंधावार) गोमती नदी के तट पर स्थित थी। गोमती नदी वर्तमान संयुक्त प्रांत में है। वहाँ छावनी का होना इस बात को सूचित करता है, कि उसके पूर्व का प्रदेश अब संभवतः गुप्तों के अधिकार में नहीं रहा था। कन्नौज के राजाओं ने वहाँ तक के प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया था।

जीवितगुप्त के साथ गुप्तवंश की समाप्ति हो गई। इस समय उत्तरी भारत में अनेक महत्वाकांक्षी राजा अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। काश्मीर का राजा ललितादित्य मुक्तापीड बड़ा शक्तिशाली था। उसने पूर्व में दूर-दूर तक हमले किये थे। एक अनुश्रुति के अनुसार उसने गौड़ देश के राजा को क़ैद कर लिया था। ललितादित्य का समय ७२३ से ७६६ ईस्वी तक है। इसी समय के लगभग मगध में गुप्तवंशी राजा जीवित-गुप्त का शासन था, जिसकी अधीनता में गौड़ देश भी था। ललितादित्य द्वारा क़ैद किया जाने वाला गौड़नरेश यदि जीवित-गुप्त ही हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। उधर कामरूप और कन्नौज के राजा भी इस काल में विजययात्राओं में संलग्न

थे। यदि इनमें से कोई राजा मौर्यों और गुप्तों के समान भारत में स्थिर साम्राज्य की स्थापना कर सकता, तो बहुत उत्तम होता। पर इनकी विजययात्रायें यशोधर्मा और हर्ष-वर्धन की दिग्विजयों के समान क्षणिक और अचिरस्थायी थीं। उन्होंने भारत में कोई शक्तिशाली राज्य स्थापित करने की जगह सर्वत्र अराजकता उत्पन्न कर दी थी। जीवित-गुप्त के अंत के साथ मगध की राज्यशक्ति और पाटलीपुत्र का वैभव खाक में मिल गये। इसके बाद फिर कभी पाटलीपुत्र भारत की प्रथम नगरी का गौरवपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त कर सका।

गुप्तवंश का अंत आठवीं सदी के मध्य भाग में हुआ।

(५) चीनी यात्री ह्युएनत्सांग

गुप्तवंश के ह्रासकाल में जब थानेश्वर और कन्नौज का राजा हर्षवर्धन भारत का सब से शक्तिशाली सम्राट् था, तब एक प्रसिद्ध चीनी यात्री भारत में आया, जिसका नाम ह्युएन-त्सांग है। यह ६३० ईस्वी के लगभग भारत में पहुँचा। यह १५ वर्ष तक इस देश में रहा। यहाँ उसने केवल बौद्ध धर्म का ही भलीभाँति अनुशीलन नहीं किया, अपितु इस देश के समाज, रीति-रिवाज, ऐतिहासिक अनुश्रुति आदि का भी खूब गंभीरता से अध्ययन किया। उसने जो अपना यात्राविवरण लिखा है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्व का है। फाइयान की तरह से उसने बौद्ध धर्म के अतिरिक्त अन्य सब बातों की उपेक्षा नहीं की, अपितु बड़ी बारीकी से इस देश के जीवन के सब पहलुओं का भलीभाँति वर्णन किया है। यही कारण है, कि सातवीं सदी के भारत को भलीभाँति समझने के लिए ह्युएन-त्सांग का भारतवर्णन एक प्रकार से विश्वकोष का काम देता

है। इस चीनी यात्री का कुछ परिचय देना इस काल के इतिहास को समझने के लिये बहुत उपयोगी है।

६०० ईस्वी के लगभग कन्फ्यूशियस के धर्म को मानने वाले एक परिवार में ह्यु एनत्सांग का जन्म हुआ था। उसके तीन भाई और थे। उमर में वह सबसे छोटा था। छोटी आयु में ही उसका ध्यान बौद्ध धर्म की तरफ आकृष्ट हुआ, और उसने भिक्षु बन कर इस उन्नत धर्म का भलीभाँति अध्ययन करने का संकल्प किया। बीस वर्ष की आयु में वह भिक्षु हो गया और चीन के विविध विहारों में जाकर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया। चीन के स्थविरों से जो कुछ भी सीखा जा सकता था, उसने सीखा। पर उसे संतोष नहीं हुआ। चीनी भाषा में अनूदित बौद्ध ग्रंथों से उसकी जिज्ञासा पूर्ण नहीं हुई। उसने विचार किया कि भारत जाकर बौद्ध धर्म के मूल ग्रंथों का अनुशीलन करे, और उन पवित्र तीर्थस्थानों का भी दर्शन करे, जिनसे भगवान् बुद्ध और उनके प्रमुख शिष्यों का संबंध है। सब प्रकार की तैयारी करके २९ वर्ष की आयु में ह्यु एनत्सांग ने चीन से भारत के लिये प्रस्थान किया। इस समय चीन से भारत आने के लिए अनेक मार्ग थे, जिनमें से एक उत्तरी मध्य एशिया से होकर गया था। ह्यु एनत्सांग ने इसी मार्ग का अवलंबन किया, और यह तुरफान, ताशकंद, समरकंद और काबुल होता हुआ भारत पहुँचा। चीन से भारत पहुँचने में उसे एक साल लगा।

हिंदुकुश पर्वतमाला को पार कर वह कपिशा की राजधानी में शालोका नमाक विहार में रहा। अपना चातुर्मास्य उसने वहीं पर व्यतीत किया। वहाँ से अन्य अनेक नगरों और विहारों की यात्रा करता हुआ वह काश्मीर गया। ह्यु एनत्सांग काश्मीर में दो वर्ष तक रहा। इस युग में भी काश्मीर बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केंद्र था। ह्यु एनत्सांग ने अपने ये दो साल काश्मीर

में बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन में व्यतीत किये। काश्मीर से वह पंजाब के अनेक स्थानों का भ्रमण करता हुआ स्थानेश्वर पहुँचा। यहाँ जयगुप्त नाम का एक प्रसिद्ध विद्वान् रहता था। ह्युएनत्सांग ने उसके पास कई मास तक अध्ययन किया। वहाँ से वह कन्नौज गया, जो उस समय उत्तरी भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति था। यहीं उसका सम्राट् हर्षवर्धन से परिचय हुआ। कन्नौज से ह्युएनत्सांग अयोध्या, प्रयाग, कौशांबी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वाराणसी और वैशाली आदि होता हुआ मगध पहुँचा। पाटलीपुत्र उस समय बिलकुल क्षीण हो गया था। अब से लगभग दो सदी पहले जब फाइयान भारत आया था, तो पाटलीपुत्र में महाप्रतापी गुप्त सम्राटों का शासन था। वह नगरी न केवल एक विशाल साम्राज्य की राजधानी थी, अपितु ज्ञान, शिक्षा और संस्कृति की भी बहुत बड़ी केंद्र थी। यही कारण है, कि फाइयान ने पाटलीपुत्र में रह कर ही अपनी धर्म और ज्ञान की पिपासा को शांत किया था। पर अब गुप्तों की शक्ति के क्षीण होने और कन्नौज के मौखरि राजाओं के उत्कर्ष के कारण पाटलीपुत्र का स्थान कन्नौज ने ले लिया था। मगध के गुप्त राजा इस समय निर्बल थे और हर्षवर्धन के सम्मुख उनकी शक्ति बिलकुल फीकी थी। पिछले दिनों की अव्यवस्था और अशांति से पाटलीपुत्र का वैभव भी क्षीणप्राय हो गया था। यही कारण है कि ह्युएनत्सांग पाटलीपुत्र में देर तक नहीं ठहरा। वहाँ के प्रसिद्ध स्तूपों और विहारों का दर्शन कर वह बोधिवृक्ष के दर्शनों के लिये गया। ह्युएनत्सांग ने लिखा है, कि राजा शशांक बौद्ध धर्म से बड़ा द्वेष रखता था, वह स्वयं शैव धर्म का कट्टर अनुयायी था। उसने बोधिवृक्ष को कटवा दिया और पटना में बुद्ध के पद-चिह्नों से अंकित पत्थर को, जिसकी बौद्ध लोग पूजा करते थे,

गंगा में फिकवा दिया। ह्यूएनत्सांग ने बोधिवृक्ष के नीचे उस स्थान के दर्शन कर अपार संतोष प्राप्त किया, जहाँ भगवान बुद्ध को बोध हुआ था। भक्त लोगों ने बोधिवृक्ष का फिर से आरोपण कर दिया था। वहाँ से ह्यूएनत्सांग नालंदा गया। इस युग में यहाँ का विहार शिक्षा और ज्ञान का सब से बड़ा केंद्र था। चीनी यात्री कुछ समय तक वहाँ रहा, और बौद्ध धर्म के विविध ग्रंथों का भलीभाँति अनुशीलन किया। नालंदा से हिरण्यदेश (मुंगेर), चंपा, राजमहल, पुण्ड्रवर्धन, कर्णसुवर्ण आदि होता हुआ वह दक्षिण भारत की ओर मुड़ा। उड़ीसा तथा दक्षिण कोशल होता हुआ ह्यूएनत्सांग धनकटक पहुँचा। वहाँ अमरावती के विहार में वह कई महीने तक रहा। अमरावती से वह कांची गया। इसके बाद वह उत्तर-पश्चिम की ओर मुड़ा, और वनवासी देश होता हुआ महाराष्ट्र पहुँच गया। दक्खिन के अनेक नगरों और विहारों का भ्रमण करता हुआ ह्यूएनत्सांग सिंध और मुलतान गया। वहाँ से अनेक नवीन स्थानों का अवलोकन करता हुआ वह नालंदा गया। बौद्ध धर्म के जो ग्रंथ उसने अभी तक नहीं पढ़े थे, उन सब का इस बार उसने अनुशीलन किया।

इन दिनों कामरूप (आसाम) में भास्करवर्मा का शासन था। वह कन्नौज के सम्राट् की अधीनता स्वीकार करता था। उसने ह्यूएनत्सांग को आसाम पधारने के लिये निमंत्रण दिया। आसाम में उस समय बौद्ध धर्म का यथेष्ट प्रचार नहीं था। अतः अपने गुरु नालंदा के प्रधान आचार्य शीलभद्र की आज्ञा से ह्यूएनत्सांग ने आसाम के लिये प्रस्थान किया। भास्करवर्मा ने बड़े आदर के साथ इस प्रसिद्ध विदेशी बौद्ध विद्वान् का स्वागत किया।

इस समय सम्राट् हर्षवर्धन बंगाल में राजमहल में पड़ाव

डाले पड़े थे। जब उन्हें ज्ञात हुआ, कि ह्युएनत्सांग आसाम में है, तो उन्होंने भास्करवर्मा को यह आदेश दिया, कि इस चीनी विद्वान् को साथ लेकर गंगा के रास्ते कन्नौज आवे। हर्षवर्धन ने कन्नौज में एक बौद्ध महासभा का आयोजन किया था, जिसमें बौद्ध धर्मतत्त्वों पर विचार करने के लिये दूर-दूर से पंडितों और भिक्षुओं को निमंत्रित किया गया था। हर्ष की इच्छा थी, कि ह्युएनत्सांग भी इस महासभा में सम्मिलित हो। हर्ष के आदेश से भास्करवर्मा ह्युएनत्सांग को लेकर कन्नौज आया। वहाँ इस चीनी विद्वान् ने अपने पांडित्य का खूब प्रदर्शन किया। बाद में वह हर्ष के साथ प्रयाग गया, जहाँ सम्राट् ने बहुत दान-पुण्य किया। इस तरह १५ वर्ष के लगभग भारत में रह कर और यहाँ के बहुत से धर्मग्रंथों को साथ लेकर ह्युएनत्सांग उत्तर-पश्चिम के स्थलमार्ग से ही चीन को लौट गया।

पच्चीसवाँ अध्याय

पाल वंश का शासन

(१) अराजकता का काल

आठवीं सदी के पूर्वार्ध में मगध के गुप्त सम्राटों की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी। गुप्तों के शासन में जिस सामंत पद्धति का विकास हुआ था, वह अब अपना फल दिखा रही थी। देश में कोई एक राजा ऐसा नहीं था, जो विविध सामंतों को अपने काबू में रख सके और अव्यवस्था और अशांति की प्रवृत्तियों को दबाने में समर्थ हो। गुप्त साम्राज्य की शक्ति के समय में जो विविध राजा अधीनस्थ सामंत रूप में शासन करते थे, वे अब स्वतंत्र हो रहे थे, और उनमें से अनेक महत्त्वाकांक्षी राजा विजययात्राओं और दिग्विजयों द्वारा देश में और भी अशांति उत्पन्न कर रहे थे। यशोधर्मा और हर्षवर्धन की विजयों ने किसी स्थिर साम्राज्य की नींव नहीं डाली। अब आठवीं सदी के शुरू में अनेक ऐसे महत्त्वाकांक्षी राजकुल थे, जो इन्हीं की तरह विजययात्राओं के लिये तत्पर थे, और चारों तरफ हमले करके अन्य सामंतों को परास्त कर अपने को चक्रवर्ती सम्राट् बनाने का स्वप्न देख रहे थे। पर इनमें से किसी को भी एक स्थिर साम्राज्य बनाने में सफलता नहीं हुई। सामंत पद्धति ही इसका प्रधान कारण है।

अव्यवस्था के इस काल में मगध पर अनेक राजाओं ने हमले किये। ६३१ ईस्वी के लगभग कन्नौज के राजा यशोवर्मा ने दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया। हर्षवर्धन के कोई संतान

नहीं थी, अतः ६४८ ईस्वी के लगभग जब उसकी मृत्यु हुई, तो भंडी कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा था। भंडी हर्षवर्धन का ममेरा भाई था। यशोवर्मा संभवतः भंडी का ही वंशज था। उसने कन्नौज की राजशक्ति को फिर बढ़ाया। कवि वाक्पतिराज ने गौड़वहो में इस यशोवर्मा के विजयवृत्तांत को विस्तार के साथ लिखा है। इससे ज्ञात होता है, कि यशोवर्मा ने बंगाल पर आक्रमण किया था। उन दिनों बंगाल मगध के अधीन था और वहाँ गुप्तवंशी राजा राज्य करते थे। यशोवर्मा ने इन्हें परास्त किया और अनेक सामंत राजाओं को नष्ट किया।

७३१ ईस्वी के यशोवर्मा के आक्रमण का असर अभी दूर नहीं हुआ था, कि काश्मीर के शक्तिशाली राजा मुक्तापीड ललितादित्य ने दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया। पंजाब और मध्यदेश के विविध राजाओं को परास्त करता हुआ ललितादित्य मगध और बंगाल तक बढ़ा, और पाटलीपुत्र के गुप्त राजा को परास्त किया। ललितादित्य बड़ा प्रतापी राजा था। कन्नौज के राजवंश को भी उसने युद्ध में नीचा दिखाया था। मगध के गुप्त वंश का अंत संभवतः इसी के आक्रमणों से हुआ। दिग्विजय के बाद ललितादित्य तो अपने देश को वापिस लौट गया, पर भारत में सर्वत्र अराजकता छा गई। इस अव्यवस्था से, लाभ उठाकर आसाम के राजा श्रीहर्ष ने सिर उठाया और ६४८ ईस्वी के लगभग बंगाल और मगध पर आक्रमण किये। जब यह समाचार काश्मीर पहुँचा, तो वहाँ का राजा फिर विजययात्रा के लिये निकला। मुक्तापीड की मृत्यु हो जाने से अब वहाँ जयापीड का शासन था। वह भी अपने पिता के समान ही प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। इसने अपनी विजययात्रा में एक बार फिर मगध और बंगाल का मर्दन किया। उन दिनों

पुण्ड्रवर्धन में जयंत नाम का एक सामंत राजा राज्य करता था। जयापीड ने उसकी कन्या कल्याणदेवी के साथ विवाह किया, और जयंत को बंगाल में शासन करने के लिये नियत करके वह स्वयं काश्मीर वापस लौट आया। पर जयापीड को बंगाल तक के विस्तृत प्रदेश में स्थिर शासन स्थापित करने में सफलता नहीं हुई। यह शक्तिशाली सामंतों का युग था, जो इस अव्यवस्था के काल में सर्वत्र स्वतंत्र रूप से शासन करने के लिये सदा उत्सुक रहते थे। दिग्विजय करके जयापीड के वापस लौटते ही फिर सर्वत्र अराजकता और अव्यवस्था छा गई। जयंत इस अशांति की दशा को दूर करने में जरा भी सफल नहीं हुआ। तिब्बती लामा तारानाथ ने इस दशा का क्या ठीक वर्णन किया है—"उस समय वहाँ कोई भी एक शक्तिशाली राजा न था। ओडिविष (शायद उड़ीसा का ओड्र देश), बंगाल और पूर्व के पाँच राज्यों में हरेक ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य अपने पास-पड़ौस के प्रदेश में राजा बन बैठा था। देश में किसी राजा का शासन नहीं था।"

निःसंदेह, कन्नौज, आसाम, काश्मीर आदि के महत्त्वाकांक्षी राजाओं की निरंतर विजययात्राओं का यही परिणाम हुआ, कि सारे देश में अराजकता छा गई, और बहुत से छोटे-छोटे सामंत राजा ही नहीं, अपितु प्रत्येक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने-अपने प्रभावक्षेत्र में पृथक्-पृथक् शासन करने लगा।

(२) मात्स्य न्याय का अंत और पाल वंश का प्रारंभ

अराजकता की इसी दशा को इस काल के एक शिलालेख में 'मात्स्य न्याय' के नाम से कहा गया है। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, इसी तरह जब शक्तिशाली निर्बल के भक्षण के लिये तत्पर होता है, 'वो मात्स्य न्याय' हो जाता

है। मगध और बंगाल में अब 'मात्स्य न्याय' ही छाया हुआ था। शक्तिशाली लोग सब जगह राजा बन बैठे थे, और निर्बल सर्वसाधारण लोग उनसे परेशान थे। व्यवस्थित राजसत्ता का सर्वथा लोप हो गया था। इस दशा को दूर करने के लिये जनता ने गोपाल नामक एक वीर पुरुष को स्वयं राजा निर्वाचित किया। यह किसी प्राचीन राजकुल का कुमार नहीं था। इसका पितामह दयितविष्णु था, जो सब विद्याओं में निष्णात विद्वान् था। गोपाल के पिता का नाम वप्यट था। यह भी एक प्रसिद्ध विद्वान् था। पर इस समय देश में जो अराजकता फैली हुई थी, उससे विवश हो वप्यट ने शास्त्र छोड़कर शस्त्र को ग्रहण किया, और अनेक शत्रुओं को परास्त कर प्रसिद्धि प्राप्त की। उसका पुत्र गोपाल बड़ा वीर था। अराजकता की इस दशा में उसने अपने बाहुबल से और भी अधिक ख्याति प्राप्त की, और लोगों ने अनुभव किया कि यही वीर पुरुष देश की अशांति और अव्यवस्था को दूर कर के जनता के जान और माल की रक्षा कर सकता है। इसीलिये उसे राजा बनाया गया और इस प्रकार पाल वंश का प्रारंभ हुआ। गोपाल ने पहले बंगाल में अशांति को दूर किया, और फिर मगध को जीत कर वहाँ भी एक व्यवस्थित शासन की स्थापना की।

इस काल के एक शिलालेख में लिखा है, कि "मात्स्य न्याय को दूर हटाने के लिये प्रकृतियों ने गोपाल को लक्ष्मी का हाथ पकड़ाया, और उसे सब राजाओं का शिरोमणि बना दिया।" सर्वसाधारण जनता ने अपने मत (वोट) देकर गोपाल को राजा चुना हो, ऐसा नहीं हुआ। अपितु अपने समय की अव्यवस्था को दृष्टि में रखते हुए इस समय के विविध छोटे-छोटे राजाओं ने यह अनुभव किया, कि किसी वीर और योग्य व्यक्ति को अपना शिरोमणि बनाना चाहिये। इसी लिये वीरवर

वप्यट के पुत्र श्रीगोपाल को उन्होंने अपना अधिपति स्वीकार किया और उसके नेतृत्व में गौड़ (बंगाल) और मगध (बिहार) में फिर एक बार व्यवस्थित शासन की स्थापना हुई।

इस प्रकार गोपाल ने ७६५ ईस्वी के लगभग शासनसूत्र को अपने हाथ में लिया। उसके शासन का ठीक समय ज्ञात नहीं है। संभवतः, उसने बहुत समय तक शासन नहीं किया। उसके बाद उसका लड़का धर्मपाल राजगद्दी पर बैठा। धर्मपाल का शासनकाल ७६९ से ८०९ ईस्वी तक है। पाल वंश का यह राजा बड़ा प्रतापी था। उसके समय में पाल राजाओं का शासन सारे उत्तरी भारत में विस्तृत हो गया। धर्मपाल की विजययात्राओं का वर्णन इस काल के अनेक शिलालेखों में किया गया है। धर्मपाल ने सब से पहले कन्नौज पर आक्रमण किया। गुप्तों की शक्ति के क्षीण होने पर कन्नौज उत्तरी भारत का सब से प्रमुख नगर था। राजशक्ति की दृष्टि से पाटलीपुत्र का स्थान अब कन्नौज ने ले लिया था। मौखरि राजाओं और विशेषतया हर्षवर्धन के समय में कन्नौज का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। हर्ष के ममेरे भाई भंडी के वंश के राजा अब तक वहाँ शासन करते थे। कन्नौज के राजा यशोवर्मा का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, जिसने मगध पर आक्रमण कर वहाँ के गुप्तवंशी राजा को परास्त किया था। धर्मपाल के समय में कन्नौज का राजा इंद्रराज वा इंद्रायुध था। ७८३ ईस्वी के लगभग धर्मपाल ने इस पर आक्रमण किया, और इंद्रराज को परास्त कर उसके प्रतिद्वन्द्वी चक्रायुध को कन्नौज के राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया। संभवतः, चक्रायुध भी कन्नौज के पुराने राजवंश के साथ ही संबंध रखता था। वह धर्मपाल को अपना अधिपति स्वीकार करके, उसी की आज्ञा में रहते हुए शासन करने को तैयार था। इसी लिये धर्मपाल ने इंद्रराज को

परास्त कर उसे अपने सामंत रूप में कन्नौज की राजगद्दी पर बिठाया।

पर भारत के अन्य राजाओं ने चक्रायुध को इतनी सुगमता से कन्नौज का राजा स्वीकार नहीं किया। इसीलिये धर्मपाल को बहुत से राजाओं के साथ युद्ध करने पड़े। इस काल के लेखों के अनुसार कुरु, यदु, यवन, अवंति, गांधार, कीर, भोज, मत्स्य और मद्र आदि अनेक देशों के राजाओं को परास्त कर धर्मपाल ने उन्हें इस बात के लिये विवश किया, कि वे चक्रायुध को कन्नौज का राजा स्वीकार करें। कुरु राज्य पूर्वी पंजाब में कुरुक्षेत्र व स्थानेश्वर के समीपवर्ती प्रदेशों में था। यदु लोग मथुरा के समीप के प्रदेश में रहते थे। अवंति की राजधानी उज्जैनी थी। यवन और गांधार उत्तर-पश्चिमी पंजाब और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत के प्रदेश थे। भोज और मत्स्य देश पूर्वी राजपूताना में थे। कीर का अभिप्राय संभवतः कांगड़ा के प्रदेश से है। मद्र वर्तमान अफगानिस्तान के एक भाग का नाम था। इस प्रकार स्पष्ट है, कि धर्मपाल ने सुदूर हिंदुकुश के राजाओं को परास्त कर चक्रायुध की अधीनता स्वीकार करने के लिये मजबूर किया। इस युग में कन्नौज उत्तरी भारत का प्रधान केंद्र था, वहाँ के राजा को अन्य राजाओं के अधिपति अपना स्वामी स्वीकार करते थे। इंद्रराज को राज्यच्युत कर जब धर्मपाल ने चक्रायुध को कन्नौज का राजा बनाया, तो उत्तरी भारत के अन्य राजाओं के साथ उसे घोर युद्ध करने पड़े। पर अंत में इन सब देशों के "सामंत राजाओं को काँपते हुए राजमुकुटों समेत आदर से झुक कर उसे (चक्रायुध को) स्वीकार करना पड़ा। पंचाल के वृद्धों ने उसके लिये सोने के अभिषेकघट खुशी से पकड़े।" अभिप्राय यह है, कि पंजाब, मध्यभारत, पूर्वी राजपूताना, संयुक्तप्रांत

आदि संपूर्ण उत्तरी भारत के विविध राजा कन्नौज के जिस सम्राट् के अधीन सामंत रूप में राज्य करते थे, वह अब मगधाधिपति धर्मपाल का 'महासामंत' बन गया। इस युग में सामंत पद्धति का इतना जोर था, कि धर्मपाल ने इंद्रराज को परास्त कर न कन्नौज को सीधे अपने अधीन किया, और न चक्रायुध को एक साधारण सामंत की स्थिति में ला दिया। चक्रायुध धर्मपाल का सामंत था, और कुरु, यवन, मत्स्य आदि विविध देशों के राजा कन्नौज के महासामंत चक्रायुध के सामंत थे।

(३) राजपूत वंशों का प्रादुर्भाव

गुप्तों की शक्ति क्षीण होने पर भारत में जो बहुत से नये राजवंश शासन करने लगे, वे सामूहिक रूप से राजपूत कहे जाते हैं। भारतीय इतिहास में यह राजपूत शब्द नया है। पुराने राजवंश या तो क्षत्रियों (शुद्ध आर्य या व्रात्य क्षत्रिय) के होते थे, या ब्राह्मण, वैश्य आदि अन्य कुलों के। पर सातवीं सदी के अंतिम भाग से ऐसे अनेक नये राजकुलों का प्रारंभ हुआ, जो भारत के प्राचीन इतिहास में सर्वथा अज्ञात थे। गुर्जर, प्रतीहार, पवार, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चौहान आदि अनेक नये राजवंशों के इस काल में राज्य स्थापित हुए। अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि ये सब उन शक, कुशाण, हूण आदि विदेशी आक्रांताओं की संतान थे, जिन्होंने भारत में प्रवेश कर यहाँ की भाषा, धर्म, सभ्यता और संस्कृति को पूरी तरह अपना लिया था। भारत में आकर ये पूरी तरह भारतीय हो गये थे, और शैव, वैष्णव आदि विविध पौराणिक धर्मों को मानने लगे थे। इन्हें भारतीय समाज का ही अंग मान लिया गया था, और इनकी वीरता और युद्ध की प्रतिभा को दृष्टि में रख कर इन्हें क्षत्रिय वर्ण में शामिल कर लिया गया था। पुराने क्षत्रिय

कुलों से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिये इन्हें राजपुत्र या राज-पूत कहा गया।

ऐतिहासिकों के इस मत की पुष्टि एक प्राचीन अनुश्रुति से भी होती है, जिसके अनुसार इन राजपूतों की उत्पत्ति अग्नि-कुण्ड में हुई थी। इसीलिये इन्हें 'अग्निकुल' के राजपूत कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि इन सब को बाकायदा हिंदू समाज में शामिल करने के लिये अग्नि द्वारा इनकी शुद्धि की गई, और इसीलिये ये अग्निकुल के राजपूत कहलाये। कुछ विद्वानों ने इस मत को अस्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है, कि अग्निकुल के राजपूत शुद्ध क्षत्रिय थे, और उनका संबंध पुराने समय के सूर्य, चंद्र या अन्य राज-वंशों से था। पर हमारी सम्मति में यही मानना युक्तिसंगत है, कि जो विदेशी आक्रांता भारतीय भाषा, धर्म, आदि को स्वी-कार कर पूर्णतया इस देश के समाज के अंग बन गये थे, उन्हों ने ही गुर्जर, प्रतीहार, चालुक्य आदि विविध नये राजवंशों का प्रारंभ किया। इन राजपूत कुलों के राज्य नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं सदियों में विशेष रूप से विकसित हुए।

आठवीं सदी में इन राजपूतों के निम्नलिखित राज्य बहुत शक्तिशाली थे:—

१—भिन्नमाल (राजपूताना में जोधपुर के दक्षिण में स्थित भिनमाल) का गुर्जर प्रतीहार राज्य। पालवंशी राजा धर्मपाल के समय में वहाँ का राजा वत्सराज था। वह भी बड़ा प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था।

२—वातापी (बादामी, बंबई प्रांत के बीजापुर जिले में स्थित) का चालुक्य राज्य। इसका प्रारंभ छठवीं सदी में हुआ था। गुप्तवंश के क्षीण होने पर जब हर्षवर्धन उत्तरी भारत का सार्व-भौम अधिपति था, तब चालुक्यवंशी पुलकेशी द्वितीय दक्षिण

का सम्राट् था। पुलकेशी द्वितीय के बाद चालुक्यों का साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो गया। वातापी में पुलकेशी के वंशज राज्य करते रहे, और पूर्व में कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच में कुब्ज विष्णुवर्धन ने एक स्वतंत्र चालुक्य राज्य की स्थापना की। वह पुलकेशी द्वितीय का भाई था। आगे चलकर वातापी के चालुक्यों को राष्ट्रकूटों ने अपने अधीन कर लिया, पर पूर्वी चालुक्य वंश ग्यारहवीं सदी तक स्वतंत्र रूप से राज्य करता रहा।

३—महाराष्ट्र का राष्ट्रकूट राज्य। इसका संस्थापक दंतिदुर्ग था। उसने चालुक्य राजा कीर्तिवर्मन द्वितीय को परास्त कर अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। पहले दंतिदुर्ग वातापी के चालुक्य वंश का सामंत था, पर ७५४ ईस्वी में उसने न केवल अपने को स्वतंत्र कर लिया, पर वातापी के चालुक्य वंश का अंत कर अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारंभ किया। पालवंशी धर्मपाल का समकालीन राष्ट्रकूट राजा धारावर्ष ध्रुव था। वह बड़ा शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी राजा था। इसने दूर-दूर के प्रदेशों पर आक्रमण कर अपनी शक्ति का बहुत विस्तार किया।

इस प्रकार आठवीं सदी के अंत और नवीं सदी के प्रारंभ में भारत में तीन प्रमुख राजशक्तियाँ थीं। मगध में पालवंशी धर्मपाल का राज्य था। कन्नौज का राजा चक्रायुध उसके हाथ की कठपुतली था। पंजाब, अवंति, गांधार, मध्यभारत, और संयुक्तप्रांत के विविध देशों के राजा चक्रायुध के सामंत थे, और चक्रायुध धर्मपाल का महासामंत था। राजपूताना में गुर्जर प्रतीहार राजा वत्सराज का शासन था और दक्षिण में राष्ट्रकूट राजा ध्रुव राज्य करता था। इन तीन राजशक्तियों में अपनी सार्वभौम सत्ता के लिये इस काल में घोर संघर्ष जारी था।

(४) पालवंशी राजा धर्मपाल और देवपाल

उत्तरी भारत में जिस प्रकार धर्मपाल ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, वह भीनमाल के गुर्जर प्रतीहार राजा वत्सराज को सहन नहीं हुआ। उसने कन्नौज पर आक्रमण किया, और धर्मपाल तथा चक्रायुध को परास्त किया। वत्सराज के आक्रमण से विवश होकर धर्मपाल और चक्रायुध ने राष्ट्रकूट राजा ध्रुव से सहायता के लिये प्रार्थना की। धर्मपाल का राष्ट्रकूट राजा से घनिष्ट संबंध था। उसकी पत्नी रएणदेवी राष्ट्रकूट कुमारी थी। रएणदेवी विदिशा के राष्ट्रकूट सामंत परवल की कन्या थी। परवल राजा ध्रुव के ही कुल का था। वत्सराज के आक्रमणों से उत्तरी भारत की रक्षा करने के लिये ध्रुव ने भिन्नमाल पर हमला कर दिया। वत्सराज परास्त हुआ। कन्नौज पर अपना शासन स्थिर करने की सब आशायें छोड़ वह अपने राज्य को वापस लौट गया।

७९४ ईस्वी में राष्ट्रकूट राजा धारावर्ष ध्रुव की मृत्यु हो गई। राजगद्दी पर कौन बैठे, इसके लिये वहां झगड़े हुए। परिणाम यह हुआ, कि कुछ समय के लिए राष्ट्रकूट राजशक्ति निर्बल हो गई। इसी बीच में भीनमाल के राजा वत्सराज की भी मृत्यु हो गई थी, और उसका लड़का नागभट्ट द्वितीय गुर्जर प्रतीहारों का राजा बना था। नागभट्ट अपने पिता के समान ही वीर और महत्वाकांक्षी था। राष्ट्रकूटों के गृहकलह से लाभ उठा कर उसने तुरंत कन्नौज पर आक्रमण किया। धर्मपाल और चक्रायुध फिर परास्त हुए। पर इस समय तक राष्ट्रकूटों के आपस के झगड़े समाप्त हो चुके थे, और गोविंद तृतीय वहां की राजगद्दी पर आरूढ़ हो गया था। गोविंद तृतीय ने ध्रुव के समान फिर भीनमाल पर हमला किया। नागभट्ट

उसका मुक़ाबला नहीं कर सका। एक शिलालेख के अनुसार जिस प्रकार शरद ऋतु के आगमन से वर्षा ऋतु के बादल भाग जाते हैं, वैसे ही गोविंद तृतीय के आने के समाचार से नागभट्ट भाग गया था। गुर्जर प्रतीहारों की शक्ति को नष्ट करने के लिए ही गोविंद तृतीय ने अपने भतीजे कर्कराज को गुजरात का "महासामंताधिपति" नियत किया। राजपूताने के पड़ोस में ही एक शक्तिशाली राष्ट्रकूट सामंत के स्थापित हो जाने का परिणाम यह हुआ, कि गुर्जर प्रतीहार राजा देर तक सिर नहीं उठा सके, और कन्नौज पर अधिकार करने का उनका स्वप्न चिरकाल के लिये नष्ट हो गया।

गोविंद तृतीय केवल नागभट्ट को परास्त करके ही संतुष्ट नहीं हुआ। उसने उत्तर में हिमालय तक आक्रमण किये। ऐसा प्रतीत होता है, कि धर्मपाल और चक्रायुध गोविंद तृतीय की अधीनता स्वीकार करने लगे थे, और कुछ समय के लिये गोविंद की शक्ति सर्वप्रधान हो गई थी।

पाल वंश के राजा गोपाल और धर्मपाल बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। एक लेख में धर्मपाल को 'परम सौगत' लिखा गया है। धर्मपाल ने ही विक्रमशिला के महाविहार की स्थापना की, जो आगे चलकर नालंदा के समान ही शिक्षा और बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केंद्र बन गया।

राष्ट्रकूट राजा गोविंद के आक्रमणों से उत्तरी भारत में धर्मपाल की स्थिति डाँवाडोल हो गई थी, पर मगध और बंगाल में उसकी शक्ति अक्षुण्ण बनी रही। चालीस वर्ष के लगभग शासन करके ८०१ ईस्वी में धर्मपाल की मृत्यु हुई। उसके दो पुत्र थे, त्रिभुवनपाल और देवपाल। संभवतः, बड़े युवराज त्रिभुवनपाल की मृत्यु धर्मपाल के जीवनकाल में ही हो गई थी।

अतः धर्मपाल के बाद देवपाल मगध का राजा बना।

इन पालवंशी राजाओं की राजधानी कौन सी थी, इस विषय में ऐतिहासिकों के अनेक मत हैं। अनेक पाल राजाओं के शिलालेख पाटलीपुत्र व श्रीनगर से प्रकाशित किये गये थे, जिसे 'श्रीमज्जयस्कंधावार' कहा गया है। श्रीनगर पाटलीपुत्र का ही अन्य नाम था। यद्यपि गुप्तों के बाद पाटलीपुत्र की स्थिति भी क्षीण हो गई थी, पर इस नगर का सदियों पुराना गौरव अभी सर्वथा नष्ट नहीं हुआ था। इसीलिये पाल राजाओं ने वहां अपनी एक प्रमुख छावनी बनाई थी। संभवतः, यही नगरी उनकी राजधानी का भी काम देती थी।

धर्मपाल का उत्तराधिकारी देवपाल अपने पिता के समान ही प्रतापी और महत्वाकांक्षी था। उसके समय में पाल वंश उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गया। उसके प्रयत्न से मगध एक बार फिर उत्तरी भारत की प्रधान राजशक्ति बन गया। उसके चचा (धर्मपाल के भाई) वाक्पाल के पुत्र जयपाल ने उत्कल (उड़ीसा) और प्राग्ज्योतिष (आसाम) पर विजय स्थापित की। जयपाल देवपाल का प्रधान सेनापति था। पूर्व में समुद्रपर्यंत अपनी शक्ति को स्थापित कर देवपाल ने पश्चिम और दक्षिण में आक्रमण करने शुरू किये। धीरे-धीरे हिमालय और विन्ध्याचल के बीच का सब प्रदेश पाल साम्राज्य के अधीन हो गया। चक्रायुध के बाद कन्नौज में किसका शासन था, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। पर देवपाल ने कन्नौज-पति और उसके अधीन सब सामंत राजाओं को जीत कर अपने अधीन कर लिया था, इसमें कोई संदेह नहीं। नागभट्ट द्वितीय का उत्तराधिकारी गुर्जर प्रतीहार राजा रामभद्र बहुत निर्बल था। उधर राष्ट्रकूट राजा गोविंद तृतीय की भी ८१४ ईस्वी में

मृत्यु हो गई थी। उसका उत्तराधिकारी कौन हो, इस संबंध में झगड़े चल रहे थे। ऐसी परिस्थिति में देवपाल का मुकाबला कर सकने वाली कोई शक्ति उत्तरी भारत में न थी। परिणाम यह हुआ, कि उसने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया और काश्मीर से प्राग्ज्योतिष तक उसका अबाधित शासन स्थापित हो गया। अपने विरोधियों को परास्त कर जब अमोघवर्ष राष्ट्रकूट राजा बना, तो उसने देवपाल पर आक्रमण किया। पर विन्ध्याचल के समीप देवपाल ने उसे बुरी तरह परास्त किया। उड़ीसा के दक्षिण के कुछ अन्य राज्यों को भी उसने अपने अधीन किया।

(५) राजा मिहिरभोज.

पर देवपाल की यह शक्ति देर तक कायम नहीं रह सकी। ८३६ ईस्वी में भीनमाल के गुर्जर प्रतीहार राजा रामभद्र की मृत्यु हुई। उसके बाद उसका लड़का भोज, मिहिरभोज या आदिवराह भीनमाल के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। यह भोज बड़ा शक्तिशाली राजा हुआ है। इसके राजा बनते ही स्थिति ने एक बार फिर पलटा खाया। मिहिरभोज ने अपने पितामह नागभट्ट द्वितीय का अनुकरण करते हुए एक बार फिर कन्नौज पर आक्रमण किया। इस बार देवपाल उसका मुकाबला नहीं कर सका। वह परास्त हो गया, और कन्नौज स्थिर रूप से गुर्जर प्रतीहारों के हाथ में चला गया। मिहिरभोज ने भीनमाल की जगह कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। इस युग में कन्नौज की स्थिति मुगल युग की दिल्ली के समान थी। कन्नौज के हाथ आते ही उत्तरी भारत के विविध देशों के सामंत राजा भी भोज के अधीन हो गये।

मिहिरभोज का साम्राज्य बड़ा विस्तृत था। पश्चिम में

मुलतान, उत्तर में काश्मीर, दक्षिण में विन्ध्याचल और पूर्व में सोन नदी तक मिहिर का साम्राज्य विस्तृत था। काठियावाड़ का प्रदेश भी उसके अधीन था। पाल राजा उसके सम्मुख बिलकुल निष्प्रभ हो गये थे। मिहिरभोज ने ८३६ ईस्वी से ८९० ईस्वी तक कुल ४५ वर्ष राज्य किया। उसके समय में एक बार फिर उत्तरी भारत में एक शक्तिशाली स्थिर साम्राज्य की स्थापना हुई, सामंत राजा निर्बल हुए और देश में लगभग एक सदी तक विस्थित और शांतिमय शासन कायम हुआ। मिहिरभोज की विजयों के कारण पालवंशी देवपाल का राज्य केवल वर्तमान बिहार प्रांत और बंगाल में ही सीमित रह गया।

८५१ ईस्वी में देवपाल की मृत्यु हुई। उसके बाद उसके भतीजे विग्रहपाल ने तीन वर्ष तक राज्य किया। विग्रहपाल देवपाल के चचेरे भाई जयपाल का पुत्र था। राजा बनने के समय तक उसकी आयु काफी हो चुकी थी, उसकी प्रवृत्ति भी वैराग्य की ओर थी। अतः केवल तीन वर्ष तक शासन करके विग्रहपाल ने राज्य का भार अपने पुत्र नारायणपाल को सौंप दिया। उसने ५४ वर्ष तक (८५४ से ९०८ तक) राज्य किया। ८७१ ईस्वी में मिहिरभोज ने फिर बिहार पर आक्रमण किया। तिरहुत और राजशाही के इलाके इस आक्रमण में नारायणपाल से जीत लिये गये। मिहिरभोज को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। उसने फिर पाल राज्य पर हमले किये। इस बार मगध भी गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। नारायणपाल का अधिकार केवल वंग और दक्षिणी बंगाल पर ही रह गया। पाटलीपुत्र अब पालों के हाथमें नहीं रहा था। अतः पालों का 'श्रीमज्जयस्कंधावार' अब पाटलीपुत्र की जगह मुंगेर (मुद्गगिरि) में चला गया।

इन विजयों के परिणामस्वरूप गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य की सीमा पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक विस्तृत हो गई। कलिंग (उड़ीसा) देश भी इन शक्तिशाली सम्राटों के अधीन था, और कन्नौज का साम्राज्य अब एक बार फिर बंगाल की खाड़ी से काठियावाड़ (अरब सागर के तट पर) तक और काश्मीर से विन्ध्याचल तक विस्तृत हो गया।

८६० ईस्वी में मिहिरभोज की मृत्यु होने पर उसका लड़का महेंद्र कन्नौज के राज सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसने ९०७ ईस्वी तक कुल १७ वर्ष राज्य किया। महेंद्र के बाद महीपाल गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य का स्वामी बना। इसके शासनकाल के प्रारंभ में ही नारायणपाल ने मगध का उत्तरी भाग फिर अपने अधीन कर लिया। नारायणपाल का एक लेख उद्दण्डपुर (वर्तमान बिहार शरीफ) से मिला है, जिससे सूचित होता है, कि अपने शासनकाल के अंतिम दिनों में उसने पाल वंश की शक्ति का थोड़ा पुनरुद्धार करने में सफलता प्राप्त की थी।

महेंद्र के बाद महीपाल के शासनकाल में गुर्जर प्रतीहारों की घटती कला का प्रारंभ हुआ। इस समय विन्ध्याचल के दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा फिर जोर पकड़ रहे थे। उनका राजा कृष्ण (८८४ से ९११ ईस्वी तक) बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। उसकी कन्नौज के साम्राज्य से पुरानी शत्रुता थी। कृष्ण के एक लेख से सूचित होता है, कि उसने विन्ध्याचल के उत्तर में मगध, अंग और गौड़ देशों को अपने अधीन किया। इन देशों का राजा इस समय पालवंशी नारायणपाल ही था। वह गुर्जर प्रतीहारों के मुकाबले में राष्ट्रकूटों से मैत्री करने और उनकी सहायता प्राप्त करने के लिये सदा उत्सुक रहता था। इसी लिये उसने अपने लड़के राज्यपाल का विवाह एक राष्ट्रकूट कुमारी के

साथ किया था। संभवतः, कृष्ण ने नारायणपाल की सहायता प्राप्त करने के लिये ही उत्तर भारत में प्रवेश किया था, और गुर्जर प्रतीहारों के विरुद्ध अंग, मगध और गौड़ देशों को अपने संरक्षण में ले लिया था। राष्ट्रकूटों का एक लेख बिहार में गया से मिला है। इससे सूचित होता है, कि वस्तुतः ही कृष्ण के समय में दक्षिण के इन शक्तिशाली राजाओं का प्रभाव मगध में विद्यमान था।

राष्ट्रकूट तो गुर्जर प्रतीहारों के विरुद्ध बद्धगहस्त थे ही, अब महीपाल के शासनकाल में उनके अपने साम्राज्य में से भी अनेक अधीनस्थ राजा स्वतंत्र होने लगे। इनमें मालवा और बुंदेलखंड के सामंत राजा मुख्य हैं। इसी समय कृष्ण के उत्तराधिकारी राष्ट्रकूट राजा इंद्र नित्यवर्ष ने बहुत बड़ी सेना के साथ उत्तरी भारत पर आक्रमण किया। उसने सीधा कन्नौज पर हमला कर इस समृद्ध नगरी का बुरी तरह सत्यानाश किया। गुर्जर प्रतीहार राजा महीपाल उसके सम्मुख न ठहर सका, प्रयाग तक उसका पीछा किया गया, और राष्ट्रकूट सेनाओं के घोड़ों ने गंगा का जल पान कर अपनी प्यास को बुझाया। राष्ट्रकूटों के इस हमले से कन्नौज की राजशक्ति को जबर्दस्त धक्का लगा। इसके बाद गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य निरंतर निर्बल ही होता गया, और उसके भग्नावशेष पर अनेक स्वतन्त्र राजपूत राज्यों की स्थापना हुई।

(६) पालवंश के अन्य राजा

नारायणपाल के बाद राज्यपाल (६०८ से ९३२ ईस्वी तक) और गोपाल द्वितीय (९३२ से ९६९ ईस्वी तक) पाल राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हुए। ९१६ ईस्वी के इंद्र नित्यवर्ष के आक्रमणों से कन्नौज की शक्ति अत्यंत निर्बल हो गई थी। इस

परिस्थिति से इन्होंने लाभ उठाया, और अपने वंश की शक्ति को बढ़ाने के लिये प्रयत्न किया। पर पाल वंश के ये राजा देर तक शांतिपूर्वक मगध में शासन नहीं कर सके। गुर्जर प्रतीहारों के विरुद्ध विद्रोह करके जो अनेक राजा इस समय उत्तरी भारत में स्वतंत्र हो गये थे, उनमें से बुंदेलखंड के चंदेलों का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इनका राजा यशोवर्मन (९२५ से ९५० ईस्वी तक) बड़ा शक्तिशाली था। उसने चारों ओर के प्रदेशों पर आक्रमण कर अपनी शक्ति को बहुत बढ़ाया। कालंजर को जीत कर उसने कलचूरि राजाओं को परास्त किया। कन्नौज पर हमला करके वह विष्णु भगवान की एक पवित्र मूर्ति को अपने साथ ले गया और खजुराहो के एक विशाल मंदिर में उसकी प्रतिष्ठा की। पूर्व की तरफ उसने मगध, मिथिला और गौड़ देश तक आक्रमण किये। यशोवर्मन के हमलों के कारण गोपाल द्वितीय को मगध छोड़कर मुंगेर की पहाड़ियों में भाग जाना पड़ा। पाल वंश की राजलक्ष्मी एक बार फिर परास्त हो गई।

गोपाल द्वितीय का उत्तराधिकारी विग्रहपाल द्वितीय (९४८ से ९७२ ईस्वी तक) था। उधर जेजाकभुक्ति (जझौती या बुंदेलखंड) के चंदेलवंश में यशोवर्मन का उत्तराधिकारी राजा धंग (९५० से ९९९ ईस्वी तक) था। यह भी अपने पिता के समान ही प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। इसके सम्मुख पालवंशी राजा विग्रहपाल द्वितीय अपना सिर नहीं उठा सका, और उसे पहाड़ों में ही आश्रय लिये रहने के लिये विवश होना पड़ा। धंग के बाद चंदेलों की शक्ति निर्बल पड़ने लगी। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर विग्रहपाल द्वितीय के उत्तराधिकारी महीपाल (९७२ से १०२६ ईस्वी तक) ने फिर अपने वंश की कीर्ति को

स्थापना की।

महीपाल को अपनी शक्ति के पुनरुद्धार में सफलता का एक बड़ा कारण यह भी था, कि इस समय में ग़ज़नी के तुर्क मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण करना प्रारंभ कर दिया था। पहले सुबुक्तगीन और बाद में महमूद ग़ज़नवी ने भारत पर अनेक हमले किये। उत्तर-पश्चिमी भारत के सब राजा इन हमलों का मुकाबला करने में व्यापृत थे। बुंदेलखंड के चंदेल, कन्नौज के गुर्जर प्रतीहार और जालंधर के कालचूरि, सब राजा इस समय अपने एक शक्तिशाली विदेशी शत्रु का सामना करने में लीन थे। उन्हें यह अवकाश नहीं था, कि पूर्वी भारत की तरफ ध्यान दे सकें। परिणाम यह हुआ, कि महीपाल को अपनी शक्ति के विस्तार का अवसर मिल गया, और उसने धीरे-धीरे बिहार व बंगाल में फिर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया।

पर महीपाल भी देर तक शांति के साथ अपने नये प्राप्त किये हुए राज्य पर शासन नहीं कर सका। इसी समय में सुदूर दक्षिण में तामिल चोल राजा बड़े शक्तिशाली थे। उनकी राजधानी तंजोर थी। चोल सम्राट् राजराज (९८५ से १०१२ ईस्वी तक) बड़ा प्रतापी था। पांड्य, केरल, सिंहल और हिंद महासागर के अनेक द्वीप उसके साम्राज्य में शामिल थे। पर वह इतने से ही संतुष्ट नहीं था। पूर्वी चालुक्य राजाओं को भी उसने परास्त किया, और धीरे धीरे वह सारे दक्षिणी भारत का सम्राट् हो गया। इस समय तक राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी, और दक्षिण में उनका स्थान चालुक्यों ने ले लिया था। राजराज ने उन को भी परास्त कर अपने अधीन किया।

चोल सम्राट् राजराज का उत्तराधिकारी राजेंद्र हुआ।

उसका समय १०१२ से १०४२ ईस्वी तक है। इसने चोल साम्राज्य को और भी विस्तृत किया। १०२३ ईस्वी में राजेंद्र ने भारत के पूर्वी तट के साथ-साथ उत्तर की ओर बढ़ कर कलिंग को विजय किया और फिर बंगाल पर आक्रमण किया। पालवंशी राजा महीपाल उसके सम्मुख असहाय था। वह परास्त हो गया, और गंगा तक के प्रदेशों को जीतकर, गंगा के प्रशस्त घाटों में अपने हाथियों व सैनिकों को स्नान करा तथा समृद्ध मगध, अंग और वंग को अपने अधीन कर राजेंद्र चोल अपने देश को वापिस लौट गया। इसी विजय के उपलक्ष में उसने 'गंगैकोण्ड' (गंगा का विजेता) की उपाधि धारण की। राजेंद्र की सामुद्रिक शक्ति भी बड़ी विशाल थी। उसने अपने जंगी बेड़े को साथ ले समुद्रपार श्रीविजय के साम्राज्य पर चढ़ाई की। इस साम्राज्य में उस समय बरमा, मलाया, सुमात्रा और जावा आदि समुद्रपार के भारतीय उपनिवेश शामिल थे। श्री विजय के शैलेंद्र राजा उसका मुकाबला नहीं कर सके। उन्होंने सम्राट् राजेंद्रदेव गंगैकोण्ड की अधीनता स्वीकार कर ली।

सम्राट् राजेंद्र चोल ने स्थिर रूप से उत्तरी भारत पर शासन करने का प्रयत्न नहीं किया। उसका आक्रमण दिग्विजय के रूप में था। उसके वापिस लौटते ही महीपाल फिर मगध और बंगाल पर शासन करने लगा। पर इस चोल सम्राट् के आक्रमण के कारण उसकी शक्ति और स्थिति को जबर्दस्त धक्का लगा था। उसकी स्थिति अब एक निर्बल स्थानीय राजा से अधिक नहीं रह गई थी। १०२६ ईस्वी में महीपाल की मृत्यु हुई, और उसका लड़का नयपाल (१०२६ से १०४१ ईस्वी तक) राजा बना।

इस समय में कलचुरि वंश की शक्ति बहुत बढ़ रही थी। तुर्कों के हमलों से कन्नौज के गुर्जर प्रतीहार वंश और बुंदेलखंड के चंदेलवंश की शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई थी। पर कलचुरि वंश पर तुर्कों के हमलों का विशेष प्रभाव नहीं हुआ था। यही कारण है, कि अब कलचुरि राजा, जो पहले चंदेलों के सामंत थे, स्वतंत्र हो गये और अवसर पाकर अपने राज्य को बढ़ाने के लिये उद्योग करने लगे। दक्षिण के चोल आक्रमण से महीपाल की शक्ति को जबर्दस्त धक्का लगा था, पर कलचुरि राजा इस आक्रमण से भी बच रहे थे।

इस समय कलचुरि वंश का राजा कर्ण था। उसका शासन-काल १०४१ से १०७३ ईस्वी तक है। उसने राजगद्दी पर बैठते ही मगध पर हमला किया। विक्रमशिला के आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान ने कर्ण और नयपाल दोनों को समझाया, कि जब भारत पर तुर्कों के हमले हो रहे हैं, तो आपस में लड़ना उचित नहीं है। परिणाम यह हुआ, कि दोनों ने परस्पर संधि कर ली, और मगध पर पाल वंश का शासन कायम रहा।

नयपाल के बाद विग्रहपाल तृतीय पालवंश का राजा बना। उसका काल १०४१ से १०५४ ईस्वी तक है। कलचुरि राजा कर्ण के साथ नयपाल की जो संधि हुई थी, वह देर तक कायम नहीं रह सकी। कुछ समय बाद ही कर्ण ने फिर पाल राज्य पर आक्रमण किया। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार इस बार विग्रहपाल तृतीय से कर्ण को मुँह की खानी पड़ी। आखिर, उनमें परस्पर संधि हो गई, और दोनों राजवंशों में मैत्री भाव को स्थिर रखने के लिये कर्ण ने अपनी कन्या यौवनश्री का विवाह विग्रहपाल के साथ कर दिया।

इसी समय विन्ध्याचल के दक्षिण में चालुक्यवंशी सोमे-
श्वर प्रथम (१०४४ से १०६८ ई० तक) का राज्य था। इसकी
राजधानी कल्याणी थी। सोमेश्वर के शासनकाल में ही उसके
पुत्र विक्रमादित्य ने महाकोशल और कलिंग के रास्ते उत्तरी भारत
पर आक्रमण किया। कामरूप (आसाम) और गौड़ के प्रदेश
विक्रमादित्य (विक्रमांक) ने जीत लिये, और विग्रहपाल तृतीय
को बुरी तरह परास्त होना पड़ा। नेपाल की सीमा तक इस
समय चालुक्यों का अधिकार हो गया। पर चालुक्य विक्रमा-
दित्य का यह आक्रमण भी एक विजययात्रा से अधिक नहीं
था। उसके वापिस लौटते ही पाल राज्य फिर से कायम हो
गया। चालुक्यों ने स्थिर रूप से उत्तरी भारत पर शासन करने
का प्रयत्न नहीं किया। पर इस आक्रमण का एक स्थिर प्रभाव
भी हुआ। चालुक्य सेना में बहुत से दक्षिण व कर्णाटकी सर-
दार थे, जो अब अपने सैनिकों व अनुयायियों के साथ बंगाल
और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में बस गये। शुरू में इनकी
स्थिति सामंतों और जागीरदारों की रही। पर अवसर आने
पर इनमें से अनेक शक्तिशाली सरदारों ने अपने स्वतंत्र राज्य
स्थापित करने का प्रयत्न किया। बंगाल का सेनवंश इन्हीं कर्णाट
सरदारों द्वारा शुरू हुआ।

विग्रहपाल तृतीय के तीन पुत्र थे, महीपाल द्वितीय, शूरपाल
और रामपाल। विग्रहपाल की मृत्यु के बाद १०५४ ईस्वी में
महीपाल द्वितीय राजा बना। वह बड़ा अत्याचारी, क्रूर और
अदूरदर्शी था। एक भविष्यवाणी से भयभीत होकर उसने अपने
दोनों भाइयों को कैद में डाल दिया। प्रजा और सामंत राजाओं
पर भी उसने अत्याचार करने शुरू किये। उसकी अनीति से
तंग आकर वारेन्द्री के कैवर्त्तों ने विद्रोह किया। इनका नेता

दिव्योक था। मंत्रियों की यह सम्मति थी, कि कैवर्तों से लड़ाई न ठानी जाय। पर महीपाल ने यह स्वीकार नहीं किया। आखिर इसी युद्ध में लड़ते हुए महीपाल द्वितीय की मृत्यु हुई। दिव्योक ने गौड़ देश में अपना स्वतंत्र राज्य कायम किया। महीपाल की मृत्यु के बाद मंत्रियों ने शूरपाल और रामपाल को कैदखाने से मुक्त किया और बड़े भाई शूरपाल को राजगद्दी पर बिठाया।

अव्यवस्था के इस काल में पाल राजाओं के अधीन अनेक सामंत राजा स्वतंत्र हो गये। शूरपाल उन्हें अपने अधीन नहीं कर सका। उसने बहुत थोड़े समय तक शासन किया और फिर रामपाल पालवंश की राजगद्दी पर आसीन हुआ। इस के दरबार में संध्याकर नंदी नाम का एक कवि था, जिसने राम-चरित नामक संस्कृत का काव्य लिखा है। यह द्व्यर्थक काव्य है। रामायण की सारी कथा के साथ-साथ इसमें राजा रामपाल का भी चरित दिया गया है, और टीका में दोनों अर्थों को भलीभांति स्पष्ट कर दिया गया है। इस काव्य के आधार पर हमें रामपाल का वृत्तांत बड़े विस्तार के साथ ज्ञात होता है।

सामंत राजाओं को फिर से काबू में लाने में इसे अच्छी सफलता मिली। राजगद्दी पर बैठते ही पहले उसने मगध के विद्रोही सामंत देवरक्षित पर आक्रमण किया। यह गया के समीप पीठी का एक शक्तिशाली जागीरदार था। अपने मामा, अंग के सामंत राष्ट्रकूट वंशी मथनदेव की सहायता से राम-पाल ने देवरक्षित को परास्त किया। इसके बाद अन्य विविध सामंत राजाओं को फिर से अपना अनुयायी बनाने के लिये रामपाल ने अपने राज्य का दौरा किया। देवरक्षित के परास्त हो जाने से अन्य सामंतों पर रामपाल की धाक भलीभांति जम

गई थी। उन्होंने रामपाल की अधीनता स्वीकार कर ली। राम-पाल ने भी उन्हें नई-नई जागीरें देकर संतुष्ट किया, और बदले में सहायता प्राप्त करने का वचन लिया। इस प्रकार अपने राज्य में व्यवस्था और शांति स्थापित करके रामपाल ने कैवर्तों पर आक्रमण किया। अब कैवर्त पाल राजा का सामना नहीं कर सके। वे परास्त हो गये, और सारे बंगाल बिहार पर रामपाल का व्यवस्थित शासन स्थापित हो गया। इसके बाद काम-रूप की विजय की गई, और वहाँ पर शासन करने के लिये वैद्य-देव को सामंत रूप में नियत किया गया। रामपाल पाल वंश की शक्ति को फिर से स्थापित करने में सफल हुआ। उसका शासन-काल १०७७ से ११०२ ईस्वी तक है।

रामपाल के बाद उसका लड़का कुमारपाल राजा बना। उस ने केवल चार साल तक राज्य किया। फिर गोपाल तृतीय राजा बना। उसके विरुद्ध षड्यंत्र करके उसके चाचा (कुमारपाल के भाई) मदनपाल ने राज्य प्राप्त किया। मदनपाल ने कुल १९ वर्ष तक (११०६ से ११२५ ई० तक) शासन किया। प्रतापी राम-पाल ने जिस व्यवस्थित राज्य की स्थापना की थी, उसके निर्बल उत्तराधिकारी उसे संभाल नहीं सके। सामंतों के विद्रोह फिर शुरू हो गये। चालुक्य राजा विक्रमादित्य के आक्रमण के समय में जो अनेक दक्षिणी कर्णाट सरदार बिहार बंगाल में बस गये थे, उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इन्हीं में से एक शक्तिशाली कर्णाट सरदार लाढ देश (पश्चिमी बंगाल) में बस गया था। वह रामपाल के समय में सामंत रूप में अपनी जागीर का शासन करता था और कैवर्तों के विरुद्ध लड़ाई में उसने रामपाल की सहायता भी की थी। लाढ के इसी कर्णाट सामंत के कुल में विजयसेन हुआ, जो मदनपाल का समका-

लीन था। पाल वंश की निर्बलता से लाभ उठा कर विजयसेन लाढ में स्वतंत्र हो गया, और एक नये वंश का प्रारंभ किया, जो इतिहास में सेनवंश के नाम से प्रसिद्ध है। धीरे-धीरे विजयसेन ने बंगाल के अन्य प्रदेशों पर भी हमले किये, और सारे बंगाल से पाल वंश के शासन का अंत कर अपना राज्य कायम कर लिया।

उत्तरी बिहार में (तिरहुत में) भी एक अन्य दक्खिनी कर्णाट सरदार ने अपना स्वतंत्र राज्य कायम किया। इसका नाम नान्यदेव था।। वह भी विजयसेन के समान ही प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। विजयसेन और नान्यदेव के विद्रोहों के कारण मदनपाल का पाल राज्य केवल मगध में ही सीमित रह गया। खास मगध में भी अनेक छोटे-छोटे सामंतों ने विद्रोह किये, पर वे मदनपाल के विरुद्ध स्वतंत्रता प्राप्त करने में सफल नहीं हो सके।

(७) मुसलिम आक्रमणों का प्रारंभ

सातवीं सदी में अरब में एक महापुरुष का जन्म हुआ, जिसका नाम मुहम्मद है। उसके समय में अरब की हालत बहुत खराब थी। वहां बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे, जो सदा आपस में लड़ते रहते थे। राजनीतिक एकता का अरब में सर्वथा अभाव था। धर्म की दृष्टि से भी अरब लोग बहुत हीन दशा में थे। वे विविध देवी-देवताओं को मानते थे और अनेक विधि-विधानों व अनुष्ठानों से उनकी पूजा करते थे। स्त्रियों की स्थिति अरबों में बहुत हीन थी। अरब पुरुष जितनी स्त्रियों से चाहें, विवाह कर सकते थे। मुहम्मद ने इस दशा से अरब का उद्धार किया। उसने अरब के धर्म में बहुत से सुधार

किये। उसने कहा, ईश्वर एक है। ईश्वर की मूर्ति नहीं होती और उसकी उपासना के लिये मंदिर की आवश्यकता नहीं। ईश्वर पर विश्वास रखना और उसे सारे संसार का स्वामी मानना प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। सब मनुष्य एक दूसरे के बराबर हैं, कोई ऊँचा या नीच नहीं है। मुहम्मद के धर्म-विषयक विचारों का पहले-पहल बहुत विरोध हुआ। पर धीरे-धीरे अरब लोग उसके अनुयायी होने लगे। कुछ ही समय बाद, सारा अरब मुहम्मद की शिक्षाओं को मानने लग गया। मुहम्मद ने जिस नये धर्म का प्रारंभ किया, उसका नाम इस्लाम है। ईश्वर ने मुहम्मद द्वारा जिस सत्यज्ञान को मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिये अभिव्यक्त किया था, उसका नाम कुरान है। मुसलमान लोग मुहम्मद को ईश्वर का पैगंबर और कुरान को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं।

मुहम्मद केवल धर्मसुधारक ही नहीं था। उसने अरब की विविध जातियों को संगठित कर एक सूत्र में बाँधने के लिये भी अनुपम कार्य किया। अरब के अनेक छोटे-छोटे राज्यों का अंत कर उसने एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण किया। मुहम्मद ने अरब लोगों में इस तरह नवजीवन और स्फूर्ति का संचार किया कि वे पिछड़े हुए न रह कर एक शक्तिशाली तथा महत्त्वाकांक्षी लोग बन गये। मुहम्मद के उत्तराधिकारियों ने अरब की इस नई शक्ति का उपयोग साम्राज्य के विस्तार के लिये किया। खलीफाओं के नेतृत्व में अरबों ने चारों ओर हमले शुरू किये। देखते-देखते सीरिया, ईजिप्ट, उत्तरी अफ्रीका, स्पेन और ईरान अरबों के हाथ में चले गये। फ्रांस में लोयर नदी से लेकर एशिया में आक्सस और काबुल नदियों तक अरबों का साम्राज्य विस्तृत हो गया।

अब अरब साम्राज्य की सीमा भारत से आ लगी थी। आठवीं सदी के शुरू में भारत में कोई एक शक्तिशाली सम्राट् नहीं था। गुप्त साम्राज्य क्षीण हो चुका था। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद कन्नौज के राजाओं की शक्ति भी शिथिल हो गई थी। पश्चिमी भारत में विविध राजा राज्य कर रहे थे, जो अब किसी शक्तिशाली सम्राट् के सामंत न होकर स्वतंत्र शासक थे। सिंध में इस समय दाहिर नाम के राजा का राज्य था। अरब साम्राज्य के खलीफा के आदेश पर मुहम्मद कासिम ने ७१२ ईस्वी में एक बड़ी सेना के साथ सिंध पर आक्रमण किया। दाहिर ने अरब आक्रांताओं के खिलाफ बड़ी वीरता प्रदर्शित की। उसने एक-एक कदम पर मुहम्मद कासिम का मुकाबला किया। दाहिर युद्ध में मारा गया। उसकी मृत्यु से भी सिंध के लोग निराश नहीं हुए। दाहिर की विधवा रानी ने अब उनका नेतृत्व किया। पर आखिरकार अरबों ने सिंध की राजधानी अलोर को घेर लिया। सिंध की सेनाओं ने वीरता के साथ अपनी राजधानी की रक्षा के लिये युद्ध किया, पर अंत में वे परास्त हो गये और सिंध पर अरबों का अधिकार स्थापित हो गया। अरब लोग भारत में और आगे बढ़ कर अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहते थे। पर वे सफल नहीं हो सके। कारण यह कि उनकी बाढ़ को रोकने के लिये गुर्जर प्रतीहारों की मजबूत दीवार कायम थी। भीनमाल में इन वीर राजपूतों का स्वतंत्र राज्य कायम था। इनको परास्त कर अरब लोग भारत में आगे नहीं बढ़ सके। बाद में गुर्जर प्रतीहारों ने कन्नौज को भी जीत लिया, और वे उत्तरी भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति बन गये। अरबों ने गुर्जर प्रतीहारों के विरुद्ध दक्षिण के राष्ट्रकूट राजाओं से भी संधि की। पर उन्हें सिंध से आगे बढ़ने में सफलता नहीं मिली।

अरब लोगों ने ईरान के सासानी राज्य को जीत करके अपने अधीन कर लिया था। वे उत्तर-पूर्व में उससे आगे बढ़े। मध्य एशिया उस समय भारत का ही एक अंग था। खोतान आदि विविध प्रदेशों में भारतीय धर्म, भाषा और सभ्यता का प्रचार था। मध्य एशिया के भारतीय राज्य लगभग आधी सदी तक अरबों का सफलता के साथ मुकाबला करते रहे। पर ७५१ ईस्वी में समरकंद के पास अरबों ने उन्हें परास्त किया, और ये सब प्रदेश अरब साम्राज्य में सम्मिलित हो गये। तब से वहाँ के बौद्ध लोग इस्लाम के अनुयायी होने लगे और धीरे-धीरे सारे मध्य एशिया के लोग मुसलमान धर्म में दीक्षित हो गये।

हूणों की एक शाखा का नाम तुर्क था। मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेशों के संपर्क में आने के कारण इन तुर्कों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। ये बौद्ध तुर्क विशाल अरब साम्राज्य की उत्तर-पूर्वी सीमा पर रहते थे। आठवीं और नवीं सदियों में अरबों का साम्राज्य अक्षुण्ण रूप से कायम रहा। सिंध से स्पेन तक विस्तृत यह अरब साम्राज्य बड़ा शक्तिशाली और वैभवसंपन्न था। पर जिस प्रकार गुप्त साम्राज्य पर हूणों के आक्रमण शुरू हुए थे, और उनके कारण विशाल गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था, वैसे ही अब हूणों की बौद्ध धर्मावलंबी तुर्क शाखा ने उत्तर की तरफ से अरब साम्राज्य पर हमले शुरू किये। वैभवपूर्ण अरब शासक इनका मुकाबला नहीं कर सके और अरब साम्राज्य के भग्नावशेष पर अनेक तुर्क राज्य कायम हुए।

यद्यपि अरब साम्राज्य इन आक्रमणों से नष्ट-भ्रष्ट हो गया, पर इस्लाम में इस समय में अनुपम शक्ति थी। धार्मिक दृष्टि से मुसलमानों में अपूर्व जोश और जीवन था। परिणाम यह

हुआ, कि तुर्क लोग राजनीतिक दृष्टि से विजेता होते हुए भी धार्मिक दृष्टि से अरबों द्वारा परास्त हो गये। जैसे भारत के संपर्क में आकर यवन, शक, कुशाण और हूण आक्रांता भारत के धर्म और सभ्यता में दीक्षित हो गये थे, वैसे ही अब ये तुर्क आक्रांता इस्लाम के संपर्क में आकर मुसलिम धर्म और सभ्यता के अनुयायी हो गये, और उन्होंने बौद्ध धर्म का परित्याग कर इस्लाम को स्वीकार किया।

अरब साम्राज्य के भग्नावशेष पर जिन विविध तुर्क राज्यों की स्थापना हुई थी, उनमें से गजनी का तुर्क राज्य एक था। इसका संस्थापक अलप्तगीन था। उसने गजनी में अपनी शक्ति को कायम कर अफगानिस्तान् पर हमला किया। उन दिनों अफगानिस्तान के सब निवासी बौद्ध और पौराणिक धर्मों के अनुयायी थे। अलप्तगीन ने इन्हें परास्त किया, और इस प्रकार इस्लाम का वहां प्रवेश हुआ। ६७५ ईस्वी में अलप्तगीन की मृत्यु हुई। उसके बाद सुबुक्तगीन गजनी का राजा बना। उसने हिंदूकुश पर्वत को पार कर भारत पर आक्रमण किया। उत्तर-पश्चिमी भारत का राजा उस समय जयपाल था, जो शाहसु-साही वंश का था और जिसकी राजधानी भटिण्डा थी। जय-पाल ने सुबुक्तगीन का मुकाबला करने के लिये जोर-शोर से तैयारी की। अन्य भारतीय राजाओं के पास सहायता के लिये संदेश भेजे गये। कन्नौज के गुर्जर प्रतीहार राजा राज्यपाल बड़े उत्साह के साथ जयपाल की सहायता के लिये अग्रसर हुआ। इन्हीं गुर्जर प्रतीहार राजाओं की अदम्य शक्ति के कारण सिंध के अरब शासक अब तक भारत में आगे नहीं बढ़ पाये थे। राज्यपाल के अतिरिक्त चौहान और चंदेल राजाओं ने भी जयपाल की सहायता की। अफगानिस्तान में कुर्रम नदी की घाटी में सुबुक्तगीन का भारतीयों राजाओं ने मिलकर मुकाबला

किया। दोनों ओर से खूब वीरता दिखाई गई। पर विजय अंत में सुबुक्तगीन की ही हुई। सिंध नदी तक तुर्कों का अधिकार स्थापित हो गया।

सुबुक्तगीन के बाद ६६७ ईस्वी में महमूद ग़ज़नी की राजगद्दी पर बैठा। यह संसार के सब से बड़े विजेताओं में से एक है। उसकी तुलना सीजर और समुद्रगुप्त से की जा सकती है। उसने ग़ज़नी के छोटे से राज्य को एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। भारतवर्ष पर उसने बहुत से हमले किये। पेशावर के पास एक लड़ाई में उसने एक बार फिर जयपाल को परास्त किया। जयपाल के बाद उसका पुत्र आनंदपाल उत्तर-पश्चिमी भारत का राजा बना। उसने महमूद का मुकाबला करने के लिये बड़ी भारी तैयारी की। उत्तरी भारत के बहुत से राजा आनन्दपाल की सहायता के लिये एकत्र हुए। पर इस बार भी महमूद की विजय हुई। १०१६ में महमूद ने कन्नौज पर आक्रमण किया और वहाँ के गुर्जर प्रतीहार राजा राज्यपाल को परास्त किया। महमूद के हमलों का यहाँ अधिक उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। उसने भारत पर दूर-दूर तक आक्रमण किये थे, और उनका परिणाम यह हुआ कि भारत के पुराने राजवंशों की शक्ति बहुत क्षीण हो गई।

सन् १०३० में महमूद की मृत्यु हुई। उसके बाद उसका विशाल साम्राज्य क़ायम नहीं रह सका। उसके उत्तराधिकारी निर्बल और भोग-विलास में लिप्त थे। उनके समय में ग़ज़नी का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, और भारत में फिर अनेक स्वतंत्र राज्य क़ायम हो गये।

(८) कन्नौज के गहरवार राजा

ग़ज़नी के तुर्क सुलतानों के आक्रमणों के कारण कन्नौज के गुर्जर प्रतीहार राजाओं की शक्ति बहुत निर्बल हो गई थी।

उन्होंने तुर्कों का कर देना स्वीकार कर लिया था, और अन्य राजपूत कुल इस बात से बहुत असंतुष्ट थे। इसीलिये १०६० ईस्वी के लगभग चंद्र नाम के एक गहरवार राजपूत सरदार ने गुर्जर प्रतीहार राजा के विरुद्ध विद्रोह किया और कन्नौज में एक नये राजवंश का प्रारंभ किया। चंद्रदेव गहरवार वीर और महत्त्वाकांक्षी राजा था, उसने एक बार फिर कन्नौज के क्षीण साम्राज्य का पुनरुद्धार किया। कलचूरि राजा यशःकर्ण (कर्ण का उत्तराधिकारी, समय १०७३ से ११२५ ईस्वी तक) को परास्त कर उसने बनारस और अयोध्या तक के प्रदेशों को जीत कर अपने अधीन कर लिया।

चंद्रदेव के समय में ही दक्षिणी कर्णाट राजा विजयसेन बिहार बंगाल में अपनी शक्ति को बढ़ा रहा था। जब उसने मगध पर आक्रमण कर पालवंशी राजा मदन पाल को परास्त करने के लिये आक्रमण किया, तो चंद्रदेव ने मदनपाल की सहायता की। चंद्रदेव की सहायता के कारण ही पाल लोग मगध में अपना शासन स्थापित रख सके।

११०० ई० में चंद्रदेव गहरवार की मृत्यु हुई। उसके बाद मदनपाल गहरवार ने ११९४ ई० तक और फिर गोविंदचंद्र ने कन्नौज के शक्तिशाली साम्राज्य का शासन किया। इस समय उत्तरी भारत में गहरवारों के अतिरिक्त कलचूरि और सेन वंश के राजा भी काफी प्रबल थे। यद्यपि बनारस और प्रयाग के प्रदेश कलचूरियों से चंद्रदेव गहरवार ने छीन लिये थे, तो भी इस वंश का राजा यशःकर्ण बहुत प्रतापी था। उसने बंगाल के सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन के साथ मैत्री की। लक्ष्मणसेन विजयसेन का पौत्र और बल्लालसेन का लड़का था और १११८ ईस्वी में बंगाल की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ था। लक्ष्मणसेन की सहायता प्राप्त कर यशःकर्ण ने काशी पर आक्रमण किया

और मगध पर भी हमले किये। लक्ष्मणसेन ने मगध पर अपना अधिकार कर लिया, और पाल वंश के हाथ से मगध तथा गोविंदचंद्र की अधीनता से बनारस के प्रदेश निकल गये। ११२४ ई० में गोविंदचंद्र ने बड़ी शक्तिशाली सेना के साथ एक बार फिर सेन और कलचुरि राजाओं पर हमले किये। इस बार यशःकर्ण और लक्ष्मणसेन परास्त हुए, और मगध में फिर एक बार पालवंशी राजा मदनपाल राज्य करने लगा। पर उसकी स्थिति गहड़वार राजा गोविंदचंद्र के अधीन सामंत की थी, और उसी की कृपा तथा सहायता से वह अपने राजसिंहासन पर आसीन रह सका था। तिरहुत का राजा नान्यदेव भी इसकी अधीनता स्वीकार करता था, और उसी की कृपा के कारण अपने राज्य में क़ायम था।

गोविंदचंद्र के समय में एक बार फिर कन्नौज के साम्राज्य ने अपना पुराना गौरवपूर्ण पद प्राप्त किया। उसका राज्य दिल्ली से मगध तथा अंग तक विस्तृत था। जिस समय गोविंदचंद्र कलचुरियों के साथ युद्ध में व्यापृत था, तभी अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज ने उत्तर की तरफ़ आक्रमण कर दिल्ली के पश्चिम का प्रदेश जीतकर अपने राज्य की सीमा को हिमालय की उपत्यका तक विस्तीर्ण कर लिया था। पर गोविंदचंद्र के राज्य पर विग्रहराज ने हमले नहीं किये। वह शांति के साथ अपने विस्तृत साम्राज्य का शासन करता रहा। गोविंदचंद्र स्वयं शैव धर्म का अनुयायी था, पर उसकी रानी कुमारदेवी बौद्ध थी। वह मगध के एक सामंत राजा की कन्या थी। उसी के प्रभाव से गोविंदचंद्र ने अनेक बौद्ध विहारों की मरम्मत कराई और बौद्ध पंडितों को दान आदि से संतुष्ट किया।

यद्यपि गोविंदचंद्र की राजधानी कन्नौज थी, पर वह प्रायः काशी में निवास करता था। उसने बहुत से पंडितों को आश्रय

दिया, और उसी के प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि काशी नगरी भारतीय पांडित्य और विद्या का केंद्र बन गई। इससे पहले मगध के नालंदा, विक्रमशिला और उदन्तपुरी के विहार भारतीय ज्ञान और शिक्षा के सर्वप्रधान केंद्र थे। पर उनमें मुख्यतया बौद्ध पंडित रहते थे। पौराणिक धर्म और विद्या का मुख्य केंद्र पहले भी काशी था, पर अब गोविंदचंद्र की संरक्षकता में इसने विद्या और ज्ञान के केंद्र रूप में जो ख्याति प्राप्त की, वह अब तक भी क़ायम है।

गोविंदचंद्र के बाद उसका पुत्र विजयचंद्र (११५५ से ११७० ई० तक) कन्नौज का सम्राट् बना। उसके समय में गहरवारों की शक्ति अक्षुण्ण रही। तिरहुत के राजा नान्यदेव की मृत्यु के बाद उसका लड़का रामदेव (११५० ई० में) वहाँ का राजा बना। वह विजयचंद्र की अधीनता स्वीकृत करता था और उसका छोटा भाई मल्लदेव गहरवार सम्राट् के लड़के जयच्चंद्र (जयचंद) की सेवा में नियुक्त था। मगध का पाल-वंशी राजा भी विजयचंद्र को अपना अधिपति मानता था।

११७० ई० में विजयचंद्र के बाद जयचंद्र कन्नौज की राज-गद्दी पर आरूढ़ हुआ। इसके शासनकाल में शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने भारत पर आक्रमण करने शुरू किये। महमूद ने ग़ज़नी को राजधानी बनाकर जिस शक्तिशाली तुर्क साम्राज्य की स्थापना की थी, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। महमूद की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य निर्बल हो गया, और गोरी अफ़ग़ान सरदारों ने अपना स्वतंत्र राज्य क़ायम किया। ग़ज़नी से हीरात के रास्ते पर गोर नाम का एक प्रदेश है। वहाँ के निवासी अफ़ग़ान लोग पहले बौद्ध थे। पर मुसलमान तुर्कों के प्रभाव से वे स्वयं भी मुस्लिम हो गये थे। उनके सरदार अलाउद्दीन ने ११६० ई० में तुर्कों से ग़ज़नी को छीन लिया और

फिर पंजाब पर आक्रमण किया। अलाउद्दीन का भतीजा और उत्तराधिकारी शहाबुद्दीन बड़ा प्रतापी था। उसने ११८६ ई० तक पंजाब को जीत कर अपने अधीन कर लिया। अजमेर और दिल्ली के चौहान राजा पृथिवीराज ने ११९१ में तलावड़ी के रणक्षेत्र में उसका मुकाबला किया। शहाबुद्दीन गोरी इस युद्ध में परास्त हुआ। पर अपनी इस पराजय से वह निराश नहीं हुआ। उसने बार-बार भारत पर आक्रमण किए। कहते हैं, कि पृथिवीराज से उसके १७ बार युद्ध हुए। अंत में वह अपने प्रयत्न में सफल हुआ और पृथिवीराज को कैद कर दिल्ली पर अपना अधिकार क़ायम करने में उसे सफलता प्राप्त हुई।

चौहानों के पराजय से अब शहाबुद्दीन गोरी के साम्राज्य की सीमा कन्नौज के गहड़वार राज्य से आ मिली। ११९४ ई० में गोरी ने एक शक्तिशाली सेना के साथ कन्नौज पर आक्रमण किया। राजा जयचंद्र ने बड़ी वीरता के साथ उसका मुकाबला किया। इटावा के पास चंदावर नामक स्थान पर दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें जयचंद्र रणक्षेत्र में ही लड़ते हुए मारा गया। उसकी मृत्यु के बाद उसके लड़के हरिश्चंद्र ने युद्ध को जारी रखा। पर वह देर तक शक्तिशाली अफ़ग़ान सेनाओं का मुकाबला नहीं कर सका। शीघ्र ही कन्नौज और काशी पर गोरी का अधिकार हो गया और प्रतापी गहड़वार राजाओं के साम्राज्य का अंत हो गया।

(६) पाल वंश का अंत

पालवंशी राजा मदनपाल (११०६ से ११२५ ई० तक) का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। वह अपने शासनकाल के अंतिम भाग में गहड़वार राजा गोविंदचंद्र के अधीन हो गया

था। उसके बाद के पाल राजाओं के नाम अविकल रूप से प्राप्त नहीं हैं। केवल राजा गोविंदपाल और पालपाल के नाम मिलते हैं, जो गहरवारों के सामंत रूप से मगध में राज्य करते थे।

बनारस तक विजय करके गोरी ने मलिक हसामुद्दीन नाम के एक सरदार को पूर्वी संयुक्त प्रांत के प्रदेश पर शासन करने के लिये नियत किया। उसका एक सेनापति मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी था। उसने पूर्व में आगे बढ़कर मगध पर हमले करने शुरू किए। उन दिनों मगध में कोई भी शक्तिशाली राजा न था। पालवंशी राजाओं की स्थिति एक साधारण जागीरदार व सामंत से अधिक न थी, यद्यपि अभी तक वे पुरानी परंपरा के अनुसार अपने को 'परमेश्वर परमभट्टारक महाराजाधिराज परमसौगत' विशेषण से विभूषित करते थे। गहरवार सम्राटों के परास्त हो जाने के बाद इन पाल राजाओं व कर्णाटवंशी नान्यदेव के उत्तराधिकारियों में कुछ भी बल शेष न रहा था। वे मुहम्मद बिन बख्तियार की अफगान सेनाओं के सम्मुख सर्वथा असहाय थे। इन्होंने उनका कोई भी मुकाबला नहीं किया।

मुहम्मद बिन बख्तियार को रोकने का प्रयत्न यदि किसी ने मगध में किया, तो वे उद्दण्डपुर के विहार में रहने वाले भिक्खु लोग थे। उद्दण्डपुर (बिहार शरीफ) का यह विहार उस समय बौद्ध धर्म और शिक्षा का बड़ा केंद्र था। वहाँ सैकड़ों स्थविर और भिक्षु लोग निवास करते थे। वे अंत तक अफगान सेनापति से लड़ते रहे। जब सब भिक्षु कत्ल हो गये, तो मुहम्मद बिन बख्तियार ने उद्दण्डपुर के विहार पर कब्जा कर लिया। वहाँ उसे पुस्तकों के अनंत भंडार के सिवाय और कोई मूल्यवान वस्तु नहीं मिली। मुहम्मद की समझ नहीं आया कि

इन पुस्तकों का वह क्या करे। उसने आज्ञा दी, कि पुस्तकालय को आग लगा दी जाय। सदियों के ज्ञान और विद्या का यह अपूर्व भंडार अब अग्नि के अर्पण हो गया और मगध पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। पालवंशी सामंत राजाओं में इतनी भी शक्ति नहीं थी, कि वे बौद्ध भिक्खुओं के साथ कंधे से कंधा मिलाकर इस विदेशी सेनापति का मुकाबला कर सकें।

इस प्रकार मगध के गौरवमय इतिहास का अंत हुआ। इसके बाद फिर कभी मगध या पाटलीपुत्र में किसी स्वतंत्र भारतीय राजवंश ने शासन नहीं किया।

इक्कीसवाँ अध्याय

ज्ञान और संस्कृति का केंद्र मगध

(१) नालंदा महाविहार

गुप्त साम्राज्य के ह्रास के समय में और पाल राजाओं के शासनकाल में मगध भारत की प्रमुख राजनीतिक शक्ति नहीं रह गई थी। सातवीं सदी से पाटलीपुत्र का स्थान कन्नौज ने ले लिया था। इस युग में पाटलीपुत्र के महाराजाधिराजाओं की अपेक्षा कन्नौज के सम्राट् अधिक शक्तिशाली थे। पर ज्ञान और संस्कृति की दृष्टि से अब भी मगध भारत का सबसे महत्वपूर्ण केंद्र था, और यहां के नालंदा, विक्रमशिला और उदण्डपुरी में स्थित महाविहारों में न केवल भारत अपितु दूर-दूर के विदेशों से विद्यार्थी लोग विद्याग्रहण के लिये आया करते थे। मगध के विद्वान् पण्डित इस काल में चीन, तिब्बत, जावा, सुमात्रा आदि सब जगह गये और अपने ज्ञानरूपी दीपक से उन्होंने सब स्थानों के अविद्यांधकार को दूर किया। राजनीतिक शक्ति के क्षीण हो जाने पर भी इन सदियों में मगध सब देशों के आकर्षण का केंद्र रहा। हम यहां इन महाविहारों के इतिहास पर संक्षेप से प्रकाश डालेंगे।

पटना जिले के बिहारशरीफ नामक नगर से आठ मील की दूरी पर बिहार-बख्तियारपुर रेलवे के बड़गाँव नामक स्टेशन से एक मील दूर, प्राचीन नालंदा महाविहार के खंडहर अब तक विद्यमान हैं। नालन्दा का इतिहास बहुत पुराना है। महात्मा बुद्ध अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हुए

इस स्थान पर भी आते थे, और सारिपुत्र से उनकी यहीं पर भेंट हुई थी। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् अशोक ने इस स्थान पर एक विशाल चैत्य का निर्माण कराया था। बुद्ध के अन्यतम प्रमुख शिष्य सारिपुत्र ने यहीं पर निर्वाण पद पाया था। इसी उपलक्ष में अशोक ने यहाँ बहुत सा दानपुण्य किया था। संभवतः, मौर्यकाल में भी यहाँ एक विहार था, जिसमें बहुत से स्थविर व भिक्षु निवास करते थे। पर पाँचवीं सदी के शुरू में जब चीनी यात्री फाइयान भारत-भ्रमण के लिये आया, तो वह नालंदा नहीं गया। उसने मगध के अन्य अनेक धर्म-स्थानों के दर्शन किये, पाटलीपुत्र में कई वर्ष रहकर उसने बौद्ध ग्रंथों का अनुशीलन किया, पर नालंदा के विहार की उसके समय में इतनी प्रसिद्धि नहीं थी कि वह वहाँ जाता और कुछ समय वहाँ भी व्यतीत करता।

पर सातवीं सदी में जब ह्युएनत्सांग भारत आया, तो नालंदा का महाविहार बहुत प्रसिद्ध हो चुका था। वहाँ हजारों स्थविर और भिक्षु निवास करते थे। दूर-दूर से विद्यार्थी वहाँ विद्या पढ़ने के लिये आते थे। ह्युएनत्सांग स्वयं वहाँ देर तक रहा, और विविध धर्मग्रंथों के अनुशीलन में व्यापृत रहा। नालंदा की उन्नति फाइयान के बाद गुप्तों के शासनकाल में विशेष रूप से हुई। गुप्त सम्राटों के संरक्षण और सहायता से वह भारत का सबसे प्रसिद्ध शिक्षाकेंद्र बन गया।

ह्युएनत्सांग के अनुसार नालंदा में छः बड़े-बड़े विहार थे, जिन्हें शक्रादित्य, बुधगुप्त, तथागतगुप्त, बालादित्य और वज्र नाम के राजाओं ने बनवाया था। ये सब गुप्तवंश के सम्राटों के नाम हैं। शक्रादित्य से कुमारगुप्त प्रथम महेंद्रादित्य का अभिप्राय है। इसने पहले-पहल पाँचवीं सदी के मध्य में नालंदा में एक विहार बनवाया। इसी कारण जब फाइयान

भारत में आया था, तब तक यह विहार नहीं बना था। कुमार-गुप्त के बाद बुधगुप्त आदि विविध गुप्त सम्राटों ने अन्य अनेक विहार यहाँ बनवाये। इनके प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ कि जब ह्युएनत्सांग नालंदा गया, तो वहाँ उसने एक समृद्ध और उन्नत शिक्षाकेंद्र को देखा, जिसमें हजारों शिक्षक और विद्यार्थी विद्यमान थे।

नालंदा के महाविहार में न केवल भारत अपितु सुदूर चीन, मंगोलिया, खोतान आदि से भी बहुत से विद्यार्थी अध्ययन के लिये आते थे। इन विदेशियों के साथ बड़ी शिष्टता तथा सहानुभूति का व्यवहार किया जाता था। राजाओं तथा अन्य संपन्न व्यक्तियों की तरफ से महाविहार को प्रभूत संपत्ति मिली हुई थी। चीनी यात्री का कथन है, कि "देश के राजा श्रमणों का आदर सम्मान करते हैं। उन्होंने १०० गाँवों की मालगुजारी विहार को दान की हुई है। इन गाँवों के दो सौ गृहस्थ प्रति दिन कई सौ पिकल (१ पिकल=६६३ सेर) चावल और कई सौ कट्टी (१ कट्टी =८ सेर) घी और मक्खन विहार को दिया करते हैं। अतः यहाँ के विद्यार्थियों को सब वस्तुएँ इतनी प्रचुर मात्रा में मिलती हैं, कि उन्हें सब आवश्यक वस्तुओं को माँगने के लिये कहीं जाना नहीं पड़ता। उनके विद्याध्ययन की पूर्णता का, जिसके लिये वे यहाँ आते हैं, यही साधन है।" इससे स्पष्ट है, कि नालंदा के विद्यार्थियों को भोजन आदि सब विहार की ओर से मिल जाता था, इसके लिये उन्हें किसी चिंता की आवश्यकता नहीं थी।

यही कारण है, कि नालंदा में विद्यार्थियों की संख्या बहुत अधिक थी। ह्युएनत्सांग के अनुसार वहाँ शिक्षकों और विद्यार्थियों की संख्या दस हजार थी। नालंदा की आधुनिक खुदाई से इसमें कोई संदेह नहीं रहता, कि वहाँ बहुत बड़ी संख्या

में भिक्षु लोग निवास करते थे। खोदे गये विहार के प्रत्येक कमरे में एक या दो विद्यार्थियों के रहने की जगह है। प्रत्येक कमरे में सोने के लिये एक या दो पत्थर की शय्या हैं, साथ ही दीपक और पुस्तकें रखने के लिए खाने बने हुए हैं। एक-एक विहार में इस तरह के कमरे सैकड़ों की संख्या में हैं। उनके बीच में बड़े आकार के चूल्हे तथा भोज्य सामग्री के लिये घर बनाये गये हैं। नालंदा के छः बड़े विहारों तथा अन्य छोटे संघारामों के इन सैकड़ों कमरों में यदि हजारों विद्यार्थी उस समय में निवास करते हों, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

नालंदा में विविध विषयों की उच्च शिक्षा दी जाती थी। पाठ्यक्रम में महायान संप्रदाय तथा बौद्धों के अन्य अठारह संप्रदायों के ग्रंथों को विशेष स्थान दिया गया था। इनके अतिरिक्त वेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या, व्याकरण, योगशास्त्र, तंत्रविद्या, सांख्य आदि दर्शन और उस समय के अन्य सब विज्ञानों को भी यथोचित स्थान दिया गया था।

चीनी यात्री के अनुसार नालंदा में एक हजार अध्यापक ऐसे थे, जो सब सूत्रों और शास्त्रों का अर्थ समझा सकते थे। पाँच सौ अध्यापक ऐसे थे, जो तीस संग्रहों की पूर्णतया व्याख्या कर सकते थे। और दस ऐसे भी विद्वान् थे, जो पूरे पचास संग्रहों की व्याख्या भलीभाँति कर सकते थे। इस प्रकार स्पष्ट है, कि नालंदा में अध्यापकों की संख्या एक हजार से ऊपर थी। ये सब अपने-अपने विषयों के प्रकांड पंडित थे। कुछ विद्वान ऐसे भी थे, जो संपूर्ण विद्याओं में निष्णात थे। यही कारण है, कि देश-विदेश के विद्यार्थी विद्या-ग्रहण करने के लिये नालंदा पहुँचते थे। पर हर एक विद्यार्थी नालंदा में प्रवेश नहीं पा सकता था। वहाँ प्रवेश पाने के लिये

एक परीक्षा को उत्तीर्ण करना पड़ता था। इसे द्वारपरीक्षा कहते थे, और यह एक पृथक् शिक्षाविद् के अधीन थी, जिसे 'द्वार-पंडित' कहते थे। इस परीक्षा को सुगमता से उत्तीर्ण नहीं किया जा सकता था। दस में से दो या तीन ही इसमें सफल होते थे। नालंदा में शिक्षा का मान इतना अच्छा था, कि वे ही वहाँ विद्यार्थी रूप में प्रविष्ट किये जाते थे, जो द्वार पंडित के कठिन-कठिन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर दे सकें। प्रत्येक विहार का पृथक्-पृथक् द्वारपंडित होता था। नालंदा की आधुनिक खुदाई में मुख्य द्वार के दोनों ओर के गृहों को द्वार पंडित का निवासस्थान माना जाता है।

६३५ ई० में जब ह्यु एनत्सांग नालंदा पहुँचा, तो शीलभद्र महाविहार के प्रधान स्थविर या अध्यक्ष थे। वे सब सूत्रों, शास्त्रों व संग्रहों के प्रकांड पंडित थे। उनसे पहले इस पद पर शीलभद्र के गुरु धर्मपाल विराजमान थे। शीलभद्र समतट के एक प्राचीन राजकुल में उत्पन्न हुए थे। भोग-विलास और समृद्धि की उनके घर में कोई कमी न थी। बचपन से ही उन्हें विद्या और संगीत से बड़ा प्रेम था। वे किसी सच्चे गुरु की तलाश में अपना घर छोड़ कर निकल पड़े, और अनेक स्थानों पर घूमते हुए नालंदा पहुँचे। यहाँ आकर उन्हें धर्मपाल के दर्शन हुए। जिस गुरु की खोज में वे देर से भटकते रहे थे, वे अब उन्हें मिल गये। शीलभद्र ने धर्मपाल से प्रव्रज्या ली और विधिपूर्वक शिक्षा ग्रहण करनेका कार्य प्रारंभ कर दिया। अपूर्व प्रतिभा के कारण उन्होंने इतनी अधिक उन्नति की, कि तीस साल की आयु में ही वे धर्मपाल के शिष्यों में सब से अधिक प्रसिद्ध हो गये। बौद्ध दर्शन के ज्ञान में उनका अन्य कोई मुकाबला नहीं कर सकता था। राजा (संभवतः उस समय के मगध सम्राट्) की इच्छा थी, की उन्हें सम्मानित करने के लिये एक

नगर जागीर के रूप में प्रदान करे, पर उन जैसे भिक्षु पंडित को किसी जागीर आदि की आवश्यकता नहीं थी। जब राजा ने उन पर बहुत ज़ोर दिया, तो उन्होंने जागीर लेना तो स्वीकार कर लिया, पर उसकी संपूर्ण आमदनी को नालंदा में एक मठ का खर्च चलाने के लिये लगा दिया। इस मठ को उन्होंने स्वयं बनवाया था, और इसमें भी बहुत से विद्यार्थी शिक्षाग्रहण करते थे। आचार्य शीलभद्र ने अनेक ग्रंथों की रचना की। विशेषतया, योगाचार संप्रदाय के सूक्ष्म तत्त्वों को समझाने के लिये उन्होंने अनेक भाष्य लिखे। वे नालंदा महाविहार के कुलपति थे, और चीनी विद्वान ह्यू एनत्सांग ने उन्हीं के चरणों में बैठ कर बौद्ध धर्म के गूढ़ तत्त्वों का अनुशीलन किया था। ह्यू एनत्सांग ने शीलभद्र को 'सत्य एवं धर्म का भंडार' लिखा है। ह्यू एनत्सांग के समय में, नालंदा के अन्य प्रसिद्ध आचार्यों में चंद्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र और ज्ञान-चंद्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से आचार्य चंद्रपाल बौद्ध धर्म के प्रकांड पंडित थे। धर्म के अनुष्ठानों में कोई उनकी समता नहीं कर सकता था। गुणमति और स्थिर-मति का यश उनकी विद्वत्ता के लिये सर्वत्र विस्तृत था। प्रभा-मित्र प्रसिद्ध तार्किक थे। जिनमित्र बड़े अच्छे वक्ता थे और ज्ञान-चंद्र बड़े प्रत्युत्पन्नमति तथा अपने चरित्र के लिये प्रसिद्ध थे। इन्हीं सब विद्वानों की कीर्ति से आकृष्ट होकर विद्यार्थी लोग दूर-दूर से नालंदा पहुँचते थे।

ह्यू एनत्सांग के कुछ समय बाद इत्सिंग नाम का एक अन्य चीनी यात्री भारत आया। वह नालंदा भी गया और सातवीं सदी के अंतिम भाग में कई साल तक नालंदा में रहा। उसने भी अपने समय के अनेक प्रसिद्ध विद्वानों का उल्लेख किया है, जो उस समय में नालंदा में शिक्षा के कार्य में तत्पर थे। इस





पाटलिपुत्र के अवशेष

चीनी यात्री के अनुसार नालंदा में शिक्षा प्राप्त करने से पूर्व प्रत्येक विद्यार्थी के लिये यह आवश्यक था कि वह व्याकरण को भलीभांति जानता हो। व्याकरण के विविध अंगों को भली-भांति पढ़ कर हेतुविद्या (तर्क या न्याय) अभिधर्म कोष (अध्यात्मशास्त्र) और जातकों का अध्ययन करना होता था। इतनी पढ़ाई करने के बाद, द्वार-पंडित की परीक्षा उत्तीर्ण करके ही कोई विद्यार्थी नालंदा में प्रविष्ट हो सकता था।

नालंदा में तीन बड़े पुस्तकालय थे, रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरंजक। ये तीनों नालंदा के धर्मगंज नामक हिस्से में स्थित थे। इनमें से रत्नोदधि पुस्तकालय सब से बड़ा था, उसकी इमारत नौ मंजिल ऊंची थी। इन पुस्तकालयों में बौद्ध धर्म व अन्य विद्याओं के हजारों ग्रंथ संगृहीत थे। विदेशी मुसलिम आक्रमणों द्वारा नालंदा के इन पुस्तकालयों का भी अंत हुआ।

जो विद्यार्थी नालंदा में विद्या का अध्ययन कर के जाते थे, उनका नाम महाविहार के मुख्य द्वार पर श्वेत अक्षरों में अंकित कर दिया जाता था। नालंदा के पढ़े हुए विद्यार्थी जहां राज सेवा के लिये यत्न करते थे, वहां धर्मप्रचार का भी कार्य करते थे। इत्सिंग ने लिखा है, कि नालंदा से शिक्षा प्राप्त करने के बाद बहुत से विद्यार्थी राजा के दरबार में जाकर वहां अपनी योग्यता प्रदर्शित करते थे और राजसेवा में नियुक्त होने का प्रयत्न करते थे। कोई आश्चर्य नहीं, यदि गुप्त साम्राज्य के विविध कुमारामात्य नालंदा के विद्यार्थियों में से ही चुने जाते हों, और गुप्तों के बाद कन्नौज आदि के जो शक्तिशाली राज्य कायम हुए, वे भी अपने उच्च पदाधिकारियों को नियुक्त करते हुए नालंदा के सुशिक्षित विद्यार्थियों को विशेष महत्त्व देते हों।

ह्युएनत्सांग और इत्सिंग के अतिरिक्त अन्य भी अनेक

विदेशी विद्यार्थी नालंदा में पढ़ने के लिये आवे। इनमें से कुछ
के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। प्रमुख हुनचिन (प्रकाश
मति) सातवीं सदी में नालंदा आया और तीन वर्ष तक वहाँ
रह कर उसने विद्याध्ययन किया। ताव-ही ([illegible]) ने नालंदा
में महायान संप्रदाय के ग्रंथों का अनुशीलन किया। आर्यवर्मन
नाम का एक कोरियन भिक्षु नालंदा पढ़ने के लिये आया था,
वहाँ रहते हुए ही उसकी मृत्यु भी हो गई थी। इनके अतिरिक्त
ये-हांग, ओकांग, बुद्धकर्म, ताओ फंग, हिन सुन (प्रज्ञावर्मा),
किनचाव (शीलप्रभा), वोन हिंग (प्रज्ञादेव) आदि विविध
विदेशी विद्यार्थियों के नाम चीनी अनुश्रुति में मिलते हैं, जिन्हों
ने नालंदा में रहकर विद्या प्राप्त की थी। भारतीय संस्कृति
का उस युग में इतना प्रभाव था, कि इन विदेशी विद्यार्थियों ने
अपने नाम भी भारतीय रख लिये थे।

नालंदा का यह विश्वविख्यात महाविहार बारहवीं सदी
के अंत तक कायम रहा। दसवीं सदी से इस की महत्ता कम
होने लगी थी, क्योंकि इसके पड़ोस में ही विक्रमशिला और
उद्दण्डपुरी के नये महाविहार उन्नतिपथ पर अग्रसर हो रहे
थे। इन नये महाविहारों को उस समय के राजाओं का संर-
क्षण और साहाय्य विशेष रूप से प्राप्त था। अतः विद्यार्थी
वहाँ अधिक संख्या में जाने लग गये थे। नवीं सदी के अंत
तक नालंदा भारत का सर्वप्रधान शिक्षाकेंद्र रहा, और उसके
बाद भी बारहवीं सदी तक उसकी सत्ता कायम रही।

(२) विक्रमशिला

इस महाविहार का संस्थापक पालवंशी सम्राट् धर्मपाल
था, जिसका शासन काल ७६६ से ८०९ ई० तक है। धर्मपाल
ने अपने राजकोष से यह विशाल महाविहार बनवाया, और

इसमें अध्यापन के लिये १०८ अध्यापक नियुक्त किये। धर्म-पाल के उत्तराधिकारी अन्य पाल राजा भी इस महाविहार के संरक्षण तथा सहायता में सदा उत्साहशील रहे। परिणाम यह हुआ, कि दसवीं सदी में यह भारत का सब से प्रमुख शिक्षा केंद्र बन गया। समृद्धि और उन्नति के काल में इस महाविहार में छः विहार (कालिज) थे, जिनमें से प्रत्येक में १०८ अध्यापक शिक्षा का कार्य करने के लिये नियुक्त थे। महाविहार के चारों ओर दुर्ग के समान एक प्राचीर बनी हुई थी। उसमें प्रवेश करने के लिये छः द्वार थे। तारानाथ के वर्णन के अनुसार दक्षिणी द्वार का द्वार-पंडित प्रज्ञाकरमति था। पूर्वी द्वार का द्वार-पंडित रत्नाकर शांति, पश्चिमी द्वार का वागीश्वरकीर्ति, उत्तरी द्वार का नरोपंत, प्रथम केंद्रद्वार का रत्नवज्र और द्वितीय केंद्रद्वार का ज्ञानश्रीमित्र था। ये द्वारपंडित विक्रम-शिला में छः विहारों के प्रधान थे। इनके अधीन प्रत्येक विहार में १०८ अध्यापक शिक्षा का कार्य करते थे और सैकड़ों विद्यार्थी विद्याध्ययन में तत्पर रहते थे। विक्रमशिला में एक विशाल सभाभवन था, जिसमें ८००० मनुष्य एक साथ बैठ सकते थे। इससे सूचित होता है, कि यहां भी अध्यापकों और विद्यार्थियों की सम्मिलित संख्या हजारों में पहुँची हुई थी। विद्यार्थियों के भोजन के लिये सत्र खुले हुए थे, जिनमें उन्हें मुफ्त भोजन व अन्य आवश्यक निर्वाहसामग्री प्राप्त होती थी। इन सत्रों का खर्च चलाने के लिये पाल राजाओं ने बहुत उदारता के साथ दान दिया था। राजाओं के अतिरिक्त, अन्य धनी पुरुषों व जागीरदारों की ओर से भी अनेक सत्रों की व्यवस्था थी।

विक्रमशिला की प्राचीर के मुख्य केंद्रद्वार के एक ओर आचार्य नागार्जुन की और दूसरी ओर आचार्य अतिश की

प्रतिमा बनी हुई थी। इसी द्वार के बाहर एक धर्मशाला थी, जिसमें अतिथि लोग विश्राम कर सकते थे।

नालंदा के समान विक्रमशिला में भी बौद्ध धर्म के विविध संप्रदायों, वेद, दर्शन, हेतुविद्या, विज्ञान आदि सब विषयों की शिक्षा दी जाती थी। पर इस महाविहार में विशेष रूप से तंत्र-विद्या की पढ़ाई का प्रबंध था। तांत्रिक प्रक्रियायें और तंत्रवाद इस काल के बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण अंग बन गये थे। बाद में पौराणिक धर्म में भी तंत्रवाद का प्रवेश हुआ और पूर्वी भारत के धर्म में तांत्रिक प्रक्रियाओं का बड़ा महत्त्व हो गया। विक्रम-शिला में तंत्रवाद की शिक्षा विशेष रूप से दी जाती थी और वहाँ के बहुत से अध्यापक और विद्यार्थी स्वयं तांत्रिक क्रियाओं का अनुष्ठान करते थे।

विक्रमशिला में पढ़ाई आदि की क्या व्यवस्था थी, इस संबंध में तिब्बती अनुश्रुति से अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। कुछ तिब्बती भिक्खु विक्रमशिला के प्रधान आचार्य अतिश को अपने देश में निमंत्रित करने के लिये इस महाविहार में आये थे। तिब्बत के राजा ने उन्हें इस कार्य के लिये विक्रम-शिला भेजा था। उन्होंने वहाँ का जो वर्णन किया है, वह उद्धृत करने के योग्य है—"प्रातः आठ बजे सब भिक्खु एक स्थान पर एकत्र हुए। मुझे भी विद्यार्थियों के बीच में बैठने के लिये स्थान दे दिया गया। सबसे पहले माननीय विद्याकोकिल ने प्रवेश किया। उनकी आकृति अत्यंत गंभीर और तेजस्वी थी। वे सुमेरुपर्वत के समान विशाल और ऊँचे थे। अपने पास बैठे हुए विद्यार्थियों से मैंने पूछा—"क्या ये ही आचार्य अतिश हैं।" उन्होंने उत्तर दिया—"हे तिब्बती आयुष्मान्! ये आचार्य विद्याकोकिल हैं, जो आचार्य चंद्रकीर्ति के संप्रदाय की शिष्य-परंपरा में हैं। ये अतिश के भी गुरु रह चुके हैं।" एक अन्य

आचार्य मंच पर बैठे हुए थे, उनकी तरफ इशारा करके मैंने प्रश्न किया—क्या ये आचार्य अतिश हैं ? मुझे बताया गया, कि ये श्रीमान् नरोपंत हैं, जिनके समान धर्म का विद्वान् बौद्धों में अन्य कोई नहीं है। ये भी अतिश के अध्यापक रह चुके हैं। इसी बीच, जब मेरी आँखें अतिश को ढूँढ़ने में लगी थीं, विक्रमशिला के राजा ने सभाभवन में प्रवेश किया, और अपने आसन पर बैठ गया। पर राजा के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिये कोई भी छोटा या बड़ा भिक्षु अपने आसन से उठकर खड़ा नहीं हुआ। कुछ देर बाद एक अन्य पंडित ने सभाभवन में प्रवेश किया। उसके आने पर अनेक युवा भिक्षु व विद्यार्थी अपने आसनों से उठ खड़े हुए और उन्होंने इस पंडित की अभ्यर्थना की। उसके सम्मान में राजा भी अपने आसन से उठ खड़ा हुआ। राजा के खड़े होने पर अन्य अनेक पंडित भी इस विद्वान के सम्मानार्थ खड़े हो गये। मैंने समझा कि जिस व्यक्ति के लिये इतना सम्मान प्रदर्शित किया जा रहा है, वह अवश्य ही अतिश होगा। मैंने पड़ोस में बैठे हुए विद्यार्थियों से उसके विषय में प्रश्न किया। उन्होंने मुझे बताया कि इस आचार्य का नाम वीरवज्र है। मैंने जब उसके पांडित्य के संबंध में पूछा, तो उन्होंने कहा, वे इस विषय में कुछ नहीं जानते। जब सभाभवन में सब आसन भर गये, तब माननीयों के भी माननीय भगवान् अतिश ने प्रवेश किया। उसके दर्शन से आँखें तृप्त नहीं होती थीं। सब एकत्रित लोग उसके तेजस्वी मुखमंडल और मुसकान भरे चेहरे को देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उसकी बगल में चाबियों का एक गुच्छा लटक रहा था। भारतीय, नैपाली और तिब्बती सब उसकी तरफ एकटक होकर देख रहे थे। सब समझते थे, वह उनके अपने देश का निवासी है। उसके मुख पर ऐसी तेजस्विता

और सरलता का भाव था, कि देखनेवालों पर जादू सा हो जाता था।

यही महा ओजस्वी आचार्य अतिश विक्रमशिला महाविहार का प्रधान आचार्य था। इसका जन्म ९८० ईस्वी में गौड़ देश के विक्रमपुर नगर में हुआ था। इनके पिता का नाम कल्याणश्री और माता का नाम प्रभावती था। इनके पिता बहुत धनी और समृद्ध थे। पर अतिश ने घर के सब सुखों को लात मार कर त्याग के जीवन का आश्रय लिया। इनकी प्रारंभिक शिक्षा उदन्तपुर के महाविहार में हुई। वहाँ शीलरक्षित नाम के स्थविर से उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की, और इनका नाम दीपंकर श्रीज्ञान रखा गया। उदन्तपुर में शिक्षा समाप्त कर ये सुमात्रा गये और वहाँ चंद्रकीर्ति तथा सुधर्मनागर नाम के प्रसिद्ध आचार्यों से शिक्षा ग्रहण की। सुमात्रा में बारह वर्ष रह कर लंका होते हुए ये फिर भारत लौट आये। इस समय तक इनकी विद्वत्ता और ज्ञान की चर्चा सर्वत्र फैल चुकी थी। मगध का राजा उस समय पालवंशी नयपाल था। उसने दीपंकर श्रीज्ञान अतिश को विक्रमशिला के प्रधान आचार्य के पद पर नियत किया। बाद में तिब्बत के राजा के निमंत्रण को स्वीकार कर अतिश उस देश में चले गये, और वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचार व संगठन के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

विक्रमशिला से परीक्षा उत्तीर्ण कर जो विद्यार्थी स्नातक होते थे, उन्हें मगध के राजा की ओर से पंडित की उपाधि दी जाती थी। विक्रमशिला के इन पंडितों को सारे देश में आदर की दृष्टि से देखा जाता था। नालंदा के स्नातकों के समान वे भी उच्च राजकीय पदों पर नियत होते थे, और समाज में इनका बहुत ऊँचा स्थान माना जाता था। यहाँ के पंडितों में

काश्मीर निवासी रत्नवज्र, आचार्य जेतारि, रत्नकीर्ति, ज्ञानश्री-
मित्र आदि अपनी विद्वत्ता के कारण बहुत प्रसिद्ध हुए। जब
तिब्बत के राजा के निमंत्रण को स्वीकार कर आचार्य अतिश
तिब्बत चला गया, तो उसके स्थान पर ज्ञानश्री मित्र विक्रम-
शिला का प्रधान आचार्य नियत किया गया। इससे पूर्व
वह अन्यतम द्वारपंडित था।

यह प्रसिद्ध राजकीय महाविहार ठीक-ठीक किस जगह
पर विद्यमान था, इसका सन्तोषजनक निश्चय अभी तक नहीं
हो सका। विद्वानों में इस विषय पर बहुत मतभेद है। यह
मगध में गंगा के तट पर कहीं विद्यमान था। नालंदा के समान
जब इसकी स्थिति का भी ठीक निश्चय हो जायगा, तो खुदाई
द्वारा इसके भी अनेक अवशेष अवश्य प्राप्त होंगे। अफ़गानों
के आक्रमण से यह भी सदा के लिये नष्ट हो गया। पर
बारहवीं सदी के अंत तक यह अपने पूर्ण वैभव के साथ
क़ायम रहा था।

(३) उद्दण्डपुर का महाविहार

बिहार प्रांत के पटना जिले में बिहारशरीफ नाम का एक
नगर है, जहाँ बारहवीं सदी के अंत तक एक महाविहार
विद्यमान था। इस नगर का पुराना नाम उद्दण्डपुर या उद्दंड
पुरी था। अरब लेखकों ने इसे अदवंद के नाम से लिखा है।
नालंदा की कीर्ति के कम होने पर जब उत्तर में गंगा के तट पर
विक्रमशिला महाविहार का वैभव बढ़ रहा था, तब नालंदा के
पड़ोस में ही केवल आठ मील की दूरी पर इस नये शिक्षाकेंद्र
का विकास हो रहा था। इस महाविहार का इतिहास अभी
तक बिलकुल अंधकार में है। संभवतः इसके विकास में
किसी शक्तिशाली राजा का हाथ नहीं था, इसलिये इसका

उल्लेख किसी राजा या सामंत की प्रशस्ति में नहीं मिलता। संभवतः यह भिक्षुओं और विद्वानों के अपने प्रयास का परिणाम था। पर इसमें कोई संदेह नहीं, कि जब बारहवीं सदी के अंत में अफगानों ने मगध पर आक्रमण किया, तब उद्दण्डपुर का यह महाविहार विक्रमशिला और नालंदा, दोनों की अपेक्षा अधिक उन्नत और समृद्ध दशा में था। ऐसा प्रतीत होता है, कि पालवंशी राजाओं की शक्ति की इतिश्री हो जाने पर विक्रमशिला को पर्याप्त सहायता नहीं प्राप्त हो पाती थी। नालंदा का ह्रास पहले ही शुरू हो चुका था। बारहवीं सदी के गहड़वालवंशी राजा शैव धर्म के अनुयायी थे। इस उद्दण्डपुर का यह महाविहार बौद्ध पंडितों की अपनी कृति था, और अपने विद्याबल से ही उन्होंने इसे ज्ञान और शिक्षा का एक महान् केंद्र बनाया हुआ था। नालंदा का पुराना गौरव अब उद्दण्डपुर में केंद्रित हो गया था। पाल राजाओं के शासनकाल में वहाँ एक समृद्ध नगर का भी विकास हो गया था, और मगध के ये राजा पाटलीपुत्र की बजाय प्रधानतया वहाँ रहने लगे थे।

जब मुहम्मद बिन बख्तियार ने काशी से आगे बढ़ मगध पर हमले किये, तो उद्दण्डपुर के भिक्षुओं ने ही उनका सामना किया। अंतिम दम तक वे अफगान आक्रांताओं से युद्ध करते रहे, जब वे सब के सब मारे गये, तो दुर्ग के समान विशाल और प्राचीर से घिरे हुए महाविहार पर अफगानों का कब्जा हो गया और उन्होंने वहाँ के विशाल पुस्तकालय को अग्नि के अर्पण कर दिया। यही गति नालंदा और विक्रमशिला के महाविहारों की भी हुई। उस समय संसार में छापेखानों का आविष्कार नहीं हुआ था। पुस्तकों की हाथ से नकल की जाती थी। पुस्तकालयों की तरफ से यह प्रबंध रहता था, कि

अच्छे-अच्छे ग्रंथों की प्रतिलिपि कराके उनका संग्रह किया जाय। यद्यपि विद्वानों और पंडितों के पास अपने-अपने ग्रंथ भी रहते थे, पर उनका प्रधान संग्रह पुस्तकालयों में ही रहता था। मुसलिम आक्रांताओं के कोप से जब नालंदा, विक्रमशिला और उद्दण्डपुर के विशाल संग्रहालयों को आग लगा दी गई, तो प्राचीन भारतीय धर्म, विद्या और विज्ञान के इन अक्षय भंडारों का सर्वनाश हो गया। इस समय में बहुत से पंडित लोग मगध से भाग कर उत्तर में नेपाल और तिब्बत की ओर चले गये, और बहुतों ने सुदूर दक्षिण में जाकर आश्रय लिया, जहाँ अभी तक मुसलमानों के आक्रमणों का कोई भय नहीं था। यही कारण है, कि इस समय में संस्कृत के बहुत से प्राचीन ग्रंथ नेपाल, तिब्बत, चीन और सुदूर दक्षिण में तो मिलते हैं, पर उत्तरी भारत में उनका सर्वथा लोप हो चुका है।

इस युग के तातार आक्रांताओं का यही ढंग था, वे जहाँ भी हमले करते, खून की नदियाँ बहा देते थे, और धन वैभव को लूट कर नगरों व धर्मस्थानों को खाक में मिला देते थे। इसी समय के लगभग बौद्ध धर्म के अनुयायी तातार सेनापति हलाकू खाँ ने बगदाद पर आक्रमण किया। बगदाद उस समय सभ्य अरबों के वैभव और विद्या का सबसे बड़ा केंद्र था। हलाकू खाँ ने जहाँ बगदाद के धन और ऐश्वर्य को लूटा, वहाँ उस नगर के प्राचीन पुस्तकालय को भी अग्निदेव के अर्पण कर दिया। सभ्य अरबों के साथ जो व्यवहार बौद्ध तातारों ने किया, वही सभ्य बौद्धों के साथ तातार अफगानों व तुर्कों ने किया।

(४) बौद्ध धर्म का विदेशों में प्रसार

गुप्तकाल के समृद्ध युग में विदेशों में भारतीय धर्मों का

जिस प्रकार प्रचार हो रहा था, और भारतीय लोग सुदूर पूर्व तथा सुदूर उत्तर-पश्चिम में जिस प्रकार विविध उपनिवेशों की स्थापना कर रहे थे, इसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। गुप्तों की शक्ति क्षीण होने पर और मगध की राजनीतिक प्रभुता के नष्ट हो जाने के बाद भी यह प्रक्रिया जारी रही और इसका नेतृत्व मगध के महाविहारों के ही हाथ में रहा। इस प्रक्रिया का संक्षेप के साथ वर्णन करना बहुत आवश्यक है, क्योंकि सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक के लगभग ५०० वर्षों के मागध इतिहास की यही सबसे महत्वपूर्ण घटना है।

कुमारजीव और गुणवर्मन ने गुप्त सम्राटों के शासनकाल में चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार के लिये जो यत्न किये, उनका निर्देश पहले किया जा चुका है। गुणवर्मन के कुछ समय पीछे ४३५ ई० में आचार्य गुणभद्र मध्यदेश से चीन गये। संस्कृत की पुस्तकों को चीनी भाषा में अनूदित करने के लिये उन्होंने बड़ा प्रयास किया। कुल मिलाकर ७८ बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया, जिनमें से अब केवल २८ ही प्राप्त होते हैं। ७५ वर्ष की आयु में ४६८ ई० में चीन में ही इनकी मृत्यु हुई। गुणभद्र के बाद ४८१ ई० में धर्मजात यश और छठवीं सदी में धर्मरुचि, रत्नमति, बोधिरुचि और गौतम-प्रज्ञारुचि नामके विद्वान् भारत के मध्यदेश से चीन गये, और बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद करने तथा धर्म के प्रचार में व्यापृत रहे। चीन के लोग मगध तथा उसके समीप के प्रदेशों को ही मध्यदेश कहते थे, और वहाँ नालंदा और काशी उस समय विद्वानों के सबसे बड़े केंद्र थे। ये सब पंडित इन्हीं नगरों के महाविहारों से संबंध रखते थे। भारतीय पंडितों के निरंतर चीन में जाने का यह परिणाम हुआ, कि उस देश के विहारों में हजारों की संख्या में भारतीय भिक्षु निवास करते

गये। एक अनुश्रुति के अनुसार छठवीं सदी के शुरू में चीन में भारतीय भिक्षुओं की संख्या तीन हजार के लगभग थी। इन्हीं भारतीय पंडितों के प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि बौद्ध धर्म की दृष्टि से छठवीं सदी चीन के इतिहास में सुवर्णयुग मानी जाती है। वहां का सम्राट् वू-ती बौद्ध धर्म का कट्टर अनुयायी था। अपने जीवन के अन्तिम भाग में भारतीय आदर्शों के अनुसार उसने राज्य का परित्याग कर भिक्षुओं के काषाय वस्त्र धारण कर लिये थे। ५३९ ई० में वू-ती की प्रेरणा से एक चीनी मंडल भारत इस उद्देश्य से आया, कि यहां से अन्य बौद्ध ग्रंथों को अपने देश में ले जाय। यह मंडल चीन को वापस लौटते हुए परमार्थ नाम के एक प्रसिद्ध विद्वान् को भी अपने साथ ले गया, और इसी के प्रयत्न से चीन में बौद्ध धर्म के योगाचार संप्रदाय का प्रवेश हुआ। भिक्षु परमार्थ ने असंग और वसुबंधु के ग्रंथों का भी चीनी भाषा में अनुवाद किया। छठवीं सदी के अन्य भारतीय पंडितों में, जो चीन गये, जिनगुप्त, ज्ञानभद्र, जिनयश और गौतमधर्मज्ञान के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से जिनगुप्त पेशावर का रहने वाला था, उसने भारतीय धर्मग्रंथों को चीनी में अनूदित करने के लिये एक संघ की स्थापना की। इस संघ में बहुत से भारतीय और चीनी पंडित शामिल हुए। इस संघ ने अपने उद्देश्य में अपूर्व सफलता प्राप्त की, और सैकड़ों संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद चीनी भाषा में किया।

सातवीं सदी के मध्यभाग में प्रसिद्ध चीनी भिक्षु ह्यू एन-त्सांग भारत आया, वह अपने देश को लौटते समय ६५७ बौद्ध ग्रंथों को अपने साथ ले गया। चीन में रहने वाले भारतीय पंडित जो कार्य कर रहे थे, उसमें इन ग्रंथों से बहुत सहायता मिली। भारत के बौद्ध धर्म में उस समय बहुत शीघ्रता से

थी, इसीलिये नये-नये आचार्य दर्शन, धर्म आदि पर नये-नये ग्रंथों की रचनायें करते रहते थे। चीन के बौद्ध पंडित किसी नये बौद्ध दर्शन के विकास में प्रयत्नशील नहीं थे, वे अपने धर्मगुरु भारत के विविध आचार्यों द्वारा लिखे ग्रंथों को अपनी भाषा में पढ़कर ही धर्म व तत्त्वज्ञान की पिपासा को शान्त कर लेते थे। आठवीं सदी के प्रारंभ में आचार्य अमोघवज्र चीन गया। वह तंत्रशास्त्र का बड़ा पंडित था। मगध के बौद्ध महाविहारों में इस समय तांत्रिक धर्म का जोर था। अमोघवज्र ने ४१ तंत्रग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीन के राजा की उसमें अपार श्रद्धा थी। उसने उसे 'राज्यकर्णधार' और 'त्रिपिटक भदंत' की उपाधियों से विभूषित किया था। अमोघवज्र और उसके अन्य साथियों से ही चीन में तांत्रिक धर्म का प्रवेश हुआ। ९७२ ई० में मञ्जुश्री और फिर ९७३ ई० में धर्मदेव नाम के आचार्य चीन गये। ये नालंदा के निवासी थे। धर्मदेव ने ४६ ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। १००४ ईस्वी में धर्मरक्ष अनेक पंडितों के साथ चीन गया। वह भी मगध का निवासी था। ९६ वर्ष की आयु में १०५८ ई० में चीन में ही उसकी मृत्यु हुई। इसके बाद सन् १०५३ में ज्ञानश्री नाम के आचार्य ने मगध से चीन के लिये प्रस्थान किया। संभवतः, वह अंतिम आचार्य था, जो भारत से चीन में धर्मप्रचार के लिये गया था। ग्यारहवीं सदी के बाद चीनी अनुश्रुति में किसी ऐसे भारतीय पंडित का उल्लेख नहीं मिलता, जो चीन जाकर बौद्ध धर्म के प्रचार में व्यापृत रहा हो। तुर्कों के जो आक्रमण ग्यारहवीं सदी के शुरू में भारत पर प्रारंभ हो गये थे, उन्होंने इस देश की व्यवस्था और शांति पर कठोर कुठाराघात किया था। इन नये प्रकार के म्लेच्छों व 'यवनों' के आक्रमणों से भारत की जीवनीशक्ति निर्बल पड़ने लग गई थी, और मगध

के महाविहार भी देर तक अपनी सत्ता को कायम रखने में असमर्थ रहे थे। इसमें संदेह नहीं, कि मगध और भारत के अन्य प्रदेशों के पंडितों ने चीन जाकर वहाँ भारतीय धर्म, भाषा, सभ्यता, कला और संस्कृति के प्रचार के लिये जो अनुपम कार्य किया, वह भारत के इतिहास के लिए अत्यंत गौरव की वस्तु है।

तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रवेश चौथी सदी में शुरू हुआ था। मौर्य राजा अशोक के समय में जो बौद्ध प्रचारक हिमवत प्रदेश में धर्मप्रचार के लिये गये थे, संभवतः उन्हीं की शिष्य परंपरा ने बाद में तिब्बत में भी कार्य किया। पर इन आचार्यों के नाम इस समय तक ज्ञात नहीं हुए हैं। तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार विशेष रूप से सातवीं सदी में हुआ। उस समय तिब्बत में स्रोङ्-त्सन गम्पो नाम का प्रतापी राजा राज्य करता था। इसके दो विवाह हुए, एक चीन के किसी राजा की कुमारी से और दूसरा नेपाल के राजा अंशुवर्मन की कन्या भृकुटीदेवी से। ये दोनों कुमारियाँ बौद्ध धर्म को मानने वाली थीं। इनके प्रभाव से राजा ने भी बौद्ध धर्म को अपनाया। इसी के वंश में आगे चल कर ठि-स्रोङ्-दे-त्सन तिब्बत का राजा हुआ। इसका एक अमात्य चीन देश का रहने वाला और कट्टर बौद्ध था। उसके प्रभाव से राजा ने शांतरक्षित नाम के भारतीय आचार्य को तिब्बत आने का निमंत्रण दिया। आचार्य पद्म-संभव के सहयोग से शांतरक्षित ने तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। आठवीं सदी में इन भारतीय पंडितों ने तिब्बत में अपना काम किया। ये मगध के निवासी थे। मगध के महाविहारों के अनुकरण में तिब्बत की राजधानी ल्हासा से तीस मील दक्षिण-पूर्व में सम्-ये नामक स्थान पर इन्होंने एक महाविहार का निर्माण कराया। यह बहुत समय तक ति-

मन में ज्ञान और विद्या का केंद्र रहा। यह अब तक भी विद्यमान है, और तिब्बत के प्रसिद्ध विहारों में गिना जाता है। यह बौद्धों के सर्वास्तिवादी संप्रदाय का महत्त्वपूर्ण केंद्र था। शांतरक्षित इसी संप्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने अपने सहयोग के लिये बारह अन्य पंडितों को भारत से बुलाया और इनके प्रयत्न से तिब्बती लोग बौद्ध भिक्षु बनने लगे। पद्मसंभव तांत्रिक अनुष्ठानों में विश्वास करता था, उस के प्रयत्नों से तिब्बत में तंत्रवाद का प्रवेश हुआ। इनके बाद आर्यदेव, बुद्धकीर्ति, कुमारश्री, कर्णपति, कर्णश्री, सूर्यध्वज, सुमतिसेन और कमलशील आदि अनेक भारतीय आचार्य तिब्बत में गये, और उन्होंने एक दुर्गम देश में भारतीय धर्म का प्रचार का श्लाघनीय प्रयत्न किया। इन आचार्यों में कमलशील का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसे खास तौर पर भारत से बुलाया गया था। कारण यह, कि एक चीनी बौद्ध भिक्षु, जिसका नाम ह्वा-शंग था, इस समय चीन में बौद्ध धर्म के शून्यवाद संप्रदाय का प्रचार करने में व्यापृत था। भारतीय आचार्य सर्वास्तिवाद और माध्यमिक संप्रदायों के अनुयायी थे। ह्वा-शंग का मुकाबला करने के लिये यह आवश्यकता अनुभव हुई, कि भारत से एक प्रकांड पंडित को तिब्बत बुलाया जाय। इसी उद्देश्य से कमलशील तिब्बत गये, और राजा के सभापतित्व में हुई भारी सभा में चीनी भिक्षु के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ में कमलशील की विजय हुई और ह्वा-शंग ने अपने हाथों से ही कमलशील को जयमाला पहनाई। कमलशील का तिब्बत में बड़ा आदर हुआ। उसे लोग दूसरा भगवान् बुद्ध मानने लगे। कहते हैं, कि इस भारतीय आचार्य का विविध मसालों से सुरक्षित किया हुआ शव अब तक तिब्बत के एक विहार में सुरक्षित है, और तिब्बती लोग उसे बड़े सम्मान की

दृष्टि से देखते हैं। इन भारतीय विद्वानों ने बौद्ध धर्म के संस्कृत ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद भी शुरू किया। संस्कृत की पुस्तकों का तिब्बती में अनुवाद करने के लिये जिन-मित्र, शीलेंद्रबोधि, दानशील, प्रज्ञावर्मन, सुरेंद्रबोधि आदि अनेक भारतीय पंडित तिब्बत बुलाये गये, और इनके प्रयत्नों से न केवल संपूर्ण बौद्ध त्रिपिटक, अपितु अन्य भी बहुत से ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया गया। नवीं सदी में यह प्रक्रिया निरंतर जारी रही, और अन्य भी अनेक भारतीय पंडित तिब्बत गये। तिब्बत में अनेक लोग ऐसे भी थे, जो बौद्ध धर्म के द्वेषी थे, और भारतीय आचार्यों के प्रभुत्व को पसंद नहीं करते थे। इनके विरोध के कारण दसवीं सदी में भारतीय पंडितों का तिब्बत जाना कुछ समय के लिये रुक गया। पर ग्यारहवीं सदी में फिर स्मृति, धर्मपाल, सिद्धपाल, गुणपाल, प्रज्ञापाल, सुभूति, श्री शांति और दीपंकर श्रीज्ञान अतिश आदि अनेक आचार्य तिब्बत गये। इनमें अतिश के संबंध में अधिक विस्तार से लिखने की आवश्यकता है। वे विक्रमशिला महाविहार के प्रधान कुलपति थे। इनकी कीर्ति को सुनकर तिब्बत के राजा ने एक दूतमंडल इस उद्देश्य से भेजा था, कि अतिश को तिब्बत में निमंत्रित करे। सत्तर वर्ष के वृद्ध होने पर भी आचार्य अतिश तिब्बत गये और वहाँ जाकर उन्होंने बौद्ध धर्म को पुनः संगठित किया। अतिश बहुत बड़े विद्वान थे, उन्होंने २०० के लगभग ग्रंथ लिखे, जिनमें कुछ पुराने संस्कृत ग्रंथों के तिब्बती अनुवाद भी थे। उनकी मृत्यु तिब्बत में ही हुई। ल्हासा से बीस मील की दूरी पर क्यु-चो नदी के तट पर उनकी समाधि अब तक विद्यमान है, और तिब्बती लोग उसे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।

तिब्बत में बौद्ध धर्म का जो संगठन आचार्य अतिश ने

किया था, वही कुछ परिवर्तित रूप में आज तक विद्यमान है।
मगध के महाविहारों के विविध बौद्ध आचार्यों ने चीन और तिब्बत में धर्म और संस्कृति के प्रचार के लिये जो उद्योग किया, वह वस्तुतः अनुपम था।

(५) बृहत्तर भारत

समुद्र के पार सुदूर पूर्व के देशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना किस प्रकार हुई, इसका विवरण हम पहले दे चुके हैं। गुप्त साम्राज्य की शक्ति के क्षीण हो जाने के बाद भी अनेक सदियों तक ये उपनिवेश फलते-फूलते रहे, और इनमें भारतीय धर्मों और सभ्यता का प्रचार रहा। कंबुज देश के भारतीय राजाओं ने फूनान के प्राचीन राजवंश को परास्त कर अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया था। ये राजा शैव धर्म के अनुयायी थे। कंबुजराज भववर्मा ने अनेक मंदिरों का निर्माण कर उनमें शिवलिंगों की प्रतिष्ठा की थी। फूनान की विजय के बाद संपूर्ण कंबुज साम्राज्य (कंबोडिया) में भारतीय पौराणिक संस्कृति का खूब प्रचार हुआ। न केवल राजा, अपितु अन्य धनी मानी लोग भी वहाँ मंदिरों के निर्माण में संलग्न थे। कुछ ही समय में कंबुज भारतीय संस्कृति का बड़ा केंद्र बन गया। शिव, विष्णु, दुर्गा आदि पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा वहाँ सर्वत्र होने लगी। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि का सर्वत्र अध्ययन शुरू हुआ। सातवीं सदी में महेंद्र-वर्मा, ईशानवर्मा और जयवर्मा वहाँ के राजा हुए। ईशानवर्मा ने कंबुज में अनेक आश्रम बनवाये। जैसे बौद्ध धर्म के मठ विहार कहलाते थे, वैसे ही पौराणिक धर्म के मठों को आश्रम कहते थे। इनमें बहुत से संन्यासी निवास करते थे, और भिक्षुओं की तरह धर्मप्रचार, विद्याध्ययन तथा शिक्षा कार्य में

व्याप्त रहते थे। इसी के समय में विष्णु और शिव की सम्मिलित मूर्ति बनाई गई। भारत में वैष्णव और शैव धर्मों में परस्पर विरोध था। पर सुदूर पूर्व के भारतीय पंडित शिव और विष्णु में समन्वय कर रहे थे। एक चीनी यात्री ने ईशान-वर्मा के शासन का वर्णन करते हुए लिखा है—"ईशानवर्मा की राजधानी ईशानपुर है। वहाँ बीस हजार घर हैं। नगर के मध्य में विशाल राजप्रासाद है। यहाँ राजा अपना दरबार लगाता है। राज्य में तीन बड़े नगर हैं। प्रत्येक में एक-एक शासक रहता है। उच्च राजकर्मचारी पाँच तरह के हैं। ये सब राजा के सम्मुख उपस्थित होने पर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिये सिंहासन के सम्मुख तीन बार पृथ्वी को छूते हैं। फिर राजा उन्हें आसन ग्रहण करने को कहता है। गोलाकृति में बैठकर वे राजा के साथ मंत्रणा करते हैं। सभा समाप्त होने पर वे पुनः घुटने टेकते हुए दरबार से चले जाते हैं। दरबार के द्वार पर शस्त्रों से सज्जित हजारों सैनिक सदा सन्नद्ध रहते हैं।"

यह संभव नहीं है, कि हम यहाँ कंबोडिया के भारतीय राजाओं का उल्लेख कर सकें। पर नवीं सदी के अंत में कंबुज का शासन करने वाले राजा यशोवर्मा का परिचय देना यहाँ आवश्यक है। उसने यशोधरपुर नाम से अपनी नई राजधानी बनाई थी। उसके भग्नावशेष अब भी अङ्कोरथोम में उपलब्ध होते हैं। इसके चारों ओर ३५० फीट चौड़ी खाई है, जिसके भीतर की तरफ एक विशाल प्राचीर बनी हुई है। नगर वर्गाकार है, जिसकी प्रत्येक भुजा लंबाई में दो मील से भी कुछ अधिक है। नगर के द्वार विशाल और सुंदर हैं। इन के दोनों ओर रक्षकों के निवास के लिये मकान बने हैं। तीन सिर वाले विशाल हाथी द्वारों की मीनारों को अपनी पीठ पर थामे हुए

है। सौ फीट चौड़े और मील भर लंबे पाँच राजमार्ग द्वारों से नगर के मध्य तक गये हैं। पक्की चिनाई के भिन्न-भिन्न आकृति वाले कई सरोवर अब तक भी इन खंडहरों में विद्यमान हैं। नगर के बीच में शिव का एक विशाल मंदिर है। इसके तीन खंड हैं, प्रत्येक खंड पर एक-एक ऊँची मीनार है। बीच के मीनार की ऊँचाई भग्न दशा में भी १५० फीट के लगभग है। ऊँची मीनार के चारों तरफ बहुत सी छोटी-छोटी मीनारें हैं। इनके चारों ओर एक-एक नरमूर्ति बनी हुई है। ये समाधिस्थ शिव की मूर्तियाँ हैं। इनके मस्तक पर शिव का तृतीय नेत्र भी विद्यमान है। इस विशाल शिवमंदिर में जगह-जगह पर सुंदर चित्रकारी की गई है। मंदिर की दीवारों पर अनेकविध चित्र बने हुए हैं। पौराणिक धर्म के किसी मंदिर का इतने पुराने और विशाल अवशेष भारत में कहीं नहीं मिलते। उपनिवेशों के भारतीय कितने समृद्ध और वैभवशाली थे, इसका यह जीता-जागता उदाहरण है। बारहवीं सदी के पूर्वार्ध में कंबोडिया का राजा सूर्यवर्मा द्वितीय था। इसने एक विशाल विष्णुमंदिर का निर्माण कराया, जो अंकोर वत के रूप में अब भी विद्यमान है। आज कल यह एक बौद्ध विहार है। पर पहले-पहल इसका निर्माण विष्णुमंदिर के रूप में हुआ था। इस की प्रत्येक चीज बहुत बड़े परिमाण की है। इसके चारों ओर एक खाई है, जिस की चौड़ाई ७०० फीट है। इस झील के समान चौड़ी खाई को पार करने के लिये पश्चिम की तरफ एक पुल बना है। पुल पार करने पर एक विशाल द्वार है, जिसकी चौड़ाई १००० फीट से भी अधिक है। इसमें तीन मार्ग पैदल लोगों के लिये और दो रथों व हाथियों के लिये हैं। खाई और द्वार को पार करने के बाद जो मंदिर है, वह भी बहुत विशाल है। इसकी ऊँचाई १८० फीट के लगभग है। इसकी दीवारों पर

बहुत से चित्र बने हैं, जिन में पौराणिक गाथाओं को चित्रित किया गया है।

समयांतर में कंबुज में भारतीय पौराणिक धर्म का ह्रास हो गया और उसका स्थान बौद्ध धर्म ने ले लिया। पर इस प्रदेश में प्राप्त संस्कृत के लेख, मूर्तियाँ व मंदिरों के अवशेष उस युग का भली-भाँति स्मरण दिलाते हैं, जब कि कंबुज भारत का ही एक उपनिवेश था, और वहाँ के राजा, पंडित व सर्वसाधारण लोग भारतीय जीवन ही व्यतीत करते थे। कम्बुज के समान ही चंपा, मलाया, जावा, सुमात्रा आदि में भी बारहवीं सदी तक भारतीय धर्म, भाषा, सभ्यता आदि का प्रचार रहा। इन सब देशों के राजवंशों का इतिहास बड़े महत्त्व का है। इनमें जो शिलालेख मूर्तियाँ व मंदिरों के अवशेष मिले हैं, वे सब भी भारत के प्राचीन गौरव के परिचायक हैं। इन सब उपनिवेशों का इस काल में भारत के साथ घनिष्ट संबंध कायम था। जावा, सुमात्रा में जिस राजवंश का शासन था, उसे शैलेंद्र कहते थे। इसकी राजधानी श्रीविजय थी, जो अब सुमात्रा में पालेम्बांग कहलाती है। पालवंशी राजा देवपाल के समय में शैलेंद्र वंश का राजा बलपुत्र देववर्मा था। उसने देवपाल से अनुमति लेकर नालंदा में सुवर्णद्वीप के विद्यार्थियों के लिये अपनी तरफ से एक छात्रावास (संघाराम) बनवाया। इसके खर्च के लिये देवपाल ने गया और राजगृह के समीप पाँच ग्राम लगा दिये थे, जिनकी आय से इस छात्रावास में निवास करने वाले विद्यार्थियों का खर्च चलता था। इससे स्पष्ट है, कि सुदूर पूर्व के ये भारतीय उपनिवेश मगध के इन महाविहारों को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे, और अपने देश के विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा के लिये यहाँ भेजते थे। मगध बृहत्तर भारत के लिये अब भी संस्कृति और ज्ञान का केंद्र बना हुआ था।

(६) बौद्ध धर्म का ह्रास

अनेक गुप्त सम्राट् और मगध के पालवंशी राजा जिस बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और जिसके महाविहारों के विद्वान आचार्य बारहवीं सदी तक ज्ञान और धर्म के संदेशवाहक होकर सुदूर देशों में जाया करते थे, वह मुसलमानों के आक्रमण के बाद भारत में सर्वथा लुप्त सा हो गया, यह बात बड़े आश्चर्य की है। मौर्यों के बाद भारत में पौराणिक वैदिक धर्म के पुनरु-त्थान का जो आंदोलन शुरू हुआ था, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। भारत के सर्वसाधारण गृहस्थ ब्राह्मणों और श्रमणों का समान रूप से आदर करते थे। वे विविध स्थानीय परंपराओं के अनुसार विविध प्रकार के अनुष्ठानों का प्रयोग करते थे, और सब संन्यासियों व भिक्षुओं की एक सदृश सेवा करते थे। विदेशों में जो बौद्ध प्रचारक गये, वे जनता में एक नई सभ्यता और संस्कृति के संदेशवाहक थे। वहाँ के लोग भारत की अपेक्षा बहुत पिछड़े हुए थे। पर भारत में वे केवल धर्म का नेतृत्व करते थे। यहाँ उन्हें किसी नई सभ्यता व संस्कृति में जनता को दीक्षित नहीं करना था। बौद्ध संघ की आंतरिक शिथिलता के साथ-साथ ज्यों-ज्यों अन्य धर्मों के ब्राह्मणों व संन्यासियों में जीवन और स्फूर्ति बढ़ती गई, त्यों-त्यों बौद्ध भिक्षुओं का जनता पर प्रभाव कम होता चला गया।

इसके अतिरिक्त, पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान के साथ जिन देवी-देवताओं की उपासना का प्रारम्भ हुआ था, वे भारत की प्राचीन परंपरा के अनुसार लोगों के हृदय में गहरा स्थान रखते थे। बौद्ध लोग उनकी उपेक्षा नहीं कर सके। उन्होंने भी इन विविध देवी-देवताओं को नये नामों से अपने धर्म में स्थान देना शुरू किया। मंजुश्री, तारा, अवलोकितेश्वर आदि के रूप

से अनेक देवी-देवताओं ने बौद्ध धर्ममें भी प्रवेश करलिया था। बौद्धों के जो बहुत से संप्रदाय व उपसम्प्रदाय धीरे-धीरे विकसित हो गये थे, उन्होंने पौराणिक धर्म से उनके भेद को बहुत कम कर दिया था। तंत्रवाद के प्रवेश से तो शक्ति के उपासक पौराणिक और तांत्रिक बौद्ध एक दूसरे के बहुत समीप आ गये थे। भगवान् के दस अवतारों में पौराणिक लोगों ने बुद्ध को भी शामिल कर लिया था। जिस महाप्रतापी सिद्धार्थ के अनुयायी न केवल भारत में अपितु सुदूर विदेशों में संस्कृत भाषा, भारतीय धर्म और भारतीय संस्कृति के प्रचार में लगे थे, जिनके स्तूपों, चैत्यों और विहारों से सारा सभ्य संसार आच्छादित था, वह भगवान् का साक्षात् अवतार नहीं था, तो क्या था? पौराणिक लोग बुद्ध को मानते थे और बौद्ध लोग भारत के पुराने देवी-देवताओं और दार्शनिक विचारों को स्वीकार करते थे। इस दशा में यदि उनका आपस का भेद बिलकुल कम रह जाय, तो यह उचित ही था।

गुप्त सम्राटों में कुछ वैष्णव, कुछ शैव और कुछ बौद्ध थे। एक ही परिवार में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी हो सकते थे। सम्राट् हर्षवर्धन सूर्य की उपासना करता था, शिव को मानता था और साथ ही बौद्ध स्थविरों में भी श्रद्धा रखता था। पालवंशी राजा बौद्ध थे, पर ब्राह्मण पंडितों को दान देने में और पौराणिक मंदिरों की सहायता करने में संकोच नहीं करते थे। भारत के विविध धर्मों का भेद इस समय केवल उनके नेताओं में ही था। बौद्ध भिक्षु अपने महाविहारों में रहते थे, पौराणिक संन्यासी आश्रमों और मठों में निवास करते थे। विविध धर्मों के इन विविध पंडितों में प्रायः शास्त्रार्थ चलते रहते थे। जिस धर्म के पंडित, ब्राह्मण व संन्यासी अधिक विद्वान् व त्यागी होते, वही जनता पर अपना अधिक

प्रभाव कायम कर लेता । सातवीं सदी में अनेक ऐसे पौराणिक विद्वान् भारत में हुए, जिन्होंने अपनी विद्वत्ता तर्क और प्रभाव से सब को चकाचौंध सा कर दिया । प्रभाकर और कुमारिल भट्ट के नाम इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । कुमारिल ने बौद्ध सिद्धांतों पर आक्रमण किए और वैदिक अनुष्ठानों तथा प्राचीन दर्शनपद्धति के गौरव को पुनरुज्जीवित किया । बाद में शंकराचार्य ने सारे भारत में भ्रमण कर बौद्धों के साथ जगह-जगह पर शास्त्रार्थ किए और बौद्ध भिक्षुसंघों के मुकाबले में अपने मठों का संगठन किया, जिनमें हजारों संन्यासी विद्या-व्यसन में व्याप्त रहने लगे । इन संन्यासियों के सन्मुख बौद्ध भिक्षुओं का प्रभाव मंद पड़ गया । बौद्ध संघ को कायम हुए हजार से ऊपर साल हो चुके थे, वैभवपूर्ण सम्राटों के दान और साहाय्य से उसके पास अपार सम्पत्ति एकत्र हो गई थी । मगध के महाविहारों में हजारों भिक्षु निश्चिन्त हो कर आनंद के साथ जीवन व्यतीत करते थे । उन्हें लोगों के पास भिक्षापात्र लेकर जाने की आवश्यकता अब नहीं रही थी । वे नाम को ही भिक्षु थे । इसके विपरीत आश्रमों और मठों में रहने वाले संन्यासियों में इस समय नई स्फूर्ति विद्यमान थी । परिणाम यह हुआ, कि भारतीयों की श्रद्धा बौद्ध भिक्षुओं में कम हो गई और वे संन्यासियों के उपदेशों को अधिक सम्मान के साथ श्रवण करने लगे ।

बारहवीं सदी के अंत में मुसलमानों के आक्रमणों से जब मगध के महाविहार तथा अन्य स्थानों के संघाराम और विहार नष्ट हुए, तो बौद्ध भिक्षुओं का रहा-सहा प्रभाव भी नष्ट हो गया । उनके स्थान पर सुदूर दक्षिण के संन्यासियों के मठ मुसलमानों के आक्रमणों से बचे रहे । रामानुज, शंकराचार्य आदि ने जिन नये धार्मिक आंदोलनों का सूत्रपात किया था,

उनके केंद्र दक्षिणी भारत में ही थे। वहाँ के संन्यासी बाद में भी सारे भारत में घूमते हुए जनता को धर्म का मार्ग दिखाते रहे। यही कारण है, कि पौराणिक धर्म भारत से लुप्त नहीं हुआ, और बौद्ध धर्म जो पहले ही अपना प्रभाव खोना शुरू कर चुका था, बारहवीं सदी के बाद भारत से लुप्तप्राय हो गया। बौद्ध धर्म के लोप के साथ मगध का धार्मिक नेतृत्व भी लुप्त हो गया।

(६) उपसंहार

यहाँ हम मगध की कथा को समाप्त करते हैं। एक हजार से कुछ अधिक साल तक पाटलीपुत्र भारत की राजनीतिक शक्ति का केंद्र रहा। मगध के 'विजिगीषु' सम्राटों ने भारत के विविध जनपदों को जीत कर जिस एकराट् शासन की स्थापना की, वह छठवीं सदी तक कायम रहा। मगध की अनार्यतत्त्व-प्रधान 'भृत', श्रेणिबल' और 'आटविक' सेनायें अपने विशाल साम्राज्य पर सफलता के साथ शासन करती रहीं। इस साम्राज्य के शासक राजवंश समय-समय पर बदलते रहे। राजाओं के विरुद्ध कितनी ही क्रांतियाँ हुईं, 'कर्कट समान राजपुत्रों' ने अपने जनकों का ही घात किया, 'भृत्यों' ने अपने स्वामियों के विरुद्ध षड्यंत्र कर स्वयं राजसिंहासन प्राप्त करने के सफल यत्न किये। ब्रात्य क्षत्रिय, शूद्रप्राय कुल, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य-सब प्रकार के राजकुलों ने पाटलीपुत्र के सिंहासन को सुशोभित किया, पर मगध की राजशक्ति में कोई अंतर नहीं आने पाया। यवन, शक, कुशाण, हूण आदि जो भी आक्रांता भारत में आये, मगध की इस शक्ति को स्थिर रूप से नष्ट नहीं कर सके। मागध साम्राज्य की सीमा में समय-समय पर अंतर आता रहा, पर उसकी चट्टान के समान मजबूत राज-

शक्ति इन सब विघ्न-बाधाओं का सफलता के साथ मुकाबला करती रही।

शस्त्रों द्वारा स्थापित इस विशाल साम्राज्य की अपेक्षा भी मगध का वह धर्मसाम्राज्य अधिक महत्त्वपूर्ण है जिसका उपक्रम अशोक और उपगुप्त द्वारा हुआ था। धर्म द्वारा मगध के भिक्षुओं ने न केवल सारे भारत की विजय की, अपितु सुदूर विदेशों में अपनी भाषा, धर्म, सभ्यता, कला और संस्कृति का साम्राज्य स्थापित किया। जो म्लेच्छ आक्रांता भारत में शस्त्र-विजय के लिये आये, वे भी मगध के इस धर्मसाम्राज्य के अधीन हो गये। मगध की राजनीतिक शक्ति को नष्ट हुए, अब एक हजार वर्ष से अधिक हो चुके हैं। पर उसका धर्मसाम्राज्य अब तक भी कितने ही देशों में अवशिष्ट है। मगध की गौरव-पूर्ण कथा संसार के इतिहास में अद्वितीय स्थान रखती है।

सत्ताइसवाँ अध्याय

तुर्क, अफ़गान और मुगलों का शासन

(१) लखनौती के खिलजी सरदार

मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने उद्दण्डपुर के महाविहार का ध्वंस कर, किस प्रकार संपूर्ण मगध में अपना आधिपत्य स्थापित किया था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। कन्नौज के गहड़वार साम्राज्य के पतन काल में जो विविध छोटे-छोटे राजा पूर्वी भारत में कायम हो गये थे, उनमें से बहुतों के साथ मुहम्मद खिलजी के युद्ध हुए और धीरे-धीरे उसने चुनार के पूर्व से शुरू कर गंगा नदी के साथ-साथ मगध और गौड़ (पश्चिमी बंगाल) पर अपना अधिकार कर लिया। उसने लखनौती को अपनी राजधानी बनाया, और प्राचीन 'प्राच्य' देश में पहले-पहल एक मुसलिम सल्तनत की स्थापना की। पाटलीपुत्र का प्राचीन गौरव और वैभव इस समय लुप्त हो गया था। इस समृद्ध नगरी में इस काल में खंडहरों के अतिरिक्त कुछ शेष न रहा था। लखनौती के खिलजी शासकों के राज्य में मगध और उसकी प्राचीन राजधानी पाटलीपुत्र भी अंतर्गत थी, यद्यपि उसके राजनीतिक महत्त्व का इस समय सर्वथा लोप हो चुका था।

मुहम्मद गोरी ने भारत के विविध प्रदेशों को जीतकर जिस शासन का सूत्रपात किया, वह सामंतपद्धति (फ्यूडल सिस्टम) पर आश्रित था। गोर के सम्राट् के अधीन दिल्ली में कुतुबुद्दीन ऐबक का शासन था। इसकी स्थिति एक स्वतंत्र महाराजाधिराज के समान थी। कुतुबुद्दीन के अधीन बहुत से

शक्तिशाली सेनापति सामंत रूप में विविध प्रदेशों का शासन करते थे। दिल्ली के सुलतानों की शक्ति उनकी सेना पर निर्भर थी। जिसके हाथ में सेना रहती, उसी के हाथ में राज्य रहता था। दिल्ली के सुलतान के अधीन विविध सेनापति विविध प्रदेशों का शासन करने के लिये नियुक्त थे। इनके पास सेना इस लिये रखी जाती थी, कि अपने प्रदेशों में ये व्यवस्था और शांति कायम रखें, और नये प्रदेशों को जीतकर दिल्ली की सल्तनत के अधीन करें। पर इन्हें जब भी अवसर मिलता, ये अपने को स्वतंत्र राजा उद्घोषित करने में ज़रा भी संकोच न करते। अपनी सेना की सहायता से ये समय-समय पर विद्रोह करते रहते और दिल्ली के सुलतानों को सदा इस प्रयत्न में लगे रहना पड़ता, कि इन्हें जीतकर अपने काबू में रखें। प्रांतों के शासक इन सेनापतियों के अधीन भी बहुत से सरदार व सेनापति रहते थे, और वे भी विद्रोह करके अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने व अपने स्वामी के विरुद्ध विद्रोह करने में तत्पर रहते थे। लखनौती के खिलजी सरदार नाम को तो दिल्ली के सुलतान के अधीन थे, पर वस्तुतः उनकी स्थिति स्वतंत्र महाराजाओं के समान थी। उन्होंने अपने साहस और सेना के आधार पर, अपनी सूझ के अनुसार ही पूर्वी भारत में एक नये राज्य की स्थापना की थी, और यही कारण है कि उस पर उनका शासन स्वतंत्र महाराजाओं के सदृश था।

१२०६ ई० में मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी की मृत्यु हुई। इसके बाद लखनौती के विविध खिलजी सरदार (अमीर) आपस में लड़ने लगे। इस स्थिति से लाभ उठाकर कुतुबुद्दीन ऐबक ने लखनौती पर हमला किया, और खिलजी सरदारों को युद्ध में परास्त कर मगध और गौड़ पर अपना अधिकार कर लिया। खिलजी सरदारों ने विवश होकर दिल्ली के सुल-

खान की अधीनता स्वीकार की। पर १२१० ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक की मृत्यु के बाद लखनौती में फिर विद्रोह हुआ। खिलजी सरदारों ने परस्पर मिलकर गयासुद्दीन इवज़ को अपना नेता चुना, और एक बार फिर लखनौती में स्वतंत्र खिलजी शासन की स्थापना की। गयासुद्दीन बड़ा प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। उसने न केवल बंगाल और गौड़ पर दृढ़ता के साथ शासन किया, अपितु उड़ीसा, पूर्वी बंगाल और तिरहुत के स्वतंत्र पुराने राजवंशों पर भी अनेक आक्रमण किये। कुछ समय के लिये संपूर्ण पूर्वी भारत को अपनी अधीनता में लाने में उसे सफलता हुई।

दिल्ली में कुतुबुद्दीन ऐबक के बाद उसका दामाद अल्तमश (१२१० से १२३६ ई० तक) सुलतान बना। उसने उत्तरी भारत में दिल्ली की सल्तनत को कायम करने के लिये बड़ा उद्योग किया। १२२५ ई० में उसने लखनौती पर भी हमला किया और वहाँ के खिलजी सुलतान गयासुद्दीन को अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिये विवश किया। पर अल्तमश के दिल्ली लौटते ही गयासुद्दीन ने फिर विद्रोह किया, और एक बार फिर अपने को स्वतंत्र सुलतान उद्घोषित कर दिया। अगले साल १२२६ ई० में अल्तमश ने बड़ी तैयारी के साथ लखनौती पर हमला किया। गयासुद्दीन लड़ाई में मारा गया और अल्तमश ने अपने पुत्र नासिरुद्दीन महमूद को लखनौती का प्रांतीय शासक नियुक्त किया। पर वहाँ के खिलजी सरदार सुगमता के साथ काबू में नहीं आये। उन्होंने बाद में भी अनेक बार दिल्ली की सल्तनत के विरुद्ध विद्रोह किये। पर अल्तमश संपूर्ण उत्तरी भारत में अपना सुदृढ़ और अबाधित शासन स्थापित करने के लिये कटिबद्ध था। उसने बार-बार लखनौती पर चढ़ाई की, और अंत में अपने उद्देश्य में सफल हुआ। उसके निरंतर

आक्रमणों से खिलजी सरदारों की शक्ति टूट गई। १२२८ से १२८८ ई० तक ६० वर्ष निरंतर लखनौती दिल्ली के शक्तिशाली सुलतानों के अधीन रहा। वहाँ नियुक्त प्रांतीय शासक बिहार और बंगाल के प्रदेशों पर निरंतर शासन करते रहे। पूर्वी भारत में अभी तक अनेक प्राचीन राजवंश स्वतंत्रता के साथ राज्य करते थे। लखनौती के इन प्रांतीय शासकों ने इनके साथ युद्धों को जारी रखा, और धीरे-धीरे सेन, कर्णाट आदि अनेक राजवंशों का अंत कर अपनी सल्तनत का विस्तार किया।

इन साठ वर्षों में दिल्ली की राजगद्दी पर अल्तमश के बाद सुलतान रज़िया बेगम (१२३६ से १२४० तक), और बलबन (१२४० से १२८७ तक) ने राज्य किया। बलबन के शासन-काल के अंतिम भाग में उसका बड़ा लड़का नासिरुद्दीन बुगरा लखनौती का शासक था। पिता की मृत्यु के बाद वह लखनौती में स्वतंत्र हो गया।

(२) तुगलकों का शासन

बलबन की मृत्यु के बाद जब नासिरुद्दीन बुगरा लखनौती में स्वतंत्र हो गया, तो दिल्ली के राजसिंहासन पर कैकुबाद आरूढ़ हुआ। यह बलबन का पोता था। वह बड़ा लंपट और स्वेच्छाचारी था। उसे अभी शासन करते हुए चार वर्ष ही हुए थे, उसके अत्याचारों या ज्यादतियों से तंग आ कर उसके एक शक्तिशाली सेनापति जलालुद्दीन खिलजी ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और कैकुबाद को कत्ल करके दिल्ली की राजगद्दी पर अपना अधिकार कर लिया।

पर लखनौती में बलबन के वंशज स्वतंत्रतापूर्वक राज्य करते रहे। नासिरुद्दीन (१२८७ से १२९१ ई० तक) के बाद उसके दो लड़कों ने १३२२ ईस्वी तक वहाँ का शासन किया। ये दोनों

लड़के भी अपने पिता के समान ही प्रतापी थे। इनमें से कैकोस ने १२९१ से १३०० तक और फिर शम्सुद्दीन ने १३०० से १३२२ तक राज्य किया। इनके राज्य में संपूर्ण बंगाल शामिल हो गया था। इन्होंने पूर्वी भारत के बचे-खुचे प्राचीन राजवंशों के साथ युद्ध जारी रखे, और धीरे-धीरे बिहार व बंगाल पर अपना सुदृढ़ शासन स्थापित कर लिया। इस समय दिल्ली के अफगान सुलतान विविध सेनापतियों से लड़ने और राजपूत राजाओं तथा दक्षिणी भारत के विविध स्वतंत्र राज्यों के साथ युद्ध में व्याप्त थे। इन्होंने लखनौती के इस स्वतंत्र मुसलिम राज्य को जीत कर अपने अधीन करने के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया।

शम्सुद्दीन के चार लड़के थे। लखनौती की राजगद्दी पर किसका अधिकार हो, इसके लिये उनमें भ्रातृ युद्ध का प्रारंभ हुआ। आखिर, दो भाइयों ने अपनी सहायता के लिये दिल्ली के सुलतान से सहायता की याचना की। इस समय तक, दिल्ली में जलालुद्दीन खिलजी द्वारा स्थापित खिलजी वंश का अंत हो चुका था, और सेना की सहायता से गयासुद्दीन तुगलक ने दिल्ली के राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया था। सुलतान गयासुद्दीन तुगलक ने लखनौती के राज्य में हस्तक्षेप करने के इस सुवर्णीय अवसर को हाथ से नहीं जाने दिया। उसने एक बड़ी सेना लेकर, लखनौती के भ्रातृ युद्ध में हस्तक्षेप करने के लिये, पूर्व की ओर प्रस्थान किया। इस विजययात्रा में उसने न केवल लखनौती पर अपना अधिकार कर लिया, अपितु सारे बिहार और बंगाल को जीतकर दिल्ली की सल्तनत के अधीन कर दिया। गंगा के उत्तर में तिरहुत के प्रदेश पर अब तक भी प्राचीन कर्णाट वंश का शासन था, जिसके राजा मिथिला को राजधानी बनाकर स्वतंत्र रूप से शासन करते थे।

गयासुद्दीन तुगलक ने मिथिला पर भी हमला किया, और वहाँ के राजा हरिसिंह देव को परास्त कर अपने अधीन किया।

सन् १३२५ ईस्वी में गयासुद्दीन की मृत्यु हुई। उसके बाद मुहम्मद तुगलक दिल्ली की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। मुहम्मद बहुत ही शिक्षित, विद्वान तथा सुयोग्य व्यक्ति था। अपने समय के तुर्क व अफगान सुलतानों में उससे अधिक योग्य और विद्वान अन्य कोई सुलतान नहीं हुआ। उसकी स्मरणशक्ति अद्भुत थी। उस युग में जो भी विद्यायें थीं, मुहम्मद तुगलक उनमें पारंगत था। वह गणित, ज्योतिष, दर्शन, विज्ञान, कविता आदि सब विषयों का पंडित था। कविता व साहित्य का उसे बड़ा शौक था। स्वयं कट्टर मुसलमान होते हुए भी उसमें धर्मान्धता नहीं थी। शासनकार्य में वह धर्माचार्यों को अपना पथ-प्रदर्शक नहीं मानता था। उसके दरबार में बहुत से विद्वान तथा साहित्यप्रेमी निवास करते थे। जहाँ मुहम्मद तुगलक में इतने गुण थे, वहाँ दोषों की भी उसमें कमी नहीं थी। शासन में वह बहुत कठोर था। अनेक बार उसकी कठोरता, क्रूरता और अत्याचार के रूप में परिवर्तित हो जाती थी। उसमें क्रियात्मकता का बहुत अभाव था। उसने अनेक ऐसी योजनायें बनाईं, जिन्होंने लाभ की अपेक्षा नुकसान अधिक किया। वह क्रोधी भी बहुत था। अनेक बार गुस्से में आकर वह अपने आप को भूल जाता था, और लोगों के साथ बड़ा कठोर व्यवहार करता था। इसी का यह परिणाम हुआ, कि उसके शासन-काल में दिल्ली की सुविशाल सल्तनत छिन्न-भिन्न होनी शुरू हो गई। साम्राज्य के अनेक भागों में विद्रोह हुए और विविध प्रांतीय शासक व सेनापति अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र होने लग गये।

सन् १३२६ में बिहार बंगाल में फिर विद्रोह हुआ। इसका

सेना शम्सुद्दीन इलियास नाम का एक कुशल सेनापति था। उसने लखनौती पर अपना कब्जा कर लिया, और काशी से पूर्व के सारे पूर्वी भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। मुहम्मद तुगलक इस विद्रोह को शांत करने में सर्वथा असमर्थ था।

सन् १३५१ में मुहम्मद तुगलक की मृत्यु हुई और उसका चचेरा भाई फीरोज शाह तुगलक दिल्ली का सुलतान बना। सन् १३५४ में उसने बिहार बंगाल के प्रदेशों को फिर से अपने अधीन करने के लिये एक बड़ी सेना को साथ ले चढ़ाई की। गंगा के उत्तर में गोरखपुर और तिरहुत के रास्ते वह आगे बढ़ा, और शम्सुद्दीन इलियास पर आक्रमण किया। कई सालों तक दोनों पक्षों में लड़ाई जारी रही। शम्सुद्दीन को पूर्णतया परास्त करने में फीरोजशाह सफल नहीं हो सका। तिरहुत और बिहार के प्रदेशों को उसने जीत लिया, पर बंगाल पर शम्सुद्दीन का स्वतंत्र शासन कायम रहा। इस समय बिहार का प्रदेश दिल्ली की सल्तनत के अंतर्गत हो गया। पूर्वी भारत पर आक्रमण करते समय फीरोजशाह तुगलक ने एक नई नगरी की स्थापना की, जिसका नाम जौनपुर है। यह नगर उसने अपने भाई जूना (मुहम्मद तुगलक) के नाम पर बसाया था। यहाँ सल्तनत के पूर्वी प्रदेशों का शासन करने के लिये एक पृथक् प्रांतीय शासक की नियुक्ति की गई, जिसे मलिक-उस्-शर्क (प्राच्यदेश का शासक) की उपाधि दी गई। तिरहुत और बिहार के प्रदेश इस मलिक-उस्-शर्क के शासन में शामिल कर दिये गये।

(३) शर्की सुलतानों का शासन

सन् १३८८ में फीरोजशाह तुगलक की मृत्यु हुई। उसके

बाद दिल्ली की सल्तनत की शक्ति क्षीण हो गई। विविध प्रांतीय शासकों, सेनापतियों व अधीनस्थ राजाओं ने विद्रोह प्रारंभ कर दिये। राजपूताना के जिन विविध राजाओं को अलाउद्दीन खिलजी जैसे प्रतापी सुलतानों ने अपने अधीन किया था, वे सब अब स्वतंत्र हो गये, और गुजरात मालवा, दक्खिनी भारत आदि सल्तनत के सब दूरवर्ती प्रदेशों में विविध अफगान सेनापतियों ने अपने नये स्वतंत्र राज्य स्थापित किये। इसी समय तैमूर ने भारत पर आक्रमण किया। वह एक बड़ा विजेता और साम्राज्यनिर्माता था। उसने मध्य एशिया में अपने शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की थी। भारत की राजशक्ति की अस्त-व्यस्त दशा को देख कर उसने यहां भी आक्रमण किया। मुलतान, दीपालपुर आदि के दुर्गों को जीतता हुआ वह दिल्ली तक आ पहुँचा। रास्ते में उसने लोगों पर भयंकर अत्याचार किये। उसके हमलों से सैकड़ों गांव और नगर नष्ट हुए। लाखों आदमी कत्ल हुए और लाखों कैद कर लिये गये। इस समय दिल्ली में फीरोजशाह का उत्तराधिकारी महमूद तुगलक राज्य करता था। उसने सेना एकत्र कर दिल्ली के बाहर तैमूर का मुकाबला किया। पर उसे परास्त कर सकना सुगम बात न थी। महमूद हार गया और तैमूर ने विजेता के रूप में दिल्ली में प्रवेश किया। दिल्ली आकर तैमूर ने खूब लूट मार मचाई। पाँच दिन तक निरंतर दिल्ली की लूट जारी रही। दिल्ली में जो कुछ भी कीमती सामान दिखाई दिया, सब को लूट कर तैमूर अपनी राजधानी समरकंद को वापस लौट गया। तैमूर के इस आक्रमण से दिल्ली की सल्तनत जड़ से हिल गई। वहाँ के तुर्क-अफगान शासकों में जो थोड़ी बहुत शक्ति शेष थी, वह भी नष्ट हो गई। तैमूर ने भारत में स्थिर रूप से शासन करने का प्रयत्न नहीं किया। वह आँधी

के समान आया और आँधी की ही तरह दिल्ली की सल्तनत को नष्ट कर अपने देश को लौट गया।

तैमूर के इस आक्रमण के कारण दिल्ली की सल्तनत आगरा, दिल्ली और उनके समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित रह गई। शेष सारे भारत में पुराने भारतीय राजवंश व अफगान सरदार स्वतंत्ररूप से शासन करने लगे। जौनपुर में जिन प्रांतीय शासकों को इसलिये नियत किया गया था, कि वे दिल्ली की सल्तनत के प्रतिनिधिरूप में पूर्व के प्रदेशों पर शासन करें, वे भी अब स्वतंत्र हो गये। सन् १३९४ में जौनपुर में एक नये अफगान राजवंश का प्रारंभ हुआ, जो पूर्व में राज्य करने के कारण शर्की सुलतान कहलाते थे। इनका शासन कन्नौज से बंगाल की सीमा तक विस्तृत था। मगध (बिहार) भी इनके अधीन था।

सन् १३९४ से १४७९ तक लगभग सौ वर्ष तक मगध जौनपुर के शर्की सुलतानों के अधीन रहा। जौनपुर के ये सुलतान बड़े समृद्ध तथा शक्तिशाली थे। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध सुलतान इब्राहीमशाह हुआ है। वह कला और साहित्य का बड़ा प्रेमी था। उसके समय में जौनपुर मुसलिम शिक्षा का बड़ा भारी केंद्र बन गया। इब्राहीमशाह ने बहुत सी इमारतें जौनपुर में बनवाईं, जो अपने समय की सबसे बढ़िया इमारतों में गिनी जाती हैं, और अफगान काल की कला की सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

उधर दिल्ली में महमूद तुगलक के बाद सैयद वंश (१४१४ से १४५१ ई० तक) और लोदीवंश (१४५१ से १५२६ ई० तक) ने शासन किया। सैयद वंश के सुलतान बड़े निर्बल थे। दिल्ली की पुरानी सल्तनत के पुनरुद्धार का कोई प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। इस काल में दिल्ली के सुलतानों की अपेक्षा

जौनपुर के शर्की सुलतान भी उत्तरी भारत में अधिक शक्तिशाली व समृद्ध थे। पर लोदी वंश में बहलोल खाँ लोदी (१४५१ से १४८८ ई० तक) बहुत महत्वाकांक्षी सुलतान हुआ। उसने एक बार फिर दिल्ली की सल्तनत के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया। जौनपुर के शर्की सुलतानों से उसने अनेक युद्ध किये। शर्की सुलतान हुसैनशाह ने १४६६ में ग्वालियर पर आक्रमण करके उसे जीत लिया और बहलोल लोदी को परास्त कर दिल्ली पर भी अपना अधिकार स्थापित करने की कोशिश की। पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिली। इसके विपरीत, बहलोल लोदी ने ही कई युद्धों में हुसैनशाह को पराजित कर अंत में १४७९ ई० में जौनपुर पर भी अपना अधिकार कर लिया। अब शर्की सुलतानों का राज्य केवल मगध (बिहार) में ही सीमित रह गया। बहलोल खाँ के बाद उसके उत्तराधिकारी सिकंदर लोदी ने भी शर्की सुलतानों के साथ अपनी लड़ाई जारी रखी। उसने १४९४ ई० में हुसैनशाह शर्की से बिहार भी छीन लिया। इब्राहीम लोदी ने बिहार से आगे बढ़कर बंगाल पर भी आक्रमण किया। पर बंगाल विजय के अपने प्रयत्न में वह सफल नहीं हो सका। पर शर्की सुलतानों की शक्ति को जड़ से उखाड़ फेंकने में उसे पूर्ण सफलता मिली, और मगध पर एक बार फिर दिल्ली के सुलतानों का आधिपत्य स्थापित हो गया। सिकंदर लोदी का उत्तराधिकारी इब्राहीम लोदी था। वह कुशल और योग्य शासक नहीं था। उसके दुर्व्यवहार और दुरभिमान के कारण विविध अफगान सेनापतियों व प्रांतीय शासकों ने फिर विद्रोह का झंडा खड़ा किया। बिहार का शासन करने के लिये इस समय दृरिया खाँ लोहानी दिल्ली की सल्तनत की तरफ से नियुक्त था। १५२१ ई० में उसने विद्रोह कर दिया और अपने को

स्वतंत्र सुलतान उद्घोषित कर दिया। इब्राहीम लोदी ने इसे काबू करने के कई यत्न किये, पर उसे सफलता नहीं मिली। बिहार में भी पहले दरिया खाँ ने, और बाद में उसके पुत्र बहार खाँ लोहानी ने स्वतंत्र रूप से शासन किया।

जिस समय इब्राहीम लोदी बिहार के अफगान सरदारों को काबू करने के व्यर्थ प्रयत्न में लगा था, तभी भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रदेश पर एक नई शक्ति प्रगट हो रही थी। यह शक्ति मुगल आक्रान्ताओं की थी। इनका नेता बाबर था, जो फरगाना राज्य का स्वामी था। उसने हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार कर भारत की ओर प्रस्थान किया। उन दिनों पंजाब का सूबेदार दौलत खाँ था, यह अपने सुलतान इब्राहीम लोदी से सख्त नाराज था। उसने बाबर की सहायता की। पानीपत के रणक्षेत्र में बाबर और इब्राहीम लोदी की सेनाओं में युद्ध हुआ। दिल्ली के अफगानों की शक्ति इस समय बहुत कुछ क्षीण हो चुकी थी। लड़ाई में इब्राहीम हार गया और १५२६ ई० में विजेता के रूप में बाबर ने दिल्ली में प्रवेश किया।

इब्राहीम लोदी की मृत्यु के समाचार से मगध (बिहार) के शासक बहार खाँ लोहानी को बहुत प्रसन्नता हुई। उसने अपना नाम परिवर्तित कर महमूद खाँ रख लिया, और सारे उत्तरी भारत में अपनी सल्तनत कायम करने का स्वप्न देखने लगा। बहुत से अफगान सरदार उसके नेतृत्व में एकत्रित हो गये, और अब वह उत्तरी भारत की एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति बन गया। पर महमूद खाँ (बहार खाँ) की यह स्थिति देर तक कायम नहीं रह सकी। दिल्ली के सुलतान इब्राहीम लोदी का उत्तराधिकारी महमूद लोदी था। बाबर के दिल्ली जीत लेने के बाद वह मेवाड़ के प्रतापी और स्वाभिमानी राणा

सांगा के साथ आ मिला था। सांगा के नेतृत्व में राजपूताना के विविध राजाओं ने जिस प्रकार बाबर का मुकाबला किया, इसका उल्लेख करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। अंत में सांगा की पराजय हुई, और महमूद लोदी पूर्व में बिहार की तरफ चला गया। वहाँ के अनेक शक्तिशाली अफगान सरदारों ने उसका नेतृत्व स्वीकार किया, और उनकी सहायता से महमूद लोदी ने बहार खाँ को परास्त कर बिहार पर अपना अधिकार कायम कर लिया। बिहार को अपना केंद्र बना कर महमूद लोदी ने बाबर का मुकाबला करने के लिये पश्चिम की तरफ कूच किया। पर बाबर को परास्त कर सकना उसकी ताकत से बाहर की बात थी। बाबर का मुकाबला वह नहीं कर सका, और इस मुगल विजेता ने बिहार को विजय कर जलाल खाँ लोहानी को अपनी तरफ से वहाँ का शासन करने के लिये नियत किया। इस प्रकार बिहार का प्रदेश दिल्ली की मुगल बादशाहत के अधीन हो गया।

(४) शेरखाँ का अभ्युदय

पश्चिम में आमू नदी से लेकर पूर्व में बंगाल तक और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में मालवा तक विस्तृत सुविशाल मुगल साम्राज्य की स्थापना कर चुकने पर १५३० ई० में बादशाह बाबर की मृत्यु हुई। निस्संदेह, बाबर एक महान् योद्धा और कुशल सेनापति था। उसके बाद हुमायूँ दिल्ली का बादशाह बना। नये स्थापित हुए साम्राज्य पर दृढ़ता से शासन कर सकना सुगम बात नहीं थी। राजपूत राजा लड़ाई में अनेक बार परास्त होकर भी काबू में नहीं आते थे। मौका पाते ही वे पुनः स्वतंत्र हो जाते थे। अब बाबर की मृत्यु के बाद मेवाड़ के राणा ने फिर बल पकड़ा। उधर अफगान सरदार भी इस बात

को भूले न थे, कि कुछ साल पहले तक भारत में उन्हीं का शासन था। वे हुमायूं के विरुद्ध विद्रोह करके फिर से अपनी सत्ता कायम करने के मौके की प्रतीक्षा में थे। हुमायूं के विरुद्ध सबसे पहले बिहार में शेरखां नामक अफगान सरदार ने विद्रोह किया। वह न केवल बिहार में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करने में समर्थ हुआ, अपितु मुगल बादशाह को परास्त कर भारत से बाहर निकाल देने और दिल्ली में एक बार फिर अफगान सल्तनत को कायम कर देने में उसे अपूर्व सफलता हुई। पूर्वी भारत के शर्की और लोहानी अफगान सरदारों ने जिस राजनीतिक और सैनिक शक्ति का प्रादुर्भाव किया था, शेरखां ने उसका कुशलता से उपयोग किया, और कुछ समय के लिये फिर से अफगान साम्राज्य का पुनरुद्धार कर दिया।

शेरखां का पिता हसनखां सूर बिहार प्रांत का एक जागीरदार था। उसकी जागीर में शाहाबाद जिले के सहसराम, बरोंग और हिलौपू थाने सम्मिलित थे। सामंतपद्धति या जागीरदारी प्रथा के उस युग में जागीरदार अपनी जागीर का एक प्रकार का स्वतंत्र राजा सा होता था। वह अपनी प्रजा के साथ मनमाना व्यवहार करता था। शेरखां का बचपन का नाम फरीद या फरीदुद्दीन था। जब अपने पिता की जागीर का प्रबंध उसने अपने हाथ में लिया, तो इस बात की भली-भांति व्यवस्था की, कि कोई सैनिक पटवारी, मुकद्दम या अन्य राजकर्मचारी रैयत पर अत्याचार न कर सके। अपनी जागीर का उसने बहुत उत्तम प्रबंध किया। उसकी जागीर के अंतर्गत बहुत से छोटे-बड़े जमींदार थे। ये लोग प्रायः पुराने जमाने के राजकुलों के व्यक्ति थे, जिन्हें पुराने राजाओं ने राजकर को वसूल करने व स्थानीय व्यवस्था के लिये नियुक्त किया था। पिछले समय की राजनीतिक अव्यवस्था से लाभ उठा कर ये

सब अपने-अपने इलाके के मालिक और जमींदार बन बैठे थे, और मौका पाते ही विद्रोह व अपनी स्वतंत्रता के लिये तैयार रहते थे। तलवार के बिना इनसे न कर लिया जा सकता था, और न इन्हें काबू में रखा जा सकता था। केवल फरीद की जागीर में ही नहीं, अपितु सर्वत्र यही दशा थी। पर शेरखाँ (फरीद) ने इनको वश में लाने के लिये अपनी अफगान सेना को संगठित किया। अनेक अफगान सैनिक खाने का खर्च, वेतन तथा इनाम का प्रलोभन पाकर इस सेना में सम्मिलित हुए। प्रजा के बहुत से ऐसे युवक भी, जिनके पास खेती आदि का अन्य धंधा नहीं था, वेतन के लालच से इस सेना में शामिल हुए, और फरीद ने अपनी जागीर के छोटे-बड़े जमींदारों से बाकायदा लड़कर उन्हें अपना वशवर्ती बनाया। जमींदारों पर काबू पाकर फरीद ने अपनी जागीर की ऐसी उत्तम व्यवस्था की, कि वह अपने समय की एक आदर्श जागीर बन गई। प्रत्येक खेत की बाकायदा नपाई होती थी, उससे कितनी मालगुजारी ली जाय, इसका निर्णय फसल के अनुसार किया जाता था। मालगुजारी वसूल करने के लिये सर्वत्र कर्मचारी नियत थे, जिन्हें नियमपूर्वक निश्चित वेतन मिलता था। फरीद का अपनी जागीर के किसानों के साथ सीधा संबंध था। सामंतपद्धति के दोषों को नष्ट कर फरीद ने अपनी जागीर को एक छोटे से आदर्श राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। वह शासन और न्याय के संबंध में बड़ी कठोर नीति का अनुसरण करता था। उस समय की परिस्थिति को देखते हुए वह बहुत आवश्यक था। इन सब बातों से उसकी जागीर की खूब समृद्धि हुई, सब किसान और सैनिकों ने संतोष अनुभव किया। धीरे-धीरे फरीद की प्रसिद्धि सारे बिहार में फैल गई। शेर के साथ बाकायदा लड़ाई कर उसे मारने के कारण वह शेरखाँ

नाम से प्रसिद्ध हुआ, और अब हम इसी नाम से उसका उल्लेख करेंगे।

हम ऊपर लिख चुके हैं, कि महमूद लोदी को परास्त कर बाबर ने जलालखाँ लोहानी को बिहार का शासक नियत किया था। वह शेरखाँ के गुणों और योग्यता से भलीभाँति परिचित था। उसने शेरखाँ को अपना मंत्री व सेनापति नियत किया और उसी की सलाह के अनुसार वह बिहार का शासन करने लगा।

इसी बीच में बाबर बीमार पड़ा, १५३० ई० में उसकी मृत्यु हो गई। अफगान सरदारों ने विद्रोह करके अपनी शक्ति को बढ़ाने के इस सुवर्णावसर को हाथ से नहीं जाने दिया। मुगल साम्राज्य से असंतुष्ट अफगान सरदार इस समय बिहार को अपना अड्डा बना रहे थे। वे अनुभव करते थे, कि शेरखाँ के रूप में उन्हें एक ऐसा सुयोग्य नेता मिल गया है, जो फिर से अफगान सल्तनत का पुनरुद्धार कर सकता है। शेरखाँ की भी महत्त्वाकांक्षा अब जाग चुकी थी। उसके नेतृत्व में बिहार में अफगानों ने विद्रोह कर दिया, और पश्चिम की तरफ बढ़कर चुनार के किले पर अपना कब्जा कर लिया। यह समाचार सुनकर दिल्ली के बादशाह हुमायूँ ने एक बड़ी सेना को साथ ले १५३१ ई० में अफगान विद्रोह को शांत करने के लिये पूर्व की तरफ प्रस्थान किया। चार महीने तक शेरखाँ ने चुनार के किले में डट कर हुमायूँ का मुकाबिला किया, पर अंत में विवश होकर उसने मुगल बादशाह की अधीनता स्वीकृत कर ली।

शेरखाँ की बढ़ती हुई शक्ति और प्रभाव से अनेक अफगान जागीरदार बहुत चिंतित थे। वे नहीं चाहते थे, कि अपनी जागीरों के मनमाने शासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप हो। पर शेरखाँ ने अपनी जागीर में जिस प्रकार विविध जमींदारों को काबू किया था, उसी प्रकार वह बिहार के अन्य जागीरदारों

व जमींदारों को भी काबू में लाने के लिये प्रयत्नशील था। अफगान सरदार इस बात से बहुत नाराज हुए। उन्होंने जलालखाँ लोहानी को शेरखाँ के विरुद्ध भड़काया और निर्बल जलालखाँ ने अपने शक्तिशाली मंत्री शेरखाँ से छुटकारा पाने के लिये बंगाल के अफगान सुलतान महमूदशाह की शरण ली। पर शेरखाँ इस बात से जरा भी चिंतित नहीं हुआ। उसने अफगान जागीरदारों और बंगाल की सेना का वीरता के साथ सामना किया, और १५३४ में संपूर्ण मगध (बिहार) पर अपना पृथक् राज्य स्थापित कर लिया। यद्यपि नाम को वह अब भी हुमायूं की अधीनता स्वीकार करता था, पर वस्तुतः उसकी स्थिति एक स्वतंत्र सुलतान के समान थी।

इन दिनों मुगल पादशाह हुमायूँ गुजरात के अफगान सुलतान बहादुरशाह के साथ युद्ध करने में व्यस्त था। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर पूर्वी भारत में शेरखाँ ने अपनी शक्ति को बढ़ाना प्रारंभ कर दिया। धीरे-धीरे उसने बंगाल के सुलतान महमूदशाह से प्राचीन बंग और गौड़ देशों को जीत लिया, और उसके राज्य की सीमा पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक विस्तृत हो गई। चुनार से चटगाँव तक विस्तृत प्रदेश उसकी अधीनता में आ गया।

शेरखाँ की इस बढ़ती हुई शक्ति के समाचार से हुमायूँ बहुत चिंतित हुआ। उसने एक शक्तिशाली सेना को साथ ले शेरखाँ को परास्त करने के उद्देश्य से पूर्व की तरफ प्रस्थान किया। शेरखाँ हुमायूँ की शक्ति से भलीभाँति परिचित था। वह जानता था, कि सम्मुख युद्ध में हुमायूँ को परास्त कर सकना संभव नहीं है। अतः उसने कूटनीति का आश्रय लिया। वह लगातार पीछे हटता गया। पूर्व का रास्ता खुला पड़ा था, कोई रुकावट न थी। हुमायूँ निरंतर आगे बढ़ता गया। उसे

अपनी सफलता की अपूर्व प्रसन्नता थी। वह आगे बढ़ता-बढ़ता पूर्वी बंगाल तक पहुँच गया। इतने में वर्षा ऋतु प्रारंभ हो गई। बंगाल में वर्षा ऋतु बड़ी भयंकर होती है। सारी धरती जलमय हो जाती है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिये नौका का आश्रय लेना पड़ता है। बरसात की अधिकता से बीमारी भी खूब फैलती है। हुमायूँ की मुग़ल सेना बंगाल की बरसात में फँस गई। मुग़ल सिपाही, जो सूखी के आदी थे, बंगाल की बरसात से तंग आ गये। ऐसी दशा में शेरखाँ ने, जो अब तक अपने चुने हुए सैनिकों के साथ झारखंड के जंगलमय प्रदेश में छिपा था, हुमायूँ पर आक्रमण करने प्रारंभ किये। उसने दिल्ली लौटने के सब रास्ते पर कब्ज़ा कर लिया। दिल्ली से भी सहायता की आशा नहीं की जा सकती थी, क्योंकि वहाँ हुमायूँ के छोटे भाई हिंदाल ने अपने को स्वतंत्र बादशाह उद्घोषित कर दिया था। हुमायूँ बड़ी मुश्किल में पड़ा। उसने वापस लौटने का निश्चय किया, पर शेरखाँ की सेनायें उस पर निरंतर हमले कर रही थीं। बड़ी मुश्किल से वह अपने प्राण बचा कर वापस लौटा। उसकी प्रायः सारी सेना नष्ट हो गई।

आगरा लौट कर हुमायूँ ने एक बार फिर शेरखाँ को परास्त करने के लिये तैयारी की। कन्नौज के समीप उनका आपस में युद्ध हुआ, जिसमें हुमायूँ की बुरी तरह पराजय हुई। यह युद्ध १५४० ई० में लड़ा गया था। इसके बाद हुमायूँ के लिये भारत में रहना कठिन हो गया। भारत का साम्राज्य उसके हाथ से निकल गया, और उस पर शेरखाँ का अधिकार हो गया।

कन्नौज से भाग कर हुमायूँ आगरा होता हुआ लाहौर पहुँचा। पंजाब उस समय हुमायूँ के अन्यतम भाई कामरान के अधीन था। पर उसने शेरखाँ के डर से हुमायूँ को आश्रय

देने से इन्कार कर दिया। निराश होकर हुमायूँ सिन्ध की ओर चला गया, और वहाँ अमरकोट नामक स्थान पर उसे एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जो आगे चल भारत में मुग़ल बादशाहत की पुनः स्थापना में समर्थ हुआ। इस बालक का नाम अकबर रखा गया।

हुमायूँ को परास्त कर शेरखाँ ने भारत में अफ़ग़ान साम्राज्य का पुनरुद्धार किया। वह स्वयं शेरशाह के नाम से दिल्ली के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसके प्रयत्न से कुछ समय के लिये भारत से मुग़लों का राज्य उठ गया। शेरशाह बड़ा शक्तिशाली सुलतान हुआ है। उसने पंजाब, सिन्ध और मालवा पर विजय प्राप्त की। राजपूत राजाओं के साथ भी उसके बहुत से युद्ध हुए। राजपूताना में राणा साँगा के बाद मारवाड़ का राव मालदेव बहुत प्रबल हो गया था। सिन्ध और मालवा को जीतने के बाद शेरशाह ने मालदेव पर चढ़ाई की। इस युद्ध में शेरशाह को बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा। पर अंत में वह न केवल मारवाड़, अपितु मेवाड़ को भी जीत कर वहाँ के राजाओं से अधीनता स्वीकार कराने में समर्थ हुआ। इसमें संदेह नहीं, कि उत्तरी भारत के प्रायः सभी प्रदेशों पर शेरशाह ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। उसके प्रयत्नों से अफ़ग़ान सल्तनत ने एक बार फिर अपनी पुरानी शान और शक्ति को प्राप्त कर लिया था।

शेरशाह न केवल सुयोग्य योद्धा और सेनापति था, अपितु चतुर शासक और सुधारक भी था। दिल्ली का सुलतान बन कर उसने शासन में बहुत से सुधार किये। अकबर के समय में भारत में जो अनेक सुधार हुए, उनका सूत्रपात शेरशाह द्वारा किया गया था। साम्राज्य में व्यवस्था कायम रखने के लिए उसने पुरानी सड़कों की मरम्मत कराई, और अनेक नई सड़कें

भी बनवाईं। पेशावर से बंगाल तक जाने वाली बड़ी सड़क उसके समय में अच्छी दशा में विद्यमान थी। सड़कों के साथ साथ शेरशाह ने बहुत सी सरायें बनवाईं, जिनमें राजकर्मचारियों व यात्रियों के आराम के लिये साज-सामान उपस्थित रहते थे। मालगुजारी वसूल करने के लिये भी शेरशाह ने बड़ा अच्छा प्रबंध किया। इस कार्य में उसका प्रधान सहायक राजा टोडरमल था, जो बाद में बादशाह अकबर का अर्थ सचिव बना। टोडरमल ने जमीनों का पैमाइश कर के उनके अनुसार उनकी मालगुजारी नियत की। पैदावार का तीसरा हिस्सा मालगुजारी के रूप में लेने का व्यवस्था की गई। शेरशाह जिस प्रदेश को जीतता, छः महीने के अंदर-अंदर वहाँ जमीन की पैमाइश और मालगुजारी के बंदोबस्त की व्यवस्था कर दी जाती थी। जागीरदार, सेनापति, प्रांतीय शासक—सब पर उसका कठोर नियंत्रण था। इसी का परिणाम था, कि उसके विशाल साम्राज्य में सब जगह शांति और व्यवस्था थी।

शेरशाह के रूप में एक बार फिर प्राचीन मगध के एक छोटे से जागीरदार ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की। यह ध्यान में रखना चाहिये, कि शेरशाह की सेना में केवल अफगान लोग ही नहीं थे, अपितु प्राचीन मागधवीरों के वंशज भी बहुत बड़ी संख्या में सैनिक रूप में सम्मिलित थे।

१५४५ ई० में इस अनुपम वीर, साम्राज्य-निर्माता शेरशाह सूर की मृत्यु हुई।

(५) पटना के रूप में पाटलीपुत्र का पुनरुद्धार

पटना के रूप में पाटलीपुत्र के पुनरुद्धार का श्रेय भी शेरशाह को है। इस युग के एक मुसलिम ऐतिहासिक ने लिखा है—"१५४१ ई० में बंगाल से लौटकर शेरशाह पटना आया।

उस समय वह एक छोटा सा नगर था, जो बिहार के अंतर्गत था। उस समय बिहार इस प्रदेश की राजधानी था। शेरशाह गंगा के किनारे पर खड़ा था। कुछ देर तक सोचने के बाद उसने अपने पार्श्वचरों से कहा—"यदि इस स्थान पर एक दुर्ग का निर्माण किया जाय, तो गंगा का प्रवाह उससे कभी दूर नहीं हो पायगा। एक दिन पटना देश के प्रमुख नगरों में से एक हो जायगा।" यह विचार करके उसने सुयोग्य शिल्पियों और स्थपतियों को यह आज्ञा दी, कि वे हिसाब लगाकर यह बतावें, कि इस स्थान पर एक किला बनाने में कितना खर्च बैठेगा। इन अनुभवी शिल्पियों ने हिसाब लगाकर बताया, कि किला बनाने में पाँच लाख रुपया खर्च बैठेगा। सर्वथा विश्वस्त लोगों के हाथ यह काम सुपुर्द कर दिया गया। शीघ्र ही किला बनकर तैयार हो गया, और यह समझा गया कि वह असाधारण रूप से मजबूत बना है। इस समय से बिहार का अपकर्ष प्रारंभ हुआ। लोग वहाँ से उठ गये, वह उजड़ने लगा और उसकी जगह पर पटना इस प्रदेश का सबसे बड़ा नगर हो गया।" इस पुराने ऐतिहासिक उदाहरण से स्पष्ट है, कि शेरशाह ने पाटलीपुत्र का पुनरुद्धार किया। पालवंशी राजाओं के शासनकाल में पाटलीपुत्र की अपेक्षा उद्दण्डपुर (वर्तमान बिहार शरीफ) का महत्त्व बढ़ गया था। वहाँ के प्रसिद्ध महा-विहार के कारण यह नगर भी बिहार कहलाता था। बाद में यह सारा प्रदेश भी इसी महाविहार के कारण बिहार कहाने लगा, और प्राचीन मगध के स्थान पर इसका नाम बिहार प्रचलित हो गया। अफगानों और मुगलों के शासनकाल में बिहार पुराने मगध को ही कहते थे। अंग्रेजों के शासनकाल में एक विशाल सूबे को बिहार नाम दे दिया गया, जिसमें प्राचीन

मगध जनपद के अतिरिक्त अंग, वज्जि आदि कितने ही जनपद सम्मिलित हैं।

उद्दण्डपुर (बिहार) के उत्कर्ष के कारण पालवंश के शासनकाल में पाटलीपुत्र का गौरव बहुत कुछ कम हो गया था। तुर्क और अफगानों के शासनकाल में भी इस प्रदेश की राजधानी बिहार ही रहा, और उसके सम्मुख पाटलीपुत्र की स्थिति हीन रही। इस समय तक, सर्वसाधारण की भाषा में पाटलीपुत्र का नाम पटना प्रचलित हो गया था। प्राचीन भारत में बड़े नगर को पत्तन कहते थे। भारत का प्रमुख नगर होने के कारण पाटलीपुत्र 'पत्तन' भी कहाता था। इसी को सर्वसाधारण लोग पटन या पटना कहते थे।

पटना में गंगा के तट पर एक सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण शेरशाह ने कराया। इससे वहाँ अनेक लोग आकर बसने लगे। गंगा के तट पर स्थित होने के कारण पटना नदी के मार्ग से व्यापार का बड़ा उपयुक्त केंद्र था। संभवतः व्यापारिक दृष्टि से इस स्थान का महत्व कभी भी कम न हुआ था। उद्दण्डपुर (बिहार) के राजनीतिक और धार्मिक केंद्र बन जाने के समय में भी पटना (पाटलीपुत्र) का व्यापारिक महत्व जारी था। शेरशाह ने जब वहाँ नये दुर्ग का निर्माण कर उसे फिर से राजनीतिक और सैनिक केंद्र बनाया, तब से पटना की फिर दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति हुई। इसीलिये जब १५८६ में राल्फ फिच नामक यूरोपियन यात्री वहाँ गया तो उसने उसे एक अत्यंत समृद्ध तथा वैभवपूर्ण नगर पाया। राल्फ फिच ने लिखा है—'पटना एक बहुत लंबा और विशाल नगर है। इसके मकान सादे हैं, जो मट्टी और फूस के बने हुए हैं, पर इसकी सड़कें बहुत चौड़ी हैं। इस नगर में कपास और कपड़े का व्यापार बहुत उन्नत है। खांड़ की भी

वहाँ बहुत तिजारत होती है। यहाँ से व्यापारी लोग बंगाल में और भारत के अन्य प्रदेशों में माल ले जाते हैं। अफीम और अन्य माल का भी यहाँ व्यापार होता है।" १६२० ई० तक पोर्तुगीज व्यापारी भी पटना के व्यापारिक महत्त्व से आकृष्ट हो कर वहाँ पहुँच गये थे, और उन्होंने अपनी कोठियाँ वहाँ कायम कर ली थीं। फ्रांसीसी यात्री ट्रवर्नियर के विवरण से ज्ञात होता है, कि वह उत्तरी भारत के व्यापार का सबसे बड़ा केंद्र था। उसने स्पष्ट शब्दों में लिखा है, कि "पटना बंगाल का सबसे बड़ा नगर है, और व्यापार के केंद्र रूप में सबसे अधिक प्रसिद्ध है।" ट्रवर्नियर की पटना में बहुत से आर्मीनियन व्यापारियों से भेंट हुई थी, जो यूरोप के प्रसिद्ध बंदरगाह डांसिग से व्यापार के लिये वहाँ आये हुए थे। भारत के विविध प्रदेशों के प्रसिद्ध व्यापारी तो यहाँ आते जाते रहते ही थे। यहाँ तिब्बत से बहुत बड़ी मात्रा में माल बिक्री के लिये आता था। ट्रवर्नियर ने स्वयं पटना से छब्बीस हजार रुपये की मुश्क खरीदी थी। तिब्बत और पटना के बीच में काफिले निरंतर आते जाते रहते थे।

शेरशाह के प्रयत्न से एक सदी के अंदर-अंदर ही पटना का विलुप्त गौरव फिर से कायम हो गया था, और वह भारत का एक प्रमुख नगर बन गया था।

(६) मुगलों का उत्कर्ष

१५४५ ई० में शेरशाह की मृत्यु के बाद उसका लड़का आदिल खाँ सलीमशाह के नाम से दिल्ली की राजगद्दी पर बैठा। उसने १५५४ ई० तक राज्य किया। उसके समय में शेरशाह द्वारा स्थापित साम्राज्य स्थिर रहा और सर्वत्र शांति और व्यवस्था कायम रही। सलीम शाह की मृत्यु के समय उसका

पुत्र फीरोज नाबालिग था। उसके एक चाचा ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र कर उसका घात करा दिया और स्वयं मुहम्मद आदिलशाह के नाम से सुलतान बन गया। इस घटना से सूर सल्तनत में खलबली मच गई और बिहार के अफगान शासकों ने विद्रोह कर दिया। इस समय बिहार (मगध) का शासक सुलेमान करानी था। उसे परास्त करने के लिये हेमचंद्र या हेमू नाम के एक सेनापति को भेजा गया। हेमू आदिलशाह का विश्वस्त व महत्वाकांक्षी सेनापति था। जिस समय वह अपने सुलतान की तरफ से विद्रोही अफगान सरदारों के साथ युद्ध करने में व्यापृत था, उधर उत्तर-पश्चिमी सीमा को पार कर हुमायूं फिर भारत पर आक्रमण कर रहा था।

शेरशाह द्वारा परास्त होकर हुमायूं ने भारत से निकल कर ईरान के शाह के पास आश्रय लिया था। उसकी सहायता से पहले उसने काबुल पर कब्जा किया और फिर दिल्ली की सल्तनत की निर्बलता तथा आपसी झगड़ों से लाभ उठा कर पंजाब पर आक्रमण कर दिया। १५५५ ई० में उसने दिल्ली पर भी विजय प्राप्त कर ली। एक बार फिर दिल्ली-आगरा के प्रदेशों में मुगल शासन की स्थापना कर छः महीने बाद ही उसकी मृत्यु हो गई। हुमायूं की मृत्यु का समाचार पाते ही आदिलशाह सूर की तरफ से हेमू ने दिल्ली पर आक्रमण किया। एक बार फिर मुगल सेनायें परास्त हुईं। दिल्ली-आगरा के प्रदेश पर हेमू का अधिकार हो गया। पर उसकी शक्ति देर तक कायम नहीं रही। पानीपत के प्रसिद्ध रणक्षेत्र में हुमायूं के पुत्र अकबर ने हेमू की सेनाओं को बुरी तरह परास्त किया और इस युवक मुगल नेता के हाथ से ही हेमू की मृत्यु हुई।

अकबर ने किस प्रकार उत्तरी भारत में अपने साम्राज्य

का विस्तार किया, इसे यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है। मगध पर इस काल में सुलेमान करानी का ही शासन रहा। मुगलों के आक्रमण की परिस्थितियों से लाभ उठा कर उसने अपनी शक्ति को और भी बढ़ा लिया था और गौड़ (पश्चिमी बंगाल) के भी अनेक प्रदेश उसके हाथ में आ गये थे। अकबर की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला करने का उसने प्रयत्न नहीं किया। वह चतुर और नीतिनिपुण शासक था। उसने यही उचित समझा, कि अकबर की अधीनता स्वीकार कर ले और प्रतापी मुगल बादशाह के अधीन मगध-गौड़ के प्रदेश पर अपना शासन जारी रखे।

१५७२ ई० में सुलेमान करानी की मृत्यु हुई। उसके बाद उसका लड़का दाऊद मगध-गौड़ का सुलतान बना। उसने अकबर की अधीनता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। सुलेमान करानी के समय में खुतबे में अकबर का नाम पढ़ा जाता था। दाऊद ने यह बंद करा दिया और अपने सेनापति लोदी खां को मुगल बादशाहत के ऊपर आक्रमण करने के लिये भेजा। अकबर दाऊद खां की इस उद्दण्डता को न सह सका। उसने राजा टोडरमल और मुनीम खाँ नामक सेनापतियों के साथ एक विशाल सेना को दाऊद खाँ को वश में लाने के लिये भेजा। पटना के समीप दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। शेरशाह ने पटना में जिस मजबूत किले का निर्माण कराया था, वही इस समय दाऊद खाँ की शक्ति का प्रधान केंद्र था। पटना के किले से दाऊद खाँ ने मुगल सेनाओं का डट कर मुकाबला किया। आखिर, १५७४ ई० में स्वयं अकबर पटना आने के लिये विवश हुआ। इस काल के एक ऐतिहासिक के वर्णनों से सूचित होता है, कि पटना के किले के बाहर प्राचीन पाटलिपुत्र की अनेक विशाल इमारतें

के अवशेष अब तक भी विद्यमान थे। अकबर ने इन इमारतों पर चढ़कर पटना के किले का निरीक्षण किया। मुगल बादशाह की प्रबल सेनाओं के सामने दाऊद खाँ देर तक नहीं ठहर सका। अपने मंत्री श्रीधर के साथ वह रात के समय चुपचाप किले से बाहर चला गया और पटना पर अकबर का कब्जा हो गया। धीरे-धीरे मुगलों ने सारे मगध को जीत लिया। १५७५ ई० तक संपूर्ण मगध तिरहुत और गौड़ पर अकबर का आधिपत्य कायम हो गया।

अकबर ने तिरहुत, मगध और अंग का एक पृथक् सूबा बनाया, जिसका नाम बिहार रखा गया। इस सूबे को सात सरकारों में बाँटा गया। इनके नाम ये हैं, रोहतास, बिहार, मुंगेर, सारन, चंपारन, हाजीपुर और तिरहुत। बिहार प्रांत की राजधानी पटना बनाई गई। वहाँ का शासन करने के लिये एक पृथक् सिपहसालार की नियुक्ति की गई जो सेना के संचालन के साथ साथ प्रांत का शासन भी करता था। बिहार का पहला प्रांतीय शासक (सिपहसालार) मुजफ्फर खाँ नियत हुआ। उसके बाद अकबर के समय में आजम खाँ, शाहबाज खाँ और सईद खाँ पटना के सिपहसालार रहे। इनके बाद १५८८ में राजा मानसिंह को पटना में सिपहसालार नियत किया गया। वह अकबर का सुयोग्य सेनापति था। उसने पूर्वी बंगाल, उड़ीसा और झारखंड के अनेक प्रदेशों को जीत कर मुगल साम्राज्य का विस्तार किया। अकबर की मृत्यु तक (१६०५ ई०) राजा मानसिंह बिहार प्रांत के सिपहसालार व सूबेदार के पद पर रहा।

मुगल बादशाहों के शासन का वृत्तांत यहाँ लिख सकना संभव नहीं है। अकबर ने जिस शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की थी, वह दो सदी के लगभग कायम रहा। मुगलों

के इस सुदीर्घ शासनकाल में पटना की निरंतर उन्नति होती रही। वह एक समृद्ध प्रांत की राजधानी था। अकबर के उत्तराधिकारी जहाँगीर के शासनकाल (१६०५ से १६२७ ई० तक) में उसके भाई खुसरो ने विद्रोह किया और पटना में ही अपने को बादशाह उद्घोषित किया। इसी प्रकार, जब शाहज़ादा खुर्रम ने सन् १६२२ में अपने पिता जहाँगीर के विरुद्ध विद्रोह किया, तो वह पंजाब से दक्षिणी भारत का चक्कर काट कर उड़ीसा के रास्ते बिहार पहुँचा और वहाँ पटना में उसने अपना दरबार लगाया। काफी समय तक पटना शाहज़ादा खुर्रम का केंद्र बना रहा। जहाँगीर के एक अन्य पुत्र परवेज़ खाँ ने भी अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर के पटना पर कब्ज़ा किया और कुछ समय तक स्वतंत्र रूप से वहाँ का शासन किया। उसकी बनवाई हुई एक मसजिद अब तक पटना में विद्यमान है, जो शाहज़ादा परवेज़ के विद्रोह की जीती-जागती यादगार है। शाही घराने के इन कुमारों का पटना को अपने विद्रोहों का केंद्र बनाना यह सूचित करता है, कि मुगल काल में इस प्राचीन नगरी का राजनीतिक महत्व फिर से स्थापित हो गया था।

जहाँगीर के बाद शाहज़ादा खुर्रम शाहजहाँ के नाम से बादशाह बना। उसने १६२७ से १६५८ ई० तक राज्य किया। शाहजहाँ के शासनकाल में अनेक वर्षों तक शाइस्ता खाँ पटना का सूबेदार रहा। १६५७ ई० में शाहजहाँ के बीमार पड़ने पर उसके पुत्रों में भ्रातृयुद्ध का प्रारंभ हुआ। इस कलह में औरंगज़ेब को सफलता हुई, और अपने वृद्ध पिता को कैदखाने में डाल कर १६५८ ई० में वह दिल्ली के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। औरंगज़ेब कट्टर मुसलमान था। जिस प्रकार निजी जीवन में वह इस्लाम की शिक्षाओं का अक्षरशः पालन करता

था, उसी तरह वह साम्राज्य के शासन में भी इस्लाम के सिद्धांतों को प्रयोग में लाना चाहता था। पर भारत की अधिकांश जनता इस्लाम की अनुयायी नहीं थी। अकबर ने धार्मिक सहिष्णुता की जिस नीति का प्रारंभ किया था और जिसका अनुकरण जहांगीर और शाहजहां ने भलीभांति किया था, औरंगजेब ने उसका परित्याग कर दिया। उसने हिंदुओं पर फिर जज़िया लगाया और शासन में मुसलमानों के साथ पक्षपात किया। परिणाम यह हुआ, कि मुगल साम्राज्य में सर्वत्र विद्रोह प्रारंभ हो गये। हिन्दुओं की जो शक्ति अब तक मुगल साम्राज्य के लिये सहारा बनी हुई थी, वह अब उसे पलटने के लिये उठ खड़ी हुई। मथुरा के समीप जाटों ने, नार-नौल के आसपास सतनामियों ने, पंजाब में सिक्खों ने और मारवाड़ में राजपूतों ने इसके विरुद्ध प्रचण्ड विद्रोह किये। दक्षिण में मराठे उठ खड़े हुए और मुगलों की शक्ति डाँवाडोल हो गई। पंजाब, राजपूताना, मालवा, बुंदेलखंड आदि सर्वत्र इस समय विद्रोह हो रहे थे। दिल्ली और आगरा के प्रदेश विद्रोहियों के क्षेत्र के बहुत समीप थे। मुगलों के अमीर-उमरा वहाँ अब शांति और निश्चिन्तता के साथ अपना जीवन व्यतीत नहीं कर सकते थे।

सारे मुगल साम्राज्य में केवल बिहार बंगाल के प्रदेश ही इस समय ऐसे थे, जो विद्रोह की प्रवृत्तियों से सर्वथा अछूते थे। वहाँ की राजकोष आमदनी से मुगल साम्राज्य का खर्च चल सकता था, इस बात को अनुभव कर औरंगजेब ने अपने पोते अजीमुश्शान को बिहार बंगाल का शासक नियत किया और अपने सुयोग्य राजकर्मचारी मुर्शिदकुली खाँ को वहाँ का दीवान बनाया। अजीमुश्शान ने पटना को अपना प्रधान केंद्र बनाया। वहाँ

को किलाबंदी को फिर से मजबूत किया गया। दिल्ली के बहुत से अमीर-उमरा और धनी लोग पटना बुलाये गये, और उन्होंने बड़े ठाठ-बाट के साथ यहाँ रहना शुरू किया। यहाँ उन्हें अनेक जागीरें दी गईं। औरंगजेब के कट्टरपन के कारण संगीत, कला आदि में प्रवीण कलावंतों का निर्वाह दिल्ली में हो सकना संभव नहीं रहा था। उन्होंने भी अब पटना का आश्रय लिया। यहाँ का शासक अजीमुश्शान कलावंतों का आदर करता था। दिल्ली के बहुत से अमीर-उमरा अब पटना में आ गये थे। उनके आश्रय में ललित कलाओं की पटना में अच्छी उन्नति हुई, और चित्रकला की एक नई शैली का यहाँ पर विकास हुआ। गरीब और अनाथ लोगों की भी अजीमुश्शान ने उपेक्षा नहीं की। उनके लिये अनेक सरायों और गरीबखानों का निर्माण कराया गया। यहाँ भोजन भी मुफ्त दिया जाता था। इन सब बातों से पटना का वैभव इस समय बहुत बढ़ गया। अजीमुश्शान की यह आकांक्षा थी, कि पटना को दूसरी दिल्ली बना दिया जाय। शायद वह अपने प्रयत्न में सफल भी हो जाता, पर १७०७ ई० में मराठों से युद्ध करते हुए औरंगजेब की मृत्यु हो गई और मुगल बादशाहत के उत्तराधिकार के लिये फिर गृहकलह का प्रारंभ हो गया। इसमें अजीमुश्शान के पिता मुअज्जम को सफलता मिली और वह बहादुरशाह के नाम से दिल्ली के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। तब से अजीमुश्शान अपने पिता के साथ दिल्ली रहने लगा, और पटना की उन्नति और समृद्धि के लिये जो प्रयत्न उसने शुरू किया था, वह अधूरा ही रह गया। पर इसमें संदेह नहीं, कि अजीमुश्शान के प्रयत्नों से पटना की बहुत उन्नति हुई। उसने इस नगर का नाम भी बदल कर अपने नाम से अजीमाबाद रखा। अब तक भी पटना के एक परगने को अजीमा-

याद कहा जाता है, और अजीमुश्शान के पटना के प्रति कार्यों की स्मृति इस नाम में भलीभाँति सुरक्षित है।

१७१२ ई० में बहादुरशाह की मृत्यु हुई। अजीमुश्शान साम्राज्य के लिये अपने भाई जहाँदारशाह से लड़ता हुआ युद्ध में मारा गया। अजीमुश्शान का लड़का फर्रुखसियर इस समय बंगाल में था। अपने पितामह और पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर वह पटना आया और वहाँ उसने अपने को बादशाह उद्घोषित कर दिया। बहादुरशाह के शासनकाल में बिहार का सूबेदार सैयद हुसैनअली खाँ था। यह अजीमुश्शान का विश्वस्त और योग्य सेनापति था। उसने फर्रुखसियर का बड़ी धूमधाम से स्वागत किया। सैयद हुसैन अली का भाई सैयद हसन अब्दुल्ला इस समय इलाहाबाद का फौजदार था। इन सैयद-बंधुओं की सहायता से फर्रुखसियर ने आगरा के समीप सामूगढ़ के रणक्षेत्र में जहाँदारशाह को परास्त किया, और दिल्ली के राजसिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। बाद में सैयदबंधुओं ने मराठों की सहायता से फर्रुख-सियर को कैद कर लिया और अंत में उसे मार कर एक-एक करके तीन शाहजादों को दिल्ली की राजगद्दी पर बिठाया। अंत में, सैयदबंधुओं की मदद से ही १७२० ई० में मुहम्मदशाह दिल्ली का बादशाह बना।

इस समय पटना का सूबेदार फखरुद्दौला था। वह वहाँ के अमीर-उमराओं के साथ बहुत बुरा बरताव करता था। अनेक अमीरों से इसने उनकी जागीरें छीन ली थीं। इन अमीर-उमराओं ने फखरुद्दौला के दुर्व्यवहार के विरुद्ध मुहम्मदशाह से अपील की। इस समय तक (१७२२ ई०) सैयद बंधुओं का पतन हो चुका था। फखरुद्दौला इनका बड़ा कृपापात्र था। पर अमीर-उमराओं की अपील पर बादशाह ने उसको

बिहार की सूबेदारी छीन ली और इस सूबे को बंगाल की सूबे-दारी में मिला दिया। १७३३ ई० में बिहार मुगल बादशाहत का एक पृथक् सूबा नहीं रहा। बंगाल के सूबेदार उसका शासन करने के लिये पटना में अपना एक नायब नियत करने लगे। परिणाम यह हुआ, कि पटना का राजनीतिक महत्त्व फिर कम होने लगा और मुगलों के समय में प्रांतीय राजधानी के तौर पर जो महत्त्व इस प्राचीन नगर ने प्राप्त किया था, उसका ह्रास हो गया।

(७) व्यापार का केंद्र पटना

शेरशाह ने जहाँ पाटलीपुत्र के राजनीतिक महत्त्व का पुनरुद्धार किया, वहाँ मुगलकाल में यह नगर व्यापार का भी एक महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गया। मुगलों के शासन में पटना पूर्वी भारत की सबसे बड़ी व्यापारिक मंडी थी। धीरे-धीरे यूरोपियन व्यापारियों का ध्यान भी इसकी तरफ आकृष्ट हुआ, और वे यहाँ अपनी व्यापारिक कोठियाँ क़ायम करने लगे।

भारत के पूर्वी समुद्रतट पर सबसे पहले पोर्तुगीज लोगों ने चटगाँव में प्रवेश किया था, चटगाँव के बाद उन्होंने हुगली व गङ्गा के मुहाने के समीप के अनेक नगरों में अपनी व्यापारिक कोठियाँ बनाईं। उनकी अनेक बस्तियाँ भी इन नगरों में क़ायम हो गईं। पोर्तुगीज लोग केवल व्यापार से ही संतुष्ट नहीं रहे। उन्होंने राजनीतिक मामलों में भी हस्तक्षेप शुरू किया और अनेक उपद्रव खड़े किये। परिणाम यह हुआ, कि १६३२ ई० में शाहजहाँ ने हुगली पर चढ़ाई कर हजारों पोर्तुगीज लोगों का संहार किया। इसीलिये बाद में डच (हॉलैंड के निवासी) और अंग्रेज लोग सामुद्रिक व्यापार में उनकी प्रभुता को तोड़ने में समर्थ हुए और पूर्वी भारत में डच, अंग्रेज

और फ्रांसीसी लोगों की व्यापारिक कोठियाँ कायम होनी प्रारंभ हुई।

पटना के व्यापार से आकृष्ट होकर डच लोगों ने यहाँ अपनी कोठी कायम की। इसमें मुख्यतया शोरा साफ करने का काम होता था। उस समय तक बारूद का आविष्कार हो चुका था और युद्ध में बारूद के हथियारों (बंदूक और तोप) का भलीभाँति उपयोग होने लगा था। बारूद बनाने के लिये शोरे का इस्तेमाल किया जाता था और बिहार में शोरा खूब होता था। इस शोरे की न केवल भारत में, अपितु यूरोप में भी बहुत माँग थी। बिहार प्रांत के विविध स्थानों से शोरा पटना लाया जाता था, वहाँ उसे साफ किया जाता और फिर गंगा नदी के रास्ते जहाजों पर लाद कर सुदूर देशों में भेज दिया जाता। इसी तरह पटना चीनी और कपड़े की भी बड़ी मंडी था। साथ ही, तिब्बत, नेपाल आदि के पहाड़ों और जंगलों से अनेक कीमती पदार्थ—मुश्क, लाख, जड़ी बूटी आदि, यहाँ बड़ी तादाद में बिकने के लिये लाये जाते और यहाँ के व्यापारी उन्हें देश-विदेश में भेजते थे। १६५० ई० तक डच लोगों की अनेक कोठियाँ बिहार में खुल चुकी थीं और उनकी पटना वाली कोठी खूब उन्नति कर रही थी। जिस इमारत में आजकल पटना कालेज है, वह पहले डच लोगों की कोठी ही थी।

डच लोगों के अनुकरण में अंग्रेजों ने भी पहले हुगली में अपनी कोठी कायम की और फिर पटना के शोरे के व्यापार में हिस्सा बटाने के लिये उन्होंने यहाँ पर अपनी कोठियाँ स्थापित की। इससे पहले सन १६२० और १६३२ में भी, सूरत और आगरा की अंग्रेजी कोठियों की तरफ से पटना के साथ व्यापार के प्रयत्न हो चुके थे। सन १६२० में ह्यूज़ और पार्कर नाम के दो अंग्रेज व्यापारी इस प्रयोजन से आगरा से पटना भेजे

गये कि वे वहाँ से कपड़ा खरीदें और एक अंग्रेजी कोठी वहाँ स्थापन करें। पर पटना से स्थल के रास्ते माल को पहले आगरा और फिर सूरत ले जाकर वहाँ से यूरोप ले जाना बहुत महंगा पड़ता था। ढुलाई का खर्च इसमें बहुत बढ़ जाता था। परिणाम यह हुआ, कि ह्यूजेज और पार्कर अपने उद्देश्य में असफल हुए और आगरा की कोठी द्वारा पटना के व्यापार को संचालित करने के प्रयत्न को छोड़ दिया गया। १६३२ ई० में पीटर मुण्डी को सूरत से फिर पटना भेजा गया। इसके साथ बहुमूल्य द्रव्यों से भरी हुई आठ गाड़ियों का बड़ा काफिला था। मुण्डी को यह आदेश था, कि इस माल को पटना के बाजार में बेच कर उस कीमत से वहाँ कोठी खोलने का प्रबन्ध किया जाय। पर मुण्डी भी अपने प्रयत्न में असफल हुआ। उसने यही परामर्श दिया, कि सूरत और आगरा द्वारा पटना के व्यापार को हस्तगत करना व संचालित करना क्रियात्मक बात नहीं है।

जब अंग्रेजों ने बंगाल की खाड़ी में आना-जाना शुरू किया और हुगली में उनकी कोठी कायम हो गई, तो उनके लिये पटना के व्यापार में हिस्सा बटाना सुगम हो गया। १६५० ई० तक पटना में उनकी कोठी बाकायदा स्थापित हो चुकी थी। वहाँ से अंग्रेज लोग न केवल शोरे की खरीद करते थे, अपितु कपड़ा, चीनी, मुश्क, जड़ी-बूटी और अफीम आदि अन्य माल को भी बड़ी मात्रा में खरीद कर पश्चिमी देशों में ले जाते थे। १६५८ ई० में चार्नोक नाम का अंग्रेज व्यापारी पूर्वी भारत की कोठियों का प्रबंधक बना कर भेजा गया। उसके समय में अंग्रेजों का व्यापार इस प्रदेश में खूब उन्नत हुआ, और शोरे तथा अन्य कीमती माल से लदे हुए जहाज गंगा में निरंतर आने-जाने लगे। इसी व्यापारिक समृद्धि के कारण १६६४ ई० में जब

टवर्निये नाम का फ्रांसीसी यात्री पटना आया, तो उसने इसे "भारत के सबसे बड़े नगरों में से एक" पाया। ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों ने अनुभव किया, कि पटना का शोरा अन्य सब स्थानों के मुकाबले में सस्ता और अच्छा है। इसलिये १६७० ई० में उन्होंने निश्चय किया, कि मसलीपट्टम आदि अन्य स्थानों पर शोरे के जो ठेके अंग्रेजों ने लिये हुए हैं, उन सब को छोड़ दिया जाय, और पटना से ही अधिक से अधिक मात्रा में शोरा खरीदने का प्रयत्न किया जाय।

पर इङ्गलैंड के ये व्यापारी देर तक शांति के साथ पटना में व्यापार नहीं कर सके। शाहजहाँ के समय में शाहजादा शुजा जब बंगाल का सूबेदार था, तो उसने यह व्यवस्था की थी, कि अंग्रेजों के विविध व्यापारी माल पर अलग-अलग चुंगी लेने के बजाय ३००० रु० वार्षिक एक मुश्त रकम चुंगी के तौर पर ले ली जाया करे। पर बाद में अंग्रेजों ने अपना व्यापार बहुत अधिक बढ़ा लिया। १६५८ ई० में उनका व्यापार कुल १४ हजार पौंड का था। १६८० में वह बढ़ कर १½ लाख पौंड से भी अधिक का हो गया। अंग्रेज कहते थे, कि व्यापार के बढ़ जाने पर भी उनसे चुंगी ३००० रु० ही ली जानी चाहिये। इसके अतिरिक्त, वे लोग अंग्रेजी झंडे के नीचे दूसरे लोगों का माल भी अनुचित रीति से ले जाते थे, ताकि उस पर चुंगी न देनी पड़े। बादशाह औरंगजेब इस बात को सहन नहीं कर सका। उसने व्यवस्था की कि फिरंगियों (यूरोप के ईसाइयों) को अपने माल पर २½ की सदी की जगह ३½ की सदी चुंगी देनी पड़े और अंग्रेजों से भी उनके माल की कीमत पर इसी हिसाब से चुंगी वसूल की जाय। उन दिनों बंगाल का सूबेदार शाइस्ता खाँ था। उसने बादशाह की आज्ञा के अनुसार १६८० ई० में अंग्रेजों से ३½ की सदी के हिसाब से चुंगी

वसूल करने का आदेश दिया। इस पर अंग्रेजों ने अशांति और विद्रोह शुरू किया। परिणाम यह हुआ कि पटना की अंग्रेजी कोठी के अध्यक्ष पीकौक को गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया और फिरंगियों के शोरे के व्यापार को बिलकुल रोक दिया गया। इस पर अंग्रेज और भड़के और उन्होंने हुगली में लूटमार शुरू कर दी। तब शाइस्ता खाँ ने बिहार-बंगाल के सब अंग्रेजों की संपत्ति जब्त करने और ईस्ट इंडिया कंपनी के सब कर्मचारियों को जेल में डालने का आदेश जारी किया। अंत में बंबई की कोठी के अध्यक्ष जान चाइल्ड के प्रार्थना करने पर, हरजाना वसूल करके अंग्रेजों को माफी दी गई और पटना तथा अन्य पूर्वी प्रदेशों में व्यापार करने की उन्हें फिर अनुमति दी गई। इसी बीच में १७०७ ई० में औरंगजेब की मृत्यु हो गई। उसके बाद की अव्यवस्था और अशांति से लाभ उठा कर अंग्रेजों ने न केवल अपने व्यापार में उन्नति की, पर बड़ी संख्या में सैनिकों को भी रखना शुरू कर दिया। फर्रुखसियर व अन्य मुगल बादशाहों ने पटना के समृद्ध फिरंगी व्यापारियों से अनेक बार बड़ी मात्रा में जुरमाने वसूल किये व भेंट-उपहार प्राप्त किये। पर इन मुगल शासकों को आपस के झगड़ों से ही फुरसत नहीं थी। वे यह नहीं समझ सके, कि आत्मरक्षा के नाम पर ये फिरंगी व्यापारी अपनी जिस सेना का संगठन करने में लगे हैं, उसका उपयोग राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के लिये भी किया जा सकता है। वह समय अब दूर नहीं रहा था, जब कि पूर्वी भारत में फिरंगी व्यापारी एक प्रमुख राज शक्ति बन गये।

(८) मराठों का प्रवेश

मुगल साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर मराठों ने किस

प्रकार अपनी शक्ति को बढ़ाकर अपने साम्राज्य का विस्तार प्रारंभ किया था, इसका संक्षेप से भी उल्लेख कर सकना यहाँ संभव नहीं है। दक्षिण में मराठों का स्वतंत्र राज्य क़ायम हो गया था, पर उत्तरी भारत में उनकी नीति यह थी, कि मुग़ल शासन का बाहरी रूप बना रहने दिया जाय, किन्तु वास्तविक शक्ति अपने हाथ में कर ली जाय। यही कारण है, कि जब से सैयदबंधुओं ने फर्रुखसियर को शासनच्युत करने के लिये मराठों की सहायता प्राप्त की, तब से मुग़ल बादशाहत में उनका प्रभाव बढ़ता ही गया और बाद में दिल्ली की गद्दी पर चाहे अकबर और औरंगज़ेब के वंशज नाम को विराजमान रहे हों, पर असली शक्ति मराठों के हाथ में आ गई।

मराठे लोग अपने विजित प्रदेशों से चौथ और सरदेशमुखी नाम के विशेष कर वसूल करते थे। शासन का संचालन पुराने नवाबों व सूबेदारों के हाथ में ही रहता था, उसके खर्च के लिये वे परंपरागत करों को वसूल करते रहते थे। पर क्योंकि अपने विजित प्रदेशों को बाह्य शत्रुओं के आक्रमणों से रक्षा की ज़िम्मेवारी मराठों की होती थी, अतः वे अपनी सेना के लिये चौथ और सरदेशमुखी नाम के विशेष करों को प्राप्त करते थे।

१७४० ई० में मराठों ने बंगाल बिहार पर आक्रमण प्रारंभ किये। वहाँ का सूबेदार अब अलीवर्दी खाँ था। मुग़ल बादशाही के निर्बल होने के कारण इसकी स्थिति स्वतंत्र नवाबों के समान थी, यद्यपि नाम को यह दिल्ली के बादशाह की अधीनता स्वीकार करता था। मराठा सरदार रघुजी भोंसले ने इसके साथ अनेक युद्ध किये। अंत में बिहार बंगाल से चौथ वसूल करने का अधिकार मराठों ने प्राप्त कर लिया। यद्यपि

इन प्रदेशों में मुग़ल सूबेदारों का शासन जारी रहा, पर मराठे इनसे निरंतर चौथ वसूल करने लगे और बिहार मराठों के प्रभाव में आ गया।

अट्ठाइसवाँ अध्याय

ब्रिटिश शासन की स्थापना

(१) यूरोप में साम्राज्यवाद की नई लहर

पंद्रहवीं सदी तक यूरोप के लोग अपने महाद्वीप से बाहर के लोगों से सर्वथा अपरिचित थे। उस समय तक दिग्दर्शक यंत्र का आविष्कार नहीं हुआ था। अतः सामुद्रिक व्यापार समुद्रतट के साथ-साथ ही होता था। पर पंद्रहवीं सदी के अंतिम सालों में एक नई प्रवृत्ति का प्रारंभ हुआ। यूरोप और एशिया के देशों में व्यापार देर से चला आता था। भारत के कालीकट आदि पश्चिमी बंदरगाहों से चलता हुआ इस देश का माल मक्का पहुँचता था और वहाँ से ऊँटों के काफिलों पर लाद कर उसे नील नदी पर पहुँचाया जाता था। नील नदी के मुहाने से यह माल जहाजों पर लादकर वेनिस तथा भूमध्यसागर के अन्य बंदरगाहों पर आता था। इस व्यापारी मार्ग पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जायगा, कि अरब और एशिया माइनर के बंदरगाहों पर किस राजशक्ति का आधिपत्य है, यह बात इस व्यापार की सुरक्षितता के लिये बड़े महत्व की थी। १४५३ ई० में प्रसिद्ध तुर्क आक्रांता मुहम्मद द्वितीय ने कॉस्टैंटिनोपल को जीत लिया और संपूर्ण एशिया-माइनर पर अपना अधिकार जमा लिया। तुर्कों की इस विजय से पूर्व और पश्चिम के बीच के व्यापारी मार्ग सुरक्षित नहीं रहे। तुर्कों से पूर्व इन प्रदेशों पर अरबों का शासन था। अरब लोग सभ्यता की दृष्टि से बहुत ऊँचे थे और स्वयं व्यापार को

बहुत महत्त्व देते थे। तुर्क लोग काफी जंगली थे। अतः तुर्कों के आक्रमणों से व्यापार के ये महत्वपूर्ण मार्ग बहुत कुछ रुक गये और यूरोपीय राज्यों को यह चिन्ता हुई, कि पूर्वी देशों के साथ व्यापार के लिये किसी नये मार्ग का आविष्कार करें। इस काम में स्पेन और पोर्तुगाल के लोगों ने विशेष तत्परता प्रदर्शित की। पोर्तुगीज लोगों में पहले-पहल यह कल्पना उत्पन्न हुई, कि अफ्रीका का चक्कर काट कर पूर्वी देशों तक पहुँचा जा सकता है। इसी उद्देश्य से अनेक पोर्तुगीज मल्लाहों ने अफ्रीका के समुद्रतट के साथ-साथ चलते हुए पूर्वी देशों तक पहुँचने का प्रयत्न प्रारंभ किया। सन् १४८७ में बार्थो लोमियो डियाज इस प्रयत्न में सफल हुआ। वह अफ्रीका के सबसे निचले सिरे तक पहुँच गया। इसका नाम उसने सदाशा का अंतरीप (केप आफ गुड होप) रखा, क्योंकि अब भारत पहुँचने के एक नये मार्ग के ज्ञात होने की पूरी आशा हो गई थी। १४९८ ई० में प्रसिद्ध पोर्तुगीज मल्लाह वास्को डि गामा अफ्रीका का चक्कर काट कर भारत पहुँच गया, और इस प्रकार पूर्वी व्यापार के एक नये मार्ग का आविष्कार हो गया।

इसी समय कोलंबस नाम के एक इटालियन मल्लाह के मन में एक नई कल्पना का उदय हुआ। पृथिवी गोल है, यह बात उस समय तक ज्ञात हो चुकी थी। कोलंबस ने सोचा कि यदि अटलांटिक महासागर को पार कर निरंतर पश्चिम की तरफ चलते जावें, तो भारत तक पहुँचा जा सकता है। स्पेन के राजा की सहायता से उसने अपनी सामुद्रिक यात्रा प्रारंभ की और अटलांटिक महासागर में जाते हुए १४९२ में उसे भूमि के दर्शन हुए। उसने समझा यही भूमि भारत है। वस्तुतः वह विशाल भूखंड था, पर उसने एक नये महाद्वीप का पता

लगा लिया और स्पेन के लोग उसमें अपने उपनिवेश बसाने तथा वहाँ अपना कब्जा कायम करने में लग गये।

पोर्तुगीज लोगों के बाद डच, फ्रांसीसी, डेनिश और अंग्रेज लोग भी अफ्रीका का चक्कर काट कर समुद्र मार्ग से भारत तथा अन्य पूर्वी देशों में आने जाने लगे और उन्होंने वहाँ के व्यापार को हस्तगत करने के लिये प्रयत्न प्रारंभ कर दिया। इंगलैंड में ईस्ट इंडिया कंपनी इसी उद्देश्य से बनी, और विविध यूरोपियन देशों के व्यापारियों ने भारत के समुद्र तट के बंदरगाहों में अपनी-अपनी व्यापारिक कोठियाँ कायम कीं। हुगली से आगे बढ़ कर आर्मीनियन, डच और इंगलिश लोगों ने पटना में किस प्रकार अपनी कोठियाँ स्थापित कीं, यह पहले लिखा जा चुका है।

भारत की राजनीतिक दशा ठीक न होने से इन विदेशी व्यापारियों के दिल में एक नई कल्पना का उदय हुआ। उन्होंने देखा, कि भारत में अनेक राजनीतिक शक्तियाँ परस्पर लड़ने में लगी हैं। इस देश को जीत कर यहाँ अपना राजनीतिक आधिपत्य भी स्थापित किया जा सकता है। पर भारत को विजय करने के लिये यूरोप से सेनाओं को ला सकना सुगम बात नहीं थी। फ्रांस की एक व्यापारिक कोठी पांडिचेरी में थी। उसका अध्यक्ष डूप्ले नाम का कुशल और चालाक व्यक्ति था। उसने अनुभव किया, कि भारतीयों में राष्ट्रीय भावना का सर्वथा अभाव है। वेतन देकर इस देश में जितने चाहें, सैनिक भर्ती किये जा सकते हैं। हिंदू, मुसलिम, अफगान, राजपूत—सब प्रकार के आदमी केवल वेतन के लालच से सेना में भरती होने को सदा तैयार रहते हैं, और उनकी सहायता से कोई भी महत्वाकांक्षी व्यक्ति अपनी राजशक्ति बढ़ा सकता है। भारतीय सैनिकों की मदद से ही भारत को

जीता जा सकता है, यह विचार डूप्ले को भलीभाँति समझ में आ गया। यूरोपियन लोगों की इन व्यापारिक कोठियों में पहले भी सैनिक रहते थे, पर अब राजनीतिक शक्ति को बढ़ाने के प्रयोजन से डूप्ले ने बहुत बड़ी संख्या में सैनिकों को भरती करना शुरू किया, और इस सेना को यूरोपियन ढंग से शिक्षित कर भारतीय नरेशों के आपस के झगड़ों में प्रयुक्त करना प्रारंभ कर दिया। डूप्ले की नीति के कारण अब फ्रांसीसी लोग भारत में केवल व्यापारी ही नहीं रह गये, उन्हों ने यहाँ अपना राज्य स्थापित करने का प्रयत्न भी प्रारंभ कर दिया। फ्रांसीसियों की देखा-देखी अंग्रेज व अन्य यूरोपियन व्यापारियों ने भी इसी नीति का अनुसरण किया। मुगल साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर विविध सूबेदार स्वतंत्र राजाओं की स्थिति को प्राप्त कर चुके थे। उनमें राजगद्दी पर अधिकार करने के लिये विविध उम्मीदवारों में संघर्ष चलता रहता था। फ्रांसीसी और अंग्रेज लोगों ने भारतीय वेतनभोगी सैनिकों की जो फौजें तैयार की थीं, उनसे इन विरोधी उम्मीदवारों का पक्ष लेकर परस्पर लड़ना शुरू किया और इस प्रकार अपनी राजनीतिक शक्ति का विस्तार करने का प्रयत्न प्रारंभ कर दिया। यूरोपियन लोगों की भारत में यह अपने साम्राज्यवाद की नई लहर थी। धीरे-धीरे ब्रिटिश लोग अपने प्रयत्न में सफल हुए और भारत की विविध राजनीतिक शक्तियों की निर्बलता और मूर्खता से लाभ उठाकर उन्होंने अपना शासन इस देश में कायम कर लिया।

बिहार में ब्रिटिश शासन का सूत्रपात

बंगाल बिहार के स्वतंत्र सूबेदार नवाब अलीवर्दी खाँ का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। वह नाम को दिल्ली के मुगल

बादशाह के अधीन था, पर वस्तुतः मराठों को चौथ देकर अपनी पृथक् सत्ता कायम रखने में समर्थ था। मराठों ने चौथ के बदले में उसकी रक्षा व पृथक् सत्ता की जिम्मेदारी ली हुई थी। नवाब अलीवर्दी खाँ एक समझदार और चतुर शासक था। दक्षिणी भारत में राजगद्दी के विविध उम्मीदवारों की सहायता के नाम से अंग्रेज और फ्रांसीसी लोग जिस प्रकार अपनी शक्ति को बढ़ा रहे थे, उससे वह बहुत चिंतित था। वह जानता था, कि फिरंगी लोग जो चाल दक्षिण में चल रहे हैं, वह एक दिन बंगाल में भी चलेंगे। इसीलिये वह हुगली और कलकत्ता के फिरंगियों से बहुत सशंक हो गया था। कहते हैं, कि मरने से पूर्व उसने अपने उत्तराधिकारी सिराजुद्दौला को यह शिक्षा दी थी, कि वह यूरोपियन व्यापारियों की बढ़ती हुई ताकत पर निगाह रखे और उन्हें किलाबंदी करने या फौज को बढ़ाने की कभी अनुमति न दे। पर अलीवर्दीखाँ के निर्बल उत्तराधिकारी उसकी इस शिक्षा का पालन नहीं कर सके।

१७५६ ई० में नवाब अलीवर्दीखाँ की मृत्यु हुई। उसके मरते ही अंग्रेजों ने कलकत्ता की किलाबंदी को मजबूत करना शुरू कर दिया। सिराजुद्दौला ने यत्न किया, कि कोई विदेशी उसके राज्य में किलाबंदी न करने पाय, पर अंग्रेजों ने उसकी आज्ञा पर कोई ध्यान नहीं दिया। इस पर सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों पर हमला कर दिया। बात की बात में कलकत्ता जीत लिया गया, और बंगाल बिहार में उनकी सब कोठियाँ जब्त कर ली। इस समय मद्रास में अंग्रेजों की कोठी का अध्यक्ष क्लाइव था। वह फ्रांसीसी डूप्ले के समान ही चतुर और महत्त्वाकांक्षी था। दक्षिण में उसने अपनी सत्ता का भलीभाँति संगठन कर लिया था। जब उसे सिराजुद्दौला द्वारा कलकत्ता

के विजय का समाचार मिला, तो एक बड़ी सेना लेकर उसने बंगाल की तरफ प्रस्थान किया और फिर कलकत्ता पर अधिकार जमा लिया। क्लाइव केवल कलकत्ता की विजय से ही संतुष्ट नहीं हुआ। वह सिराजुद्दौला के संपूर्ण राज्य पर अपना कब्जा करना चाहता था। उसने बंगाल के प्रधान सेनापति मीर जाफर के साथ षड्यंत्र किया। मीर जाफर नवाब अलीवर्दीखां का बहनोई था और राज्य में उसका प्रभाव बहुत अधिक था। क्लाइव ने मीर जाफर को यह वचन देकर अपने साथ मिला लिया, कि सिराजुद्दौला को राजगद्दी से च्युत कर उसे बंगाल बिहार का नवाब बनाया जायगा। राज्य के अनेक अन्य प्रभावशाली व्यक्ति भी इस षड्यंत्र में शामिल हुए। सब तैयारी ठीक हो जाने पर क्लाइव ने नवाब सिराजुद्दौला के विरुद्ध युद्ध की उद्घोषणा कर दी, पलासी के रणक्षेत्र में दोनों सेनाओं में लड़ाई हुई। लड़ाई के बीच में मीर जाफर अपनी सेना के साथ क्लाइव से जा मिला। सिराजुद्दौला परास्त हो गया और बाद में उसकी हत्या कर दी गई। इसके बाद क्लाइव ने मुर्शिदाबाद पर कब्जा किया। मीर जाफर ने चौबीस परगना का इलाका क्लाइव को जागीर के रूप में प्रदान किया और पौने तीन करोड़ रुपया ईस्ट इंडिया कंपनी और कर्मचारियों को भेंट और रिश्वत के रूप में दिया।

सिराजुद्दौला की तरफ से बिहार का नायब राजा रामनारायण था, जो पटना में राज्य करता था। जब अंग्रेजों ने मीर जाफर के लड़के मीरन को साथ ले पटना पर हमला किया। रामनारायण उनका मुकाबला करने में असमर्थ था। उसने मीर जाफर को बिहार बंगाल का नवाब स्वीकार कर लिया। मीरन बिहार का सूबेदार बनाया गया और रामनारायण को उसके नायब का पद दिया गया। मगध के जिन जमींदारों ने अंग्रेजों

का विरोध करने का साहस किया, उन्हें कठोर दंड दिये गये और बिहार पर इन फिरंगी व्यापारियों का कब्जा हो गया। इस युद्ध में अंग्रेजों का सेनापति आयर कूट था।

सिराजुद्दौला के विरुद्ध षड्यंत्र और पलासी के युद्ध के समय बिहार मराठों के साम्राज्य के अंतर्गत था। वे इस प्रदेश से नियमपूर्वक चौथ वसूल करते थे। इस स्थिति में मराठों का यह कर्तव्य था, कि वे अंग्रेजों के षड्यंत्रों और आक्रमणों से बिहार बंगाल के नवाबों की रक्षा करें। पर मराठे सरदार आपस के झगड़ों में इतने लीन थे, कि उन्होंने इस बात पर कोई भी ध्यान नहीं दिया। और बिहार बंगाल अंग्रेजों के कब्जे में चले गये।

बाद में जब मराठों के पेशवा को इस बात का ध्यान आया, तो १७५८ ई० उसने दत्ताजी शिंदे को आगरा का सूबेदार और उत्तरी भारत में अपना मुख्य प्रतिनिधि नियत किया। उसे यह कार्य भी सुपुर्द किया गया, कि बिहार बंगाल पर फिर मराठों का आधिपत्य स्थापित करे। पर दत्ताजी अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने का उद्योग नहीं कर सका। इस समय अहमदशाह अब्दाली भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा को पार कर मुगल साम्राज्य पर आक्रमण करने में लगा था। नाम के मुगल बादशाह का असली शासनसूत्र मराठों के हाथ में था। सन् १७६१ में पानीपत के प्रसिद्ध रणक्षेत्र में अहमदशाह अब्दाली और मराठों में घोर संग्राम हुआ। मराठा सेनायें परास्त हुईं। सदाशिवराव भाऊ, विश्वासराव आदि बहुत से मराठे सरदार युद्धक्षेत्र में मारे गये। मराठे लोग इस युद्ध में बुरी तरह नष्ट हुए। पानीपत की इस पराजय से मराठा राजशक्ति को बहुत धक्का लगा।

बिहार बंगाल को अंग्रेजों से वापस लेने की सब आशा

पानीपत के रणक्षेत्र में मट्टी में मिल गई। अब मराठों के लिये दिल्ली, आगरा और उत्तरी भारत के अन्य प्रदेशों में ही अपनी शक्ति और प्रभाव को स्थिर रखना कठिन हो गया था। बिहार बंगाल को जीतने का प्रयत्न करना उनके लिये दुःसाहस मात्र था। मराठों की इस भयंकर पराजय से अंग्रेजों को बिहार बंगाल में अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने का सुवर्ण अवसर मिल गया।

मीर जाफर शासनकार्य के लिये सर्वथा अयोग्य था। लोग उससे बहुत असंतुष्ट थे। इधर अंग्रेजों के सैनिक खर्च बहुत बढ़ गये थे। अंग्रेजों को यह आशा नहीं रही थी, कि मीर जाफर से और अधिक रुपया वसूल किया जा सकता है। अतः उन्होंने निश्चय किया कि उसके दामाद मीर कासिम को बंगाल का नवाब बनाया जाय। क्लाइव इस समय इङ्गलैंड वापस जा चुका था। उसका उत्तराधिकारी वांसिटार्ट था। वह स्वयं मुर्शिदाबाद गया और मीर जाफर को राज्यच्युत कर मीर कासिम को राजगद्दी पर बिठाया गया। बदले में मीर कासिम ने मेदिनीपुर, बर्दवान और चटगाँव जिले की माल-गुजारी सैनिक खर्च के लिये मीर कासिम को दी। साथ में उसने बीस लाख रुपया कंपनी के कर्मचारियों को रिश्वत रूप में भी प्रदान किया।

मीर कासिम देर तक अंग्रेजों का कृपापात्र नहीं रह सका। वह योग्य शासक था। खर्च में कमी करके तथा अनेक प्रकार से आमदनी बढ़ाकर उसने अपनी सेना का शेष बचा सब वेतन चुकवा कर दिया। इससे सेना उस पर अनुरक्त हो गई। मुंगेर में उसने तोप बंदूक आदि हथियार ढालने का कार-खाना खोला और एक यूरोपियन सेनापति को अपनी नौकरी में रख कर अपनी सेना का नये ढंग से संगठन किया। शासन

में भी उसने अनेक सुधार किये। फर्रुखसियर के जमाने से ईस्ट इंडिया कंपनी के माल पर चुंगी माफ थी। जो माल कंपनी की तरफ से यूरोप जाता या यूरोप से भारत आता, उस पर कोई चुंगी नहीं ली जाती थी। पर यह रियायत केवल कंपनी के माल पर थी। परंतु इस समय कंपनी के बहुत से कर्मचारी अपना निजू व्यापार भी करते थे, और अपने माल को भी कंपनी का बताकर उस पर चुंगी देने से इन्कार करते थे। कंपनी के अंग्रेज कर्मचारियों के निजी व्यापार के कारण नवाब की चुंगी की आमदनी इस समय बहुत कम हो गई थी। उसने अंग्रेजों से इस बात की बार-बार शिकायत की, पर कोई परिणाम न हुआ। आखिर, तंग आकर मीर कासिम ने देशी व्यापारियों की रक्षा के लिये सारे सूबे से चुंगी उठा दी। अब अंग्रेजी व्यापारियों का माल भारतीय व्यापारियों के मुकाबले में सस्ता नहीं बिक सकता था। अंग्रेज जो अनुचित मुनाफा उठा रहे थे, वह बंद हो गया और उन्होंने मीर कासिम का घोर विरोध शुरू किया। पर नवाब ने उनके विरोध की जरा भी परवाह नहीं की। अब अंग्रेजों ने मीर कासिम को च्युत कर मीर जाफर को फिर नवाब बनाने के लिये षड्यंत्र प्रारंभ किया। अंग्रेजों और नवाब में देर तक सुलह नहीं रह सकी। १७६२ ई० में पटना की अंग्रेजी कोठी का अध्यक्ष एलिस नियुक्त किया गया। वह मीर कासिम के प्रति वैर भाव रखता था। उसने बात-बात पर नवाब के कर्मचारियों से छेड़-छाड़ शुरू कर दी। वह खुल्लमखुल्ला लड़ाई की तैयारी में लगा था। इसीलिये हथियारों से भरी दो बड़ी नौकायें उसने कलकत्ता से पटना मंगवाई थीं, पर उधर नवाब भी एलिस की कार्रवाइयों को सशंक दृष्टि से देख रहा था। इन नौकाओं को पटना पहुँचने से पहले ही कब्जा किया

गया। इस पर २५ जून १७६३ ई० को एलिस ने पटना पर कब्जा करने की कोशिश की। उसके पास यूरोपियन सेना की पाँच कंपनियाँ थीं, और भारतीय सिपाहियों की तीन बैटेलियन। इन सेनाओं द्वारा पटना को बुरी तरह से लूटा गया और कुछ समय के लिये एलिस मनमानी करने में समर्थ हुआ। पर नवाब की सेनायें शीघ्र ही मुंगेर से वहाँ पहुँच गईं। उन्होंने पटना को घेर कर वीरता के साथ एलिस का मुकाबला किया। अंग्रेजी सेना अपनी कोठी में घेर ली गई। नवाब की विजय हुई और कंपनी की सेना की बुरी तरह हार हुई। इसके बाद मीर कासिम ने बिहार बंगाल के सब अंग्रेजों को गिरफ्तार करने का हुक्म दिया। अब कंपनी और नवाब में बाकायदा युद्ध का प्रारंभ हो चुका था।

बिहार बंगाल के सूबे मराठा साम्राज्य के अंतर्गत माने जाते थे। अतः मीर कासिम ने अंग्रेजों के विरुद्ध मराठों की सहायता मांगी। पर १७५२ ई० में कलकत्ता के अंग्रेज मराठों को चौथ की पूरी बकाया रकम दे चुके थे। यह रकम देते हुए उन्होंने मराठा सरदार से यह शर्त करा ली थी, कि अंग्रेजों और नवाब के आपसी झगड़े में मराठे लोग नवाब की सहायता नहीं करेंगे। परिणाम यह हुआ, कि मराठों ने अंग्रेजों और मीर कासिम की लड़ाई को एक घरेलू झगड़े के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझा, और नवाब को सहायता देने से इन्कार कर दिया। इस दशा में कंपनी की सेनाओं के लिये मीर कासिम को परास्त कर सकना कठिन नहीं था। अंग्रेजों ने मुंगेर जीतकर पटना पर हमला किया। नवाब की सेना के बहुत से कर्मचारी भीतर-भीतर अंग्रेजों से मिले हुए थे। मीर कासिम ने बड़ी सख्ती से काम लिया और अनेक उच्च कर्मचारियों और जागीरदारों को नाबूद कर दिया गया। पटना की अंग्रेजी कोठी

का अध्यक्ष एलिस और उसके बहुत से अंग्रेज साथी भी, जो कुछ समय से नवाब के पास कैद थे, अब मौत के घाट उतारे गये। मीर कासिम ने डट कर पटना में अंग्रेजों का मुकाबला किया पर उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं हुई। शक्तिशाली व सुसंगठित अंग्रेजी सेना के सामने वह नहीं ठहर सका और बची खुची सेना को साथ ले अवध के नवाब की शरण में चला गया। अंग्रेजों ने न केवल पटना अपितु सम्पूर्ण बिहार पर अपना कब्जा कर लिया।

अवध के नवाब इस समय न केवल इस सूबे के स्वतंत्र सूबेदार थे, पर मुगल साम्राज्य के वजीर भी माने जाते थे। मुगल बादशाहों का शासन इस समय दिल्ली, आगरा व अन्य समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित रह गया था। संपूर्ण दक्षिणी व मध्य भारत मराठों के अधीन था। बिहार बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार बढ़ रहा था। पंजाब में अफगान लोगों का जोर था और खास दिल्ली आगरा के मुगल शासन में भी मराठों का बोलबाला था। मराठों और अफगानों के खतरे से बचने के लिये मुगल बादशाह शाहआलम ने दिल्ली से भाग कर अवध के नवाब-वजीर शुजाउद्दौला के पास इलाहाबाद में आश्रय ग्रहण किया हुआ था। इलाहाबाद जाकर मीर कासिम ने शुजाउद्दौला और शाह आलम को इस बात के लिये प्रेरित किया, कि वे अपनी सेनायें लेकर बिहार पर आक्रमण करें और अंग्रेजों को परास्त कर इस सूबे को फिर मुगल साम्राज्य में मिला लें। मुगल सेना के आक्रमण से बिहार के लोग पहले बहुत खुश हुए। पर मुगलों का शासन इस समय तक बहुत पतित हो चुका था। सेना के अनेक उच्च कर्मचारी वैयक्तिक लाभ की दृष्टि से किसी भी षड्यंत्र में शामिल होने के लिये सदा उद्यत रहते थे। नवाब वजीर की सेना में भी ऐसे लोगों

की कमी न थी। अंग्रेजों ने इन्हें अपनी ओर मिला लिया। शाह आलम तक को वे अपनी ओर मिला लेने में समर्थ हुए। उन्होंने उसे भरोसा दिलाया, कि अपनी बची हुई सेना की मदद से वे उसे एक बार फिर दिल्ली के राजसिंहासन पर बिठाने में समर्थ हो सकेंगे। परिणाम यह हुआ, कि शुजाउद्दौला की सेना में फूट पड़ गई। १७६४ ई० में बक्सर के रणक्षेत्र में अंग्रेजों ने उसे बुरी तरह पराजित किया। परास्त शुजाउद्दौला का पीछा कर उन्होंने इलाहाबाद और लखनऊ पर भी अपना अधिकार कर लिया।

मुगल साम्राज्य के वजीर शुजाउद्दौला को अब केवल एक आशा थी। उसने मराठों से सहायता की याचना की। पानीपत के युद्ध में परास्त होकर मराठों की शक्ति बहुत कुछ क्षीण हो चुकी थी। अपने साम्राज्य की विविध समस्याओं को सुलझा सकना ही उनके लिये कठिन बात थी। फिर भी मुगल बादशाहत उनकी संरक्षा में थी। अतः प्रसिद्ध शक्तिशाली मराठा सरदार मल्हारराव होल्कर जो उस समय उत्तरी भारत में मराठा पेशवा का प्रतिनिधि था, शुजाउद्दौला की सहायता के लिये तत्पर हुआ। पर वह भी अब अंग्रेजों का मुकाबला कर सकने में असफल हुआ। ३ मई सन १७६५ में कोरा (जिला फतहपुर) के रणक्षेत्र में अंग्रेजों ने उसे पराजित किया। अब शुजाउद्दौला के सामने अपने बचाव का कोई मार्ग शेष नहीं रहा। विवश होकर उसने अंग्रेजों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। इसी बीच में मीर जाफर की मृत्यु हो चुकी थी। उसके बाद उसका पुत्र नज्मुद्दौला बिहार बंगाल का नवाब बना। राजगद्दी पर बैठते समय उसने भी कंपनी के कर्मचारियों को बीस लाख रुपया रिश्वत में दिया। पर नज्मुद्दौला अब केवल नाम को ही नवाब था। असली शासनशक्ति अब अंग्रेजों के हाथ में

आ गई थी। नवाब की सेना तोड़ दी गई थी और उससे शासन के सब अधिकार छीन लिये गये थे। इस समय बिहार बंगाल की शासनशक्ति पूर्णतया अंग्रेजों के हाथ में आ गई थी। उन्होंने अपनी पसंद से बंगाल में मुहम्मद रज़ाखाँ को और बिहार में राजा सिताबराय को दीवान के पद पर नियत किया। ये दोनों अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली थे।

सन १७६५ में ही क्लाइव एक बार फिर कलकत्ता की अंग्रेजी कौंसिल का अध्यक्ष बनाकर भारत भेजा गया। पलासी के युद्ध द्वारा क्लाइव ने भारत में जिस अंग्रेजी शासन का बीजारोपण किया था, अब उसने उसे खूब उन्नत किया। इसमें संदेह नहीं कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना में क्लाइव का कर्तृत्व बड़े महत्व का है।

नजीमुद्दौला ने राजगद्दी पर बैठते समय १७६५ ई० के शुरू में बंगाल बिहार के निज़ामत के सब अधिकार ईस्ट इंडिया कंपनी को सौंप दिये थे। इसके अनुसार नवाब अब अपनी पृथक् सेना नहीं रख सकता था, उसकी सेना बर्खास्त कर दी गई थी। सेना केवल कंपनी रख सकती थी और सारे सूबे में शांति रक्षा का कार्य अब नवाब के हाथ में न रह कर कंपनी के हाथ में आ गया था। अब क्लाइव कलकत्ता से मुर्शिदाबाद होता हुआ सीधा बनारस गया। वहाँ उसने नवाब-वज़ीर शुजाउद्दौला से और फिर इलाहाबाद जाकर बादशाह शाह आलम से पृथक् पृथक् संधि की। शुजाउद्दौला ने ५० लाख रुपये अंग्रेजों को हरजाने के रूप में प्रदान किये। शाह आलम के साथ क्लाइव की संधि बहुत महत्वपूर्ण थी। इसके अनुसार बिहार, बंगाल और उड़ीसा की दीवानी ईस्ट इंडिया कंपनी को दे दी गई। इन प्रदेशों की निज़ामत का अधिकार पहले ही कंपनी के हाथ में आ चुका था। अब दीवानी का अधिकार भी कंपनी को

मिल गया। इस अधिकार के अनुसार इन प्रदेशों से मालगुज़ारी, चुंगी व अन्य राजकीय कर कंपनी ही वसूल कर सकती थी। राज्य कर वसूल करने का काम कंपनी के हाथ में था, और शासन का संचालन नवाब करता था। शासन का खर्च चलाने के लिये नवाब को ५३ लाख रुपये की बंधी हुई रकम प्रति वर्ष दी जाती थी। बाद में १७६६ में यह रकम घटा कर ४१ लाख कर दी गई और फिर १७६९ में इसे घटा कर केवल ३२ लाख कर दिया गया। साथ ही, शाह आलम को भी बिहार बंगाल की आमदनी में से २६ लाख रुपया वार्षिक देने की व्यवस्था की गई।

अब स्थिति यह हुई, कि बिहार बंगाल में सेना और राज्य-कर की वसूली का काम कंपनी के हाथ में था। शासन नवाब के कर्मचारियों के द्वारा होता था। बड़े कर्मचारियों की नियुक्ति अंग्रेज़ अपनी मर्ज़ी से करते थे और छोटे-बड़े सब राज कर्मचारी उनके हाथ में कठपुतली के समान रहते थे, यह एक तरह का दोहरा राज था। इसमें शासन की सब शक्ति और लाभ तो अंग्रेजों के पास थे, पर कर देने वाली जनता की रक्षा या भलाई की कोई भी जिम्मेवारी उनके ऊपर न थी। शासन को चलाने के लिये जो रकम उन्होंने देनी थी, उसकी मात्रा निश्चित थी। पर वे अपनी मर्ज़ी से जितना चाहें, कर वसूल कर सकते थे। ज्यादा कर वसूल कर वे अपनी आमदनी को यथेष्ट रूप से बढ़ा सकते थे। मालगुज़ारी को बढ़ाने के लिये उन्होंने उसे वसूल करने के अधिकार की नीलामी शुरू की। एक इलाके से कितनी मालगुज़ारी वसूल करके कंपनी को दी जाय, इसके लिये बोली बुलाई जाने लगी। जो सब से ऊंची बोली बोलता, उसी के हाथ में उस इलाके की मालगुज़ारी वसूल करने का अधिकार सौंप दिया जाता। ये ठेकेदार प्रजा पर सब तरह के अत्याचार कर

के अधिक से अधिक कर वसूल करते। परिणाम यह हुआ, कि बिहार बंगाल के सब निवासी इस व्यवस्था से पीड़ित हो गये। पर वे विवश थे। उनके नवाब व बादशाह अशक्त और निर्बल थे। सेना अंग्रेजों के हाथ में थी। राजकर्मचारियों में देशभक्ति व जनसेवा का जरा भी ख्याल न था। अपना वैयक्तिक स्वार्थ ही उनकी दृष्टि में उनका सब से बड़ा ध्येय था।

(३) घोर दुर्भिक्ष

बिहार में ब्रिटिश शासन के सूत्रपात होने के कुछ ही सालों बाद सन् १७७० में वहाँ एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। कंपनी की तरफ से मालगुजारी नीलाम होने पर जो ठेकेदार इस कार्य के लिये नियुक्त हुए थे, वे मनमाने तरीके से किसानों से रुपया वसूल करते थे। ऊँची से ऊँची बोली-बोल कर अपने इलाके की मालगुजारी वसूल करने का ठेका प्राप्त वे करते थे। इस ठेके की नीलामी हर साल होती थी। इसका परिणाम यह होता था कि प्रतिवर्ष ठेके की मात्रा बढ़ती जाती थी। स्वाभाविक रूप से इन ठेकेदारों की यह कोशिश रहती थी, कि ठेके की रकम पूरी करने के बाद अधिक से अधिक जितना भी अपने लिये बचा सकें, बचाने का यत्न करें। किसानों से कितना कर लिया जाय, इसकी कोई मात्रा निश्चित नहीं थी। जो भी ज्यादा से ज्यादा वसूल किया जा सकता था, उनसे ले लिया जाता था। परिणाम यह था, कि किसान लोग बिलकुल दरिद्र होते जाते थे। अपना पेट भरने के लिये भी उनके पास अनाज नहीं बच पाता था। उनके पशु, हल, आदि भी मालगुजारी की रकम वसूल करने के लिये नीलाम होते रहते थे। सारे देश में अव्यवस्था मच गई थी, एक प्रकार का आतंक सा छा गया था। बहुत से किसानों

ने तो अपनी हालत से परेशान होकर खेती करना ही छोड़ दिया था। बहुत सी जमीन बिना खेती के परती पड़ी रहने लगी थी। इस दशा में १७६९ ई० में वर्षा की भी कमी रह गई। परिणाम यह हुआ, कि १७७० में संपूर्ण बंगाल बिहार में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। कहते हैं, इस दुर्भिक्ष में बंगाल बिहार की तिहाई आबादी भोजन के अभाव में भूख से तड़प-तड़प कर मर गई। उस समय इस सूबे की कुल आबादी तीन करोड़ थी। उसमें से एक करोड़ आदमी इस भयंकर दुर्भिक्ष के अर्पण हो गये। पटना पर इस दुर्भिक्ष का बहुत बुरा असर पड़ा। वहाँ के नायब सिताबराय ने कलकत्ता की ब्रिटिश कौंसिल को यह रिपोर्ट भेजी, कि ५० के लगभग आदमी प्रतिदिन पटना शहर में भूख से मर रहे हैं। उसने प्रस्ताव किया कि दो लाख रुपया पटना के दुखपीड़ितों की सहायता के लिये मंजूर किया जाय। उस समय तक क्लाइव भारत से इंगलैंड वापस जा चुका था। कलकत्ता का प्रमुख ब्रिटिश अधिकारी उस समय जॉन कार्टियर (१७६९ से १७७२ ई० तक) था। उसने न तो दुर्भिक्ष निवारण के लिये स्वयं कोई कार्रवाई की और न ही स्थानीय अधिकारियों को यह अधिकार दिया, कि वे इस विपत्ति से जनता की रक्षा के लिये कोई कदम उठा सकें। सिताबराय के सब प्रस्ताव व आवेदन कागज पर ही रह गये। पटना में भूख से मरने वालों की संख्या निरंतर बढ़ती गई। कुछ समय बाद, इस प्रकार की मृत्यु की संख्या इस नगरी में १५० प्रति दिन तक पहुँच गई। बिहार के स्थानीय कर्मचारियों व धनी पुरुषों ने अपनी तरफ से जनता की सहायता के लिये एक निधि खोली। पटना के फ्रांसीसी और डच व्यापारियों ने भी अपनी शक्ति के अनुसार इस निधि में चंदा दिया। पर ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों के कानों पर इस भयंकर विपत्ति के समय जूँ

तक भी नहीं रेंगी। इस दुर्भिक्ष ने बिहार बंगाल के प्रदेशों को घोर विपत्ति में डाल दिया। वहाँ का आर्थिक जीवन बिलकुल छिन्न-भिन्न हो गया और इस मुसीबत के असर को हटने में दसों साल लग गये।

कृषि के अतिरिक्त बिहार के व्यवसाय भी इस काल में बड़े संकट में पड़े। पटना पूर्वी भारत के व्यापार का बड़ा भारी केंद्र था। वहाँ का शोरा, चीनी, कपड़ा, मुश्क व अन्य बहुमूल्य माल बड़ी मात्रा में विदेशों में जाता था। सूती और रेशमी, दोनों प्रकार के कपड़ों की पटना बहुत बड़ी मंडी थी। वहाँ के इसी व्यापार से आकृष्ट होकर विविध यूरोपियन लोगों ने अपनी कोठियाँ पटना में कायम की थीं। पर इस समय तक यूरोप में व्यावसायिक क्रांति का प्रारंभ हो चुका था। सूत कातने व कपड़ा बुनने के नये-नये साधन इंगलैंड में प्रयुक्त होने शुरू हो चुके थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारी भारत के कारीगरों पर भयंकर अत्याचार करते थे। कंपनी के कारिंदे करीगरों की किसी भी बस्ती में जा पहुँचते। रुपया पेशगी देकर उनसे जबर्दस्ती यह इकरार करते, कि वे अपना सारा माल कंपनी को ही देंगे। इस माल की कीमत भी वे मनमानी तय करते। यदि कारीगर जरा भी विरोध करते, तो उन्हें कोड़ों से पीटा जाता। वे इस बात के लिये मजबूर किये जाते, कि कंपनी द्वारा निश्चित की गई कीमत पर अपना सब माल अंग्रेजों के सुपुर्द कर दें। यह कीमत इतनी कम होती थी, कि कारीगर कम मूल्य पर माल देने की अपेक्षा खाली बैठना ही पसंद करते थे। कंपनी के कारिंदे उन्हें जबर्दस्ती माल देने के लिये विवश न कर सकें, इस लिये बहुत से जुलाहों ने स्वयं अपने अंगूठे कटवा लिये थे। इस सब का परिणाम यह हुआ, कि बिहार बंगाल के व्यवसाय नष्ट होने लगे। उधर व्यावसायिक क्रांति के कारण

इङ्गलैंड में कपड़ा व अन्य माल बड़ी मात्रा में तैयार होने लगा और इधर भारत के कारीगर कंपनी के अत्याचारों से परेशान होकर अंगूठे काट कर खाली बैठने लगे। भारत की कारीगरी नष्ट होने लगी और इङ्गलैंड का माल इस देश के बाजारों में बिकना शुरू हो गया। बिहार बंगाल के लिये यह बड़ी भयंकर विपत्ति थी। किसान लोग ठेकेदारों के अत्याचारों से तंग थे और कारीगर लोग परिस्थितियों से विवश होकर बेकार बैठे थे। कारीगरों की बेकारी ने १७७० ई० के दुर्भिक्ष की भयंकरता को और भी बढ़ा दिया। जो बिहार बंगाल अपनी समृद्धि व संपत्ति के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध थे, वहां अब दरिद्रता का नग्न नृत्य दिखाई पड़ने लगा।

पटना में शासन के लिये जो कौंसिल १७६६ ई० में नियत हुई थी, उसके तीन सदस्य थे, १-मिडल्टन, जो पटना की अंग्रेजी कोठी का अध्यक्ष था, २-सिताबराय, जो अंग्रेजों की तरफ से बिहार का दीवान नियत हुआ था, ३-धीरजनारायण, यह बिहार के भूतपूर्व नायक रामनारायण का भाई था, और इस समय उसकी जगह बिहार के नायक के पद-पर नियुक्त था। ये तीनों व्यक्ति कलकत्ता की अंग्रेजी कौंसिल की तरफ से बिहार का शासन करते थे। पर १७७० ई० के दुर्भिक्ष को दूर करने में इन्हें कोई भी सफलता नहीं हुई। वस्तुतः इस समय सारे बिहार बंगाल में एक प्रकार की अराजकता सी छाई हुई थी। सूबे का नाममात्र का नवाब नज्मुद्दौला सर्वथा अशक्त और निर्बल था। उसके नवाब व दीवान शक्तिहीन थे। शक्ति केवल अंग्रेजों के पास थी। पर ये शासनकार्य में अपनी कोई भी जुम्मेवारी नहीं समझते थे। उनका काम केवल यह था, कि अधिक से अधिक राज्यकर वसूल करें और अपने व्यापार द्वारा ज्यादा से ज्यादा मुनाफा प्राप्त करें। पाटलीपुत्र के हजारों साल

के इतिहास में इतना भयंकर काल इस प्रदेश में पहले कभी नहीं हुआ। अंत में इङ्गलैंड में विद्यमान कंपनी के डाइरेक्टरों और अन्य राजनीतिज्ञों का ध्यान भी देश की इस दुर्दशा की तरफ आकृष्ट हुआ, और उन्होंने स्थिति को संभालने के लिये आवश्यक कार्यवाही करने की आवश्यकता अनुभव की।

(४) ब्रिटिश शासन का संगठन

इन्हीं कारण ईस्ट इंडिया कंपनी के कार्यों को नियंत्रित करने के लिये सन १७७३ ई० में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक रेगुलेटिंग एक्ट पास किया। इस कानून द्वारा बिहार बंगाल के दोहरे शासन का अंत किया गया। कलकत्ता के गवर्नर को गवर्नर जनरल का पद दे उसकी शासन में सहायता करने के लिये एक कौंसिल की व्यवस्था की गई, जिसके कुल पाँच सदस्य होते थे। मद्रास और बंबई के गवर्नरों को भी कलकत्ता के गवर्नर जनरल के अधीन किया गया। कलकत्ता की कौंसिल को यह आदेश दिया गया कि वह बिहार बंगाल के दीवानी और फौजी शासन को अपने अधिकार में कर ले। यह व्यवस्था की गई, कि इन प्रदेशों की मालगुजारी व अन्य करों को वसूल करने के लिये अपने पृथक् राजकर्मचारी नियत किये जावें। इसीलिये बिहार और बंगाल के दीवानों को पदच्युत किया गया। उनके स्थान पर राजकीय करों की वसूली और व्यवस्था के लिये कलकत्ता में एक 'बोर्ड आफ रेवेन्यू' की स्थापना की गई। इस बोर्ड की तरफ से राजकीय कर की वसूली के लिये विविध इलाकों में 'कलक्टरों' की नियुक्ति की गई। पर कुछ वर्षों तक मालगुजारी की वसूली पहले की तरह नीलामी द्वारा ही होती रही। अंतर केवल यह पड़ा कि नीलामी की अवधि बढ़ाकर एक साल की जगह पाँच साल कर दी गई। १७७७ ई० में

मालगुजारी की नीलामी फिर सालाना होने लगी, और यह व्यवस्था लार्ड कार्नवालिस के समय तक जारी रही।

इसी रेगुलेटिंग एक्ट के अनुसार न्याय के लिये एक सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गई। गवर्नर जनरल और उसकी कौंसिल को यह अधिकार दिया गया, कि वे देश में शासन के लिये कानून बना सकें। पर ब्रिटिश पार्लियामेंट चाहे, तो उनमें परिवर्तन कर सकती थी। गवर्नर जनरल और कौंसिल अपने कार्यों के लिये ब्रिटिश पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों को शासन संबंधी सब मामले पार्लियामेंट के सम्मुख पेश करने आवश्यक थे। अब कंपनी के शासनसंबंधी कार्यों पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण हो गया था। रेगुलेटिंग एक्ट का परिणाम यह हुआ, कि बिहार बंगाल में दोहरे शासन का अंत होकर ब्रिटिश शासन स्थापित हो गया। मालगुजारी की वसूली का इंतजाम देखने के लिये कलकत्ता के 'बोर्ड आफ रेवेन्यू' की तरफ से जो कलक्टर नियत किये जाते थे, वे अपने इलाके (जिले) का शासन भी करते थे। उन्हें शासन और न्याय संबंधी भी अनेक अधिकार दिये गये थे।

१७७२ ई० में कलकत्ता का गवर्नर वारन हेस्टिंग्स था। अगले साल रेगुलेटिंग एक्ट पास होने पर वही गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त कर दिया गया। १७८५ ई० तक वह अपने पद पर रहा। इस बीच में भारत में ब्रिटिश सत्ता के प्रसार के लिये जो उचित व अनुचित उपाय वह प्रयोग में लाया, उनका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। इसमें संदेह नहीं, कि उसके समय में बिहार बंगाल में ब्रिटिश शासन सुदृढ़ रूप से स्थापित हो गया। यहाँ का नवाब पहले ही नाममात्र का शासक था। वारन हेस्टिंग्स के इस सुदीर्घ शासनकाल में उसके

बचे-खुचे शासन अधिकार भी छीन लिये गये और आखिरकार उसकी सत्ता का ही अन्त कर दिया गया। दीवानी शासन के लिये जो पृथक् दीवान बिहार व बंगाल में नियत रहते थे, उन्हें हटा दिया गया। सर्वत्र ब्रिटिश कर्मचारी सीधे स्वयं शासन करने लगे। वे अपनी सहायता के लिये भारतीय कर्मचारियों को अवश्य नियत करते थे, पर सारी शासनशक्ति अंग्रेजों के ही हाथों में थी।

१७८४ ई० में भारत में ब्रिटिश शासन को पुनः संगठित करने की आवश्यकता अनुभव की गई। इसीलिये इंगलैंड के प्रधानमंत्री पिट ने पार्लियामेंट में एक नया क़ानून पास कराया, जिसके अनुसार यहाँ के शासन के लिये ब्रिटिश सरकार की ओर से एक बोर्ड आफ कंट्रोल की नियुक्ति की गई। इस बोर्ड के छः सदस्य होते थे, इनका भारत के शासन पर पूरा नियंत्रण रहता था। ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों को यह अधिकार नहीं था, कि वे भारत के ब्रिटिश शासकों को अपनी तरफ से कोई सीधी आज्ञा दे सकें। गवर्नर जनरल, गवर्नर व सेनापति आदि प्रधान राजकर्मचारियों की नियुक्ति भी ब्रिटिश सरकार स्वयं करे, यह व्यवस्था की गई। अब इस नये कानून के अनुसार वारन हेस्टिंग्स के बाद लार्ड कार्नवालिस को गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त किया गया। इसका काल शासन को सुव्यवस्थित व संगठित करने लिये प्रसिद्ध है। कार्नवालिस ने सबसे पहले मालगुजारी की नीलामी को बंद कर स्थायी बंदोबस्त की प्रथा का प्रारंभ किया। इस प्रथा के अनुसार यह स्थिर रूप से तय कर दिया गया, कि किस जमीन से कितनी मालगुजारी ली जाय। जमींदारों व किसानों को अब यह भरोसा हो गया, कि उन्हें सरकार को क्या कुछ देना है। अब वे अपनी शक्ति और ध्यान जमीन की उन्नति और पैदावार की वृद्धि पर लगा

सकते थे। मालगुजारी की नीलामी के कारण किसानों की जो भयंकर दुर्दशा हो गई थी, अब उसमें धीरे-धीरे सुधार प्रारंभ हुआ। १७७० के दुर्भिक्ष के बाद से बिहार बंगाल में जो भयानक गरीबी और भुखमरी शुरू हुई थी, वह अब कुछ-कुछ ठीक होने लगी। लार्ड कार्नवालिस के समय में ही सारे बिहार बंगाल को शासन की दृष्टि से जिलों में विभक्त कर उनके शासन के लिये विविध अफसरों और न्यायालयों का सूत्रपात किया गया। नौकरशाही का जो ढाँचा इस समय ब्रिटिश भारत के विविध प्रदेशों का शासन करने के लिये विद्यमान है, उसका प्रारंभ इसी काल में हुआ था।

कार्नवालिस के बाद जो विविध गवर्नर जनरल नियुक्त हुए, उन सबने भारत में दूर-दूर तक ब्रिटिश सत्ता का विस्तार किया। भारत में कोई भी राजनैतिक शक्ति इस समय ऐसी नहीं रही थी, जो अंग्रेजों का मुकाबला कर सकती। मुगल बादशाह और उसके अधीन विविध सूबों के नवाब अब तक सर्वथा शक्तिहीन हो चुके थे। मराठों में आपस के झगड़ों के कारण संगठन का अभाव था। भारत की इन विदेशी फिरंगियों से रक्षा करनी चाहिये, यह भावना उस समय के राजाओं व नवाबों में किसी में भी नहीं थी। परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे सारा भारत अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। सन् १८५६ तक प्रायः सारे भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हो गई थी। बिहार और पटना तो इससे बहुत पहले, अठारहवीं सदी के मध्य में ही अंग्रेजों की अधीनता में आ चुके थे।

(५) पटना का ह्रास

जो पाटलीपुत्र एक हजार से भी अधिक साल तक भारत

की राजनीतिक शक्ति का प्रधान केंद्र रहा, गुप्त सम्राटों के बाद
उसका बहुत कुछ ह्रास हो गया था। शेरशाह के समय में पटना
के रूप में उसका पुनरुत्थान हुआ और मुगल बादशाहत के
काल में वह एक समृद्ध तथा वैभवपूर्ण सूबे की राजधानी रहा।
प्राचीन काल में पाटलीपुत्र स्थल तथा जल, दोनों प्रकार के
मार्गों से होने वाले व्यापार का बड़ा केंद्र था, मुगल काल में
भी उसकी यह विशेषता कायम रही। इसमें संदेह नहीं, कि
मुगलों के समय में पटना उत्तर-पूर्वी भारत का सबसे बड़ा
नगर था और उसके व्यापार से आकृष्ट होकर ही विविध
यूरोपियन देशों के व्यापारियों ने अपनी कोठियाँ वहाँ कायम
की थीं। मुगल बादशाहत की शक्ति के क्षीण होने पर बिहार
बंगाल के नवाबों के अधीन हो गया था, पर बंगाल की अधी-
नता में भी पटना का वैभव कम नहीं हुआ था। नवाब के
नायब वहाँ शासन करते थे और बिहार प्रांत के शासन का
यही नगर केंद्र था। पटना की यह महत्त्वपूर्ण स्थिति क्लाइव
द्वारा स्थापित दोहरे शासन में भी कायम रही।

पर वारन हेस्टिंग्स के समय में जब बिहार और बंगाल
का शासन कलकत्ता के गवर्नर जनरल के हाथ में आया, तब से
पटना का फिर ह्रास प्रारंभ हुआ। वहाँ जो नायब और दीवान
बिहार का शासन करने के लिये रहते थे, उनके दफ्तर साफ
किये गये और सारा राज्यकार्य कलकत्ता से होने लगा। पटना
की स्थिति एक मोफस्सिल शहर की रह गई और राजनीतिक
केंद्र के रूप में उसका महत्त्व बहुत कम रह गया।

उन्नीसवीं सदी में पटना का व्यापारिक महत्त्व भी घटने
लगा। इसके कई कारण हुए। भारत में रेलों के विस्तार से सब
जगह का माल सीधा कलकत्ता पहुँचने लगा। रेलों के युग से
पहले बिहार तथा आस-पास के प्रदेशों का सब माल पहले पटना

की मंडी में काफिलों द्वारा लाया जाता था। वहाँ से वह गंगा के जलमार्ग द्वारा जहाजों पर लाद कर बाहर भेजा जाता था। यही बात विदेशों के आने वाले माल के साथ होती थी। बंगाल की खाड़ी पर जो माल विदेशों से आता था, वह पहले गंगा द्वारा पटना लाया जाता था और फिर वहाँ से व्यापारी लोग उसे अपने-अपने नगरों में काफिलों द्वारा ले जाते थे। पर रेल बन जाने से अब पटना की मंडी का महत्त्व बहुत कम हो गया था। बिहार प्रांत में रेल के जो बहुत से स्टेशन बन गये थे, उनसे सब माल कलकत्ता के लिये सीधा भेजा जा सकता था। उसे पहले पटना की मंडी में भेजने की जरूरत अब नहीं रही थी। यही कारण है, कि उन्नीसवीं सदी में पटना की मंडी निरंतर उजड़ती गई। वहाँ की आबादी भी निरंतर कम होती गई। डा० बुकानन के अंदाज के अनुसार १८१२ ई० में पटना की आबादी ३,१२,००० थी। पर १८८१ में इस नगर की आबादी घट कर १,७०,६५४ रह गई थी। सत्तर साल में पटना की आबादी में सवा दो लाख की कमी हो गई थी। १८८१ के बाद भी पटना का यह ह्रास जारी रहा। विविध मर्दुमशुमारियाँ इसका सर्वोत्तम प्रमाण हैं।

मर्दुमशुमारी का साल	पटना की जनसंख्या
१८८१	१७०, ६५४
१८९१	१६५, १९२
१९०१	१३४, ७८५
१९११	१३६, १५३
१९२१	११९, ९७६

रेलमार्ग की उन्नति के साथ-साथ पटना का व्यापारिक महत्त्व कम होता जा रहा था। मध्यकाल में शोरा, कपड़ा, अफीम आदि जिन व्यापारिक पदार्थों का पटना महत्त्वपूर्ण

केंद्र था, उनकी पैदावार भी अब भारत में कम होने लगी थी। विलायती कपड़े के आगमन से भारतीय कपड़े का बाजार मंदा पड़ गया था। ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों ने बिहार के व्यवसायियों और कारीगरों के साथ जो निष्ठुरता का बरताव किया था, उसके कारण भी इस प्रदेश के व्यवसाय नष्ट हो रहे थे। इस दशा में यदि पटना का व्यापारिक महत्त्व कम हो गया, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

(६) सन् ५७ का राजविद्रोह

भारत की विविध राजनीतिक शक्तियों में किस प्रकार बल, राष्ट्रीय भावना और देशप्रेम की कमी थी, इसका उल्लेख हम अनेक बार पहले कर चुके हैं। पर अभी राष्ट्रीय चेतना का भारत में सर्वथा लोप नहीं हुआ था। लोग वे दिन नहीं भूले थे, जब दिल्ली की राजगद्दी पर शक्तिशाली मुगल बादशाह विराजमान थे। राजपूत, जाट, अफगान और मराठे, सब उनके प्रति अनुरक्त थे, और दिल्ली के राजसिंहासन का आदर करते थे। मराठों ने प्रायः संपूर्ण भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, पर मुगल सम्राट् का अनादर नहीं किया। दिल्ली के इन मुगल शासकों के रूप में भारत की राजनीतिक एकता कायम रही। पर अब विदेशी अंग्रेज जिस प्रकार सारे भारत में छा रहे थे, उससे यहाँ के राजनीतिक नेता जागरूक होगये और उनका स्वाभिमान व स्वाधीनता की आकांक्षा सन् ५७ के राजविद्रोह के रूप में भड़क उठी। इस विद्रोह या स्वातंत्र्य संग्राम के प्रधान नेता मराठा पेशवाओं के अंतिम वंशधर नाना साहब और उनके मंत्री अजीमुल्ला थे। उस समय ब्रिटिश लोगों की सेना में प्रधानतया पुरबिये लोग होते थे। ये पुरबिये (अवध, भोजपुर तथा समीप के प्रदेशों के निवासी) लोग

इन्हीं सैनिकों के वंशज थे, जिनके बल पर किसी समय में मगध के सम्राटों ने अपने शक्तिशाली 'आसमुद्र' साम्राज्य की स्थापना की थी। इनका पेशा ही सैनिक सेवा था। मुगल बादशाहत और अवध के बंगाल के नरेशों की सेनाओं में इन्हीं की प्रधानता होती थी। अब ब्रिटिश लोगों की सेना में भी ये ही लोग अधिक संख्या में थे। इन पुरबियों में राष्ट्रीय चेतना अब तक विद्यमान थी। आवश्यकता केवल इस बात की थी, कि कोई सुयोग्य नायक इनको मार्ग प्रदर्शित करे। नाना-साहब के रूप में उन्हें एक कुशल और महत्वाकांक्षी नेता मिल गया और उन्होंने सन् १८५७ की ग्रीष्म ऋतु में विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। मेरठ से शुरू होकर विद्रोह की यह अग्नि संपूर्ण उत्तरी भारत में फैल गई।

पटना भी इसके असर से न बच सका। वहाँ की भारतीय सेना में बड़ी प्रबल उत्तेजना विद्यमान थी। जनता पर भी इसका बड़ा असर था। पटना में विद्रोह की पहल आम लोगों द्वारा हुई। तीन जुलाई १८५७ को पटना के लोगों की एक टोलीने शहर के रोमन कैथोलिक चर्च पर हमला बोल दिया। पटना में अंग्रेजों की अफीम की कोठी उस समय बहुत उन्नत दशा में थी। उसका अध्यक्ष डा० लायल बड़ा प्रभावशाली व्यक्ति था। वह रोमन कैथोलिक चर्च की रक्षा के लिये अग्रसर हुआ। पर विद्रोहियों के सामने उसकी एक न चली। वह वहीं लोगों की गोलियों का शिकार होकर मारा गया। पर शीघ्र ही सिक्ख सेनायें वहाँ पहुँच गई और लोगों को काबू करने में समर्थ हुई। इसके बाद पटना में जगह-जगह तलाशियां की गई। बहुत से लोग गिरफ्तार किये गये। इनमें से चौदह नेताओं को फांसी चढ़ाया गया। इनमें सबसे प्रमुख तिरहुत का एक जमींदार था, जिसका नाम वारिसअली था। फाँसी के तख्ते पर चढ़ते

हुए उसने आवेश में आकर कहा—"दिल्ली के बादशाह के दोस्तों की रक्षा के लिये।"

पर इससे पटना में विद्रोह की भावना शांत नहीं हो गई। २५ जुलाई को वहाँ विद्रोह की आग फिर भड़क उठी। इस बार विद्रोही लोगों का नेता पीरअली था। अंग्रेजों ने उसे गिरफ्तार कर फाँसीपर चढ़ा दिया। इस पर पटना के समीप दानापुर छावनी की भारतीय सेना उत्तेजित हो गई। अंग्रेजों ने कोशिश की कि सेना से हथियार रखा लिये जावें। पर सिपाहियों ने अपने अंग्रेज अफसरों का कहना मानने से इंकार कर दिया। अंग्रेजों के हुकुम की उपेक्षा कर दानापुर के सिपाही आरा के विद्रोहियों के साथ जा मिले। इनका नेता राजा कुंवरसिंह था, जो जगदीशपुर का एक प्रभावशाली जमींदार था। उसकी आयु इस समय अस्सी साल की थी। इस वृद्ध नेता के नेतृत्व में बिहार के विद्रोही लोग कई महीनों तक अंग्रेजों के साथ युद्ध करते रहे। इन युद्धों में ही कुंवरसिंह की मृत्यु हुई। उसके बाद उसके भाई अमरसिंह के नेतृत्व में बिहार के विद्रोही अंग्रेजों के साथ संघर्ष में व्यापृत रहे। पर सन् ५७ का यह स्वातंत्र्य संग्राम सफल न हो सका। धीरे-धीरे अंग्रेजों ने दिल्ली, कानपुर, लखनऊ आदि पर फिर से अधिकार कर लिया। इस दशा में बिहार के लोग कब तक लड़ते रह सकते थे। वे भी परास्त हो गये और अंग्रेजों का शासन फिर एक बार अबाधित रूप से स्थापित हो गया।

सन् ५७ के विद्रोह के शांत हो जाने के बाद भी बिहार में अव्यवस्था और अशांति जारी रही। सन् ५९ में झारखंड और संथाल परगने के संथालों ने और नील के खेतों के किसानों ने निलहे गोरों के विरुद्ध विद्रोह किया। बिहार में शिल्प और व्यवसाय के नष्ट होने पर बेकार लोगों की संख्या

बहुत बढ़ गई थी। १७७० ई० के दुर्भिक्ष ने भी ऐसे लोगों की संख्या को बहुत बढ़ा दिया था, जो बिलकुल बेकार थे और किसी भी मजदूरी पर काम करने के लिये तैयार हो जाते थे इस परिस्थिति से लाभ उठा कर उत्तरी बिहार में अंग्रेजों ने बहुत बड़ी-बड़ी जागीरें बना ली थीं, जहाँ वे बहुत सस्ती मजदूरी पर लोगों को रख कर उनसे खेती कराते थे। इन जमीनों पर मुख्यतया नील की खेती होती थी। नील के व्यापार से गोरे लोग लाखों रुपया पैदा करते थे, पर मजदूरों को वेतन नाममात्र ही मिलता था। यही कारण है, कि सन् १८५९ में जब इन मजदूरों ने अपने गोरे मालिकों के खिलाफ विद्रोह किया, तो उसने बहुत भयंकर रूप धारण कर लिया। विवश होकर ब्रिटिश सरकार को नील की खेती के संबंध में विचार करने के लिये एक कमीशन बिठाना पड़ा और इस कमीशन की सिफारिशों पर मजदूरों की दशा को सुधारने के लिये अनेक प्रयत्न किये गये।

(७) ईस्ट इंडिया कंपनी का अंत

ईस्ट इंडिया कंपनी का स्थापना भारत तथा अन्य पूर्वी देशों के साथ व्यापार के उद्देश्य से की गई थी। इसमें संदेह नहीं, कि इस कंपनी ने व्यापार द्वारा इंगलैंड की समृद्धि को बहुत बढ़ाया। पर भारत की अव्यवस्थित राजनीतिक दशा से लाभ उठा कर कंपनी के कर्मचारियों ने यहाँ अपनी राजशक्ति का भी विस्तार किया और धीरे-धीरे सारे देश को जीत कर अपने अधीन कर लिया। वस्तुतः, संसार के इतिहास में एक व्यापारिक कंपनी का इस प्रकार के विशाल साम्राज्य की स्थापना एक अद्भुत व आश्चर्यजनक घटना है। अंग्रेजों का भारतीय साम्राज्य प्राचीन रोमन साम्राज्य की अपेक्षा भी अधिक विस्तृत

और समृद्धिपूर्ण है। इसकी स्थापना किसी सम्राट् की विजया-कांक्षा द्वारा न हो कर एक व्यापारिक कंपनी की सूझ और कुशलता द्वारा हुई है। इसके लिये न इंगलैंड से सेनायें लाई गईं, और न उस देश का रुपया ही खर्च हुआ। भारत को इसी देश के सिपाहियों और इसी देश के धन से जीता गया। निःसंदेह, यह कंपनी के कर्मचारियों की अपूर्व प्रतिभा का ही चमत्कार था।

वारन हेस्टिंग्स के समय से भारत के शासन में ब्रिटिश सरकार का हाथ निरंतर बढ़ रहा था। अब सन ५७ के राज-विद्रोह के बाद यह आवश्यक समझा गया, कि भारत के शासन को कंपनी के हाथ से लेकर पूर्णतया ब्रिटिश सम्राट् के अधीन कर दिया जाय। इतने विशाल साम्राज्य का शासन एक व्या-पारिक कंपनी के हाथ में रखे रहना किसी भी प्रकार उचित न था। अतः १८५८ के एक कानून के अनुसार भारत की सरकार ब्रिटिश सम्राट् के आधीन कर दी गई, और ब्रिटिश मंत्रिमंडल में भारत मंत्री के नाम से एक नये मंत्री की नियुक्ति की गई, जो भारत के शासन के लिये पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी होता था। भारत के गवर्नर जनरल को सम्राट् के प्रतिनिधि (वायसराय) का भी पद दिया गया। इसमें संदेह नहीं, कि इस परिवर्तन से भारत में एक सुव्यवस्थित शासन के स्थापित होने में बहुत मदद मिली और धीरे-धीरे संपूर्ण देश में एक मज़बूत और शांतिमय शासन का विकास हो गया। इस शासन में भारतीयों को कोई स्थान नहीं था। उनकी राजनीतिक व राष्ट्रीय भावना के यह शासन सर्वथा प्रतिकूल था। पर अंग्रेजों के प्रयत्न से एक बार फिर भारत में ऐसे शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना हो गई थी, जिसमें आंतरिक युद्ध, अशांति तथा लूटमार का सर्वथा अभाव था।

उन्तीसवाँ अध्याय

वर्तमान और भविष्य

(१) राष्ट्रीय पुनरुत्थान

पिछली एक सदी भारत के इतिहास में राष्ट्रीय पुनरुत्थान का काल है। इस काल में सारे एशिया में एक नवीन जागरण की एक नई लहर सी चल रही थी। यूरोप में जो नये वैज्ञानिक आविष्कार हुए थे, उनके कारण वहाँ के देशों की कायापलट सी हो गई थी। एक समय था, जब यूरोप में भी अविद्या का अंधकार छाया हुआ था, लोगों में अन्धविश्वास घर किये हुए थे। जनता रूढ़ि की पुजारी थी। पुराने धर्मग्रंथों में जो कुछ लिखा हुआ है, उसके विरुद्ध सोचना तक कुफर माना जाता था। यूरोप में यह दशा सोलहवीं सदी में ही सुधरनी शुरू हो गई थी। एक बार लोगों के दिमाग जब अंधविश्वासों से मुक्त हो गये, वे अपनी बुद्धि से सत्य असत्य का निर्णय करने लग गये, तब यूरोप में उस आश्चर्यजनक उन्नति का प्रारंभ हुआ, जिसके कारण उन्होंने सारी दुनिया पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। सोलहवीं सदी में भारत में भी अनेक धार्मिक सुधारक उत्पन्न हुए। पर उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों के कारण इनकी संपूर्ण शक्ति जनता में एक आश्वासन की भावना उत्पन्न करने में ही लग गई। इनके उद्योग से लोगों के संतप्त हृदयों को शांति अवश्य मिली, पर भारत से अविद्या का अंधकार दूर कर एक नई जागृति उत्पन्न करने में इन संतों से कोई विशेष सहायता नहीं मिली।

ब्रिटिश शासन के स्थापित होने पर भारत के लोगों ने

अनुभव किया कि दुनिया उन्नति की दौड़ में कितनी आगे बढ़ चुकी है। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं, कि ये अंग्रेज लोग भारतीयों से सब बातों में आगे थे। उनका सैन्य संगठन अधिक उत्तम था, उनके हथियार नये प्रकार के थे। विज्ञान की उन्नति के कारण उनके पास ऐसे साधन थे, जिनका भारतीयों को कोई भी परिचय नहीं था। शासन, राजनीति, दर्शन और समाज-शास्त्र के क्षेत्र में भी यूरोप के ये निवासी भारतीयों की अपेक्षा बहुत आगे बढ़े हुए थे। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि अपने नये शासकों के सम्मुख भारतीयों में एक प्रकार की हीन भावना उत्पन्न होने लगती, वे हर एक बात में अंग्रेजों की नकल करने में ही अपना कल्याण समझते, और अपनी सभ्यता, संस्कृति और धर्म को तिलांजलि देकर वे अंग्रेजों का अनुकरण करने में तत्पर हो जाते। अंग्रेजों ने अपना राज्यशासन सुदृढ़ करके यहाँ अंग्रेजी की शिक्षा का प्रारंभ किया। परिणाम यह हुआ, कि भारत में शिक्षित लोगों की एक ऐसी श्रेणी उत्पन्न हो गई, जो अपने विचारों की दृष्टि से अंग्रेजों के पूर्णतया गुलाम थे।

पर भारत में राष्ट्रीय चेतना का सर्वथा लोप नहीं हो गया था। यही कारण है, कि यहाँ ऐसे अनेक सुधारक उन्नीसवीं सदी में उत्पन्न हुए, जो भारत के प्राचीन धर्म में संशोधन कर जनता में आत्मगौरव और देशप्रेम की भावना को पुनः जागृत करने में सफल हुए। इन सुधारकों में सबसे मुख्य ऋषि दयानंद थे। दयानंद को अंग्रेजी का बिलकुल भी ज्ञान नहीं था। उन्होंने प्राचीन वेदशास्त्रों का अध्ययन कर यह अनुभव किया, कि वर्तमान हिंदू धर्म बहुत विकृत हो चुका है। उन्होंने कहा, कि प्राचीन आर्यधर्म न केवल पूर्णरूप से सत्य है, पर अन्य सब धर्मों का उद्गम भी उसी से हुआ है। देश की उन्नति के

लिये भारतीयों को पश्चिमी देशों का अन्धानुकरण नहीं करना चाहिये, अपितु अपने धर्म, सभ्यता और संस्कृति पर दृढ़ रह कर भारत की वास्तविक आत्मा का विकास करना चाहिये। दयानंद के अनुसार विज्ञान कोई पश्चिमी देशों का आविष्कार नहीं। स्वराज्य, स्वदेशी, लोकतंत्र शासन आदि के सब विचार भारत के अपने हैं, विज्ञान की भी भारत में कभी बहुत उन्नति रह चुकी थी। बाद में लोग अन्धविश्वासों में फँस कर नीचे गिर गये। भारत को फिर से उन्नत करने के लिये पश्चिमी देशों का आँख मींच कर अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं। यदि पुरानी भारतीय सभ्यता का ही पुनरुद्धार किया जाय, तो यह देश फिर से संसार में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकता है। मानसिक गुलामी को दूर करने, असत्य को त्याग कर सत्य को ग्रहण करने और स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने पर दयानंद ने बड़ा ज़ोर दिया। इसी तरह रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ, राजा राममोहनराय आदि अनेक सुधारकों ने अपने-अपने ढंग से भारत के राष्ट्रीय गौरव का पुनरुत्थान करने का उद्योग किया। दक्षिण में प्रार्थना समाज ने वही कार्य किया, जो उत्तरी भारत में आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज ने किया था। इन सब आंदोलनों ने भारत को उस राजनीतिक शक्ति के लिये तैयार कर दिया, जो अंग्रेज़ों की अधीनता से जनता को मुक्त कराके स्वराज्य के मार्ग पर आगे बढ़ाने में समर्थ हुई। धर्मसुधारकों के अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में भी नई भावना का प्रादुर्भाव हुआ। बंगाल में बंकिम-चंद्र इस नई भावना के पहले प्रतिनिधि हैं। अपने 'आनंदमठ' में उन्होंने अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर स्वाधीनता की प्राप्ति के आदर्श को प्रस्तुत किया। भारत का प्रसिद्ध राष्ट्रीय गीत 'वंदे मातरम्' बंकिमचंद्र की ही देन है। बंकिम के समान

हाली ने उर्दू में, हरिश्चंद्र ने हिंदी में और विष्णु शास्त्री चिप-लूणकर ने मराठी में नई जागृति की लहर का प्रारंभ किया।

अंग्रेजी शिक्षा ने भी भारत में राष्ट्रीय चेतना के प्रादुर्भाव में मदद की। अंग्रेजी द्वारा भारत के नवयुवक न केवल पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान से परिचित हुए, अपितु उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि किस प्रकार फ्रांस के लोगों ने अपने राजा को राजगद्दी से च्युत कर लोकतंत्र की स्थापना की थी, अंग्रेज लोगों ने स्वयं अपने राजा के विरुद्ध विद्रोह कर पार्लियामेंट की शक्ति को किस प्रकार बढ़ाया था। यूरोप के विचारकों के लोकतंत्र शासन संबंधी विचारों ने भारत की शिक्षित जनता में एक नवीन चेतना उत्पन्न की। अंग्रेजों में से भी कुछ उदार प्रवृत्तियों के लोगों ने इस चेतना को उत्पन्न करने में सहायता दी। इसी का परिणाम यह हुआ, कि सन् १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। शुरू में यह कांग्रेस जनता की शिकायतों और इच्छाओं को प्रस्तावों द्वारा सरकार तक पहुँचाने का ही कार्य करती थी। पर धीरे-धीरे इसने अपना रूप बदला। बाद में कांग्रेस ने स्व-राज्य प्राप्ति को अपना उद्देश्य बनाया और उसके लिये असह-योग, शांतिमय सत्याग्रह, कानून भंग आदि उग्र उपायों का अनुसरण किया। आधी सदी से भी कम समय में कांग्रेस भारत में सर्वसाधारण जनता की सर्वमान्य राजनीतिक संस्था बन गई, और इसने उस राष्ट्रीय संघर्ष का प्रारंभ किया, जिसके कारण अब यह देश स्वतंत्र हो गया है।

जिस समय कांग्रेस में पढ़े-लिखे लोग एकत्र होकर अपनी राजनीतिक मांगों को सरकार के सम्मुख उपस्थित करने के लिये प्रयत्न कर रहे थे, तभी भारत में उन क्रांतिकारी समि-तियों का भी उदय हुआ, जिन्होंने आतंक के उपायों द्वारा अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने और जनता में स्वदेश

गौरव का भाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से अपना कार्य प्रारंभ किया। १९०५ ई० में एशिया के एक छोटे से देश जापान ने यूरोप के रशिया जैसे शक्तिशाली देश को युद्ध में परास्त किया। यूरोप के लोग एशिया के लोगों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं, इस धारणा को इस युद्ध से बड़ा धक्का लगा। भारत में भी लोगों में यह विचार उत्पन्न हुआ, कि यदि जापान रशिया को हरा सकता है, तो हम अंग्रेजों को क्यों नीचा नहीं दिखा सकते? इस समय भारत का गवर्नर-जनरल लार्ड कर्जन था। उसने चाहा कि बंगाल के विशाल सूबे को दो भागों में बाँट दिया जाय। उस समय तक बिहार, बंगाल, आसाम और उड़ीसा का एक ही सूबा था। बंगाल के लोगों ने कर्जन के इस प्रस्ताव को राष्ट्रीयता की दृष्टि से हानिकारक समझा। उन्होंने इसके विरुद्ध प्रचंड आंदोलन प्रारंभ किया। अंग्रेजी वस्तुओं का बहिष्कार और स्वदेशी का प्रचार इस आंदोलन के मुख्य साधन थे। अनेक जोशीले नवयुवकों ने इस समय आतंक के उपायों का भी आश्रय लिया। जगह-जगह पर क्रांतिकारी लोग हथियार और बंब बनाने लगे। कई अंग्रेज अफसरों पर इस समय हमले भी किये गये और यह स्वातंत्र्य आंदोलन बंगाल तक ही सीमित न रह कर सारे भारत में व्याप्त हो गया। पंजाब इसका दूसरा केंद्र बना। सरकार ने भी इस समय जनता पर अत्याचार करने में कोई कसर बाकी न छोड़ी। अनेक नेता गिरफ्तार किये गये। पर स्वतंत्रता का यह आंदोलन दबा नहीं। आखिर, सन् १९११ में ब्रिटिश सम्राट् जार्ज पंचम भारत आये और दिल्ली दरबार में उन्होंने बंगभंग को रद्द करने की घोषणा की। आसाम और बिहार-उड़ीसा को बंगाल से अलग कर दो नये सूबे बनाये गये। भारत की राजधानी कलकत्ता की जगह दिल्ली बनाई गई।

सन् १९१३ में महात्मा गांधी के नेतृत्व में दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों ने सत्याग्रह किया। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की संख्या बहुत है। इन्हें कुली के रूप वहाँ ले जाया गया था और इन्हीं की मेहनत से गोरे लोगों ने उस जंगली देश को समृद्ध दशा तक पहुँचाया था। पर धीरे-धीरे वहाँ भारतीयों ने व्यापार व अन्य धंधे भी शुरू कर दिये। यह बात यूरोपियन लोगों को पसंद नहीं आई। उन्होंने कई ऐसे क़ानून बनाये, जिनमें भारतीय लोग अफ्रीका में स्वतंत्ररूप से व्यापार नहीं कर सकते थे। गांधी जी ने इन्हीं क़ानूनों के विरुद्ध सत्याग्रह किया। अन्त में वे अपने प्रयत्न में सफल हुए। दक्षिण अफ्रीका के प्रधान मंत्री स्मट्स के साथ उनका समझौता हो गया। सन् १९१५ में महात्मा गांधी भारत आये। यहाँ आकर उन्हें मालूम हुआ, कि बिहार में निलहे गोरे किसानों व मज़दूरों पर बड़ा अत्याचार करते हैं। महात्मा जी इन शिकायतों की जाँच के लिये जब बिहार गये, तो उन्हें चंपारन में प्रवेश करने से रोक दिया गया। इस पर उन्होंने सत्याग्रह किया। आख़िर सरकार को वह हुक्म लौटाना पड़ा। जाँच होने पर किसानों की शिकायतें ठीक मालूम हुईं और निलहे गोरों को अपने देश लौट जाने के लिये विवश होना पड़ा। गांधी जी का भारत में यह पहला कार्य था और उनके राजनीतिक जीवन का प्रारंभ बिहार से ही हुआ था।

१९१४ से १९१८ ई० तक अंग्रेज़ों ने जर्मनी के विरुद्ध जो महायुद्ध लड़ा, उसमें भारतीयों ने उनकी दिल खोलकर सहायता की। महात्मा गांधी ने स्वयं लोगों को इस लड़ाई में अंग्रेज़ों की मदद करने के लिये प्रेरणा की। अंग्रेज़ों ने भी इस बात का खुले तौर पर आश्वासन दिया, कि युद्ध समाप्त होने ही भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना कर दी जायगी। पर

शासनसुधार के लिये जो नये कानून ब्रिटिश पार्लियामेंट ने बनाये, उनसे भारत को संतोष नहीं हुआ। परिणाम यह हुआ, कि कांग्रेस ने असहयोग आंदोलन का प्रारंभ किया। लोग हजारों की संख्या में जेल गये और सारे देश में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हो गई। कांग्रेस के नेतृत्व में देश ने स्वराज्य के लिये जो संघर्ष पिछली चौथाई सदी में किया है, उसका संक्षेप के साथ भी उल्लेख कर सकना यहाँ संभव नहीं है।

बिहार में राष्ट्रीय जागृति का प्रधानश्रेय आर्यसमाज और कांग्रेस को है। स्वामी दयानंद स्वयं पटना गये थे और उन्होंने वहाँ आर्यसमाज की स्थापना कर बिहार में धार्मिक सुधार के कार्य का प्रारंभ किया था। क्रांतिकारी आंदोलनों ने बिहार में कभी जोर नहीं पकड़ा। पर कांग्रेस के शांतिमय कानून भंग और सत्याग्रह के आंदोलन वहाँ बहुत लोकप्रिय हुए। दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटने पर गांधी जी ने अपना पहला कार्यक्षेत्र बिहार को ही चुना था। चंपारन के सत्याग्रह और जाँच के समय बाबू ब्रज किशोर प्रसाद, बाबू राजेन्द्रप्रसाद आदि अनेक बिहारी कार्यकर्ता गांधी जी के साथ थे। गांधी जी के सत्संग से इन नवयुवकों ने एक नये जीवन की दीक्षा ली और देश सेवा को ही अपने जीवन का मुख्य व्रत बनाया। चंपारन के सत्याग्रह की सफलता के कारण बिहार की जनता ने यह प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया, कि बीसवीं सदी में असहाय और निःशस्त्र लोगों के लिये अपने शक्तिशाली शासकों के खिलाफ मोरचा लेने का यही एकमात्र उपाय है। यही कारण है, कि कांग्रेस द्वारा संचालित आंदोलनों में बिहार के लोगों ने खूब हाथ बटाया और यह प्रांत कांग्रेस की शक्ति का एक प्रमुख केंद्र बन गया। असहयोग और सत्याग्रह के आंदोलनों में बिहार का बहुत बड़ा कर्तृत्व था। १९४२ के स्वातंत्र्य युद्ध में

भी इस प्रांत के लोगों ने अपूर्व साहस प्रदर्शित किया और कुछ समय के लिये ब्रिटिश सरकार को पंगु सा बना दिया।

(२) पटना के उत्कर्ष का पुनः प्रारंभ

बिहार को जीतने के बाद अंग्रेजों ने इसे बंगाल के सूबे में ही सम्मिलित रक्खा। इससे पटना का जिस प्रकार ह्रास हुआ, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। पर बिहार को बंगाल के साथ रखना उचित नहीं था। बिहार की भाषा हिंदी है, बंगाल में बंगाली बोली जाती है। सन १८९४ में बाबू महेश नारायण ने बिहार को एक पृथक् प्रांत बनाने का आंदोलन प्रारंभ किया। सन १९०८ में बिहार के लोगों ने अपनी पृथक् प्रांतीय महासभा का संगठन किया, जिसका पहला अधिवेशन श्रीयुत अली इमाम की अध्यक्षता में हुआ। इस प्रकार बिहार के लोगों में यह भावना निरंतर प्रबल हो रही थी, कि बंगाल से पृथक् होकर उनका एक पृथक् प्रांत बनना चाहिये। १९११ ई० में उनकी यह आकांक्षा फलीभूत हुई। दिल्ली दरबार के अवसर पर सम्राट् जार्जपंचम ने बिहार-उड़ीसा को बंगाल से पृथक् कर एक नये प्रांत के रूप में परिवर्तित करने की घोषणा की। इस नये प्रांत की राजधानी पटना को बनाया गया, और एक बार फिर इस प्राचीन नगरी ने प्रांतीय राजधानी के गौरव-मय पद को प्राप्त किया। शेरशाह के समय से कई सदियों तक पटना प्रांतीय राजधानी रहा था। एक बार फिर इस पद पर अधिष्ठित होकर पटना के उत्कर्ष का पुनः प्रारंभ हुआ। सम्राट् जार्ज पंचम दिल्ली से पटना भी गये। वहाँ हजारों की संख्या में लोगों ने उनका समारोहपूर्वक स्वागत किया। प्रांतीय राजधानी बन जाने से पुराने पटना के पश्चिम में एक नये शहर का विकास शुरू हुआ, जिसका विस्तार तीन वर्ग-

मील से भी अधिक है। पुराने पटना को अब पटना सिटी नाम से कहा जाता है, और ब्रिटिश शासन में बसे हुए नये शहर को केवल 'पटना' कहते हैं। प्रांतीय सरकार के सब दफ्तर इस पटना में ही हैं।

१९१६ में बिहार का हाईकोर्ट भी पृथक् बना दिया गया। इसका उद्घाटन उस समय के गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंज ने पटना में किया। हाईकोर्ट के पटना में स्थापित हो जाने के कारण इस नगर की बहुत उन्नति हुई। बहुत से वकील अब कलकत्ता से आकर पटना में बस गये और अदालत के काम पर संपूर्ण बिहार के संपन्न लोग पटना आने-जाने लगे। १९२१ में प्रिंस आफ वेल्स भारत की यात्रा करते हुए पटना भी आये। बांकीपुर के मैदान में उन्होंने दरबार किया, जिसमें संपूर्ण बिहार के बड़े लोग एकत्र हुए। इससे कुछ समय पूर्व १८७६ ई० में भी उस समय के प्रिंस आफ वेल्स, जो आगे चलकर एडवर्ड सप्तम के नाम से सम्राट् बने, पटना आये थे। बिहार का इंजीनियरिंग स्कूल उसी घटना की स्मृति में स्थापित हुआ था।

१९११ में बिहार का जब पृथक् प्रांत बना, तो वहाँ का अंग्रेजी सूबेदार लेफ्टिनेंट गवर्नर कहलाता था। १९१९ के कानून के अनुसार बिहार में प्रांतीय व्यवस्थापिका सभा की स्थापना हुई और शासन के कुछ मामले जनता द्वारा चुने हुए व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों के सुपुर्द किये गये। १९३४ में बिहार प्रांत की स्थिति और अधिक ऊँची कर दी गई। वहाँ का सूबेदार अब लेफ्टिनेंट गवर्नर (नायब) की जगह गवर्नर कहा जाने लगा। १९३५ के कानून के अनुसार प्रांत के शासन में जनता को काफी अधिकार दिया गया। प्रांतीय एसेम्बली के सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा होने लगा और एसेम्बली में जिस दल का बहुमत हो, उसका नेता ही प्रांत

का प्रधानमंत्री बनने लगा। बिहार में कांग्रेस का जोर है। नये
कानून के अनुसार जब १९३७ में एसेम्बली का चुनाव हुआ,
तो कांग्रेस की विजय हुई। कांग्रेस दल के नेता बाबू श्रीकृष्ण
सिंह बिहार के प्रधान मंत्री बने। सन् १९४६ में नई प्रांतीय
एसेम्बली का निर्माण हुआ, इसमें कांग्रेस को और भी अधिक
शानदार विजय प्राप्त हुई। बिहार में राष्ट्रीय चेतना इतनी
अधिक उत्पन्न हो चुकी है, कि वहां जमींदारों व धनपतियों
की अपेक्षा देशसेवकों का प्रभाव बहुत अधिक है। यही कारण
है, कि वह कांग्रेस की शक्ति का महत्त्वपूर्ण गढ़ है।

१९१७ में बिहार का पृथक् विश्वविद्यालय भी स्थापित
किया गया। इसे पटना यूनिवर्सिटी कहते हैं। १९२१ के असह-
योग आंदोलन में पटना में राष्ट्रीय विद्यापीठ की भी स्थापना
हुई। यह बिहार के राष्ट्रीय जीवन का केंद्र है।

१९११ में जब बिहार बंगाल से पृथक् हुआ, तो पटना इस
नये प्रांत के जीवन का केंद्र हो गया। वहां प्रांतीय सरकार के
सब दफ्तर बने, हाईकोर्ट बना और बाद में उसकी अपनी
अलग यूनिवर्सिटी भी बन गई। धीरे-धीरे पटना से अंग्रेजी
और हिंदी के अनेक समाचार पत्र भी निकलने लगे। वह
बिहार के राजनीतिक जीवन का केंद्र बन गया। इसमें कोई
संदेह नहीं, कि बीसवीं सदी में एक बार पटना का फिर उत्कर्ष
शुरू हुआ है। अब वह शिक्षा का एक बड़ा केंद्र है। वहां मैडि-
कल कालिज, इंजीनियरिंग कालिज, ट्रेनिंग कालिज, पटना
कालिज आदि अनेक प्रसिद्ध शिक्षणालय हैं। अनेक बड़े-बड़े
पुस्तकालय, म्यूजियम व रिसर्च संस्थायें भी वहां स्थापित हो
चुकी हैं। प्रांतीय शासन की राजधानी होने से लोकतंत्र शासन
के इस युग में पटना बिहार के राजनीतिक जीवन में बहुत
महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुका है।

(३) पटना का भविष्य

भारत के राष्ट्रीय पुनरुत्थान की जो प्रक्रिया अब से एक सदी पहले शुरू हुई थी, वह अब बहुत आगे बढ़ चुकी है। भारत अब स्वतंत्र हो चुका है। सदियों की पराधीनता की जंजीरों को तोड़ कर अपनी शक्ति द्वारा अब भारत स्वराज्य प्राप्त करने में समर्थ हुआ है। खेद यही है, कि भारत की अखंडता कायम नहीं रह सकी। मागध साम्राज्य के निर्माता आचार्य चाणक्य के अनुसार उत्तर-पश्चिमी हिमालय से समुद्र पर्यन्त जो पृथिवी है, वह एक चक्रवर्ती क्षेत्र है। पाटलीपुत्र के अनेक राजवंशों ने हिंदुकुश पर्वत से कलिंग तक और हिमालय से सुदूर दक्षिण समुद्र तक विस्तीर्ण इस विशाल चक्रवर्ती क्षेत्र में अपने साम्राज्य का विस्तार किया था। स्वतंत्र भारत इस स्वाभाविक 'चक्रवर्ती क्षेत्र' की अक्षुण्णता को कायम नहीं रख सका।

पर भारत एक विशाल देश है, और इसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है। यद्यपि इसमें अनेक भाषायें बोली जाती हैं, नसल की दृष्टि से भी इसमें अनेकविध लोग बसते हैं, धर्म के लिहाज से भी यहाँ के सब निवासी एक नहीं हैं, पर इन विभिन्नताओं के होते हुए भी इस देश में एक प्रकार की आधारभूत एकता विद्यमान है। ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में अनेक 'जन' बसते हैं, और इन जनों के पृथक्-पृथक् जनपद (प्रदेश) हैं। इन जनों में पृथक्त्व होते हुए भी भारत के सब निवासी राष्ट्रीय दृष्टि से एक हैं। वर्तमान समय में जो बिहार प्रांत है, थोड़े से परिवर्तनों के साथ वह इस देश का एक स्वाभाविक जनपद है। यह ठीक है, कि प्राचीन समय में इस प्रांत में भी अनेक छोटे-बड़े जनपद थे। पर मगध के महाजनपद ने बहुत


पाटलीपुत्र
के अवशेषों का
मानचित्र
गंगा नदी
पटना
सोन नदी
सोन नदी द्वारा छोड़ी गई भूमि

प्राचीन काल में इन सब को एक सूत्र में संगठित कर दिया था। बिहार का यह प्रांत भारत का एक आदर्श जनपद है। आर्थिक दृष्टि से इसका भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है। इस व्यावसायिक युग में जिस देश के पास कोयला और लोहा हो, वही सब से समृद्ध है। बिहार में लोहे और कोयले की बहुत सी खानें हैं। एशिया का सब से बड़ा लोहे का कारखाना बिहार में ही है। अन्य बहुत से खनिज द्रव्य भी बिहार में विद्यमान हैं। कृषि की दृष्टि से भी बिहार की स्थिति अनुपम है। ईख की खेती के कारण बिहार में न केवल कृषि, अपितु कारखानों की भी बहुत उन्नति हुई है। वह समय अब दूर नहीं है, जब अपने खनिज द्रव्यों और कृषि की पैदावार के कारण बिहार एक बार फिर भारत में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रांत बन जायगा और व्यावसायिक दृष्टि से इसका महत्त्व बहुत बढ़ जायगा।

आने-जाने के साधनों में जो उन्नति इस युग में हो रही है, उनके कारण एशिया के विविध देश एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं। तिब्बत, चीन, जापान आदि अनेक एशियाई देशों में अब भी उस अष्टांगिक आर्य धर्म का प्रचार है, जिसे हजारों वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने इसी प्रांत में प्रारंभ किया था। बुद्ध के जीवन के साथ संबंध रखने वाले बहुत से स्थान बिहार में ही हैं। संसार भर के बौद्धों के लिये यह प्रदेश पुण्य भूमि है। पुराने समय में दुर्गम पर्वतमालाओं और कठिन रेगिस्तानों को पार कर के भी धर्मप्राण यात्री इस पुण्य भूमि का दर्शन करने और यहां के सत्य धर्म की शिक्षा ग्रहण करने के लिये आते रहे हैं। जहाज, रेल और वायुयान के इस युग में इन बौद्ध यात्रियों के लिये बड़ी संख्या में महात्मा बुद्ध की इस पुण्यभूमि के दर्शनों के लिये आना बहुत सुगम हो गया है। इसमें संदेह नहीं, कि निकट भविष्य में बिहार का यह

प्रदेश एशिया के बौद्धों के लिये आकर्षण का एक बड़ा केंद्र बन जायगा।

बिहार का भविष्य बहुत उज्वल है, और उसके साथ उसकी राजधानी पटना का भविष्य बंधा हुआ है। बिहार के उत्कर्ष और समृद्धि के साथ-साथ पटना का भी महत्त्व बढ़ता जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं। किसी समय पटना सारे भारत का केंद्र था, बिहार का केंद्र वह अब भी है। यह कहना तो बहुत कठिन है, कि वह प्राचीन नगर फिर कभी अपने विलुप्त गौरव को पूर्णतया प्राप्त कर सकेगा। पर यह निश्चित है, कि भावी भारत में बिहार का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होगा और उसके साथ ही पटना अपने प्राचीन गौरव को बहुत कुछ प्राप्त कर लेगा।



